भविसयत्तकहा
तथा
अपभ्रंश-कथाकाव्य

डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री
साहित्याचार्य, एम० ए०, पी-एच० डी०



भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला :
सम्पादक एवं नियामक
लक्ष्मीचन्द्र जैन

ग्रन्थांक : ३११
प्रथम संस्करण : १९७०



भविसयत्तकहा
तथा अपभ्रंश कथाकाव्य
(शोध-प्रबन्ध)

डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री



प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
३६२०/२१ नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६
मुद्रक
सन्मति मुद्रणालय,
दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५

o o o o

BHAVISYATTAKAHĀ TATHĀ
APABHRAMSA-KATHĀKĀVYA
(Thesis)

Dr. Devendra Kumar Shashtri

Published by : BHARATIYA JNANPITH
3620/21, Netajee Subhash Marg, Delhi-6
Phone : 272582. *Gram* : 'JNANPITH', Delhi-6

Price
Rs. 20.00

मूल्य : बीस रुपये ।

वात्सल्यमूर्ति माताजी के स्पन्दनहीन जीवनाभाव में
समस्त रिक्तताओं के मध्य किशोर-जीवन को
सद्भावों से सम्पूरित करने वाले पूज्य
पिताश्री को, विनयावनतिपूर्वक
सादर समर्पित ।

—देवेन्द्रकुमार

हउं मूढ णिबंधणु गुणणिरत्थु,
जाणउं ण सद्द-वावार सत्थु।
अह लिहियं एयह पुत्थय, कोऊहलभरिय णिय मणेण।
ण गुणवियारणपारण, कव्वं जाणेइ बुहयणेण॥

पुरोवचन

डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री को पुस्तक 'भविसयत्तकहा तथा अपभ्रंश-कथाकाव्य' महत्त्वपूर्ण शोध कृति है। 'भविसयत्तकहा' अपभ्रंश का बहुचर्चित कथा-काव्य है। इस पुस्तक के उपलब्ध होने के बाद से अपभ्रंश-साहित्य के शोध को एक नयी दिशा मिली थी। इस की जानकारी के पहले बहुत थोड़ी-सी रचनाओं तक ही अपभ्रंश का अध्ययन सीमित था। परन्तु उस की प्राप्ति से अपभ्रंश रचनाओं के अधिकाधिक प्राप्त होने का विश्वास ही नही उत्पन्न हुआ, इस साहित्य के बहुत-से ग्रन्थरत्न ढूँढ निकाले गये और वह धारणा सदा के लिए समाप्त हो गयी कि महान् अपभ्रंश साहित्य अब खो ही गया है। अनेक विद्वानो के प्रयत्नो के फलस्वरूप अब कई दर्जन अपभ्रंश काव्य उपलब्ध हो चुके हैं और सम्पादित-प्रकाशित होते जा रहे है। इस प्रकार एक अल्पज्ञात साहित्य को फिर से प्रत्युज्जीवित और लोकगोचर करने मे इस कथा-काव्य का ऐतिहासिक महत्त्व है।

यद्यपि इस की चर्चा काफी होती रही है, पर हिन्दी मे इस ग्रन्थ के सम्पूर्ण महत्त्व को स्पष्ट करने योग्य कोई अध्ययन अब तक नही हुआ था। डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री ने इस बडे अभाव की पूर्ति की है। उन्होने इस ग्रन्थ के सभी साहित्यिक पक्षो का विशद आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। परन्तु केवल वे इस ग्रन्थ तक ही सीमित नही रहे। इसे उपलक्ष्य बना कर उन्होने अब तक अप्रकाशित हस्तलेख रूप मे प्राप्त अपभ्रंश साहित्य का निपुण सर्वेक्षण कर स्वतन्त्र रूप से कथाकाव्य-विधा का अनुशीलन किया है। अपभ्रश भाषा की विशेषताओ और उस के ऐतिहासिक विकास को भी स्पष्ट किया है। अपभ्रंश पर वैसे हिन्दी मे पर्याप्त काम हुआ है, पर शास्त्रीजी का यह प्रयत्न अब तक के अध्ययनो को समेट कर बहुत-कुछ नया रूप देने मे कृतकार्य हुआ है।

हिन्दी के काव्यरूपो, छन्दो, काव्यरूढियो, भापाविकास आदि के अध्ययन की दृष्टि से अपभ्रंश के साहित्य की जानकारी बहुत आवश्यक है। डॉ० देवेन्द्रकुमार की इस पुस्तक का उस दिशा में महत्त्वपूर्ण योगदान होगा। मुझे विश्वास है कि भाषा और साहित्य के प्रेमी इस पुस्तक का स्वागत करेंगे।

डॉ० देवेन्द्रकुमार परिश्रमी और अध्ययनशील युवक है। उन की इस पुस्तक को देखकर आशा होती है कि वे भविष्य मे और भी महत्त्वपूर्ण कृतियो से साहित्य का भाण्डार भरेंगे। मैं उन के इस महत्त्वपूर्ण प्रकाशन का स्वागत करता हूँ।

(डॉ०) हजारीप्रसाद द्विवेदी

काशी,
१६-१२-७०

अनुबन्ध

अपभ्रंश-साहित्य में वस्तु, बन्ध और शैली की दृष्टि से प्रबन्धकाव्य की कई विधाएँ लक्षित होती है, जिन मे से कथाकाव्य भी एक अन्यतम विधा है। अपभ्रंश-कथाकाव्यों मे नियोजित कथावस्तु लोक-कथाओ के साँचे मे किन्ही प्रबन्ध-रूढियों तथा कथाभिप्रायों (मोटिफ्स) के साथ वर्णित मिलती है। कुछ कथाएँ जनश्रुति के रूप मे प्रचलित होने पर व्रत-माहात्म्य तथा अनुष्ठानों से सम्बद्ध हो कर काव्य-बन्ध का अंग हो नही, प्राण बन गयी हैं। अतएव चरितकाव्यों से इन मे भेद देखा जाता है। अपभ्रंश के इन कथाकाव्यों में लोक-प्रचलित कहानी की भाँति अधिकतर कथाओ मे—वक्ता और श्रोता के रूप मे कथा कही जाती है। बीच-बीच में सुनने वाला कवि के शब्दो मे ही जिज्ञासा और कुतूहल प्रकट करता चलता है अथवा कवि ही यह कह कर कि अब कथा तिलकद्वीप की चलती है या अब गजपुर का हाल सुनो, श्रोताओं का समाधान करता चलता है। इसी प्रकार कथा या कहानी के लगभग सभी तत्त्वों तथा कथा-शैली की संयोजना आलोच्यमान कथाकाव्यो मे प्राप्त होती है।

अपभ्रंश के कवियो ने कथा और चरितकाव्य में कोई अन्तर निर्दिष्ट नही किया है। वे जिस रचना को कथा कहते है उसी को चरित भी। अतएव कुछ विद्वान् उन्हे चरितकाव्य ही मानते है। अभी तक इस दिशा मे कोई शोध-कार्य नही हुआ था। मेरी जानकारी मे संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी मे भी कथाकाव्य की स्वतन्त्र विधा पर किसी ने प्रकाश नही डाला था। यद्यपि संस्कृत मे कथा गद्य मे लिखने का विधान है और अन्य भाषाओ मे पद्य मे, किन्तु गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' के संस्कृत रूपान्तर—बृहत्कथाश्लोकसंग्रह (बुद्धस्वामी), बृहत्कथामंजरी (क्षेमेन्द्र) और कथासरित्सागर (सोमदेव भट्ट) पद्यबद्ध ही मिलते है। इसी प्रकार जातक कथाएँ तथा अफगान देशो की अवदान कथाएँ भी पद्य मे लिखी हुई मिलती है। अतएव पद्य मे कथा लिखने की परम्परा प्राचीन जान पडती है।

भारतीय साहित्य मे कदाचित् प्राकृत और अपभ्रंश-साहित्य मे प्रबन्धकाव्य के रूप मे कथाकाव्य नाम से अभिहित इस साहित्यिक विधा का सूत्रपात हुआ। कथा में घटनाओं की मुख्यता से तथा विभिन्न पात्रो को कई स्थलो पर संक्षेप मे घटित घटनाओं को सुनाने से काव्य मे वस्तु की एक से अधिक बार आवृत्ति हुई है, जिस के कारण निश्चय ही इन्हे महाकाव्य की कोटि का न कह कर एकार्थक कहा जा सकता है। प्रेमाख्यानक कथाकाव्यो मे प्रेम की मधुर व्यंजना अभिव्यंजित हैं। ये कई बातों में हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यो से मिलते-जुलते है। अतएव सूफी तथा प्रेमाख्यानक काव्य और विशेष रूप से जायसी कृत 'पद्मावत' अपभ्रंश के इन कथाकाव्यो की कोटि के है।

अपभ्रंश के इन कथाकाव्यों में प्रबन्ध-रचना कडवक शैली में तथा पद्धड़िया बन्ध मे हुई है, जो इस साहित्य के महाकाव्यों की अत्यन्त प्राचीन (लगभग छठी सदी से) एवं निजी शिल्प-रचना है। अतएव शैली की दृष्टि से तथा सन्धियो की नियत संख्या मे रचित काव्यों को महाकाव्य की कोटि मे रखा जा सकता है। किन्तु प्रबन्ध में दो सन्धियों से लेकर बाईस सन्धियों तक के कथाकाव्यों का विवेचन होने से, व्यापक दृष्टिकोण में तथा साहित्य की एक पृथक् विधा का सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत करने मे कई प्रकार की अतिव्याप्तियाँ लक्षित होने से इन्हे 'एकार्थक' काव्य के अन्तर्गत माना है। यदि कोई 'भविसयत्तकहा' जैसी बडी प्रबन्ध रचना को चाहे तो महाकाव्य भी कह सकता है। किन्तु मेरी दृष्टि मे तो यह कथाकाव्य ही है।

इस प्रबन्ध में दसवी शताब्दी से लेकर सतरहवीं शताब्दी तक के उपलब्ध कथाकाव्यो का विवेचन हुआ है। काल-क्रम के अनुसार रचनाएँ इस प्रकार हैं— पउमसिरीचरिउ (दसवी शताब्दी), धम्मपरिक्खा (वि० स० १०४४), सुदंसणचरिउ (स० ११००), विलासवईकहा (वि० सं० ११२३), भविसयत्तकहा (विबुध श्रीधर, स० १२३०), जिनदत्तकथा (वि० सं० १२७५) सिद्धचक्रकथा (पं० नरसेन, १४वी शताब्दी), जिनदत्त चउपई (सं० १३५३), भविसयत्तकहा (धनपाल, सं० १३९३), सि० क० या श्रीपालकथा (प० रयधू, पन्द्रहवीं शताब्दी) और सत्तवसण-कहा (वि० स० १६३४)। उक्त कथाकाव्यों मे से भ० क०, वि० क०, जि० क०, सि० क० और श्रीपालकथा का तथा भ० क० एवं जि० चउ० का विशेष अध्ययन हो सका है। अवशिष्ट रचनाओं मे से पउमसिरीचरिउ प्रकाशित होने से उस का परिचय मात्र दिया है। सुदंसणचरिउ और सत्तवसणकहा का सम्यक् विवेचन प्रबन्ध के बहुत विस्तृत होने के भय से नही कर सका हूँ तथा धम्मपरिक्खा मे उपदेश प्रधान होने से उस का वर्णन चलता हुआ कर दिया है।

यह प्रबन्ध सात अध्याओ मे निबद्ध है। विषय और भाव की दृष्टि से प्रबन्ध में एकरूपता का बराबर ध्यान रखा गया है। प्रथम अध्याय मे अपभ्रंश भाषा का मौलिक स्थापनाओ के साथ विचार किया गया है, जिस में वैदिक, अवेस्ता और प्राकृतों से अपभ्रंश भाषा के सम्बन्ध का पूर्ण विवरण एवं अपभ्रंश-साहित्य के युग का परिचय प्रस्तुत किया गया है। दूसरे अध्याय मे अपभ्रंश-साहित्य के सामान्य परिचय के साथ उपलब्ध साहित्य का वर्गीकरण कर कथाकाव्य का स्वरूप निर्दिष्ट किया गया है। इसी अध्याय में प्रबन्धकाव्य की स्वतन्त्र काव्यविधा के रूप में संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश की आनु-पूर्वी मे प्रथम बार कथाकाव्य का उल्लेख हुआ है। तीसरे अध्याय मे धनपाल तथा विबुध श्रीधर विरचित 'भविष्यदत्तकथा' का साहित्यिक एवं सास्कृतिक अनुशीलन किया गया है। भविसयत्तकहा के साथ ही चतुर्थ अध्याय में अपभ्रंश के प्रमुख कथाकाव्यों के अन्तर्गत विलासवईकहा (विलासवतीकथा), जिणयत्तकहा (जिनदत्तकथा), जिनदत्त-चउपई, सिरिपालकहा (रयधू) और सिद्धचक्ककहा (सिद्धचक्रकथा नरसेन) की

मूल हस्तलिखित प्रतियों का आद्यन्त अध्ययन कर विशद समीक्षा की गयी है। उक्त सभी कथाकाव्यों के सभी काव्यागों का स्वतन्त्र रूप से विश्लेषण किया गया है। प्रसंगतः प्रकाशित 'पउमसिरीचरिउ' एवं हस्तलिखित धम्मपरिक्खा, सुदंसणचरिउ तथा सत्तवसणकहा का भी उल्लेख हुआ है। अन्य लघु कथाओं का विवरण 'क्षुल्लक कथाएँ' के अन्तर्गत दिया गया है। पंचम अध्याय मे अपभ्रंश-कथाकाव्यों की समालोचित सामान्य प्रवृत्तियों का सर्वेक्षण किया गया है। विषय के सम्यक् अनुशीलन के हेतु षष्ठ अध्याय में लोकतत्त्व का विचार हुआ है। लोकतत्त्व मे लोक-कथाओं के रूप, कथा-मानकरूप, कथाभिप्राय एवं लोकजीवन तथा सस्कृति का परिशीलन किया गया है। इस प्रकार अपभ्रंश भाषा और साहित्य का भाषाविषयक ही नही, साहित्य-समालोचनात्मक एवं लोक-साहित्य तथा सस्कृतिमूलक अध्ययन व चिन्तन प्रस्तुत किया गया है। सप्तम अध्याय मे अपभ्रंश कथाकाव्यो पर सस्कृत-काव्यों के प्रभाव के अतिरिक्त 'भविसयत्त-कहा' के विशेष सन्दर्भ के साथ अपभ्रंश के कथाकाव्यों का हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव दर्शाया गया है। विषय के विस्तार के भय से विवेचन में संक्षिप्तता का पूरा ध्यान रखा गया है। सब के अन्त मे प्रबन्ध सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची तथा शब्दानुक्रमणिका से भी समलंकृत है। अतएव सभी प्रकार से शोध प्रबन्ध को व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक बनाने का उपक्रम किया गया है।

इस समूचे प्रबन्ध को ऐतिहासिक दृष्टि से भी एकरूपता प्रदान करने की चेष्टा की है। ऐतिहासिक आलेखन लोक-जीवन की परम्परा मे ही विशेष रूप से हुआ है। क्योंकि अपभ्रश भाषा और साहित्य लोक-जीवन और संस्कृति से बहुत कुछ ग्रहण कर विकसित हुआ है। लोक-साहित्य विषयक कथा-रूपो तथा अभिप्रायो का विचार भी ऐतिहासिक पद्धति पर हो सका है। साहित्यिक दृष्टि से संस्कृत-प्राकृत और अपभ्रंश की काव्य-धारा मे साहित्यिक विधा का विकास और परम्परा एवं प्रभाव का मूल्यांकन किया गया है। अन्तिम अध्याय मे अपभ्रश के कथाकाव्यों का हिन्दी-साहित्य पर परि-लक्षित प्रभाव का स्वतन्त्र विचार किया है।

यद्यपि अपभ्रंश-साहित्य पर डॉ० हरिवंश कोछड़, डॉ० रामसिंह तोमर तथा डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन के प्रबन्ध प्रकाशित हो चुके है, किन्तु अभी तक कई रचनाएँ प्रकाश में नही आ सकी है। अधिकाश काव्यों का परिचय मात्र ही मिलता है। अतएव कई अप्राप्य तथा अविवेचित रचनाओ का अनुशीलन कर इस अछूती भूमि को प्रथम बार स्पर्श किया है। प्रबन्ध मे विवेचित काव्य अधिकतर हस्तलिखित एवं अप्रकाशित कथा-काव्य है, जिन को ढूँढ निकालने मे लेखक को बहुत समय तथा श्रम लगा है। वस्तुतः विषय और विवेचन की दृष्टि से यह प्रथम मौलिक प्रयास है।

प्रबन्ध की रूप-रेखा मे लोक-साहित्य विषयक स्वतन्त्र खण्ड की योजना का सुझाव दे कर डॉ० सत्येन्द्रजी ने जो उपकार किया है, उस के लिए मैं हृदय से उन का आभारी हूँ। उन को 'लोक-साहित्य विज्ञान' नामक पुस्तक से अध्ययन करने मे बहुत

सहायता मिली है। डॉ० कोछड़ का प्रबन्ध भी सहायक सिद्ध हुआ है। विशेष रूप से मैं पं० चैनसुखदास, न्यायतीर्थ और डॉ० कस्तूरचंद कासलीवाल का कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने कड़े प्रतिबन्धों के बीच समय पर हस्तलिखित ग्रन्थ भेज कर मेरी सहायता की और जिन के बिना यह कार्य हो सकना संभव नहीं था। इसी प्रकार श्री दलसुख भाई मालवणिया का भी विशेष आभारी हूँ, जिन्होंने 'विलासवईकहा' की अप्राप्य प्रति की समग्र फोटो कॉपी भेज कर यथोचित सहायता प्रदान की।

मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि भारतीय ज्ञानपीठ की मुद्रण-प्रक्रिया के अन्तर्गत यह शोध प्रबन्ध ज्यों का त्यों प्रकाशित हो रहा है। मेरा प्रारम्भ से ही यह विचार था कि प्रबन्ध मूल रूप मे ही प्रकाशित हो। इस प्रकाशन के लिए मैं डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये तथा डॉ० हीरालाल जैन का हृदय से आभारी हूँ। प्रिय मित्र डॉ० गोकुलचन्द्र जैन को किसी भी प्रकार भूल सकना मेरे लिए सम्भव नहीं है। डॉ० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी ने अपने व्यस्त क्षणों में से कुछ समय निकाल कर जो 'पुरोवचन' लिखने की कृपा की, उस के लिए मैं अन्तःकरण से उन का कृतज्ञ हूँ। मुझे जिन विद्वानों तथा मित्रों का प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग मिला है मैं उन सभी का आभार मानता हूँ। भारतीय ज्ञानपीठ संस्था का विशेष आभार है; जिस के अधिकारी जनों व मुद्रण-विभाग की तत्परता से यह प्रबन्ध यथाशीघ्र ही पाठकों के हाथों में पहुँच सका है। वस्तुत इस प्रबन्ध की सफलता विद्वत् पाठकों के परितोष पर निर्भर है। यदि अनुसन्धित्सुओं तथा जिज्ञासुओं के लिए यह किसी भी प्रकार सहायक सिद्ध हो सका तो अपना श्रम सार्थक समझूँगा। महाकवि कालिदास के शब्दों मे—

"आपरितोषाद् विदुषा न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।"

आशा है, विज्ञजन त्रुटियों की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए इस का समुचित मूल्यांकन करेंगे।

अन्त में सभी सुधीजनों के कर-कमलों में यह प्रबन्ध भाव-प्रणति पूर्वक समर्पित है। यथार्थ में काव्य-कला तथा कवि के शब्द-व्यापार का मर्म सम्यक् रूप से जान लेना अत्यन्त दुर्बोध है। अतः यही कहना पड़ता है—

हउं मूढ णिबंधणु गुणणिरत्थु,
जाणउं ण सद्द-वावार सत्थु।

—देवेन्द्रकुमार शास्त्री

१७ दिसम्बर, १९७०

संक्षिप्त शब्द-संकेत-सूची

१. अनु०	अनुवाद या अनुवादक
२. ऋ०	ऋग्वेद
३. क० द०	कवि दर्पण
४. जि० क०	जिनदत्तकहा
५. जि० च०	जिनदत्तचउपई
६. टि०	टिप्पण
७. प० च०	पउमचरिउ (स्वयम्भू)
८. प्रा० पैं०	प्राकृतपैंगलम्
९. भ० क०	भविसयत्तकहा (धनपाल)
१०. वि० क०	विलासवईकहा
११. श०	शतपथब्राह्मण
१२. श्री० क०	श्रीपालकथा (प० रयधू)
१३. स० क०	सत्तवसणकहा
१४. सि० क०	सिद्धचक्ककहा (पं० नरसेन)
१५. सा० द०	साहित्यदर्पण
१६. सु० द०	सुदसणचरिउ

•

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

●

भविसयत्तकहा
तथा
अपभ्रंश-कथाकाव्य

प्रथम अध्याय

अपभ्रंश भाषा : परम्परा और युग

प्रत्येक देश और जाति के मूल संस्कार उसकी अपनी भाषा, साहित्य तथा संस्कृति में निहित रहते हैं। जातीय जीवन, लोक परम्परा एवं सामाजिक नीति-रीतियों के अध्ययन से हमे उनकी पूरी जानकारी मिलती है। अतएव भाषा और साहित्य का प्रत्येक अंग लोक-मानस की अभिव्यक्ति का ही लिपिबद्ध स्वर होता है। मौखिक रूप में आज भी हमें गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' तथा प्राकृत और अपभ्रंश मे लिखित कथाएँ, सूक्तियाँ, सुभाषित एवं अन्य उक्तियाँ गाँवों में प्रचलित सुनाई देती हैं। वस्तुतः युग-युगों से साहित्यिक तथा सामाजिक परम्परा परस्पर विचारों का विनिमय करती आयी है। इसलिए परम्परा में केवल इतिहास तथा पौराणिकता का लेखा-जोखा न हो कर लोक-जीवन मे परिव्याप्त यथार्थ और आदर्श, रूप-कुरूप, नीति और उपदेश तथा वृत्ति एवं रीति का भी समाहार हो जाता है।

प्रायः जाति तथा सम्प्रदाय का सम्बन्ध विभिन्न धर्म-नीति एवं भाषा से रहा है। यदि पालि बौद्धों की भाषा ख्यात रही है तो प्राकृत जैनो की और संस्कृत पुरोहितों की। किन्तु कुछ बोलियाँ प्राग्वैदिक काल से जन-सामान्य की लोक-धारा मे प्रवाहित एवं प्रचलित रही है, जिनमे उस युग के शब्द-रूपों की बानगी आज भी स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। उदाहरण के लिए मन, गौ, लाजा, रथ तथा दो, छह और सात आदि अन्तर्राष्ट्रीय भाषाओं मे प्रयुक्त शब्द हैं[1]। लोक भाषाओ में प्रचलित कुछ वैदिक शब्द इस प्रकार है—अजगर[2], भेडो, लाहा, रोट्[3] इत्यादि। कुछ भिन्न अर्थों मे प्रयुक्त शब्द भी मिलते हैं[4] तथा कई विकसित रूप मे[5]।

---

१. मन (श० १४।४।३।६), अवेस्ता, यस्न ६,२६ ।तथा मन (Man) के लिए देखिए—वेब्स्टर्स न्यु इण्टरनेशनल डिक्शनरी, पृ० १४६१। गच्छतीति गौ (श० ६।१।२।३४), गोस शब्द के लिए देखिए, पेई द्वारा लिखित "द वर्ल्डस् चोफ लैंग्वेजेज"। दो, छह और सात शब्दों के लिए भी वही द्रष्टव्य है। "लाजैर्जुहोति" (श० १३।२।१।५), देखिए, टर्नर की नेपाली डिक्शनरी। रथ (ऋ० ६।७५।६), लेटिन तथा आइरिश आदि भाषाओं में भी मिलता है।

२. अजगरो नाम सर्प (ऋ० ५।४।२२), अजगर (अजिडर्), भेडो, लावा, लाहा।

३ रोट् और बेत् आदि शब्दों के लिए—टर्नर की नेपाली डिक्शनरी द्रष्टव्य है।

४. चरु, चमस् और देव-असुर आदि। चरु (ऋ० ७।६।५२), चमस (श० ४।२।१४)।

५. मेह, शूर्प(सूपा), उलूखल (उखलो, ओखली), मुसल (मूसल), दाति (दाँता) आदि। शूर्प, उलूखल, मुसल शब्दों के लिए देखिए, श० १,१,४। मेह (निरुक्त २,६,४) "दातिर्लवनार्थे।" निरुक्त, २,१,४।

यही नही, गृध् से गिधाना (ललचाना), लवन से लुनना, मुष् से मूसना तथा घुण्ट से घूँटना आदि क्रियाएँ वैदिक परम्परा को सुरक्षित बनाये हुए हैं। इसी प्रकार कुछ शब्दों में वैदिक रूपो के अवशेष दृष्टिगोचर होते है। यथा—उपाध्याय का—पाध्ये (मराठी), वलीवर्दः का वर्दा (बुन्देली, छत्तीसगढ़ी); श्मसान (शवस्य शयनं इति श्मशानम्) का मसान आदि।

इस प्रकार परम्परा का यह स्रोत मूल धारा तक उसी प्रकार अक्षुण्ण दिखाई देता है जिस प्रकार गंगा का उत्स सागर-तट से ले कर हिमगिरि की उपत्यकाओ तक विविध रूपो मे प्रसरित होने पर भी एक रूप मे लक्षित होता है।

भाषा, संस्कृति तथा इतिहास का इतिहास किसी न किसी रूप में परस्पर सम्बद्ध है। सामाजिक रीति-पद्धति, भोजन-पान तथा पारिवारिक जीवन के विभिन्न अंगों पर उनकी छाप स्पष्ट रूप से देखी जाती है। अतएव वैदिक मूर्धन्य 'ल' का प्रयोग भले ही लौकिक संस्कृत मे न हो, पर महाराष्ट्र तथा दक्षिण के घरानों मे आज भी प्रचलित है। ऋग्वेद मे 'पेरु' शब्द देवता अर्थ का वाचक है[1]। महाराष्ट्र और होशंगाबाद में जामफल को अब तक पेरु कहते है। बंगला में इसी का शब्द-रूप प्यारा और उड़िया मे पिचड़ है। प्राचीन इजिप्ट के देवता सूर्य Ph-R̄a को भी पेरु कहा गया है[2]। सम्भवत जिस प्रकार बेल पत्र, धतूरा तथा फूल और फलों को महादेव पर चढ़ाने का विधान है उसी प्रकार अन्य देवी-देवताओं पर किसी समय पेरुक (जामफल) चढ़ाना विहित रहा हो। क्योंकि अर्चा की विधि मे पत्र, पुष्प और फलो का उपयोग अत्यन्त प्राचीन काल से इस देश मे रहा है।

युग के युग पलट जाते है, पर भाषा और संस्कृति नही पलटती। परिवर्तनों के बीच भी उसका मूल रूप सुरक्षित रहता है। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि भाषा बोलियो से जो कुछ भी ग्रहण करती है उसे अपनी प्रकृति मे ढाल लेती है, अपनी प्रकृति का उन्हे अंग बना लेती है। इसलिए भाषा की प्रकृति मे कोई विकार नही आता और बाह्य अंग-प्रत्यंगो मे विकास होता रहता है। किन्तु विभिन्न संस्कृतियों के संगम मे जब भाषा त्रस्त हो जाती है तब उस के मूल रूप को ढूँढ़ना असम्भव नही तो बहुत कठिन अवश्य हो जाता है। सिकन्दर के आक्रमण के पश्चात् भारतवर्ष में यूनानी, शक, सिथियाई, हूण, अरब, तुर्क, मंगोल आदि लोगों का निरन्तर आवागमन होता रहा है। यहाँ की सभ्यता, संस्कृति और भाषा से जहाँ वे अत्यन्त प्रभावित हुए

---

१ समोचीना सुदानव प्रीणन्ति त नरो हितमवमेहन्ति पेरव ।—ऋग्वेद, ६,७४,४। नरो नेतार पेरव. । पा रक्षणे । मापोरिन्वे रुन्निति रुन्प्रत्यय' । सर्वस्य रक्षका' । इति तद्भाष्ये सायण ।

२ जी० रामिलन्सन ' द रिलीजन्स आव द एनशियेन्ट वर्ल्ड, पृ० २७। तथा—
"The Chief deity of the Lithuanians was Perkunas or perkuns, the god of thunder and lighting, whose resemblance to zeus and Jupiter has often been pointed out" Frazer The golden Bough, part I, Vol II, Page 365. See, same, Part—V, Vol. I page 233.

वहीं उनकी रीति-नीति तथा भाषा का भी प्रभाव इस देश पर पड़ा। इस लिए यह स्वाभाविक ही था कि उनकी भाषाओं के शब्द हमारी भाषाओं में प्राप्त हों।

संस्कृत भाषा में कई शब्द विदेशी भाषाओं से गृहीत हैं। प्रत्येक भाषा की उधार लिये जाने वाले शब्दों की प्रक्रिया विशेष होती है। क्योंकि कोई भी भाषा शब्दों को ज्यों का त्यों बहुत कम ग्रहण करती है। नये शब्दों की रचना तथा बाहरी शब्दों को अपनाने की प्रक्रिया लगभग समान होती है। संस्कृत भाषा मे विदेशी शब्दों को ग्रहण करने के लिए सामान्यतः शब्द के आगे 'क' जोड दिया जाता है। यह 'क' स्वार्थिक प्रत्यय कहा जाता है। इस से अर्थ मे कोई परिवर्तन नही होता। भाषा में यह प्रवेश-द्वार के समान है। संस्कृत मे अधिकांश देशी और विदेशी शब्दों मे स्वार्थिक प्रत्यय 'क' जुड़ा मिलता है। यथा—भण्टाक, होलक, कन्दुक, कावृक, तक्षक, वारक, पाटक, लासक, दर्दरक, फर्फरीक, तर्तरीक, खोलक, चीनक, तुरुष्क, घोटक, पुस्तक आदि। जन-जीवन की शब्दावली मे स्पष्टतः ऐसे रूप मिलते है जो शताब्दियों के इतिहास को सहेजे हुए है। भाषा का यह प्रवाह समूचे राष्ट्र के परिवर्तनशील युगों की गाथा है, जिसमे आर्य तथा आर्येतर संस्कृति की पूरी झलक प्रतिबिम्बित है। मध्ययुगीन भारतीय आर्यभाषाएँ उसी की कडी मात्र हैं, जिनमे लोकतत्त्व विशेष रूप से समाया हुआ है।

भारतवर्ष से ले कर आयरलैण्ड तक के विविध देशों की विभिन्न भाषाएँ आर्य-भाषाएँ कही जाती हैं। आर्यभाषाओ की शब्द-सम्पत्ति तथा खत्ति, मिताम्नि, खस और ईरानी आदि जातियों के इतिहास से पता लगता है कि आदि आर्यभूमि भारत से बाहर थी[1]। वैदिक युग के पूर्व ईरान और भारत एक थे। अवेस्ता तथा वेदों में समान रूप से यज्ञपरायण संस्कृति के दर्शन होते है। दोनो की भाषा मे भी अत्यन्त साम्य है। अवेस्ता तीन भागो में निबद्ध है—यसन, विस्पेरेद और वेन्दीदाद। यसन मे गाथा भाग सर्वप्राचीन है। गाथाएँ छन्दो मे है।[2] अवेस्ता की भाषा मे कुछ विशेषताएँ प्राकृतों की भी मिलती है। उदाहरण के लिए—संस्कृत अन्त्य अस् अवेस्ता मे प्राकृत की भाँति ओ देखा जाता है। यथा—अर्यस् (वै०), अइर्यो (अवे०)। अरुपस् (वै०), अउरुपो (अवे०) आदि। प्राकृतों मे प्राय अन्त्य 'ओ' मिलता है। इस के उदाहरण है—भट्टो, पुत्तो, गुत्तो, सावओ, नाहो, देवो, चउत्थो, पंचमो, छट्ठो, सत्तमो, तईओ, विईओ, पढमो, अरिट्ठो, कम्मो, जंघो, घम्मो, दंतो, चंदो, वलो, तिलओ, मल्लो, सीसो, जक्खो, महल्लो तथा कप्पो आदि। सामान्य रूप से प्राकृत की प्रवृत्ति ओकारान्त है।

संस्कृत मे एक साथ एक पद मे दो स्वर प्रयुक्त नही होते। किन्तु अवेस्ता मे

---

१. डॉ० हेमचन्द्र जोशी—आदि-आर्यों का मूल स्थान शीर्षक लेख, सरस्वती अंक फरवरी १९५९, पृ० ८९।

२. जहाँगीर सोराबजी—'सिलेक्शन्स फ्रॉम अवेस्ता' की भूमिका। कुछ शब्द हैं—खंथ्र (क्षत्र), गाथु (गातु), चिथ्र (चित्र), पुथ्र (पुत्र), बूमी (भूमि), दूर, चित्, आयु आदि। देखिए, पं० राजाराम+अवेस्ता का पोद्घात पृ० ५८।

व्यंजनों के संयोग की भाँति स्वरयोग की भी बहुलता है। अवेस्ता का स्वरयोग प्रवृत्ति, निवृत्ति, भक्ति, तथा शांति के भेद से चार प्रकार का है[1]। प्राकृतों में भी स्वर के बाद स्वर का प्रयोग बहुल है। यथा—पूइआ, इअ,पूअइ, नईए, धमिआ, पीआ, तओ, गलिआ, वईओ, एअस्स, तईए, नईओ, नमुई, भोइओ, भूमीए तथा पमाए इत्यादि। प्राकृतों में ही नहीं, यह प्रवृत्ति अपभ्रंश में भी दिखाई देती है। जैसे कि—आइअ, ओइण्ण, उइइ, एउ, धारेइ, आलोइउ, कंखिरीए, देउ, भेउ, पालेइ, दइउ और उइन्न आदि। अपभ्रंश में प्रवृत्ति स्वरयोग की भाँति निवृत्ति स्वरयोग के भी उदाहरण मिलते हैं। इसे वैयाकरणों की भाषा में सम्प्रसारण कहते हैं। इसमें 'य' को 'इ' तथा 'व' को 'उ' होता है। अवेस्ता में गायम् को गाइम्, अभवन् को वाउन्, अब्रवम् को नाउमो और यवम् को यओम् हो जाता है। प्राकृत में इसके उदाहरण विरल हैं। अपभ्रंश के अलाउ (अलावु) झुणि (ध्वनि), दइय (दयित), केयारउ (केकारव), देउल (देवकुल), तुरिउ (त्वरित), उत्ति-(उक्ति-वचन), पउत्ति (प्रोक्ति), पउत्ति (प्रवृत्ति), आदि में निवृत्तिस्वर योग स्पष्ट है। स्वर-परिवर्तन के विविध रूप तथा भक्तिस्वर योग भी प्राकृत-अपभ्रंश में दिखाई देता है। स्वरभक्ति वैदिक संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में समान रूप से मिलती है, परन्तु संस्कृत-साहित्य की भाषा में उसके दर्शन नही होते। इसी प्रकार वेदों में तथा प्राकृतों मे 'ऋ' के स्थान पर 'उ' लक्षित होता है। यथा—ऋतु, उउ। कृत, कुठ (ऋग्वेद)[2]। किन्तु वेदों में ऐसे प्रयोग विरल हैं। ऋ, ऌ और ल वेदो के विशेष स्वर हैं। जान पड़ता है कि इन स्वरो के स्थान पर अन्य स्वरों का प्रयोग सरलीकरण की प्रवृत्ति के अनुसार बोलियों से वेदों की भाषा मे अपना लिया गया होगा। क्योंकि अवेस्ता तथा वेदो मे मूर्धन्य ध्वनियाँ प्रधान हैं। वैदिक और प्राकृत भाषा मे कुछ ऐसी समान बातें मिलती हैं, जो लौकिक संस्कृत में प्राप्त नही होती। श्री वी० जे० चोकसी ने दोनों मे जिन समान प्रवृत्तियो का निर्देश किया है वे इस प्रकार हैं—

१. वैदिक और प्राकृत मे सन्धि के नियम शिथिल है, पर संस्कृत मे नही हैं। यथा—भार्या–भारिया, क्लिष्ट–किलिट्ठ। स्वरभक्ति भी समान है।

२. विभक्तियों में भी सादृश्य दृष्टिगोचर होता है। वैदिक आस (देवास) प्राकृत में आहो (पुत्ताहो) तथा आये, आए हो जाता है। इसी प्रकार 'एभिः' एहि के रूप मे मिलता है।

३. प्राकृत के कुछ शब्दों का सीधा सम्बन्ध वैदिक शब्दावली से है। उदाहरण के लिए पासो (वै० पश्), तात्, यात् तथा एत्थ (वै० इत्था) शब्दो को गिनाया जा सकता है, जिनका शास्त्रीय संस्कृत से कोई सम्बन्ध नही है।

---

१. वही, भूमिका।

२. वी० जे० चोकसी—कम्पेरेटिव प्राकृत ग्रामर पृ० ७।

४. *प्राकृत और वैदिक संस्कृत में ऋ को उ हो जाता है। उउ (ऋतु), कुठ (वै०)।*

५. संयुक्त व्यंजनों में दो में से एक का लोप कर ह्रस्व स्वर को दीर्घ कर देते हैं। यथा—दूलभ, दूलह। ऋग्वेद में भी ये मिलते हैं।

६. अन्त्य के दो व्यंजनों में से अन्तिम का लोप हो जाता है। उदाहरण हैं—तावत्-ताव, यशस्, जश। वैदिक पश्चात्–पश्चा, उच्चात्-उच्चा, नीचात्–नीचा।

७. संयुक्त र् या य् का लोप हो जाता है। जैसे—प्रगल्भ-पगब्भ, श्यामा-शामा, वैदिक अप्रगल्भ-अपगल्भ।

८. जब स्वर किसी व्यंजन के साथ सयुक्त हो और यदि वह दीर्घ हो तो ह्रस्व हो जाता है। यथा—पात्र-पत्त, रात्रि-रत्त, चूर्ण-चुण्ण।
वैदिक अमात्र-अमत्त।

९. दोनों मे द् को ड् हो जाता है। जैसे कि—दण्ड-डन्ड, दंस-डंस। वैदिक पुरोदास–पुरोडास।

१०. दोनो मे ध् को ह् हो जाता है। यथा-बधिर-बहिर। प्रतिसंहाय (वै०)

११. कर्त्ता कारक एकवचन संज्ञा शब्दों में अन्त्य अ को ओ हो जाता है। जैसे—देवो, जिणो। वैदिक संवत्सरो, सो।

१२. दोनों में हो तृतीया कारक बहुवचन मे हि और भि विभक्ति का प्रयोग होता है। यथा—देवेहि, देवेभिः (वै०)।

१३. दोनों मे ही षष्ठी का प्रयोग चतुर्थी के लिए होता है।

१४. दोनों में ही पचमी विभक्ति का अन्त्य त् लुप्त दिखाई देता है। यथा—देवा-देवात्, जिणा-जिणात्, वैदिक उच्चा-उच्चात्, नीचा, पश्चा।

१५. दोनों मे ही द्विवचन नही है। जैसे कि—रामलक्खणा (प्रा०)। वैदिक इन्द्रावरुणा (इन्द्रवरुणौ)। दो, दुवे, वे (प्रा०)।

इस अध्ययन से चोकसी महोदय इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि प्राकृत का निकास शास्त्रीय संस्कृत से न हो कर वैदिक संस्कृत से हुआ है तथा भारतीय वैयाकरण इसी तथ्य को स्वीकार करते है।[1] अवेस्ता के गाथिक भाग, ऋग्वेद तथा प्राकृतों के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि इनका मूल स्रोत एक ही है। पालि और शिला-लेखों की भाषा तथा वेदों की भाषा में अत्यन्त साम्य है। इन की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

१. अवेस्ता की भाषा तथा प्राकृतों मे प्रथमान्त एकवचन में ओ विभक्ति मिलती है। यथा—यो, नो (य० अवे०), सूनो, द्रुजम्नो, दुज़िम्नो, हमो, हामो (अवे०) आदि। पालि में भी पुं०-नपुं० लिंग अकारान्त शब्दों के कर्त्ता कारक एकवचन में ओ होता है। मागधी में इसे ए तथा लगभग सभी प्राकृतों में आ पाया

१. वही, पृ० ८।

जाता है। प्राकृत की प्रवृत्ति ही ओकारान्त कही जाती है। लाड़ी और कच्छी सिन्धी में तथा पुरानी राजस्थानी मे भी कुछ अकारान्त संज्ञा शब्द ओकारान्त मिलते हैं। यथा—अथाणो, दादो, मथो, घोडो, रामो, गोविन्दो, किशिनो, जो, सो (सिन्धी) इत्यादि। हाथो, आखो, नेहो, ऊतर्‌यो, ओ, दीहड़ो, आजूणो, तो, दूहो, कपडो तथा मेवाडो (प्रा० राज०) आदि।

२. अशोक की प्राकृत और पालि के मूल अंशो मे ऋ तथा लृ स्वर नही मिलते। विद्वानों की मान्यता है कि उन मे ऐ, औ, अय, अव, ए, ओ, अन्त्य व्यंजन और विसर्गों का लोप है। घोषभाव की प्रक्रिया का पता यही से मिलने लगता है। अवेस्ता मे भी कहीं-कही 'ऋ' के स्थान पर 'र' दिखाई देता है। यथा—रतूम्, गरमम् (घर्मम्), दरगम् (दीर्घम्)। किन्तु इस का कारण स्वरभक्ति कहा जा सकता है। स्वरभक्ति पालि, प्राकृत और अपभ्रंश मे भी पायी जाती है।

३. अवेस्ता को भाषा एक हो कर भी प्रान्तीय भेदो से भिन्न है। शिलालेखो की भाषा पश्चिमी ईरानी कही जाती है, जिसे पुरानी फ़ारसी कहते है। उस से पहलवी तथा पहलवी से वर्तमान फारसी का विकास हुआ है।[1] प्राकृत भाषा भी प्रादेशिक भेदों से कई प्रकार की कही गयी है।

४. अवेस्ता और प्राकृत—साहित्य का प्रारम्भिक भाग गाथा मे निबद्ध है।[2] गाथा प्राकृत का औरस छन्द माना जाता है। सामान्यतः गाथा शब्द से प्राकृत का बोध होता है। जैनों के सर्व प्राचीन ग्रन्थ गाथाबद्ध है।

५. वैदिक की भाँति पालि और प्राकृत मे भी द को ड हो जाता है। यथा—पुरोडास (वै०), डहं (दहन्), डंस (प्राकृत)। अपभ्रंश मे भी यही प्रवृत्ति मिलती है—डहइ, खुडिय, डोलइ, डुक्कर आदि। सिन्धी मे भी यह है।

६. प्राचीन भारतीय आर्यभाषाओ मे स्वरावस्थान तथा सम्प्रसारण अवेस्ता, वैदिक, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश मे भी प्राप्त होता है।

७ अवेस्ता मे तीनों लिगो के लिए सामान्ये नपुंसकम्[3] का प्रयोग है। वैदिक भाषा मे लिंग एवं कारकों का व्यत्यय कहा जाता है। प्राकृत तथा पालि में भी नपुंसक लिंग का सामान्य प्रयोग और विभक्तियों का विनिमय देखा जाता है। षष्ठी विभक्ति वैदिक, संस्कृत और प्राकृत मे ही नही अपभ्रंश मे भी व्यापक रही है। षष्ठी के एकव० मे चतुर्थी के एकव० का हो जाना सामान्य प्रवृत्ति थी। वैदिक में भी इसके प्रयोग मिलते हैं। अपभ्रंश में लिंग की अत्यन्त अव्यवस्था है। अवेस्ता की भाँति इसमे किसी भी लिंग के लिए नपुंसक लिंग का हो जाना साधारण बात है।

८. पालि, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी मे द्विवचन नही है।

---

१. जहाँगीर सोराबजी—सिलेक्शन्स फ्रॉम अवेस्ता की भूमिका।
२. ता दाओ स्पन्ता मइन्यू मज्दा अहुरा। गाथा ३,१,६।
३. जहाँगीर सोराबजी—सिलेक्शन्स फ्रॉम अवेस्ता भूमिका।

९. वैदिक और संस्कृत सन्धिबहुल हैं[1], पर प्राकृत और अपभ्रंश में यह बात नहीं है।

१०. पश्चिमी पालि में ष का लोप मिलता है और पूर्वी में श, ष, स के स्थान पर श का व्यवहार। मागधी प्राकृत तथा अपभ्रंश में भी पूर्वी अपभ्रंश की भाँति श का प्रयोग व्यापक है।[2]

इस अध्ययन से कई बातें स्पष्ट हो जाती हैं। पहली तो यह कि वैदिक और अवेस्ता की भाषा में अत्यन्त साम्य है तथा उसकी कुछ विशेषताएँ पालि और प्राकृत में ही नहीं अपभ्रंश में भी मिलती हैं। दूसरी यह है कि कुछ वैदिक शब्द-रूप तथा प्रयोग प्राकृतों में सामान्य हैं, जिनसे पता लगता है कि वेदों में उनका व्यवहार बोलियों से हुआ होगा। तीसरी यह कि अवेस्ता और प्राकृतों की सामान्य प्रवृत्ति ओकारान्त (देओ-देवो) है, जो वेदों की भाषा में नहीं है। इसी प्रकार यस्न भाग तथा प्राकृत-अपभ्रंश में ह्रस्व ए, ओ का प्रयोग है, पर वेदों में नहीं है।[3] चौथी अवेस्ता तथा प्राकृत-अपभ्रंश में स्वर के पश्चात् स्वर का व्यवहार एक ही पद में होता है, किन्तु वैदिक तथा संस्कृत में स्वर के पश्चात् स्वर प्रयुक्त नहीं होता। पाँचवी, स्वरयोग के विविध रूप इन परवर्ती भाषाओं में विशेष हैं, जो वेदों की भाषा में नहीं है। 'य' श्रुति भी इनमें मिलती है। इन सब बातों से यह पता लगता है कि वेदों की भाषा से प्राकृत बोलचाल की भाषा के अधिक निकट रही है। इसका एक प्रमाण यह भी है कि वेदों में तथा संस्कृत में जो वैकल्पिक रूप मिलते हैं वे प्रायः बोलियों के हैं। महर्षि पाणिनि और पतंजलि के निर्देशों से भी इसी बात की पुष्टि होती है।[4]

आर्य भाषा

भाषावैज्ञानिकों ने आर्य भाषा का सम्बन्ध विरोस् (WIROS) से या इयु प्रजा से बताया है। किसी समय इस प्रजा ने एशिया का परिभ्रमण किया होगा और तभी विभिन्न जातियों के सम्पर्क से भाषागत विविध परिवर्तन सम्भव हुए होंगे। जो भी हो, एक ओर आर्य भाषा का सम्बन्ध भारोपीय कुल से है और दूसरी ओर ईरानी कुल से। आर्य प्रजाएँ अवश्य ही किसी समय युरॅप से ले कर भारतवर्ष के मध्य प्रदेश तक फैली होगी। आर्य यज्ञमूलक सस्कृति के पुरस्कर्त्ता थे। ईरानी और आर्यों के देवता,

---

१. सन्धिः संस्कृतबहुलम्। प्राकृतानुशासन—पुरुषोत्तमदेव, ३६।

२. षसोः शः। प्राकृतानुशासन-पुरुषोत्तमदेव, २०, ३।
तथा रसयोर्लशौ मागधिकायाम्। इति नमि साधु।

३. न च लोके न च वेदे ह्रस्व एकार ओकारः। सिद्धहेमशब्दानुशासन।
नैव लोके न च वेदेऽकारो विवृतोऽस्ति। महाभाष्य, १ आ, १ पा०, २ आ०।
नैव लोके न च वेदे दीर्घप्लुतौ संवृतौ स्तः। वही, १, १, १।

४. जराया जरसन्यतरस्यां (भाषायाम्)। ७।२।१०१। तथा—विभाषा तृतीयादिष्वचि, पाणिनि व्याकरण, ७।१।९७। "विभाषा वृक्षमृगादीनाम्", १,१,६। दीपादीनां विभाषा महाभाष्य, १ अ० १ पा० ६ आ०, पृ० ३३८-३९। महाभाष्य।

संस्कृति, उपासना, संस्कार तथा सभ्यता में अत्यन्त समता है। अवेस्ता में मित्र और वरुण के अतिरिक्त नासत्या, विवस्वत्, यम तथा वृत्रहन् आदि का उल्लेख मिलता है। इन देवताओं के नाम बोगाज़कोई अर्थात् वर्तमान अंकारा के पास मिलते हैं।[1] इसीलिए प्राथमिक युग की भारतीय आर्य भाषा को प्राचीन भारत-ईरानी (Old Indo-Aryan) या आदिम भारतीय आर्य भाषा कहा जाता है। आर्यन् शब्द पुरानी फ़ारसी में एर्यन् मिलता है। इस से स्पष्ट है कि भारत के तथा ईरान के आर्य किसी समय उत्तर की ओर एक ही स्थान पर रहे होंगे। स्थान-परिवर्तन तथा भौगोलिक भिन्नता के कारण धीरे-धीरे उन की भाषा में बहुविध परिवर्तन होते गये, और आज उन की शाखाओं में आश्चर्यजनक भेद दिखाई देता है। आर्यों का प्राचीनतम साहित्य वेद और पारसियों का अवेस्ता है। वेदों की अपेक्षा अवेस्ता की भाषा में बोलियों की झलक स्पष्ट है। जिस प्रकार प्राचीन भारतीय आर्य भाषा से पालि, प्राकृत, अपभ्रंश तथा आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का विकास हुआ उसी प्रकार अवेस्ता की भाषा से पुरानी फ़ारसी, पहलवी तथा वर्तमान फ़ारसी का विकास हुआ। आधुनिक फ़ारसी पर अवश्य अरबी का अधिक प्रभाव कहा जाता है।

अनुमान है कि २००० से १५०० ई० पू० के लगभग आर्यों के दल उत्तर-पश्चिमी सीमान्त से भारत में प्रविष्ट होने लगे थे। सर्वप्रथम वे सप्तसिन्धु प्रदेश में विस्थापित हुए होंगे। पश्चात् पूर्व तथा दक्षिण की ओर फैले होंगे। भारत में आर्यों के आगमन के पूर्व यहाँ द्रविड, कोल, मुण्डा आदि आर्येतर प्रजाएँ रहती थीं। किन्तु यूनानी राजदूत मेगस्थनीज़ के भारत में आने के समय तक आर्य संस्कृति दक्षिण तक फैल चुकी थी। आर्यों के भारत-विजय के मुख्य तीन कारण थे—सुविकसित भाषा, अश्व और यज्ञपरायण संस्कृति।

प्रथम भूमिका—आर्य लोग आर्येतर प्रजाओं पर धीरे-धीरे जिस प्रकार अपना प्रभाव डालते रहे, उसी प्रकार प्रभाव रूपमें समय-समय पर कुछ-न-कुछ ग्रहण भी करते रहे। आर्य, द्रविड और आस्ट्रिक परिवारों की लगभग सभी भाषाओं में मूर्धन्य वर्ण मिलते हैं, जिसे द्रविड़ प्रभाव कहा जाता है। इसी प्रकार शब्दों को दोहरा कर बोलने की प्रवृत्ति आस्ट्रिक प्रभाव को सूचित करती है। भारत में केवल आर्य ही नहीं अन्य जातियों के आने के भी प्रमाण मिलते हैं। उत्तरी बंगाल, आसाम, और पूर्वी बंगाल की खासी जातियों से सम्बद्ध मौन तथा ख्मेर जातियों का आर्य होना यही सूचित करता है।[2] कई मिश्रित जातियाँ इस देश में वर्षों से रही हैं। इन का संकेत हमें पुराणों में भी मिलता है। बर्बर, म्लेच्छ, असुर, नाग तथा शबर आदि के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। दसवीं शताब्दी के पूर्व बंगाल में बोड़ो जाति की एक शाखा कम्बोजी ने कुछ समय के लिए उत्तरी बंगाल पर आधिपत्य स्थापित किया था। उस के पहले ही तिब्बत-चीनी की

१. डॉ० जोशी—आदि-आर्यों का मूलस्थान, सरस्वती, पृ० ६०।
२. शिवशेखर मिश्र : भारतीय संस्कृति में आर्येतरांश : प्रथम संस्करण, पृ० ३७।

तिब्बत-बर्मी शाखा का बोड़ो समुदाय (बोड़ो, मेच, कोच, कछारी, राभा, गारो, तिपुरा) आसाम तथा पूर्वी बंगाल में बसता हुआ समूचे पूर्वी और उत्तरी बंगाल में फैल गया था[1]। विभिन्न तथा विविध जातियों के संगम के ही परिणामस्वरूप यहाँ की भाषाओं में वैविध्य लक्षित होता है। स्वाभाविक परिवर्तन के साथ भाषा में शताब्दियों तक विशेष बदलाव नही होता। यद्यपि आर्यों के विकास क्षेत्र मे अनेकों प्राकृतिक तथा मानवीय बाधाएँ पहाड़ों की भाँति सामने अडती रही और भाषा मे भी परिवर्तन-विवर्तन होते रहे, किन्तु उन की भाषा का अविच्छिन्न रूप सहस्राब्दियों के पश्चात् भी वैदिक साहित्य मे सुरक्षित है।

भाषाविषयक इतिहास की दृष्टि से भारतीय आर्य भाषाओं की तीन अवस्थाएँ कही जा सकती हैं। पहली अवस्था में आर्य भाषा का इस देश में प्रसार हुआ और आर्येतर भाषाओं का संघर्ष। धीरे-धीरे उस की जड़ रुप गयी तथा उस में साहित्य लिखा जाने लगा। वेद और ब्राह्मण ग्रन्थ संक्रान्ति काल का उत्तरवर्ती साहित्य है। इसी लिए उस पर आर्येतर प्रभाव भी लक्षित होता है। विजातीय बोलियो से भी वह अछूता नही है। कुछ विद्वान् तो यहाँ तक मानते है कि आर्य भाषा के यथार्थ स्वरूप का पता वेदों से नही लगता[2]। जो भी हो, ब्राह्मण ग्रन्थों में तात्कालिक भाषा सम्बन्धी कुछ निर्देश मिलते है। प्रतीत होता है कि आर्य भाषा मुख्यत. तीन विभेदों मे विभक्त थी। (१) उदीच्य या उत्तरीय (या पश्चिमोत्तरीय), (२) मध्यदेशीय या बीच के देश की, तथा (३) प्राच्य या पूरब की भाषा। अवेस्ता से ही 'ल' का 'र' मिलने लगता है। भारोपीय 'ल' भी ईरानियन मे 'र' ही होता है। ऋग्वेद के प्राचीनतम स्तर मे यह व्यवस्था चालू रही है। क्योंकि ऋग्वेद की अधिकाश रचना भारत के उत्तर-पश्चिम भाग में हुई और इसलिए उस प्रदेश की बोलियो का ईरानियन से साम्य होना स्वाभाविक ही था। भारत की पूर्व की बोलियो मे तो 'र' और 'ल' के स्थान पर 'ल' का ही व्यवहार होता था। 'ल' वाले शब्द भी ठीक-ठीक ऋग्वेद मे आ गये है[4]। भारत के पूर्वी प्रदेशों मे आज भी 'र' और 'ल' के स्थान पर 'ल' का व्यवहार प्रचलित है। यही नही, पिछले सहस्र वर्षों से मगध में 'स' और 'ष' के स्थान पर 'श' का व्यवहार बना हुआ है[5]। किन्तु शूरसेन (मथुरा तथा निकटवर्ती) प्रदेश में 'श' और 'ष' के स्थान पर 'स' का चलन है[6]। जान पडता है कि उच्चारण-भेद के कारण बोलियो के पूरबी और पच्छिमी भेद अत्यन्त प्राचीन कालसे चले आ रहे है। कौषीतकि ब्राह्मण तथा महाभाष्य के

१ शिवशेखर मिश्र · भारतीय संस्कृति में आर्येतरांश, प्रथम सस्करण, पृ० २७।
२ डॉ० प्रबोध बेचरदास पण्डित · प्राकृत भाषा, १९५४, पृ० १४।
३ डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृ० ६१।
४. डॉ० प्रबोध बेचरदास पण्डित प्राकृत भाषा, पृ० १४।
५ सर्वत्र सषो श । ष प्रकृत्या क्वचित्।—प्राकृतशब्दानुशासन पुरुषोत्तमदेव।
६. शषो स.। वही, ४७,३,२।

निर्देशों से यही पता मिलता है[1]। यास्क के निरुक्त से भी इस बात की पुष्टि होती है।[2]

संक्षेप में, वेदों से ब्राह्मण काल तक सांस्कृतिक स्पर्धा मे आर्य जाति पूर्णतया विजेता रही। इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि वह अपनी भाषा का प्रसार देश के कोने-कोने तक करती। भाषा और संस्कृति के संघर्ष की यह प्रथम भूमिका भाषाशास्त्र में प्राचीन भारतीय आर्यभाषा की पहली भूमिका कही जाती है। आर्य प्रजा के सम्पर्क में आने के कारण आर्येतर संस्कृति तथा भाषाओं में बहुविध परिवर्तन हुए। विकास की इस धारा में आर्य-साहित्य की रचना हुई तथा यज्ञ-याग का प्रचार हुआ। साहित्य विप्रों की शिष्टता से अनुरंजित था इसलिए बोलियों को महत्त्व नही मिला; किन्तु प्रतीत होता है कि आर्यों मे भी दो भेद हो गये थे। पहला समूह अहिंसामूलक यज्ञसंस्कृतिका पोषक था और दूसरा बाह्य पाषण्डो से पूर्ण। प्रथम लोकभाषा और आचार का समर्थक था तथा दूसरा उन के विपरीत शिष्ट भाषा और संस्कारों को महत्त्व देता था। पहला उदार था और दूसरा जातीय पक्षपात तथा संकीर्णता से लिप्त। वर्ण-भेद के कारण तथा स्थान और काल-भेद से भी अनेक प्राकृतो की सम्भावना बढती गयी। धीरे-धीरे जातीय दृष्टिकोण और भी संकुचित होते गये। यद्यपि प्राकृत का साहित्य भी जन-बोलियों से ऊपर उठ कर लिखा गया है लेकिन बोलियाँ उस मे से झाँकती हुई स्पष्ट लक्षित होती हैं। और सच बात तो यह है कि ऋग्वेद की परवर्ती भाषा मे भी अन्य बोलियों के रूप एक साथ दिखाई देते है। प्राचीन भारत मे विभिन्न भाषाओं के बीच आदान-प्रदान जारी था। अनार्य बोलियाँ भी प्रचलित थी और उन की शक्ति दो सहस्र वर्ष पूर्व तथा उस के बाद तक बहुत प्रबल थी। भारतीय आर्य भाषाओं के ब्राह्मण, जैन तथा बौद्ध धर्मसम्बन्धी साहित्य पर उन का प्रभाव दृष्टिगोचर है[3]। इस प्रकार प्रथम भूमिका में उत्तर-मध्य में विस्थापित आर्यो के सास्कृतिक केन्द्रों की भाषा शिष्ट जनों की भाषा रही होगी। महर्षि पाणिनि ने अपना व्याकरण इसी शिष्ट भाषा को ध्यान में रख कर लिखा है। सम्भवत अन्य बोलियाँ उस समय मध्य देश मे बाहर थी, पर वे स्वाभाविक रीति से अपना विकास करती रही।

द्वितीय भूमिका—इस अवस्था मे पहुँच कर आर्य भाषा विभिन्न रूपों मे स्थान तथा काल के अनुसार नाना जनपदो मे विकसित हुई। यद्यपि आर्यों के आने के पूर्व नागरिक संस्कृति का उन्मेष आर्येतर प्रजाओं मे हो चुका था[4], किन्तु भाषा और संस्कृति का वास्तविक अभ्युदय मध्य युग मे हुआ। यदि यह सत्य है कि द्वितीय भूमिका में अपना साहित्यिक आसन ग्रहण करने वाली भाषाओ पर संस्कृत (वैदिक)

१ तस्माद् उदीच्याम् प्रज्ञतरा वाग् उ विद्यते, उद च उ एव यन्ति वाचम् शिक्षितम्, यो वा तत आगच्छति, तस्य वा शुश्रूषन्त इति।—कौषीतकि ब्राह्मण ' ७-६।

२ निरुक्त ' १ अ०, २ पा०, ४ ख०, पृ० ४८-४६। तथा—वही २,१,४।

३. डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी ऋतम्भरा, पृ० १०३।

४. वही, पृ० १७६।

का गहरा प्रभाव पड़ा है तो यह भी यथार्थता से परे नहीं है कि जनबोलियों का विशेष विकास इसी भूमिका में हुआ है। जैन और बौद्धों ने ई० पू० पाँचवीं शताब्दी के लगभग देशी भाषा को विशेष रूप से अपनाया और उस के पश्चात् ही भारतीय भाषाओं की विकासधारा का नया प्रवाह आरम्भ होता है[1]। विकास की दृष्टि से इस भूमिका के तीन रूप माने जा सकते हैं—पालि, प्राकृत और अपभ्रंश।

विद्वानों की मान्यता है कि प्राकृत विकासधारा के प्रवाह में से उठ खड़ी हुई एक अवस्था विशेष है, जिस ने समूचे मध्य युग पर अपनी अमिट छाप लगा दी है। दूसरे शब्दों मे हम प्राचीनतम भारतीय आर्यभाषा तथा नव्य भारतीय आर्य भाषाओं के मध्य की भाषाविषयक अत्यन्त आवश्यक ऐतिहासिक भूमिका को प्राकृत नाम दे सकते हैं।

प्राकृत साहित्य के मुख्य दो अंग हैं—बौद्ध साहित्य और जैन आगम साहित्य। पालि साहित्य जिस भाषा में लिखित उपलब्ध है उस मे पूर्व तथा पश्चिम की भाषाओं का अत्यधिक मिश्रण है। धार्मिक तत्त्व विशेष से अनुरंजित तथा उसी प्रकार की शैली मे लिखित होने के कारण उस भाषा को बोलियों की स्थान और काल-भेद के आधार पर रूप-रेखा खीचना टेढ़ी खीर है।

प्राकृत का दूसरा अंग जैन आगम है। तीर्थंकर महावीर का जन्म मगध में हुआ था। उन का बचपन तथा कुछ यौवन काल भी वही बीता था। परन्तु उन की वाणी का संकलन लगभग एक सहस्र वर्षों के पश्चात् हो सका। इस लिए जिस अर्द्ध मागधी भाषा मे उन के प्रवचन हुए उस का साहित्य पालि साहित्य से भी अर्वाचीन है। अतएव भाषाविकास के इतिहास को समझने के लिए उस से विशेष जानकारी नही मिलती। फिर भी, पालि से उस का महत्त्व विशेष आँका जाता है जो उचित है। क्योकि अर्द्धमागधी का आधार पूर्वी क्षेत्र है और पालि का मध्यदेश। जैन प्राकृत साहित्य सीमित सीमाओं मे रहने के कारण अधिक सुरक्षित रहा है; किन्तु पालि साहित्य अशोक के पुत्र महेन्द्र के द्वारा उज्जैन मे लिखाया गया कहा जाता है। प्राकृत का तीसरा महत्त्व अशोक के शिलालेखों मे है। अशोक के शिलालेखों (ई० पू० २७० से २५० ई० पू०) को हम भारत का सर्वप्रथम भाषा-सर्वेक्षण कह सकते हैं। ये लेख चार प्रकार के है—उत्तरपश्चिमी, गिरनारी, दक्खिनी तथा गंगा-जमुना के प्रदेशों से लगा कर महानदी तक के। यद्यपि इन लेखों को भाषा राजभाषा कही जाती है, लेकिन इन को ध्यान से देखने पर पता लगता है कि इन मे प्रादेशिक बोलियों का भी समावेश है। इनमे उत्तर पश्चिम की शिलालेखो की भाषाएँ धम्मपद की उस भाषा से मिलती-जुलती है जो ई० पू० दूसरी शताब्दी मे गोम्र्‌ग की गुफा मे एक फ्रान्सीसी यात्री को प्राप्त हुई थी। गिरनार के लेखों की भाषा साहित्यिक पालि से प्रभावित है तथा गंगा-जमुना से लेकर महानदी पर्यन्त लेखों की भाषा को नाटकों मे

१. डॉ० पण्डित : प्राकृत भाषा, पृ० १६।

प्रयुक्त मागधी से प्रभावित कहा जाता है। दक्खिनी लेखों की भाषा अर्द्धमागधी से प्रभावित मानी जाती है। इस प्रकार इन समूचे लेखों की भाषा मिश्रित जान पड़ती है। प्राकृतों का चौथा रूप भारत के बाहर का है। भारत के बाहर मिलने वाले प्राकृतों के लेख भाषा की विशेष अवस्था के सूचक हैं। उन में चीनी और तुर्किस्तान से प्राप्त खतपत्र तथा उल्लिखित धम्मपद कहे जाते हैं, जो खोटन (कुस्तान) के सीमान्त प्रदेश से उपलब्ध हुए हैं। उन मे लिखित भाषा निय प्राकृत कहलाती है। निय प्राकृत भाषा की विकसित परम्परा की सूचक है। प्राकृतों का परवर्ती रूप हमे निय प्राकृत में परिलक्षित होता है। क्योंकि उस की बहुत-सी बातें अपभ्रंश से सादृश्य लिये हुए है। इस से अनुमान है कि जो विकास आर्यभाषा का दूसरी-तीसरी शताब्दी मे भारत से बाहर हुआ था लगभग वैसा ही अपभ्रंश-काल मे भारतवर्ष मे हुआ था। उन का अपना स्वरूप तथा व्याकरणिक ढाँचा समान होते हुए भी कई बातों मे भिन्न है। निय प्राकृत का ध्वनि-स्वरूप प्राचीन है, पर रूप-तत्त्वो में अन्तर है। विकास की पूरी अवस्था उस मे दृष्टिगोचर होती है। अतएव वह अपभ्रंश से भिन्न है।

प्राकृत की पहली भूमिका मे ऋ, लृ, ऐ और औ का लोप है। संयुक्त व्यंजनों में सावर्ण्य भाव मिलता है। तथा मध्यग स्पर्श व्यंजनों का घोष भाव इसी अवस्था मे आरम्भ हो गया था। दूसरी भूमिका मे पहली भूमिका की बातें ज्यों की त्यों हैं, पर घोष भाव का घर्ष भाव होने लगा था। निय प्राकृत में यह स्पष्ट है। विभक्तियो का विनिमय भी उस मे प्राप्त होता है। नाटकों, व्याकरणों तथा साहित्य की प्राकृतों मे बोलियों से समन्वित जो रूप मिलता है उसे हम साहित्यिक प्राकृत के नाम से जानते हैं। वैयाकरणो ने इस प्राकृत को अत्यन्त महत्त्व प्रदान किया है। आदर्श प्राकृत महाराष्ट्री मानी गयी है। वैयाकरणों और आलंकारिकों की दृष्टि मे यह उत्कृष्ट प्राकृत है।[1] प्रमुख प्रबन्ध तथा गीति काव्य इसी प्राकृत मे निबद्ध है। साहित्यिक प्राकृतें परम्परागत है। वे रूढियों से अत्यन्त ग्रस्त एवं त्रस्त हैं। क्योंकि संस्कृत के आदर्श मानो पर उन की रचना हुई है। इसी लिए कई विद्वान् प्राकृतों को कृत्रिम कहते है और संस्कृत को इस का मूल बताते है। इस के प्रमाण मे मार्कण्डेय, चण्ड तथा हेमचन्द्र आदि की "प्रकृतिः संस्कृतम्" वाली उक्ति उद्धृत की जाती है।[2] किन्तु इस का अर्थ

१ महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः।—दण्डी : काव्यादर्श, १, ३४।

२ प्रकृतिः संस्कृतम्। तत्र भवं प्राकृतम् उच्यते।—मार्कण्डेय : प्राकृतसर्वस्व, १,१। प्रकृते संस्कृताद् आगतं प्राकृतम्।—वाग्भटालंकार की सिंहदेवगणिन् कृत टीका, २,२,। प्रकृतेरागत प्राकृतम्। प्रकृतिः संस्कृतम्।—धनिक : दशरूपक की टीका, २,६०। प्रकृतिः संस्कृतम्। तत्र भवत्वात् प्राकृतं स्मृतम्।—प्राकृतचन्द्रिका, पीटर्सन की तीसरी रिपोर्ट से। प्रकृतेः संस्कृतायास्तु विकृतिः प्राकृती मता।—नरसिंह : प्राकृतशब्दप्रदीपिका। प्रकृतिः संस्कृतम्। तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्।—हेमचन्द्र : सिद्धहेमशब्दानुशासन, १,१। प्राकृतस्य तु सर्वम् एव संस्कृत योनिः।—कर्पूरमंजरी, वासुदेव कृत संजीविनी टीका। सिद्धं प्राकृतं त्रेधा। सिद्धं प्रसिद्धं प्राकृतं त्रेधा भवति। संस्कृतं योनिः। तच्चेदं—मात्रा, मत्ता। नित्य, णिच्चं इत्यादि।—चण्ड ; प्राकृतप्रकाश, सटिप्पण हस्तलिखित ग्रन्थ से।

यही है कि जिस प्रकार ग्रीक के आदर्शमान (माडल) पर लेटिन का व्याकरण लिखा गया ठीक उसी प्रकार संस्कृत के आदर्श पर प्राकृतों का व्याकरण रचा गया। अपभ्रंश व्याकरण का भी आदर्श संस्कृत व्याकरण रहा है। परन्तु प्राकृत भाषाओं की जड़ें जनता की बोलियों के भीतर जमी हुई हैं, और इन के मुख्य तत्त्व आदिकाल में जीती-जागती और बोली जाने वाली भाषा से लिये गये हैं। किन्तु बोलचाल को भाषाएँ, जो बाद मे साहित्यिक भाषाओं के पद पर चढ गयी, संस्कृत की भाँति ही बहुत ठोकी-पीटी गयीं, ताकि उन का एक सुगठित रूप बन जाये।[1]

इस प्रकार साहित्य तथा बोलचाल की प्राकृतो मे अन्तर रहा है। जो प्राकृतें संस्कृत के प्रभाव से दूर रही हैं वे अधिक विकासशील थी। भारत के बाहर की प्राकृतों मे मुख्य बात यही है।

तृतीय भूमिका—प्राकृत को यह तीसरी भूमिका कही जाती है, जिस मे साहित्य की, नाटक को और व्याकरण को प्राकृतो की रचना हुई। इस अवस्था में आ कर घर्ष भाव लुप्त होने लगा और मूर्धन्य स्वर-व्यंजनो का व्यवहार बढने लगा। इसी को महाराष्ट्री प्राकृत कहते है। यद्यपि उन मे बोलियो के भी कुछ रूप मिलते है, पर उन का स्वरूप स्पष्ट नही है। उन मे विशेष रूप से मध्यग व्यंजनो का लोप दिखाई देता है। वस्तुत इसे दूसरी भूमिका की ही एक अवस्था समझनी चाहिए। क्योंकि अश्वघोष के नाटकों से विशेष परिवर्तन इस भूमिका में नही देखा जाता। विशेषता यही है कि यह लोक-भूमि से बहुत कुछ हट कर चली है। और संस्कृत की लोक पर ही इस का विकास हुआ है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि प्राकृतों मे सब से अधिक विकसित एवं मौलिक रूप निय प्राकृतो का है जो अपभ्रंश के निकट है। इस का समय ई० की प्रथम शताब्दी कूता गया है। मौलिक यह इस रूप मे है कि इस का साहित्य हमे भारत के बाहर मिलता है, और संस्कृत का जो प्रभाव भारत की प्राकृतों पर है वह इस पर नही है। फिर, प्राकृतों का विकास बोलचाल की भाषाओं के मेल-मिलाप से न हो कर शिष्टों की पद्धति पर हुआ है। यद्यपि बोलियों का प्रभाव उन पर पडा है, पर प्राकृत के लेखक संस्कृत की परिपाटी पर चले है। अतएव जन-जीवन और साहित्य की भाषा मे अन्तर सदा से बना रहा। इस का एक कारण यह भी कहा जा सकता है कि प्राकृतों के प्रारम्भिक काल मे ही संस्कृत का उदय और विकास काल उन्नतिशील था, जिस से प्राकृतों का विकास रुक गया। समय के अनुकूल सस्कृत में कई प्रकार के परिवर्तन हुए। इस काल के कई साहित्यिक रूप ऐसे हैं जो ऊपर से संस्कृत दिखाई देते है, पर जिन के नीचे प्राकृत का बहता हुआ पानी प्रतीत होता है। संस्कृत के ही नहीं, प्राकृत के वैयाकरणों ने भी इस का विचार संस्कृत व्याकरण के आधार पर किया है। उन्होंने

१ रिचर्ड पिशल : प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, अनु० डॉ० हेमचन्द्र जोशी, पृ० १४।

भाषावैज्ञानिक नियमों (ध्वनि, रूप, वाक्य आदि) के आधार पर प्राकृत का विश्लेषण नहीं किया। उन का आदर्श शास्त्रीय संस्कृत हो रही है। प्रायः सभी प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं का व्याकरण सस्कृत को आधार मान कर लिखा गया है।

अन्तिम प्राकृत—संस्कृत के अधिकांश वैयाकरण संस्कृत से इतर शब्दों को अपशब्द तथा भाषा को अपभ्रंश कहते हैं। इस लिए भारतीय विद्वानों का विश्वास है कि प्राकृत संस्कृत का अपभ्रष्ट रूप है। किन्तु भाषा के ऐतिहासिक विवेचन में हम ऊपर विचार कर चुके हैं कि आर्यों को बोलचाल की भाषा ही परवर्ती काल में प्राकृत नाम-रूप से ख्यात रही है। अतएव प्राकृत का जन्म संस्कृत से न हो कर आर्यों की जन सामान्य बोली से हुआ है।[1] आर्ष प्राकृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश और अवहट्ठ ये सभी एक ही विकास धारा की विभिन्न कड़ियाँ हैं, जिन में भारतीय समाज, संस्कृति और लोक परम्परा की विविध मान्यताओं के साथ ही भाषा तथा विचारों का समग्र इतिहास लिपिबद्ध है। प्राकृत केवल जैन या बौद्ध सम्प्रदाय (पालि के रूप मे) की भाषा नहीं थी वरन् भील, कोल, शबर, दस्यु, चाण्डाल आदि से ले कर राजदरबार और रनिवासों तक में यह भाषा बोली जाती थी। आचार्य अभिनवगुप्त ने इसे अव्युत्पन्न (अनगढ़, ग्राम्य) जन भाषा कहा है।[2] आ० भरतमुनि के नाटच शास्त्र मे प्रयुक्त मुख्य भाषाएँ चार कही गयी हैं—[3] संस्कृत, प्राकृत, अतिभाषा और आर्यभाषा तथा जातिभाषा। प्राकृत भाषाएँ सात प्रकार की कही गयी हैं।[4] स्पष्ट हो नाटच लोक की वस्तु होने के कारण लेखकों को प्राकृत तथा जन-बोलियों को स्थान देना पड़ा।

प्राकृत अपनी अन्तिम भूमिका मे पुनः लोक संस्कृति और भाषा का प्रतिनिधित्व करती हुई दिखाई देती है। शब्दरूप और क्रियाओं में ही नहीं, रूपतत्वों मे भी भेद लक्षित होता है। इस भूमिका मे भाषा शिष्टों से हट कर विकसित हुई है। इस पर देशी पानी अधिक चढा हुआ है। यही कारण है कि संस्कृत (छन्दस्), पालि और प्राकृत जितनी एक दूसरे के निकट हैं उतनी अपभ्रंश नहीं है।

अपभ्रंश प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं की अन्तिम भूमिका का नाम है। कुछ विद्वान् प्राकृतों की अन्तिम अवस्था को अपभ्रंश नाम देते हैं। इसी प्रकार कुछ लोग प्राकृत को ही अपभ्रंश समझते है। यह सच है कि अपभ्रंश मे प्राकृतों को प्रायः सभी

---

१. दिनेशचन्द्र सरकार ए ग्रामर ऑव् दि प्राकृत लेंग्वेज, भूमिका, पृ० १।

२ अव्युत्पादितप्रकृतेस्तज्जनप्रयोज्यत्वात प्राकृतमिति केचित्।—नाटचशास्त्र की विवृति, अभिनवगुप्त।

३ भाषा चतुर्विधा ज्ञेया दशरूपे प्रयोगतः॥
सस्कृतं प्राकृत चैव यत्र पाठ्य प्रयुज्यते।
अतिभाषार्यभाषा च जातिभाषा तथैव च॥
—भरतमुनि : नाटचशास्त्र, । १७।२६–२७।

४. मागध्यवन्तिजा प्राच्या शोरसेन्यर्धमागधी। वाल्हीका दाक्षिणात्या च सप्त भाषाः प्रकीर्तिता.॥
—वही, १७, ४६।

विशेषताएँ मिलती हैं पर यह भी सच है कि अपभ्रंश प्राकृतों से या प्राकृत से भिन्न है। दोनों की प्रवृत्तियाँ विभिन्न हैं। प्रकृति में भी अन्तर है।

अपभ्रंश—अपभ्रंश प्राचीन भारतीय आर्यभाषाओं तथा नव्य भारतीय आर्य भाषाओं के बीच की कड़ी है, जो नव्य भारतीय आर्य भाषाओं की पुरोगामिनी कही जाती है। यह प्राकृतों की उस अन्तिम अवस्था का विकास है, जिस में जन-जन को भावनाओं का समवेत स्वर अपने वास्तविक रूप में मुखरित हुआ है[1]। अतएव एक ओर जहाँ अपभ्रंश—भाषा और साहित्य उपलब्ध रूप में प्राकृत की परम्परा में विकसित हुआ है, वही दूसरी ओर लोक बोली तथा जीवन के सामरस्य का प्रतिनिधित्व करता है। किन्तु उत्तरवर्ती अपभ्रंश काल में भाषा और साहित्य पर समानान्तर रूप से संस्कृत और प्राकृत का प्रभाव लक्षित होने लगता है।

यद्यपि प्राकृत और अपभ्रंश का उल्लेख सामान्य रूप से मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं के अन्तर्गत किया जाता है, किन्तु इन का मूल स्रोत अत्यन्त प्राचीन है। फिर, प्रत्येक भाषा के सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि किसी भी भाषा के बल पर कोई स्वतन्त्र भाषा जन्म नही लेती। वर्तमान भाषाओं का मूल रूप किसी न किसी बोली में प्रतिष्ठित रहता है। किन्तु युग के परिवर्तन के साथ ही बोली तथा भाषा में भी कुछ-न-कुछ परिवर्तन होता रहता है। उदाहरण के लिए—एंग्लो-सेक्सन या पुरानी अँगरेज़ी अपनी स्वाभाविक अवस्था में संस्कृत की भाँति संयोगात्मक थी; पर आज की—अँगरेज़ी वियोगात्मक है[2]। यही भाषा को अवस्था-विशेष या भूमिका कही जाती है। प्राकृत और अपभ्रंश में भी यह भेद लक्षित होता है। अपभ्रंश के सम्बन्ध में प्राचीन उल्लेख हमें पाँच रूपों में प्राप्त होते है—कोशकारों के, वैयाकरणों के, संस्कृत-साहित्य-समालोचकों के, पौराणिक तथा अपभ्रंश के कवियों के उल्लेख।

कोशकारों के उल्लेख—संस्कृत के वैयाकरणों ने व्याकरण के साथ ही शब्दकोशों की भी रचना की है। इसलिए—व्याकरण ग्रन्थों की भाँति कोश भी लीक पीटते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। उदाहरण के लिए, अपभ्रंश शब्द के लिए व्याकरण का सब से पहला प्रयोग है—अपशब्द। अमरकोश, विश्वप्रकाश, मेदिनी, अनेकार्थ संग्रह, विश्वलोचन, शब्द-रत्नसमन्वय तथा शब्दकल्पद्रुम आदि कोशों में अपभ्रंश का अर्थ अपशब्द एवं भाषा-विशेष भी मिलता है। मेदिनी में तथा अन्य कोशों में भी दोनों अर्थ मिलते हैं, पर अमरकोश में केवल अपशब्द अर्थ है[3]। सम्भव है तब तक अपभ्रंश का

१. एम० एम० कत्रे : प्राकृत लैंग्वेज एण्ड देयर कन्ट्रिब्युशन टु इण्डियन कल्चर, पृ० २२।
२ एन० पी० गुणे : द डिस्कवरी ऑव् इंग्लिश, पूना।
३ अपभ्रंशोऽपशब्द स्यात। १, ६, २,। अपभ्रंशोऽपशब्दे स्याद्भाषाभेदावपातयो:। विश्वप्रकाश, ३०, ३७। अपभ्रंशस्तु पतने भाषाभेदापशब्दयो।—मेदिनी, ३०, ३१। अपभ्रंशो भाषाभेदाप-शब्दयो:।—अनेकार्थसंग्रह, ४, ३२३। अपभ्रंशो दुष्पतने भाषाभेदापशब्दयो।—विश्वलोचन,

विशेष प्रचार साहित्य में न हुआ हो। इस से अधिक विवरण कोशों में प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार कोशों में अपभ्रंश शब्द का अर्थ बिगड़ा हुआ शब्द अथवा बिगड़े हुए शब्दों वाली भाषा है।

वैयाकरणिक उल्लेख—संस्कृत व्याकरणशास्त्र के प्राचीन आचार्य व्याडि का मत उद्धृत करते हुए भर्तृहरि ने कहा है कि शब्दसंस्कार से हीन शब्दों का नाम अपभ्रंश है,[1] यथा गौ शब्द के प्रयोग की इच्छा रखने वाला यदि गोणी, गोपोत आदि शब्दों का व्यवहार करे जो साधुसम्मत न हों तो उसे अपभ्रंश कहते है। वैयाकरण इस तथ्य से अपरिचित नही थे कि भाषा का स्वभाव ही अपभ्रंश है, पर वे साधु भाषा के पक्षपाती थे। इस लिए उन का यह भी कथन है कि परम्परा से विकृत हो कर यह अपभ्रंश चली आ रही है। जो शब्द शिष्टजनों के द्वारा व्यवहृत नही होता वह अवाचक है तथा ऐसे ही अवाचक शब्द जब प्रसिद्ध हो जाते हैं तब वे अपभ्रंश बन जाते है।[2] इस लिए यदि कोई अम्बा, अम्बा करने वाले शिक्षा ग्रहण करते हुए बालक की भाषा को अपभ्रंश कहे तो उचित नही होगा, क्योंकि वह अव्यक्त होती है और व्यक्त होने पर ही उस शब्द के सम्बन्ध में कोई निर्णय दिया जा सकता है।[3]

स्पष्ट है कि शिष्टो के द्वारा प्रयुक्त न होने से तथा संस्कारहीन होने से अव्यवहरणीय शब्दावली को अपभ्रंश कहते है। महाभाष्य में अपभ्रंश का उल्लेख तीन स्थलों पर तथा अपशब्द का प्रयोग कई बार हुआ है। महर्षि पतंजलि का अपशब्द से अभिप्राय व्याकरण के नियमो से पतित शब्द से है। प्रायः म्लेच्छ लोग अपशब्दो का व्यवहार करते हैं इस लिए ब्राह्मणों को अपशब्दो का प्रयोग नही करना चाहिए। महाभाष्य के अध्ययन से पता लगता है कि उस समय म्लेच्छ आदि आर्येतर जातियाँ तथा निम्न श्रेणी की जातियाँ शब्दों को बिगाड कर सहज प्रवृत्ति के अनुसार उन का उच्चारण करती थी। आर्य लोग म्लेच्छों को घृणा की तथा तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे। अतएव भौगोलिक परिवर्तन के कारण जब म्लेच्छों से आर्य भाषा के शब्दों का उच्चारण ठीक से न बना होगा तब उन शब्दों को वैयाकरणों ने अपशब्द नाम दिया

चतुर्थ, ३८। अपभ्रंशोऽपशब्दे स्याद्भाषाभेदावपातयो।—शब्दरत्नसमन्वय कोश। साधु-शब्दस्य शक्तिरहितस्यप्रयुक्तान्यथोच्चारणयुक्तेऽपशब्दे। -शब्दकल्पद्रुम से उद्धृत, प्रथम संस्करण, पृ० २२६।

१ शब्द संस्कारहीनो यो गौरिति प्रयुयुक्षिते। तमपभ्रंशमिच्छन्ति विशिष्टार्थनिवेशिनम्।—वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड, १४८।

२ पारम्पर्यादपभ्रंशा विगुणेष्वभिधातृषु। प्रसिद्धिमागता येषु तेषां साधुरवाचक॥—वही, १५४।

३ अम्बाम्बेति यथा बाल शिक्षमाण प्रभाषते। अव्यक्त तद्विदा तेन व्यक्ते भवति निर्णय॥—वही, १५२।

४. तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्त पराबभूवु। तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै, म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्द।—महाभाष्य, १ अ०, १ पा०, १ आ०। अपशब्दत्वं व्याकरणानुगत-शब्दस्येषद्भ्रंशन एव प्रसिद्धमिति भाव।—वही।

होगा। किन्तु जब आर्यों ने देखा होगा कि भारत में विस्थापित नीची जातियाँ भी एक शब्द के लिए कई अप्रसिद्ध तथा शब्दानुशासन से हीन शब्दोंका व्यवहार करती हैं तब उसे आर्य जाति और भाषा से गिरा हुआ, अपभ्रष्ट तथा अपभ्रंश कहा होगा। वैयाकरण यह भलीभाँति जानते थे कि समाज में अपशब्दों का चलन अधिक है और शब्दों का व्यवहार कम है, पर वे शिष्ट भाषा के पक्षपाती थे।[1] पतंजलि वैदिक शब्दों की सिद्धि लोक से मानते हैं।[2] महाभाष्य में शब्दों की साधुता और असाधुता का विशेष विचार है। नागेश ने आगे चल कर एक नया प्रश्न उपस्थित किया कि साधु शब्दों की भाँति अपभ्रंश में शक्ति मानी जाये अथवा नहीं। किन्तु यह कैसे जान सकते हैं कि यह शब्द साधु है या असाधु ? कुछ लोगों का विचार है कि अनुमान से जान सकते हैं कि वाचक या अवाचक है। इसलिए जो अपभ्रंश का प्रयोग करते हैं उन्हें साधु शब्दों का व्यवहार करना चाहिए।[3] अत्यन्त ऊहापोह के अनन्तर नागेश ने अपभ्रंश शब्दों को साधु शब्दों की भाँति अर्थप्रकाशक मान कर उन का विचार किया है।[4] भाषा की शब्दशक्ति की उन्होंने चार प्रकार से मीमांसा की है।[5] किन्तु कौण्डभट्ट इसे स्वीकार नहीं करते। उन का कथन है कि असाधु शब्दों में साधुत्व का भ्रम होने से ही शाब्दबोध होता है।[6] इस प्रकार संस्कृत के वैयाकरण शिष्ट एवं साधु शब्दों के अत्यन्त पक्षपाती दिखाई देते हैं। दूसरे, अपभ्रंश शब्द का प्रयोग भाषा के अर्थ मे न कर 'अपशब्द' के लिए किया गया है। प्राकृत के प्रायः सभी वैयाकरणों ने प्राकृतों के अन्तर्गत अपभ्रंश का विधान किया है। भाषा तो प्रारम्भ से ही 'भाषा' के नाम से प्रचलित रही है। कुमार, पाणिनि, जैनेन्द्र तथा शाकटायन आदि के संस्कारों से 'सस्कृत' नाम से प्रसिद्ध हुई। और तब से संस्कृत, प्राकृत के भेद से भाषा के दो रूप हो गये।[7] आगे चल कर प्रादेशिक भेदोंके आधार पर प्राकृत के भी कई भेद होते गये। टीकाकार मल्लिनाथ के समकालीन

---

१ भूयांसोऽपशब्दाः, अल्पीयांसः शब्दा इति। एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। तद्यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गौणी गोता गोपोतलिकेत्यादयो बहवोऽपभ्रंशाः।—वही।

२. वेदान्नो वैदिकाः शब्दाः सिद्धा लोकाच्च लौकिकाः, अनर्थकं व्याकरणम् इति।

३ असाधुरनुमानेन वाचकः कैश्चिदिष्यते। न हि विद्वांसोऽपभ्रंशादेव साक्षादर्थं पश्यन्ति इति नापशब्दानामर्थेन संबन्धः। अपशब्दास्तु सादृश्यात्साधुशब्दमनुमापयन्ति।—दुर्बलाचार्य कृत कुञ्जिका टीका, पृ० ६५।

४ एवं साधौ प्रयोक्तव्ये योऽपभ्रंशः प्रयुज्यते।
तेन साधुव्यवहितः कश्चिदर्थोऽभिधीयते॥—वही, पृ० ६६।

५ अपभ्रंशा साधुशब्दैरभेदमिवापन्ना अर्थस्य प्रकाशका इत्यर्थः।— वैयाकरणसिद्धान्तलघुमंजूषा की टीका, पृ० ६५।
तथा—सा च शक्तिः साधुष्विवापभ्रंशेष्वपि, शक्तिग्राहकशिरोमणेर्व्यवहारस्य तुल्यत्वात्।
(१) अपभ्रंशेषु शक्तिसदसत्त्वविचारः, (२) अपभ्रंशे शक्तिग्रहणस्य प्रमात्वम्, (३) अपभ्रंशानां शक्तत्व-सिद्धान्त, (४) अपभ्रंशानां शक्तत्वेऽवान्तरविचारः।—नागेशभट्ट।

६. असाधुत्वेऽपि साधुत्वभ्रमाद् बोधोऽस्तु नाम, अपभ्रंशवत्।—वैयाकरणभूषणसार। धात्वर्थ-निर्णये, पृ० ११७।

७. भाषा द्विविधा संस्कृता च प्राकृती चेति भेदतः।
कौमारपाणिनीयादिसंस्कृता संस्कृता मता॥—षड्भाषाचन्द्रिका, १, २३।

लक्ष्मीधर ने प्राकृतों के छह भेदों का उल्लेख किया है।[1] उन्होंने यह भी कहा है कि साहित्यिक प्राकृत या प्राकृत महाराष्ट्र में उत्पन्न होने वाली भाषा का नाम है तथा अपभ्रंश आभीर, चण्डाल, यवन आदि नीच जातियों की भाषा है। नाटक आदि काव्यांगों में इस का व्यवहार नही होता।[2] नीच कर्म करने वाली जातियों की भाषा प्राकृत और अपभ्रंश कही जाती है। योगिनी, अप्सरा तथा शिल्पियों की भाषा ब्राह्मणों की भाँति संस्कृत थी।[3] वर्णों के आधार पर भाषा-विधान प्रसिद्ध है; पर निश्चित पता लगता है कि जातियों के अनुसार प्राचीन काल मे भाषा-विधान तथा व्यवहार प्रचलित था। इस लिए शताब्दियों तक साहित्य मे प्राकृत को मान्यता नही मिल सकी और उस का तिरस्कार होता रहा। लेकिन नाटच का सम्बन्ध लोक-जीवन से होने के कारण विवश हो प्राकृतो को स्थान देना पडा; किन्तु उस की अभिव्यक्ति का माध्यम नीच पात्रो को बनाया। इस का यह अर्थ कदापि नही है कि प्राकृत का व्यवहार केवल नीच लोग ही करते थे। यदि ऐसा होता तो कही-कही प्रधान पात्रो तथा रानी, देवी आदि स्त्रीरत्नों के मुख से उस का प्रयोग क्यों कराया जाता? भरतमुनि के नाटचशास्त्र में इस का स्पष्ट उल्लेख है।[4] सम्भवतः लोकनाटच पहले प्राकृत मे लिखे जाते थे। नाटच जनता की बोली मे ही भलीभाँति प्रदर्शित किया जा सकता है। उस के कई भेद होते थे[5]।

वैयाकरणों ने प्राकृत व्याकरण मे प्राकृत के साथ ही अपभ्रंश का विचार किया है। सिंहराज का कथन है कि अपभ्रंश मे प्रायः शौरसेनी की भाँति कार्य होता है।[6] प्राकृतरूपावतार की भाँति प्राकृतमणिदीप, प्राकृतशब्दानुशासन, आर्षप्राकृत व्याकरण तथा चण्ड कृत प्राकृतप्रकाश मे शौरसेनी प्राकृत के अन्तर्गत अपभ्रंश का विधान मिलता है। स्पष्ट रूप से आ० मार्कण्डेय और आ० हेमचन्द्र अपभ्रंश का विवरण देते है। प्राकृतसर्वस्व मे अपभ्रंश के मुख्य तीन भेद कहे गये हैं[7]—नागर, व्राचड और उपनागर।

१. षड्विधा सा प्राकृती च शौरसेनी च मागधी।
पैशाची चूलिकापैशाच्यपभ्रंश इति क्रमात॥—वही १, २६।

२ तत्र तु प्राकृतं नाम महाराष्ट्रोद्भव विदु॥—वही, १, २७।

३. वही, ३३-३६।

४ जातिभाषाश्रयं पाठ्यं द्विविधं समुदाहृतम्।
प्राकृत सस्कृतं चैव चातुर्वर्ण्यममाश्रयम्।—नाट्यशास्त्र, १७,३१-३२।
स्त्रीनीचजातिषु तथा नपुसके प्राकृत योज्यम्।
शिष्टा ये चैव लिङ्गरथा संस्कृत तेषु योजयेत्।—वही, १७, ३७-३८।

५ ऋजुस्वभावमस्थानं प्राकृतं तु स्वभावजम्।
मङ्गलाध्ययनध्यानस्वभावजयकर्मसु॥
एभ्योऽन्ये बहवो भेदा लोकाभिनयसंश्रया।
ते च लोकस्वभावेन प्रयोक्तव्या प्रयोक्तृभि॥—वही, ८,३८-३९।
द्विविधं हि स्मृत पाठ्यं संस्कृत प्राकृतं तथा।—वही, ८, १४, ५।

६. शौरसेनीवत्। अपभ्रंशे शौरसेनीवत् कार्यं भवति।—प्राकृतरूपावतार, २२, १।

७ नागरो व्राचडश्चोपनागरश्चेति ते त्रयः।
अपभ्रंशाः परे सूक्ष्मभेदत्वान्न पृथङ् मताः।—प्राकृतसर्वस्व, १।

अन्य अपभ्रंशों में बहुत ही सूक्ष्म अन्तर होने से उन का निर्देश अलग से नहीं किया गया। व्राचड सिन्ध की बोली है। उस का जन्म ही सिन्ध में हुआ[1]। नागर से अभिप्राय गुजरात तथा उपनागर से है जो सिन्ध और गुजरात का मध्यवर्ती (मालव, मारवाड़, पंजाब आदि) प्रदेश कहा जाता है।

वैयाकरणों के इन उल्लेखों से पता चलता है कि अपभ्रंश प्रादेशिक बोलियों के रूप में फैली हुई थी। परन्तु वैयाकरण लोग उन का विवरण देने मे रुचि नहीं रखते थे, क्योंकि वे रूढ भाषा का विचार करते थे। इस के अतिरिक्त साहित्य की भाषा मे जो नाम-रूप मिलते थे उन का पूरा-पूरा अभिधान है।

वैयाकरणों की अपेक्षा संस्कृत साहित्य के समालोचकों ने अपभ्रंश का परिचय ठीक से दिया है। आचार्य भामह संस्कृत, प्राकृत की भाँति अपभ्रंश को भी काव्य को भाषा कहते हैं।[2] दण्डी ने अहीर, मछुआ आदि लोगों की भाषा को अपभ्रंश कहा है[3]। उन्होंने अपभ्रंश के प्रादेशिक भेदों के आधार पर छह भेद बताये है[4]। काव्यादर्श में स्पष्ट उल्लेख है कि संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्रित भाषा मे भी वाङ्मय है[5]। दण्डी ने काव्यप्रपंच के तीन भेद किये हैं—गद्य, पद्य और मिश्र। भाषा के भेद से उन्होंने चार प्रकार के काव्यों (वाङ्मय) की गिनती की है। यही नहीं, शास्त्रों में संस्कृत के अतिरिक्त सभी अपभ्रंश है। यहाँ आ० दण्डी शास्त्रकारों की मान्यता से अलग स्पष्ट वक्ता एवं सच्चे आलोचक के रूप में सम्मुख आते है। इस से यह भी पता लगता है कि दण्डी के समय (सातवी शताब्दी) तक अपभ्रंश मे प्रबन्ध-काव्य लिखे जाने लगे थे। नमि साधु ने भी अपभ्रंश को आभीरी भाषा कहा है[6]। भोज के समय मे संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश मे समान रूप से प्रबन्ध-रचना का प्रचार था।[7] आनन्दवर्धन भी प्रबन्ध तथा मुक्तक काव्यों की रचना का उल्लेख संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश मे करते हैं[8]। वाग्भट ने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के साथ ग्राम्य भाषा

१. व्राचडो नागरात् सिद्धयेव्। सिन्धुदेशोद्भवो व्राचडोऽपभ्रंश:।—वही, पाद १८, सूत्र १।

२ सस्कृत प्राकृत चान्यदपभ्रश इति त्रिधा।—काव्यालकार, १, १६।

३ आभीरादिगिर काव्येष्वपभ्रश इति स्मृता।
शास्त्रेषु संस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोदितम्॥—काव्यादर्श, १, ३६।

४ प्राकृतसस्कृतमागधपिशाचभाषाश्च सूरसेनी च।
षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंश:॥—काव्यालकार, २, १२। (रुद्रट)।

५. तदेतद्वाङ्मयं भूय: सस्कृत प्राकृत तथा
अपभ्रशश्च मिश्रञ्चेत्याहुरार्याश्चतुर्विधम्॥—वही, १, ३२।

६ आभीरीभाषा अपभ्रंशस्था कथिता क्वचिन्मागध्यामपि दृश्यते।
—रुद्रट कृत काव्यालंकार की टीका।

७. सस्कृतेनैव कोऽप्यर्थ प्राकृतेनैव चापर:।
शक्यो योजयितुं कश्चिदपभ्रशेन वा पुन:॥
पैशाच्या शौरसेन्या च मागधान्या निबध्यते।
द्वित्राभि कोऽपि भाषाभि: सर्वाभिरपि कश्चन॥—सरस्वतीकण्ठाभरण।

८. यत: काव्यस्य प्रभेदा मुक्तकं संस्कृतप्राकृतापभ्रशनिबद्धम् सन्दानितकविशेषककलापककुलकानि।
—ध्वन्यालोक, ३-७।

का भी उल्लेख किया है[1]। सम्भवतः हेमचन्द्र के समय में शिष्ट और ग्राम्य नामक साहित्यिक अपभ्रंश के दो रूप प्रचलित[2] थे। परवर्ती समालोचकों में आ० मम्मट, रामचन्द्र, गुणचन्द्र, जिनदत्त, अमरचन्द, विश्वनाथ आदि अपभ्रंश का उल्लेख करते हैं[3]।

भरत मुनि ने सात भाषाओं के साथ ही विभाषाओं का निर्देश भी किया है। मुख्य भाषाएँ चार हैं—संस्कृत और प्राकृत तथा अतिभाषा, आर्यभाषा, और जाति भाषा। नाटकों में इन्हीं चार भाषाओं का प्रयोग होता था। अति भाषा से अभिप्राय देवभाषा एवं वैदिक शब्दों से भरपूर संस्कृत से तथा आर्यभाषा और जाति भाषा से अर्थ विभिन्न प्राकृतों से है[4]। वस्तुतः भाषा संस्कृत मानी जाती थी; प्राकृत नहीं। नाट्यशास्त्र के उल्लेखों से पता लगता है कि प्राकृत उस युग में काव्य की समृद्ध भाषा थी। उस के व्याकरण की भी रचना हो चुकी थी। नाट्यशास्त्र में उस का संक्षिप्त व्याकरण भी समाविष्ट है। देश की संस्थिति के आधार पर भाषाओं का विभाजन भरत-मुनि की मुख्य विशेषता है। नाट्यशास्त्र में कहा गया है कि गंगा और पूर्वी समुद्र के मध्य की भाषा एकारबहुल है, विन्ध्याचल और महासागर के मध्य की भाषा नकारबहुल है, गुजरात, उज्जैन और बेतवा के उत्तर क्षेत्रों की भाषा प्रायः चकारबहुल है, सिन्ध, सिन्ध का पारपार प्रदेश, वर्तमान पश्चिमी-दक्षिणी पंजाब तथा हिमालय के पार्श्ववर्ती पहाड़ी प्रदेश की भाषा उकारबहुल है तथा बेतवा नदी के किनारे और आबू के टीलों पर रहने वाले ओकारबहुल भाषा का प्रयोग करते हैं[5]। इस प्रकार भरतमुनि भौगोलिक दृष्टि को ध्यान में रख कर पूर्व की भाषा एकारप्रधान, उत्तर-पश्चिम की उकारबहुल और

---

१. संस्कृतं प्राकृतं तस्यापभ्रंशो भूतभाषितम् ।
इति भाषाश्चतस्रोऽपि यान्ति काव्यस्य कायताम् ॥—वाग्भटालंकार, २, १ ।

२. तथा—तत्र प्रायः संस्कृतप्राकृतापभ्रंशग्राम्यभाषानिबद्धभिन्नान्त्यवृत्तसर्गाश्वासकसन्ध्यवस्कन्धक-बन्धम् ।—काव्यानुशासन, प्रथम अध्याय ।

३. उक्त लेखकों के ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं ।

४. शकाराभीरचण्डालशबरद्रमिलान्ध्रजा ।
हीनावनेचराणां च विभाषा नाटके स्मृताः ॥—नाट्यशास्त्र, १७, ५० ।
संस्कृतैव भाषा स्वरभेदादिपूर्णसंस्कारोपेता संस्कृतभाषा भाषाभेदानामुक्ता वैदिकशब्दबाहुल्या-दार्यभाषातो विलक्षणत्वमस्या इत्यन्ये ।—नाट्य० विवृति, अभिनवगुप्त ।
अतिभाषा तु देवानामार्यभाषा तु भूभुजाम् ।
द्विविधा जातिभाषा च प्रयोगे समुदाहृता ।—नाट्शास्त्र, १७, २८-२९ ।

५ गंगासागरमध्ये तु ये देशाः संप्रकीर्तिताः ।
एकारबहुलां भाषां तेषु तज्ज्ञः प्रयोजयेत् ॥
विन्ध्यसागरमध्ये तु ये देशाः श्रुतिमागताः ।
नकारबहुलां तेषु भाषां तज्ज्ञः प्रयोजयेत् ।
सुराष्ट्रावन्तिदेशेषु वेत्रवत्युत्तरेषु च ॥
ये देशास्तेषु कुर्वीत चकारप्रायसंश्रयाम् ।
हिमवत्सिन्धुसौवीरान् ये जनाः समुपाश्रिताः ।
उकारबहुला तज्ज्ञस्तेषु भाषां प्रयोजयेत् ॥—नाट्यशास्त्र १७,५९-६३ ।

दक्षिण की नकारान्त, मध्यदेश की ओकारान्त तथा पश्चिम की चकारप्रधान भाषा कहते हैं। नाट्यशास्त्र में दक्षिण की जिन बोलियों में आभीरोक्ति का उल्लेख हुआ है उस पर भरतमुनि को स्वयं सन्देह है। सम्भव है कुछ घुमन्तू लोग दक्षिण में पहुँच गये हों और उन्हीं के सम्बन्ध में यह संकेत हो। केवल यह संकेत भर है।[१] इस से स्पष्ट है कि भरतमुनि के समय में अपभ्रंश भिन्न जातियों की बोली थी। मुख्य रूप से उस का सम्बन्ध अहीरों से था। किन्तु यह किस प्रदेश की बोली थी, इस का विवरण हमें नाट्यशास्त्र में नहीं मिलता। इस के लिए आभीर जाति तथा उस के प्रसार का इतिहास जानना होगा। दसवीं शताब्दी तक अपभ्रंश ने बहुत कुछ प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी, पर रूढिवादी दृष्टिकोण साहित्य-समाज में ही नहीं समालोचकों में भी काई की भाँति घर कर चुका था। राजशेखर की काव्य-मीमासा में काव्य के परिवेश में शब्द और अर्थ को शरीर, संस्कृत को मुख, प्राकृत को बाहु, अपभ्रंश को जघन, पैशाची को पाद तथा मिश्र भाषा को वक्षस्थल कहा गया है[२], जो सामाजिक मनोवृत्तियों का परिचायक है। अपभ्रंश की प्रवृत्ति उकारान्त है[3] इस लिए भरतमुनि के विवरण से यह निश्चित हो जाता है कि उकारबहुला बोली जो आभीर जाति की भाषा थी आगे चलकर अपभ्रंश कहलायी। काव्यमीमांसा में इसे समूचे मारवाड़, टक्क (वर्तमान पूर्वी पंजाब) और भादानक की भाषा कहा गया है[४]। वस्तुतः अपभ्रंश पश्चिम की भाषा है। उत्तर-पश्चिम तथा पश्चिम की मध्यवर्ती बोली किसी समय अहीरों की भाषा रही होगी। राजशेखर ने काव्य-परीक्षा के लिए सभा में अपभ्रंश के कवियों को पश्चिम में बैठने पर बल दिया है[५]। इन सब विवरणों से ज्ञात होता है कि अपभ्रंश का प्रथम प्रसार उत्तर से पश्चिम की ओर हुआ होगा। राजशेखर के युग का भारतवर्ष का भाषा सम्बन्धी प्रादेशिक मान-चित्र इस प्रकार था—उत्तर में संस्कृत, पूर्व में प्राकृत, पश्चिम में अपभ्रंश और दक्षिण में भूत-भाषा का प्रचार था। मध्यदेश में बहुभाषाविदों तथा कई भाषाओं के जानकार कवियों का निवास था[६]। मुख्य रूप से उस युग में ये ही चार भाषाएँ थीं। काव्यमीमांसा के

---

१ आभीरोक्ति शाबरी वा द्रामिडी वनचारिषु।—वही, १७, ५६।
अत्र नोक्तं मया यत्तु लोकाद् ग्राह्यं बुधैस्तु तत्।—वही, १७, ६४।

२. शब्दार्थौ ते शरीरं, संस्कृतं मुखं, प्राकृत बाहु., जघनमपभ्रंश, पैशाचं पादौ, उरो मिश्रम्।
—काव्यमीमांसा, तीसरा अध्याय।

३. स्यमो रस्योत्।—हेमशब्दानुशासन, ८, ३३१।

४. गौडाद्याः संस्कृतस्थाः परिचितरुचयः प्राकृते लाटदेश्याः
सापभ्रंशप्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्कभादानकाश्च।—काव्यमीमांसा, १० अ०।

५. तस्य चोत्तरतः संस्कृता कवयो निविशेरन्। पूर्वेण प्राकृताः कवयः, ततः परं नटनर्तकगायनवादनवाग्जीवनकुशीलवतालावचरा अन्येऽपि तथाविधाः। पश्चिमेनापभ्रंशिनः कवयः, ततः परं दक्षिणतो भूतभाषाकवय.।—वही, १० अ०।

६. यो मध्यदेशं निवसति स कविः सर्वभाषानिषण्णः।—वही, १० अ०।

एक और उद्धरण से इस की पुष्टि हो जाती है[1]। गुजरात, श्रवण (पश्चिमी सौराष्ट्र) तथा मारवाड़ में अपभ्रंश का विशेष प्रचार था। यहाँ तक कि उन देशों के लोग संस्कृत को सौष्ठव के साथ ही अपभ्रंश की भाँति मिश्रित (मिलौनी) बोलते थे।[2] इस प्रकार दसवीं शताब्दी में संस्कृत और प्राकृत के बाद अपभ्रंश काव्य तथा साहित्य में विशिष्ट रूप से प्रचरित हो गयी थी। अब वह बोली मात्र नहीं थी। संस्कृत-साहित्य के समालोचकों के इन उल्लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भरतमुनि जिस आभीरोक्ति अथवा उकारबहुला प्रादेशिक बोली का अभिधान करते हैं, वही आगे चल कर काव्य की भाषा के रूप में अपभ्रंश नाम से विख्यात हुई।

पौराणिक उल्लेख—विष्णुधर्मोत्तर पुराण चतुर्थ शताब्दी की रचना कही जाती है। उस में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के भेद से तीन प्रकार के गीतों का उल्लेख है।[3] उस के विवरण से यह भी पता चलता है कि उस युग मे गीतो का अत्यन्त प्रचलन था। संभवतः अपभ्रंश तब तक काव्य की भाषा नहीं बनी थी। वह एक देशी भाषा थी और उस मे धार्मिक तथा लौकिक गीत और पूजाएँ लिखी जाती थी। यहाँ अपभ्रंश का उल्लेख प्राकृत भाषा लक्षण नाम के अन्तर्गत हुआ है। यह तब अपभ्रंश इस लिए कही जाती थी कि देशी होने पर भी प्राकृत का इस पर अत्यन्त प्रभाव था तथा प्राकृत के लक्षणो से इस के लक्षण स्पष्ट नही थे।[4] ई० पू० शताब्दियों मे अपशब्द कह कर जिस का तिरस्कार किया जाता था, ईसवी पश्चात् वही आर्यावर्त क्षेत्र मे अपनायी जाने लगी[5] तथा देशी बोलियों मे से निम्न जातियों की बोली को अपभ्रंश नाम दिया गया। शाबरभाष्य मे देशी भाषाओं के सन्दर्भ मे अपभ्रंश का उल्लेख हुआ है।[6] कश्मीरी शैवागम को देखने से पता लगता है कि उस मे प्रकृत धर्म और भाषा का अत्यन्त महत्त्व वर्णित है। श्री महेश्वरानन्द ने प्राकृत और अपभ्रंश का विशेष रूप से उल्लेख किया है।[7]

१. ससंस्कृतामपभ्रंशं लालित्यालिङ्गित पठेत्।
प्राकृत भूतभाषा च सौष्ठवोत्तरमुद्गिरेत् ॥—वही, ७ अ०।
२ सुराष्ट्रत्रवणाद्या ये पठन्त्यर्पितसौष्ठवम्।
अपभ्रंशवदंशानि ते संस्कृतवचास्यपि ॥—वही, ७ अ०।
३ संस्कृत प्राकृत चैव गीतं द्विविधमुच्यते।
अपभ्रष्टं तृतीयं तु तदनन्त नराधिप ॥ विष्णुधर्मोत्तर, खण्ड ३, अ० २।३।२।१०
४. न शक्यते लक्षणस्तु वक्तुम्।
लोकेषु यस्स्यादपभ्रष्टसंज्ञ ज्ञेयं हि तद्देशविदोऽधिकारम् ॥—वही, ३।७।१२
५. ये शब्दा न प्रसिद्धा स्युरार्यावर्तनिवासिनाम्।
तेषां म्लेच्छप्रसिद्धोऽर्थो ग्राह्यो नेति विचार्यते ॥—तन्त्रवार्तिक, १।३।११
६ देशभाषापभ्रंशपदानि हि विप्लुति भूयिष्ठानि न शक्यन्ते विवेक्तुम्।
७ इह हि विद्यायां त्रिष्वपि बीजेष्ववस्था तृतीयमस्ति सम्प्रदायस्य कश्मीरोद्गतत्वात् प्राकृतभाषा-विशेषत्वाच्च यथा संप्रदायं व्यवहार इत्युपदेश इति। तथा—संस्कृतव्यतिरेकेणान्या सर्वापि भाषापभ्रंशः। शास्त्रेषु संस्कृतादन्यदपभ्रशतयोच्यते।—महार्थमजरी, १६२-३।

अपभ्रंश सम्बन्धी विविध उल्लेख यत्र-तत्र बिखरे हुए भी मिलते हैं वलभी के राजा धरसेन के शिलालेख में भी संस्कृत, प्राकृत की श्रेणी में अपभ्रंश का उल्लेख है।[1]

केवल अपभ्रंश नाम को सूचित करने वाले विविध उल्लेख प्राप्त होते हैं। इन उल्लेखों से यही पता लगता है कि छठी शताब्दी के पूर्व अपभ्रंश का प्रचलन हो गया था।

अपभ्रंश कवियों की विज्ञप्ति—उपलब्ध अपभ्रंश-साहित्य मे महाकवि स्वयम्भू का 'पउमचरिउ' प्रथम रचना है। कवि ने अपनी इस रामकथा को संस्कृत तथा प्राकृत रूपी पुलिनो से अलंकृत देशी भाषा रूपी दो तटों से उज्ज्वल कहा है।[2] उन्हों ने यह भी कहा है कि मेरे वचन ग्रामीण भाषा से रहित हैं। सामान्य भाषा में ही आगम की युक्तियो को रच रहा हूँ।[3] स्वयम्भू का रचना-काल आठवीं शताब्दी कहा जाता है।

उद्धरणों से पता लगता है कि उन के समय में अपभ्रंश बोली जाती थी और पढ़ी-पढ़ाई भी जाती थी। आदि जिन ऋषभ की पुत्री ने अन्य शिक्षाओं के साथ अपभ्रंश की शिक्षा भी ग्रहण की थी। स्वयम्भू की भाँति महाकवि पुष्पदन्त (१० वी शताब्दी) भी अपने काव्यो की भाषा देशी कहते हैं।[4] इसी प्रकार कवि पद्मदेव भी 'देसीसद्दत्थगाढ' कह कर अपनी भाषा का परिचय देते हैं।[5] प्रायः सभी अपभ्रंश के कवियों ने काव्य की भाषा देशी मे काव्य-रचना की है।

अब्दुलरहमान अवश्य अवहट्ट कह कर अपभ्रंश की ओर संकेत करते हैं।[6] कोऊहल प्राकृत को भाषा तथा बोलियों को देशी कहते हैं। उन की लीलावती कथा मे भी देशी शब्द भरपूर है।[7] इस प्रकार अपभ्रंश के अधिकतर लेखक अपनी भाषा को देशी कहते है। अवहस और अवहट्ट जैसे शब्द भी अपभ्रंश के लिए प्रयुक्त मिलते हैं।

१ संस्कृतप्राकृतापभ्रंशभाषात्रयप्रतिबद्धप्रबन्धरचनानिपुणतरान्त करण· ।—वलभी के धरसेन द्वितीय का दानपत्र। इण्डियन एण्टिक्वेरी, भा० १०, अक्तूबर १८८१, पृ० २८४।

२ दीहसमासपवाहावकिय सक्कयपायपुलिणालकिय।
देसीभासा उभय तडुज्जल कविदुक्करघणसद्दसिलायल।—पउमचरिउ, १,२।

३ सामण्ण भास छुडु मावडउ छुडु आगमजुत्ति का वि घडउ।
छुडु होन्तु सुहासिय वयणाइं गामिल्ल भास परिहरणाइं।—वही, १,३।

४ णीसेसदेसभासउ चवंति, लक्खणइं विसिट्ठइं दक्खवंति।— णायकुमारचरिउ, १।१।

णउ हउं होमि वियक्खणु ण मुणमि,
लक्खणु छंदु देसि ण वियाणमि।—महापुराण, १,८,१०।

५ वायरणु देसिसद्दत्थगाढ छंदालकारविसालपोढ।— पासणाहचरिउ, १,१

६. अवहट्टयसक्कयपाइयंमि पेसाइयंमि भासाए।
लक्खणछंदाहरणे सुकइत्त भूसियं जेहिं॥—सन्देशरासक, १,६।

७ एमेय मुद्धजुयई मनोहरं पाययाएं भासाए।
पविरल देसी सुलक्खं कहसु कहं दिव्व माणुसियं॥—लीलावई कहा, गाहा ४१।

किन्तु देशी कहने की प्रथा हमें प्राकृत-युग से मिलने लगती है।[1] इस लिए यदि अपभ्रंश के कवि अपनी रचना की भाषा देशी कहते हैं तो वह परम्परागत भाषा का अभिधान मात्र है। और यह सच है कि चौथी-पाँचवी शताब्दी में अपभ्रंश में भाषा-काव्यों की रचना होने लगी थी। आठवीं शताब्दी के लगते-लगते यह परिनिष्ठित अपभ्रंश बन चुकी थी। पुष्पदन्त की रचनाएँ प्रौढ भाषा में निबद्ध हैं। स्वयम्भू की भाषा से उस में विशेष अन्तर है। पउमचरिउ भी जनता की बोली में नहीं लिखा गया है। स्वयम्भू से बहुत पहले ही अपभ्रंश में रचना हो चुकी थी। अपभ्रंश के कई कवियों ने चतुर्मुख के साथ स्वयम्भू का उल्लेख किया है।[2] सम्भवतः भद्द भी स्वयम्भू के पूर्ववर्ती कवि हैं।[3] स्वयम्भू के समकालीन कवियों में मुख्य हैं—[4] धुत्त, माउरदेव, धनदेव, अज्जदेव, छइल्ल, गोइन्द, जिनदास, विअड्ढ, सुद्धसील आदि। इस से स्पष्ट है कि लोक में अपभ्रंश-कविता आठवीं शताब्दी के पूर्व भी भली-भाँति प्रचलित थी।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि अपभ्रंश भरतमुनि के युग में आभीरों की बोली मात्र थी। छठी सदी में वह काव्य की भाषा बन चुकी थी। किन्तु बोलचाल की भाषा से उस का सम्बन्ध बराबर बना रहा। साहित्य की भाषा लोक में 'अवहंस' नाम से तब प्रचलित थी। वही आगे चल कर अवहट्ठ कहलायी। सन्देशरासक और कीर्तिलता की भाषा अवहट्ट है।[5] इस का अपभ्रंश नाम वैयाकरणों द्वारा अभिहित किया गया प्रतीत होता है। क्यों कि म्लेच्छों की भाषा के लिए अपशब्द अत्यन्त प्राचीन काल से

---

१ जो पाउअस्स सारो तस्स मए लक्खलक्खणं सिटठम्।
एत्ताहे अवहंसे साहिज्जन्तं णिसामेह॥—स्वयम्भूछन्द, ४,१।

एत्थ सअभुच्छन्दं अवहसन्तं परिसमत्तम्। वही, ८, ५२।

पालित्तएण रइया वित्थरओ तह य देसिवयणेहिं
नामेण तरंगवई कहा विचित्ता य विउला य।—सनत्कुमार चरित की भूमिका, डॉ० जैकोबी पृ० १८।

ण समाणमि छंदु न बधभेउ ण हीणाहिउ मत्तासमेउ।
णउ सक्कउ पायउ देसभास णउ सद्दु वण्णु जाणमि समास।—णेमिणाहचरिउ (लक्ष्मणदेव) पाहुडदोहा की भूमिका से उद्धृत, पृ० ४५।

२ स्वयम्भू, पुष्पदन्त, नयनंदी, देवसेनगणि, लक्ष्मण, अब्दुलरहमान, धनपाल, महिन्दु और रइधू ने चतुर्मुख का सादर स्मरण किया है।

३. त्रिभुवन स्वयम्भू की उक्ति है—
जलकीलाए सयम्भू चउमुह एव च गोग्गह कहाए।
भद्दद च मच्छवेहे अज्ज वि कइणो ण पावन्ति॥—पउमचरिउ१४, १३,६,।

४ देखिए, स्वयम्भूछन्द, अ० ४।

५. अवहट्ठयसक्कयपाइयंमि पेसाइयंपि भासाए।—सन्देशरासक, १,६।

सक्कय वाणी बुहअ न भावइ पाउअ रस को मम्म न पावइ
देसिल वअना सब जन मिट्ठा तं तैसन जम्पओ अवहट्ठा।—कीर्तिलता, १,१६-२२।

व्यवहार में था।[1] उसी के अनुकरण पर अपभ्रंश शब्द चलन में आ गया। प्रमाणों से पता लगता है कि छठी सदी से पहले अपभ्रंश कविता का जनता में सम्यक् प्रचार था। संस्कृत-साहित्य के समालोचक भामह के उल्लेख तथा धरसेन के शिलालेख के विवरण से स्पष्ट है कि छठी सदी मे संस्कृत, प्राकृत की भाँति अपभ्रंश मे भी प्रबन्ध काव्य लिखे जाते थे। दसवीं सदी के लगते तक काव्य के तीन भेद संस्कृत समालोचकों के द्वारा स्वीकृत हो चुके थे।[2] परवर्ती काल में इस के कई भेद स्पष्ट होने लगते हैं। प्राकृत की भाँति अपभ्रंश की काव्यधारा भी देशी परम्परा की है, इस लिए अपभ्रंश लेखक अपने काव्य की भाषा देशी कहते हैं।

आभीर और आभीरी—ऐतिहासिक विवरणों से पता चलता है कि आभीर एक विदेशी जाति थी। सम्भवत. शकों के आने के पूर्व वह पूर्वी ईरान के किसी भाग में रहती थी।[3] आभीर किसी समय इण्डस नदी के किनारे पर रहते थे। प्रसिद्ध भूगोल-शास्त्री प्टोलेमी के अनुसार सिन्धु के निम्नवर्ती प्रदेश की घाटी और काठियावाड़ के मध्य में स्थित अबीरिया प्रदेश आभीर देश था।[4] यद्यपि आभीर म्लेच्छ कहे जाते हैं, पर उन्हें अनार्य नहीं कहा जा सकता। गुण्ड के शिलालेख (१८१ ई०) में आभीर सेनापति रुद्रभूति के द्वारा ग्राम मे वापी खुदवाने का उल्लेख है[5]। महान् सिकन्दर के आक्रमण के समय उत्तरी सिन्ध मे जो शूद्र रहते थे ग्रीक वासी उन्हें सोद्रोइ कहते थे। सोद्रोइ का सम्बन्ध आभीरों से बताया जाता है जो सरस्वती के तट पर रहते थे[6]। गुप्तकालीन राजा समुद्रगुप्त के समय (३६० ई०) आभीर राजपूताना, मालवा, और पश्चिमी सीमान्त प्रदेशों मे रहते थे। वस्तुतः अहीरों का अभ्युदय गुप्त युग में हुआ। आभीर राजा ईश्वरसेन महाराष्ट्र प्रदेश मे २४८ ई० के लगभग राज्य करता था। इसके पूर्व आभीर आयुधजीवी जाति के रूप मे प्रसिद्ध थे। समुद्रगुप्त के युग मे नौ जातीय प्रदेशों मे आभीरवंश का भी अपना राज्य तथा प्रजातन्त्रीय शासन था। स्मिथ ने उन की स्थिति झाँसी और विदिशा के मध्य मे अहीरवाड़ा प्रदेश मे कही है।[7] किन्तु अहीर देश के विभिन्न भागों में समय-समय पर फैलते रहे है। इस लिए उत्तर से लेकर पश्चिमी सीमान्त प्रदेश, गुजरात, मालवा और दक्षिण भारत तक विस्थापित आभीर राजाओं के राज्य करने के विवरण प्राप्त होते है। पुराणों मे भी आभीर राजाओ का

---

१ पतञ्जलि. महाभाष्य, १.१.१।
२. वे०, काव्यालंकार, १.१६। काव्यादर्श, १.३२।
३. द एज ऑव् इम्पीरियल युनिटी, जिल्द २, तृतीय संस्करण, पृ० २[illegible]।
४. के० पी० जायसवाल हिन्दू पोलिटी, प्रथम जिल्द, तृतीय सं[illegible] पृ० [illegible]।
५. सीहस्य (व) र्षे (श) युत्तरशते वैशाख शुद्ध पंचमिधस्थलि[illegible] (हि) णि नक्ष[illegible] आभीरेण सेनापति बापकस्य पुत्रेण सेनापतिरुद्रभूतिना ग्रामे र[illegible] एपीग्राफिया इण्डिका, जिल्द २५ भाग ८, अक्तूबर १९४०, पृ० २०३।
६. के० ए० नीलकान्त शास्त्री . एज ऑव द नन्दाज एण्ड मौर्य[illegible]ज, प्रथम संस्करण, १९[illegible], पृ० ४०।
७. डॉ० सुधाकर चट्टोपाध्याय : अर्ली हिस्ट्री ऑव नार्थ इण्डिया, प्रथम संस्करण १९[illegible], पृ० १५६।

उल्लेख मिलता है।[1]

पौराणिक तथा धार्मिक उल्लेखों से निश्चित हो जाता है कि आभीर शूद्र थे। कात्यायन ने महाशूद्र शब्द की पहचान आभीर जाति से करायी है।[2] इस पर से डॉ० अग्रवाल का अनुमान है कि सामाजिक व्यवहार और छुआछूत की दृष्टि से आभीरों का पद ऊँचा होने से वे महाशूद्र (ऊँचे शूद्र) कहलाये।[3] आभीर शूद्रों में विशेष रूप से वर्णित हैं। महाभाष्य में 'शूद्राभीर' समस्त पद में आभीर शब्द जाति विशेष का वाचक है।[4] डॉ० जायसवाल का मत है कि प्टोलेमी के अनुसार सिन्ध का लाडक प्रदेश अबीरिया कहा जाता था तथा जान पड़ता है कि गुजरात के आभीर अशोक के समय के राष्ट्रिक और महाभारत युग के यादव है।[5] पुराणों के विवरणों तथा अन्य प्रमाणों से भी इस की पुष्टि होती है कि यादव क्षत्रियों की एक शाखा आगे चल कर आभीर कहलायी। शक्तिसंगमतन्त्र में स्पष्ट उल्लेख है कि आहुक वंश से आभीरों की उत्पत्ति हुई है।[6] इसी प्रकार जातिविवेकाध्याय में भी वर्णित है।[7] ब्राह्मणोत्पत्ति-मार्तण्ड में ऐसे ब्राह्मणों की उत्पत्ति का विवरण है जो मूलत: भील थे। इन्हें आभिल्ल या आभीर ब्राह्मण कहा जाता था।[8] पृथ्वीराजरासो में छत्तीस क्षत्रिय वंशों के वर्णन में आभीर का भी उल्लेख है।[9] मत्स्यपुराण में यदुवंश के वर्णन के सन्दर्भ में हैहय तथा आहुक वंशी राजाओं का भी विवरण मिलता है, जिस से उन के सम्बन्ध का भी पता लगता है।[10] डॉ० गुरे के अनुसार दक्षिण की कोली जाति की अग्री, अहीर और भील तीन उपजातियाँ हैं। मराठे ग्वालों की उपजाति अहीर, कुनबी, कुरुवा और मराठा कही जाती है।[11] मध्यप्रदेश के अहीरों में क्षत्रियों की भाँति गोत्र और वंश देखे जाते हैं। उन की चार उपजातियाँ है—जिझोतिया, नरवरिया, कोसरिया, कनोजिया[12]। जान पड़ता है कि

१ सप्ताभीरा आवभृत्या दश गर्दभिनो नृपा.।
कङ्का. षोडश भूपाला भविष्यन्त्यतिलोलुपा ॥—श्रीमद्भागवत, १२.१.२९।

२ अजाद्यतष्टाप् ।४.१.४।
महाशूद्रशब्दो ह्याभीरजातिवचनस्तत्र तदन्तविधिना टाप् प्राप्त प्रतिषिध्यते।
आ० वामनजयादित्य कृत काशिका वृत्ति।

३. डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल पाणिनीकालीन भारतवर्ष, प्रथम संस्करण, पृ० ९५।

४ यदि सामान्यविशेषवाचिनार्द्वन्द्व न भवतीत्युच्यते, शूद्राभीरं गोबलीवर्दं तृणोलपमिति न सिध्यति। नैष दोष। इह तावच्छूद्राभीरमिति, आभीरा जात्यन्तराणि।—महाभाष्य, १.२.७२।

५. हिन्दू पोलिटी, प्रथम भाग, तृतीय संस्करण, पृ० १२६।

६. आहुकवशात समुद्भूता आभीरा इति प्रकीर्तिता।—शक्तिसंगमतन्त्र।

७ आहुकजन्मवन्तश्च आभीरा क्षत्रिया भवन्॥ जातिविवेकाध्याय।

८ ब्राह्मणोत्पत्ति मार्तण्ड, पृ० ३४७।

९ रवि ससि जाधव बंस, कुकुत्स्थ परमार सदावर।
चहुवान चालुक्क, छंदक सिलार अभीयर ॥—पृथ्वीराजरासो, समय १.६-२७७।

१० शतजेरपि दायादस्त्रय परमकीर्तय:। हैहयश्च हयश्चैव तथा वेणुहयश्च य। मत्स्य पुराण, ४३,८।
तस्यासीत पुत्रमिथुनं बभूवाविजितं किल। आहुकश्चाहुकी चैव ख्यातं मतिमतांवर। वही४४,६६।

११. डॉ० जी० एस० गुरे कास्ट एण्ड क्लास इन इण्डिया, प्रथम संस्करण, पृ० ३७।

१२ वही; पृ० ३५।

प्रादेशिक भिन्नता और सामाजिक भेद के कारण अहीर कई उपजातियों में बँट गये थे। सम्भव है कि गूजर और अहीर किसी समय एक रहे हों। गूजर जाति आज भी उत्तर भारत में सिन्ध और गंगा के मध्य प्रदेश में चारों ओर फैली हुई है। इस जाति के अधिकार में कई बड़े-बड़े दुर्ग तथा गढ़ रहे हैं। गुजरात, गुजरवाँ तथा गुजरानवाला आदि नामों से इस का पूरा सम्बन्ध है। जाट, गूजर और अहीरों की सामाजिक दशा लगभग एक-सी रही है।[1] गूजर की भाँति अहीर भी सवर्ण हिन्दू हैं। दोनों ही गाय, भैंस तथा पशुओं के पालन का कार्य करते हैं। ई० की पाँचवीं शताब्दी में दक्षिण-पश्चिमी राजपूताने में एक गूजर रियासत थी। बुन्देलखण्ड में कुछ वर्षों पूर्व तक समथर रियासत गूजरों की रही है।[2] श्री सकसेना ने गूजर की गणना संयुक्तप्रान्त की अपराधी जातियों में की है।[3] अबुलफजल ने राजपूतों के अन्तर्गत अहीर, लोध, गूजर, बागडी, कुर्मी, मीना, मेव, मेहतर, भील, कोली, ग्वालिया, गरशिया, खसिया, बाबरिया, विसेन, बेस, खाण्ड और खारीकी का उल्लेख किया है।[4] महाराष्ट्र सम्प्रदाय में अभिल्ल या आभीर ब्राह्मण प्रसिद्ध है।[5] व्यासस्मृति में गोप को अन्त्यज कहा गया है।[6] ब्रह्मवैवर्तकार स्पष्ट रूप से गोप, नाई, भील आदि को सत् शूद्र कहते हैं।[7] पश्चिमोत्तर प्रदेशों में आभीर गोपविशेष हैं। इन को अहीर, गोपाल कहते हैं। इन का जल दूषित नहीं माना जाता।[8] वस्तुतः अहीर वर्णसंकर जाति है।[9] प्राचीनतम युग में आभीर क्षत्रिय रहे होंगे, किन्तु ज्यों-ज्यों उन में आचरणहीनता बढ़ती गयी वे शूद्रों की श्रेणी में सम्मिलित होते गये। अन्त में उन्हें शूद्र ही कहा जाने लगा। इस का संकेत हमें मनुस्मृति में मिलता है।[10] कालान्तर में अहीरों में कई भेद-प्रभेद हो गये। कुछ लोग अपने को बाबानन्द के वंशज मानते हैं और कुछ भगवान् श्रीकृष्ण से अपना सम्बन्ध बताते हुए अपने को यदुवंशी कहते हैं। छत्तीसगढ़ में सामान्यतः अपने को राउत कहते हैं। राउत शब्द अपभ्रंश भाषा का है, जिस का अर्थ राजपुत्र या राजपूत है। किसी

१. प्रकाशनारायण सक्सेना : संयुक्त प्रान्त की अपराधी जातियाँ, प्रथम संस्करण, पृ० १२३।
२. वही पृ० १२२।
३. वही, पृ० ७।
४. आइने अकबरी, जिल्द ३, जरेट द्वारा अनूदित, १८९४, पृ० ११८।
५. प० ज्वालाप्रसाद मिश्र : जातिभास्कर, १९५५, पृ० २०३।
६. ब्राह्मण्यां शूद्रजनितश्चाण्डालस्त्रिविधः स्मृतः।
वर्द्धको नापितो गोप आशायः कुम्भकारकः॥—व्यासस्मृति, १,१०।
७. गोपनापितभिल्लाश्च तथा मोदककूबरौ।
ताम्बूलिस्वर्णकारौ च तथा वणिग्जातयः॥
इत्येवमाद्या विप्रेन्द्र सच्छूद्राः परिकीर्तिताः।—ब्रह्मवैवर्तपुराण, १०,१० अ० १६-१८।
८. जातिभास्कर, पृ० ४७७।
९. वैश्य एव आभीरो गवाद्युपजीवी, इति प्रकृतिवाद.।
मणिबन्ध्यां तन्तुवायाद्गोपजातेश्च संभवः॥—वही, २८१, पृ० ४७७।
१०. शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च॥—मनुस्मृति, १०,४३।

समय अहीरों की गिनती राजपूतों में की जाती थी। सूर्यवंशी राजाओं के छ्यानवे कुलों में रावत भी एक राजकुल था।[1] राजपूतों के अन्तर्गत राउतों के भी कई भेद हैं।[2] इस देश के लगभग सभी भागों में विभिन्न प्रान्तों के अहीर, राउत मिलते हैं। छत्तीसगढ़ में ही कन्नोजिया, झिरिया, जुझोतिया, देसिया आदि के राउतों का निवास है। ये लोग अपने को गहिरा भी कहते हैं। सम्भव है कि गहरवाल वंश की किसी शाखा से भी इन का सम्बन्ध रहा हो। कोसरिया मूलतः बंगाल के हैं, जिन की मूल आजीविका गन्ना (कुसर) उत्पादन करना कहा जाता है।

आभीरों का निवास स्थल—आभीरों के मूलनिवास के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना बहुत कठिन है, पर प्राप्त उल्लेखों के आधार पर कहा जा सकता है कि पहले पहल आर्यों की भाँति अहीर भी उत्तरापथ के सिन्धु प्रदेश की घाटी के आस-पास कहीं बसे हुए थे। ब्रह्मपुराण के २१२ अध्याय में आभीरार्जुन संवाद में अर्जुन धन-धान्य से समृद्ध पंचनद प्रदेश में जाते हैं, जहाँ पहुँच कर आभीर से उन की मन्त्रणा होती है। वायुपुराण, मत्स्यपुराण तथा महाभारत में उत्तर दिशा में कहे गये देशों में आभीर प्रदेश का उल्लेख है।[3] किन्तु ब्रह्मपुराण में दक्षिणापथ के राज्यों में आभीर का नाम मिलता है।[4] श्रीमद्भागवत के विवरण से यह पता लगता है कि मध्यदेश और दक्षिण के बीच कहीं आभीर राजाओं का शासन था, जो प्रायः शूद्र थे। बृहत्संहिता में दक्षिण में तथा नैर्ऋत्यकोण में आभीरप्रदेश कहा गया है।[5] किसी-किसी ने पश्चिम दिशा में भी उस का उल्लेख किया है। इन उल्लेखों के विवरण से यही प्रतीत होता है कि आभीरों का प्रसार उत्तर से पश्चिम की ओर तथा दक्षिण की ओर हुआ। शक्तिसंगमतन्त्र के अनुसार विन्ध्याचल पर आभीर देश स्थित था।[6] किन्तु वराहमिहिर के एक अन्य उल्लेख से स्पष्ट हो जाता है कि आभीरों का निवास बहुत पहले से पश्चिम-दक्षिण में रहा है।[7] गुप्त युग के पूर्व ही अहीर लोग दक्षिण की ओर मालवा से आगे काठियावाड और नर्मदा एवं विन्ध्याचल के मध्य बसे हुए थे। गुजरात में आभीर बहुत समय से बसे हुए हैं। गृहरिपु आभीर राजा था। उन की भाषा अपभ्रंश साहित्य की भाषा थी।

---

१ जातिभास्कर, पृ० २३१।

२ वही, पृ० २५४।

३. मत्स्यपुराण, ११३, ४०। वायुपुराण, ४५. ११५। महाभारत, भीष्मपर्व, अ० ९, ४७।

४ आभीरा सह वैशिक्या अटव्याः सरवाश्च ये।
पुलिन्दाश्चैव मौलेया वैदर्भा दन्तकैः सह ॥—ब्रह्मपुराण, २७, ५६।

५. कङ्कटटङ्कणवनवासिशिबिकफणिकारकोङ्कणाभीरा।—बृहत्संहिता, १४. १२। तथा—फेणगिरियवनमाकरकर्णप्रावेयपाराशरशूद्राः।
बर्बरकिरातखण्डक्रव्याश्याभीरचञ्चूका.॥—वही, १४,१८।

६ श्रीकोङ्कणादधाभागे तापीतः पश्चिमे तटे।
आभीरदेशो देवेशि विन्ध्यशैले व्यवस्थितः॥—आप्टे डिक्शनरी, पृ० १४३।

७. आनर्तार्बुदपुष्करसौराष्ट्राभीरशूद्ररैवतकाः।
नष्टा यस्मिन्देशे सरस्वती पश्चिमो देशः॥—बृहत्संहिता, १६, ३१।

वलभी के उत्थान के पूर्व ही अपभ्रंश साहित्य की भाषा बन चुकी थी। यही नही, गुजरात और दक्षिण भारत में आभीरों की सामाजिक स्थिति महत्त्वपूर्ण रही है। उन की भाषा तथा नाम विदेशी नहीं है।[2] आलोच्य काल में अहीरों को जिस आभीर भाषा का उल्लेख किया जाता है उस का सम्बन्ध गुजरात, राजपूताना और मालवा की भाषा में देखा जा सकता है। यद्यपि आचार्य दण्डी ने आभीर आदि की बोली को अपभ्रंश कहा है, पर आदि शब्द से जिन जातियों का उल्लेख किया जाता है वे निम्न जातियाँ हैं और उन का निवास आर्यावर्त मे कहा गया है।[3]

आभीरी

आचार्य भरतमुनि ने विभाषा के रूप में जिस आभीर या आभीरोक्ति का उल्लेख किया है उसी को पहचान दण्डी "आभीरादिगिरः" से कराते है।[4] भरतमुनि के युग मे भाषा प्रादेशिक नाम-रूपों के भेद से सात थी, पर प्रान्तों में बोली जाने वाली बोलियों से कुछ पृथक् नीच जाति के लोगों को बोलियाँ सम्भवतः उन्हें ही विभाषा कहा गया है। इन विभाषाओं में आभीर के साथ ही शकार, चण्डाल, शबर और द्राविड जातियों की बोली को भी विभाषा मे गिनाया गया है। मृच्छकटिक की टीका में पृथ्वीधर ने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश को भारतवर्ष को मुख्य साहित्यिक भाषा कहा है। प्राकृत भाषाओं में मागधी, अवन्तिका, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, वाह्लीका और दाक्षिणात्या (महाराष्ट्री) मुख्य है। अपभ्रंशों मे भी शकारी, आभीरी, चाण्डाली, शाबरी, द्राविडी, उड्जा तथा वनेचरों की भाषा ढक्की मुख्य हैं। प्राकृतों को भाषा और अपभ्रंशों को विभाषा माना गया है।[5] मृच्छकटिक मे हमे शौरसेनी, अवन्ति, प्राच्या, मागधी, शकारी, चाण्डाली और ढक्की सात भाषाओं का प्रयोग दिखाई देता है। प्रतिनायक शकार शकारी बोली मे ही बोलता है। शकारबहुल होने से शकारों की भाषा शकारी कही जाती है।[6] किन्तु शकार राष्ट्रिय कहा गया है, और इस लिए उस की भाषा राष्ट्रिया जाननी चाहिए[7]। आ० दण्डी के 'आभीरादिगिर.'

---

१ के० एम० मुन्शी द ग्लोरी देट वाज गुर्जरदेश, भाग ३, प्रथम सस्करण, पृ० ११६।

२ वही ' पृ० ११६।

३ निषादो मार्गवं सूते दासं नौकर्मजीवनम्।
कैवर्त इति यं प्राहुरार्यावर्तनिवासिन॰ ॥—मनुस्मृति, १०, ३४।

४. गजाश्वाजाविकोष्ट्रादिघोषस्थाननिवासिनाम्।
आभीरोक्ति शाबरी वा द्रामिडी वनचारिषु ॥—नाट्यशास्त्र, १७, ५६।
आभीरादिगिर॰ काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृता॰।
शास्त्रेषु सस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोदितम् ॥—काव्यादर्श, १, ३६।

५ प्राकृते—मागध्यवन्तिजा प्राच्या शौरसेन्यर्धमागधी।
वाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्त भाषा प्रकीर्तिता ॥—मृच्छकटिक टीका १, १। पृथ्वीधर।
दे०, नाट्यशास्त्र, १७-४६, ५०।

६. शकाराणां शकादीनां शाकरीं संप्रयोजयेत्।
तालव्यशकारबहुलत्वादेव भाषाया अस्या॰ शाकारीति संज्ञा।—मृच्छकटिक टीका।

७. शकारो राष्ट्रिय॰ स्मृतः, इति वचनात् शकारस्य भाषा राष्ट्रिया विज्ञेया।—वही।

पद पर रत्नाचार्य की टीका है कि गोप, शबर, शक और चाण्डाल आदि की भाषा आभीरी, शाबरी, चाण्डाली आदि है। इस प्रकार के उद्धरणों से यह पता लगता है कि आभीरी गोप, ग्वाला या गौली लोगों की बोली थी, जो समाज के निम्न वर्ग की भाषा मानी जाती थी। भरतमुनि तथा पृथ्वीधर के विवरण से यह भी प्रतीत होता है कि यह वनेचर लोगों की भी बोली थी। क्योंकि पृथ्वीधर ने वनेचरों की जिस ढक्क विभाषा का उल्लेख किया है वह उकारबहुल[1] है और अपभ्रंश से उस का पूर्ण साम्य है। यथार्थ मे आभीर जाति किसी एक प्रान्त मे स्थायी रूप से नही रही। उसे भ्रमणशील कहा गया है जो उचित ही है[2]। सिन्ध से ले कर दक्षिण भारत तक फैले हुए अहीरों की भाषा मे विविध प्रादेशिक भेद मिलते हैं। इसलिए हम उत्तर से दक्षिण भारत तक विभिन्न प्रदेशों मे फैली हुई भाषाओ के कुछ शब्दरूपों तथा प्रत्ययों की बानगी आज भी प्राप्त कर सकते है[3]। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि अपभ्रंश का प्रसार उत्तर से पश्चिम, पूरब तथा दक्षिण की ओर—हुआ है। आ० भरतमुनि के समय मे आभीर बोली प्रचलित थी, जो हिमवान्, सिन्धु, सौवीर और निकटवर्ती प्रदेशो मे रहने वाले लोगो की भाषा थी[4]। पुराणों के उल्लेखों से भी उत्तरापथ मे आभीरों की तथा आभीर प्रदेश की स्थिति का पता चलता है। किन्तु इन प्रमाणों के मिलने पर भी निश्चित रूप से यह नही कहा जा सकता—कि अपभ्रंश अहीरों की बोली थी। क्योंकि उक्त अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि शिष्ट लोगो की भाषा की तुलना मे अपभ्रंश नीची थी और इसी लिए अपशब्दों की प्रचुरता से उसे शूद्रों, म्लेच्छों या महाशूद्रों अथवा आभीर आदि निम्न जातियों की विभाषा (बोली) कहा गया है। यदि वह अहीर, भील, मछुआ आदि लोगों की बोली होती तो उन के द्वारा लिखे हुए साहित्य या प्रदेश विशेष की बोली का निर्देश अवश्य मिलता। फिर, भाषा-विकास की दृष्टि से अध्ययन करने मे कई प्रकार की विप्रतिपत्तियाँ उपस्थित होती है। अतएव जातिविशेष से भाषा का सम्बन्ध न जोड कर प्रवृत्ति-विशेष से उस की पहचान करना उचित जान पडता है। कारण स्पष्ट है कि अपभ्रंश का उपलब्ध अधिकाश साहित्य जैन साहित्य है। इसलिए भरतमुनि ने जिसे उकारबहुल कहा है वह भाषा विशेष की प्रवृत्ति का लक्षण है, जो विशेष रूप से अपभ्रंश मे ही लक्षित होता है तथा जो प्राकृत की ओकारान्त प्रवृत्ति का ह्रस्वान्त रूप है। अतएव प्राकृत की भाँति अपभ्रंश को भी जन-सामान्य की भाषा कहना समीचीन जान पडता है।

---

१ न । उ) कारप्राया ढक्कविभाषा। संस्कृतप्रायत्वे दन्त्यतालव्यसशकारद्वययुक्ता च।

२ सी० डी० दलाल और गुणे : भविसयत्तकहा की भूमिका, १९२३, पृ० ४६।

३ देखिए, एल० ए० श्चिवरज्मचाइल्ड द्वारा लिखित "नाट्स आन टु पोस्टपोजोसन ऑव लेट मिडिल इण्डो-आर्यन, तणय एण्ड रेसि, रेसिम्", प्रकाशित, भारतीय विद्या, जिल्द १६, संख्या ३-४, पृ० ७७-८६।

४ हिमवत्सिन्धुसौवीरान्ये जना' समुपाश्रिताः।
उकारबहुला तज्ज्ञस्तेषु भाषां प्रयोजयेत्॥—नाट्यशास्त्र, १७, ६२।

अपभ्रंश की उत्पत्ति तथा विकास—भरतमुनि के नाट्यशास्त्र, विष्णुधर्मोत्तर-पुराण तथा प्राकृत के व्याकरणों में प्राकृत के अन्तर्गत अपभ्रंश का विचार किया गया है। हेमचन्द्र ने प्राकृतों को ध्यान में रख कर ही अपभ्रंश के नाम-रूपों का विवेचन किया है।[1] भाषागत प्रमाणों से तथा अन्य उल्लेखों से पता लगता है कि सामान्य रूप से अपभ्रंश प्राकृतों का विकसित रूप है। साहित्य की भाषा बनने के पूर्व यह एक बोली मात्र थी, जो महाशूद्रों द्वारा बोली जाती थी। नाट्य में जातिभाषा के प्रयोग का विधान तो था, किन्तु निम्न जातियों की बोलियों का निषेध था।[2] अपभ्रंश का जन्म इन्हीं बोलियों तथा देशी भाषाओं से हुआ है। यद्यपि बोली के रूप में हमें उस की कोई बानगी नहीं मिलती, पर नाट्यशास्त्र में उद्धृत उदाहरणों में उस की झलक दिखाई देती है।

भरतमुनि ने उकारबहुला जिस विभाषा का उल्लेख किया है वह अपभ्रंश के लिए निर्दिष्ट है। भाषा के रूप में तब तक आभीरी का अभिधान नहीं हुआ था, इसीलिए कदाचित् वह आभीरोक्त या विभाषा (आभीरी) के नाम से अभिहित की जाती थी। नाट्यशास्त्र में उदाहृत 'मोरल्लउ नच्चन्तउ' 'महागमे संयन्तउ' आदि उदाहरणों में अपभ्रंश के बोली-रूपों का पता लगता है। अपभ्रंश का साहित्यिक ढाँचा प्राकृतों का होने से भाषा और साहित्य रूपों पर प्राकृतों का अत्यधिक प्रभाव है। उस में प्राकृतों की प्रायः सभी विशेषताएँ प्राप्त हैं। परन्तु मुख्य रूप से वह शौरसेनी की चाल पर विकसित हुई है।[3] प्राकृतों का माडल यदि संस्कृत का है तो अपभ्रंश का माडल प्राकृतों का है। वस्तुतः देशी बोलियों का पानी पी कर ही अपभ्रंश फली-फूली है। भरतमुनि तथा पृथ्वीधर के अनुसार नाटकों में विभाषाओं का भी प्रयोग किया जाता था। नाट्य, प्रकरण आदि में विविध प्राकृतों में से शौरसेनी, अवन्तिका, प्राच्या और मागधी का विशेष चलन था। अपभ्रंशों में शकार, चाण्डाली, शाबरी और ढक्क भाषाएँ विशेष रूप से प्रयुक्त होती थीं।[4] नाट्यशास्त्र में ढक्क नामक देशी भाषा का उल्लेख तो नहीं मिलता है, पर जिन वनेचर लोगों की भाषा को आभीरोक्ति या शाबरी कह कर भरतमुनि ने परिचय दिया है उसी को पृथ्वीधर ढक्क भाषा कहते

१ प्रायोग्रहणाद्यस्यापभ्रंशे विशेषो वक्ष्यते तस्यापि क्वचित्प्राकृतवत् शौरसेनीवच्च कार्य भवति।—सिद्धहेमशब्दानुशासन, सूत्र, ४, ३२९।

२ जातिभाषाश्रयं पाठ्यं द्विविधं समुदाहृतम्।—नाट्यशास्त्र, १७, ३१।
न बर्बरकिरातान्ध्र द्रमिलाद्यासु जातिषु।
नाट्यप्रयोगे कर्तव्यं पाठ्यं भाषासमाश्रयम्॥—वही, १७, ४६।

३. शौरसेनीवत्। ४, ४४६।
अपभ्रंशे प्रायः शौरसेनीवत् कार्यं भवति।—हेमचन्द्र।
सिंहराजकृत प्राकृतरूपावतार २१, १।

४ नाटकादौ बहुप्रकारप्राकृतप्रपञ्चेषु चतस्र एव भाषाः प्रयुज्यन्ते—
शौरसेन्यवन्तिकाप्राच्यामागध्यः। अपभ्रंशप्रपञ्चेषु चतस्र एव भाषाः प्रयुज्यन्ते—शकारीचाण्डाली शाबरीढक्कदेशीया।—मृच्छकटिक टीका १, १।

है।[1] अतः अनुमानतः हीन जातियों के द्वारा व्यवहृत होने के कारण साहित्य में तब तक इसे उचित स्थान प्राप्त नहीं हुआ था। किन्तु नाटच लोकधर्मी होने के कारण इन विभाषाओं के प्रयोगों से भी अछूते न रहे। संस्कृत-नाटकों में सम्भवतः प्रथम बार हमें इस ढक्क या आभीरोक्ति की बानगी मृच्छकटिक में मिलती है। नाटकों में पात्रों के अनुसार भाषा का प्रयोग करने का विधान है। मृच्छकटिक में चाण्डाली भाषा बोलने वाले चाण्डाल, शकारी बोलने वाले शकार तथा ढक्क भाषा बोलने वाले माथुर और द्यूतकर हैं। इनकी भाषा पर विचार करने से उस समय की भाषाविषयक सामाजिक स्थिति का बोध होता है। माथुर जुआरियों का मुखिया है। उस की और जुआरियों की भाषा ठेठ बोली एवं असंस्कृत भाषा है। आज भी हम फड़ों पर बैठ कर खेलने वाले जुआरियों की भाषा को अपने से बहुत कुछ मिश्र सुन सकते है। माथुर के शब्दों पर स्पष्ट रूप से हमें उकारबहुला को छाप लगी हुई दिखाई देती है। यथा—लुद्धु (रुद्धो), जूदकरु (द्यूतकर), पादु (पादौ), पडिमाशुण्णु (प्रतिमाशून्य), देउलु (देवकुल), धुत्तु (धूर्त), शिलु (शिर), गंधु (गण्डु), माथुरु, पिदरु, मादरु, णिउणु (निपुण) आदि। अपभ्रंश की शाबरी बोली को छोड़ कर तीनों बोलियों के नमूने हमें इस नाटक में मिलते हैं।[2] वस्तुतः भाषा की दृष्टि से संस्कृत के सभी नाटकों में इस का स्थान विशिष्ट है। भाषा समाज और संस्कृति की लोकचेतना का यह पूर्ण प्रकाशन करने वाला संस्कृत साहित्य में एक मात्र नाटक है। इस में प्रयुक्त ढक्क बोली मागधी से अत्यन्त प्रभावित है। इस लिए जान पड़ता है कि भले ही आभीर तथा आभीरी का प्रसार उत्तर से पश्चिम तथा दक्षिण की ओर हुआ हो, पर प्राकृतों की भाँति अपभ्रंश को भी साहित्यिक भाषा बनने का सौभाग्य पूरब में प्राप्त हुआ। किन्तु पूर्वी अपभ्रंश में लिखा हुआ साहित्य बहुत कम उपलब्ध है, परन्तु जो वर्तमान है वह प्राचीनतम साहित्य में गिना जाता है।

वलभी के राजा धरसेन द्वितीय के दानपत्र से पता लगता है कि उस के पिता संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों ही भाषाओं में प्रबन्ध काव्य रचने में निपुण थे।[3] इस से यह भी पता चलता है कि छठी शताब्दी के मध्य तक अपभ्रंश में प्रबन्ध काव्य लिखने का चलन हो गया था। क्योंकि उक्त शिलालेख ५५९ और ५६९ के बीच का लिखा हुआ माना जाता है। आ० भामह, दण्डी और नमिसाधु के उल्लेखों से भी इस की पुष्टि होती है। नमिसाधु ने स्पष्ट रूप से आभीरी या अपभ्रंश भाषा के लक्षण

१. विविधा भाषा विभाषाः। हीनपात्रप्रयोज्यस्वाढीना.। वनेचराणां चेति ढक्कभाषासंग्रहः।
—मृच्छकटिक टीका, १, १।

२. मृच्छकटिके तु शबरपात्राभावाच्छाबरी नास्ति।—वही।
अपभ्रंशपाठकेषु शकारी भाषापाठको राष्ट्रियः। चाण्डालीभाषापाठकौ चाण्डालौ। ढक्कभाषा-पाठकौ माथुरद्यूतकरौ।—वही।

३. संस्कृतप्राकृतापभ्रंशभाषात्रयप्रतिबद्धप्रबन्धरचनानिपुणतरान्तःकरण…।
—इण्डियन एण्टिक्वेरी, भा० १०, अक्तूबर, १८८१, पृ० २८४।

मागधी में कहे हैं। उन्होंने प्राकृत प्रधान होने से अपभ्रंश को उस के अन्तर्गत गिनाते हुए उस के तीन मुख्य भेदों का निर्देश किया है—उपनागर, आभीर और ग्राम्य।[1] उन के बताये हुए इस वर्गीकरण से स्पष्ट हो जाता है कि अपभ्रंश गँवारू भाषा थी। क्योंकि उपनागर और आभीर शब्द सामान्यतः हीन तथा ग्राम्य अर्थ के द्योतक हैं। राजा भोज के युग में (१०२२–६३ ई०) प्राकृत की भाँति अपभ्रंश का अच्छा प्रचार था। कहा जाता है कि स्वयं राजा भोज संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के अच्छे जानकार थे तथा तीनों भाषाओं में रचना करते थे। काव्य में भी तीनों भाषाओं का समान महत्त्व था।[2] किन्तु गुजरात में अपभ्रंश का विशेष प्रचार था। वहाँ के लोग केवल अपभ्रंश से ही सन्तोष का अनुभव करते थे।[3] यही नहीं, लाट देश के वासी संस्कृत से द्वेष रखते थे और प्राकृत को रुचि से सुनते थे। गौडदेशीय जनों की भी यही दशा थी। शालिवाहन राजा के काल में प्राकृत का अत्यधिक अभ्युदय हुआ। और उसी मधुर प्राकृत से भरित अपभ्रंश की रचना अत्यन्त भव्य और सरस है। इसे मगध और मथुरा के निवासी बोलते थे, और जो कवि जनों को भी इष्ट थी।[4] इस प्रकार ग्यारहवीं शताब्दी में मगध और मथुरा अपभ्रंश भाषा-भाषियों के केन्द्रस्थान थे।

संस्कृत के प्रसिद्ध कवि कालिदास के ग्रन्थों के टीकाकार मल्लिनाथ के समकालीन प्राकृत वैयाकरण लक्ष्मीधर ने स्पष्ट रूप से षड्भाषाचन्द्रिका में प्राकृत के प्राकृत, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश के नाम से छह भेद कहे हैं।[5] प्राकृत शब्द से काव्य में महाराष्ट्री प्राकृत का बोध होता रहा है, जो किसी समय समूचे महाराष्ट्र, मध्यदेश, दक्षिण तथा उत्तर-पश्चिम भारत की बोली रही है। किन्तु साहित्य में पहले पहल महाराष्ट्र में अपनायी जाने के कारण सम्भवतः इसे महाराष्ट्री कहा जाने लगा। इस का जन्म भी महाराष्ट्र में हुआ कहा जाता है।[6] जिस प्रकार प्राकृतों के लिए संस्कृत

---

१ आभीरी भाषा अपभ्रंशस्था कथिता क्वचिन्मागध्यामपि दृश्यते तथा प्राकृतमेवापभ्रंश। स चान्यैरुपनागराभीरग्राम्यावभेदेन त्रिधोक्तस्तन्निरासार्थमुक्तं भूरि भेद इति। कुतः देशविशेषात्, तस्य च लक्षण लोकादेव सम्यगवमेय।—रुद्रट कृत काव्यालंकार की टीका, २,१२।

२ संस्कृतेनैव कोऽप्यर्थ प्राकृतेनैव चापर।
शक्यो रचयितु कश्चिदपभ्रंशेन जायते॥—सरस्वतीकण्ठाभरण, २,१०।

३ शृण्वन्ति लटभ लाटा प्राकृतं संस्कृतद्विष.।
अपभ्रंशेन तुष्यन्ति स्वेन नान्येन गुर्जरा॥—वही, २,१३।

४. वही, २,१४-१५। तथा–
गिरः श्रव्या दिव्या प्रकृतमधुरा प्राकृतधुर
सुभव्योऽपभ्रंश सरसवचनं भूतवचनम्।
विदग्धानामिष्टे मगधमथुरावासिभणिति–
निर्बद्धा यस्तेषां स इह कविराजो विजयते॥—वही, २,१६।

५. षड्विधा सा प्राकृती च शौरसेनी च मागधी।
पैशाची चूलिकापैशाच्यपभ्रंश इति क्रमात्॥—षड्भाषाचन्द्रिका, १, २६।

६. तत्र तु प्राकृतं नाम महाराष्ट्रोद्भवं विदु।—वही, १, २७।

५

आदर्श रही है उसी प्रकार परवर्ती प्राकृत के लिए महाराष्ट्री और अपभ्रंश के लिए शौरसेनी आदर्श मानी जाती रही है। संस्कृत वैयाकरणों ने अपशब्द कह कर तथा संस्कृत के साहित्य समालोचकों ने 'आभीरादिगिरः' कह कर जिस बोली का या विभाषा का निर्देश किया है वही साहित्य मे अपभ्रंश कही जाती है[१]। अपभ्रंश का प्रयोग नाटको मे चाण्डाल आदि के द्वारा होने के कारण काव्यागों मे उस का बहुत ही कम समावेश किया जाता है।[२] वैयाकरणो के शब्दों में प्राकृत नीच जाति की और अपभ्रंश सब से नीची जाति की भाषा है। इसीलिए साहित्य मे इन्हे महत्त्व प्रदान नही किया गया। किन्तु राजनैतिक उथल-पुथल मे वह साहित्यिक गौरव प्राप्त कर जन-मानस मे व्याप्त रही।

राजशेखर ने काव्य की मुख्य चार भाषाओं का निर्देश किया है। संस्कृत वाणी सुनने मे दिव्य, प्राकृत स्वभाव से मधुर, अपभ्रंश सुभव्य और भूतभाषा सरस है।[3] काव्यमीमासा के विवरण से पता लगता है कि अपभ्रंश का प्रचलन मारवाड़ मे ही नही पश्चिमी पंजाब, गुजरात तथा मालवा मे भी था। वाग्भट ने संस्कृत, प्राकृत की भाँति अपभ्रंश और ग्राम्य भाषा मे लिखे गये कई प्रबन्ध काव्यों का उल्लेख किया है। उस ने प्रादेशिक भेदो के अनुसार अपभ्रंश के विविध भेदों का भी निर्देश किया है।[४]।

अपभ्रंश के भेद—आ० हेमचन्द्र ने शिष्ट और ग्राम्य के भेद से अपभ्रंश के दो रूपों की चर्चा की है।[५] किन्तु प्राकृतसर्वस्वकार मार्कण्डेय ने भाषा के चार विभाग माने है—भाषा, विभाषा, अपभ्रंश और पैशाची। भाषा के पाँच भेद हैं—महाराष्ट्री, शौरसेनी, प्राच्या, अवन्ती तथा मागधी। विभाषाएँ भी पांच कही गयी हैं—शकारी, चाण्डाली, शाबरी, आभीरी और शाक्वी (शाखी)। उन्होने अपभ्रंश के नागर, उपनागर और ब्राचड तीन मुख्य भेद माने है तथा आद्री, द्राविडी आदि सत्ताईस भेद कहे हैं। अधिकतर वैयाकरण प्राकृत का ही प्रधान रूप से विचार करते हुए लक्षित होते हैं। सभी प्राकृत वैयाकरणों ने प्राकृत के प्राकृत (महाराष्ट्री), शौरसेनी, मागधी और पैशाची इन चार भेदों का व्याकरण दिया है। केवल वाल्मीकीय प्राकृतशब्दानु-

१ अपभ्रंशस्तु भाषा स्यादाभीरादिगिरां चय।
कविप्रयोगानर्हत्वान्नापशब्द स तु क्वचित ॥—षड्भाषाचन्द्रिका, १, ३१।

२ अपभ्रंशस्तु चाण्डालयवनादिषु युज्यते।
नाटकादावपभ्रंशविन्यासस्यासहिष्णव. ॥—वही, १, ३६।

३ गिर श्रव्या दिव्या, प्रकृति मधुरा प्राकृतधुर·
सुभव्योऽपभ्रंश सरसवचनं भूतवचनम् ॥—बालरामायण, १, ११।

४ तत्र प्राय संस्कृतप्राकृतापभ्रंशग्राम्यभाषानिबद्धभिन्नान्त्यवृत्तसर्गाश्वासकसन्ध्यवस्कन्धकबन्धम्।
तथा—अपभ्रंशस्तु यच्छुद्धं तत्तद्देशेषु भाषितम्।

५ एच० जेकोबी "इन्ट्राडक्शन टु द भविसयत्तकहा" शीर्षक लेख, अनु० प्रो० एस० एन० घोषाल, प्रकाशित, 'जर्नल ऑव द ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, द्वितीय जिल्द, मार्च, १९५३, पृ० २४।

शासन और हेमचन्द्र कृत शब्दानुशासन मे इन के अतिरिक्त चूलिका और पैशाची अपभ्रंश का अधिक विवरण है। षड्भाषाचन्द्रिका में भी उक्त छहों भाषाओं का विचार हुआ है। यदि हम सभी उल्लेखों पर विचार करे तो देशी भेदों से अपभ्रंश के कई भेदों की कल्पना करनी होगी। किन्तु उसे उचित नही कहा जा सकता। फिर, उपलब्ध साहित्य से उस की कोई संगति भी नही बैठती, इस लिए केवल साहित्यिक रचनाओं को देखते हुए अपभ्रंश के अनिवार्यत: दो भेद माने जा सकते हैं—पूर्वी और पश्चिमी। किन्तु डॉ० तगारे ने पश्चिमी, दक्षिणी और पूर्वी तीन भेद माने है।[1] यद्यपि अपभ्रंश साहित्य उत्तर भारत को छोड कर तीनो भागों मे प्राप्त होता है पर भाषा की दृष्टि से हम उसे मुख्य दो रूपों में विभाजित कर सकते हैं। दक्षिण भारत से प्राप्त साहित्य मूलत: पश्चिमी या शौरसेनी अपभ्रंश मे निबद्ध है। पूर्वी अपभ्रंश मागधी प्राकृत से प्रभावित है। साहित्य में महाराष्ट्री तथा शौरसेनी प्राकृत और शौरसेनी अपभ्रंश का प्रचलन रहा है। क्योंकि उक्त दोनों प्राकृत संस्कृत के अधिक निकट रही हैं।[2] फिर अपभ्रंश मे शौरसेनी के अनुसार भाषा-विधान है।[3] इसलिए शौरसेनी अपभ्रंश की मुख्यता का सहज मे निश्चय हो जाता है। पूर्वी अपभ्रंश में हमें सिद्ध-साहित्य लिखा हुआ मिलता है जो मागधी के अधिक निकट है। किन्तु दक्षिणी अपभ्रंश का कोई स्पष्ट भेदक रेखा नही खीची जा सकती। अतएव अपभ्रंश के मुख्य दो तथा प्रादेशिक अनेक भेद माने जा सकते है। अन्य भेदो में सामान्य रूप से कही-कही अन्तर दिखाई देता है, जिस का उल्लेख प्राकृत वैयाकरणों ने अत्यन्त सक्षिप्त रूप मे किया है। इसी प्रकार भाषा की दृष्टि से देशी और साहित्यिक भेद से अपभ्रंश के दो रूप कहे जा सकते है। स्वयम्भू ने अपनी भाषा को ग्रामीण जनो की भाषा से हीन देशी भाषा कहा है।[4] देशी लोकभाषा का वह रूप था जो जन-सामान्य मे प्रचलित था, लेकिन साहित्यिक भाषा केवल शिष्ट जनों की थी। समाज मे भाषाविषयक यह अन्तर वैदिक युग से ले कर आज तक बराबर हुआ है। इस का एक मात्र कारण सामाजिक वर्ग-भेद माना जा सकता है।

अपभ्रंश का स्वरूप—अपभ्रंश मे सामान्य रूप से प्राकृतों की सभी विशेषताएँ प्राप्त होती हैं। शौरसेनी मे 'त' को 'द' करने को प्रवृत्ति है तथा 'य' को 'ज' होने का विधान है। अपभ्रंश मे भी ये दोनो नियम प्रयुक्त देखे जाते हैं। महाराष्ट्री प्राकृत में मध्यम व्यंजन का लोप हो जाता है। अपभ्रंश मे भी यह प्रवृत्ति व्यापक है। मागधी में

१. तगारे हिस्टारिकल ग्रामर ऑव अपभ्रंश, १९४८, पृ० १५-१६॥

२ प्रकृति सस्कृतम्।—वररुचि प्राकृतप्रकाश, १२, २।
शौरसेन्या ये शब्दास्तेषां प्रकृति: सस्कृतम्।

३ शौरसेनीवत्। ८, ४४६।—हेमचन्द्र।
अपभ्रंशे प्राय: शौरसेनीवत् कार्यं भवति।

४. सक्कयपाययपुलिणालंकिय देसीभासा उभय तडुज्जल।—पउमचरिउ, १.२.४।
तथा–सामण्णभास छुडु सावडउ, छुडु आगमजुत्तु कावि घडउ।
छुडु होन्तु सुहासिय वयणाइं,-गामिल्लभास परिहरणाइं।–१.३.१०-११।

'ज' को 'य', 'थ' को 'त' और 'त' को 'द' हो जाता है। अपभ्रंश में भी कहीं-कहीं इन नियमों का पालन देखा जाता है। इसी प्रकार पैशाची में 'ण' को 'न' और 'द' को 'त' का विधान है, जो अपभ्रंश में भी पाया जाता है। मागधी की प्रसिद्ध प्रवृत्ति 'र' को 'ल' और 'स' को 'श' अपभ्रंश में व्यापक है। नमि साधु ने मागधी के जिन सामान्य नियमों का उल्लेख किया है वे अपभ्रंश में पूर्ण रूप से दिखाई देते हैं। इस का संकेत भी उन्होंने किया है। वस्तुतः मृच्छकटिक में जिस ढक्क भाषा का प्रयोग हुआ है उस से अपभ्रंश का निकास हुआ समझना चाहिए। इस ढक्क भाषा पर मागधी का भी पूर्ण प्रभाव देखा जा सकता है। अपभ्रंश की प्रवृत्ति ही नहीं रूपात्मक वृत्ति तथा रचना में भी दोनों में अत्यधिक साम्य है। उदाहरण के लिए माथुर का यह वाक्य "धुत्तु जूदकरु विप्पदीवेहिं पादेहिं देउलं पविट्ठो" लिया जा सकता है। इसी प्रकार "एसु तुमं हु जूदिअरमंडलीए बद्धोसि," "कधं जूदिअलमंडलीए बद्धोम्हि"—वाक्य कहे जा सकते हैं, जो मागधी से प्रभावित होने पर भी अपभ्रंश के निकट हैं। यद्यपि नाटक में प्रयुक्त बोलियाँ प्रायः संस्कृत से प्रभावापन्न हैं, पर क्रियाओं को छोड़ कर अन्य रूपों पर बहुत कम ही प्रभाव है, यथा—"पिदरु विक्किणिअ पअच्छ"। कहा जाता है कि प्राकृत वैयाकरणों में चण्ड ने सम्भवतः प्रथम बार अपभ्रंश का उल्लेख किया है तथा उस के नियमों का विवरण दिया है।[1] जो भी हो, पर चण्ड कृत प्राकृतप्रकाश को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि अपभ्रंश में प्राकृतों की मुख्य विशेषताओं के साथ ही देशी प्रवृत्तियों का भी समावेश होने लगा था। इसी लिए उस में कुछ नवीन प्रत्ययों तथा क्रियाओं का विवरण मिलता है।[2] यही नहीं, प्राकृतप्रकाश की टीका में देशीय भेदों से प्राकृत के अनेक भेद कहे गये हैं।[3] यद्यपि प्राकृत वैयाकरणों ने अपभ्रंश का विधान प्राकृतों के अन्तर्गत किया है, पर अपभ्रंश निश्चय ही प्राकृत से भिन्न है; प्राकृत नहीं है। नमि साधु के "तथा प्राकृतमेवापभ्रंशः" कहने का तात्पर्य यही प्रतीत होता है कि प्राकृत के समान ही अपभ्रंश में भी नियम देखे जाते हैं, इस लिए वह प्राकृत के समान ही है; न कि प्राकृत है।

प्राकृत और अपभ्रंश

जहाँ प्राकृत की प्रवृत्ति ओकारान्त है वहाँ अपभ्रंश की उकारान्त। किन्तु आ० हेमचन्द्र के अनुसार 'सु' आदि विभक्तियों के परे रहते संज्ञा शब्दों के अन्त्य स्वर प्रायः दीर्घ या ह्रस्व हो जाते हैं, यथा—

ढोल्ला सामला धण चम्पा-वण्णी।
णाइ सुवण्ण रेह कस-वट्टइ दिण्णी॥

---

१ सं० सी० डी० दलाल और गुणे : भविसयत्तकहा, भूमिका, पृ० ६१।

२ अंशे फिडं फिट्ट फुड फुट्ट भुक्क भुल्ल। हसेगुंज। गुंजइ हसइ। मरवर्थे अल्ल इल्लौ एतौ प्रत्ययौ भवत।

३ प्राकृतं बहु तत्तुल्यं देशादिकमनेकधाः।—प्राकृतप्रकाश टीका।

यहाँ ढोल्ला और सामला शब्द दीर्घ हैं तथा सुवण्ण ह्रस्व। डॉ० जैकोबी और अल्सडोर्फ ने इस अन्तर एवं नियम पर बडा बल दिया है। अल्सडोर्फ का कथन है कि अपभ्रंश की स्वाभाविक प्रवृत्ति ह्रस्वान्त है।[1] किन्तु वस्तुतः वह उकारान्त ही है। नाम-रूपों तथा संज्ञा शब्दों पर स्पष्ट रूप से उस की छाप देखी जा सकती है। भरतमुनि और प्राकृत वैयाकरणों ने इस प्रवृत्ति का विशेष उल्लेख किया है। स्वयं आ० हेमचन्द्र ने अपभ्रंश में कर्त्ता और कर्म के एकवचन में अकारान्त शब्द के अन्तिम 'अ' को 'उ' का विधान किया है।[2] पाली तथा प्राकृतों की अपेक्षा अपभ्रंश में शब्द-रूप और क्रिया-रूप अधिक सरल हैं। संस्कृत में गण, लकार, पद तथा वचन आदि के भेद से शब्द और क्रिया—रूपो मे जो जटिलता थी वह पाली—युग में बहुत कुछ सरल हो जाती है। पाली युग में द्विवचन का लोप दिखाई देता है। दस गणों के स्थान पर पाँच गण मिलने लगते हैं, जो प्राकृत युग में समाप्तप्राय हो जाते हैं। सरलीकरण की प्रवृत्ति अपभ्रंश मे विशेष रूप से दिखाई देती है। इसी लिए प्राकृत के रायउलं, एगूणवीसो, वाणिअगा, पिच्छिऊण आदि शब्द राउल, एकवीस, वणिअ, वणिज, पुच्छउ आदि के रूप में अपभ्रंश में देखे जाते हैं। पाली मे परस्मैपद और भ्वादि गण-रूपों की बहुलता है। प्राकृतों में भी यही प्रवृत्ति बहुल है। सामान्यतः सभी प्राकृतो मे चतुर्थी विभक्ति का एक प्रकार से लोप दिखाई देता है, और उस के स्थान पर षष्ठी का प्रचलन रहा है।[3] कर्त्ता और कर्म मे बहुवचन रूप नपुंसक लिंग की भाँति बनने लगे। प्रायः दुहरे रूपों का लोप हो गया, केवल परस्मैपदी रूपों का चलन रहा। संयुक्ताक्षरों के स्थान पर द्वित्व की प्रवृत्ति बढती गयी। किन्तु अपभ्रंश मे विभक्ति-रूपों मे और भी अधिक सरलता आ गयी। कर्त्ता और कर्म में जहाँ समान रूप प्रचलित हो गये वहीं सम्बोधन और सम्बन्ध के बहुवचन के रूपों में साम्य बढ़ चला। षष्ठी विभक्ति का प्रायः लोप ही हो गया।[4] इस प्रकार प्रथमा, द्वितीया और षष्ठी विभक्ति का निर्विभक्तिक पद से अपभ्रंश-युग में बोध होने लगा था। यही नही, विभक्तियों का भी विनिमय इस युग मे होने लगा था। परवर्ती काल में ब्रज, अवधी और अवहट्ठ तथा देशी भाषाओं मे निर्विभक्तिक प्रयोगों का स्पष्ट प्रचार दिखाई देता है। अपभ्रंश मे सन्धि के नियम निश्चित नहीं है। इसी प्रकार लिंग मे भी अव्यवस्था है।[5] किन्तु पाली, प्राकृत की भाँति ह्रस्व एकार और ओकार का चलन रहा है।[6] ह्रस्व ऋ का भी कहीं-कहीं प्रयोग है, पर साधारणत. संस्कृत के

१ अपभ्रंश स्टडिएन. पृ० ६–७।

२. स्यमो रस्योत्.।-सिद्धहेमशब्दानुशासन, ८, ३३१।

३. सर्वत्र षष्ठीव चतुर्थ्याः इति क्रमदीश्वरः। यथा–विपस्स देहि।

४ षष्ठ्याः।—सिद्धहेमशब्दानुशासन, ८.३४५।
अपभ्रंशे षष्ठ्या विभक्त्या. प्रायो लुग् भवति।

५. लिङ्गमतन्त्रम्।–वही, ८,४४५।

६. न च लोके न च वेदे ह्रस्व एकार ओकार। वही।

ऋ, लृ, ऐ और औ का अपभ्रंश मे प्रयोग नही है । क्रिया-रूपों मे वर्तमान तथा विशेष रूप से भूतकाल में कृदन्त का प्रयोग मिलता है । संस्कृत के हलन्त, इकारान्त और उकारान्त शब्द अपभ्रंश मे अकारान्त बन जाते हैं । हिन्दी की आकारान्त और ईकारान्त प्रवृत्ति का मूल अपभ्रंश की उभयविध प्रवृत्तियों मे देखा जाता है । आ॰ हेमचन्द्र ने इस का विधान भी किया है ।[1] अपभ्रंश मे कुछ ऐसे प्रत्यय तथा परसर्ग दिखाई देते हैं जो पाली और प्राकृत मे नही मिलते । ये भाषा-विकास की अवस्था विशेष के सूचक होने के साथ ही नवीन उपलब्धि के प्रमाण हैं । उदाहरण के लिए—पूर्वकालिक क्रिया निष्पन्न करने के लिए संस्कृत मे क्त्वा और ल्यप् प्रत्ययों का विधान है तथा पाली प्राकृत मे उसे तूण और इय आदेश हो जाते हैं ।[2] किन्तु अपभ्रंश मे इस के लिए इ, इउ, इवि, अवि, एप्पि, एप्पिणु, एवि और एविणु इन आठ प्रत्ययो का प्रयोग होता है ।[3] इसी प्रकार क्रियार्थक क्रिया के लिए अपभ्रंश में धातु के आठ रूप होते हैं जो प्राकृत मे नही हैं । कृदन्त रूपो मे भी विविधता देखी जाती है । निश्चय ही हिन्दी के कृदन्त तथा संज्ञा शब्दो में लिंग की जो अव्यवस्था है वह अपभ्रंश से सम्बन्धित है । अ, डड और डुल्ल अपभ्रंश के स्वार्थिक प्रत्यय हैं ।[4] प्पण् और तण प्रत्ययो की भी विशेष व्यवस्था है ।[5] इस भाषा मे देशी शब्द-रूपो का बाहुल्य है ।[6] शब्द तथा क्रिया-रूप अपभ्रंश प्रकृति मे ढले हुए ही दिखाई देते हैं । कहा जाता है कि अपभ्रंश की ध्वन्यात्मक विशेषता 'य' श्रुति है । किन्तु यह मागधी और अर्द्धमागधी की भी विशेषता है ।[7] वस्तुत इस भाषा की ध्वन्यात्मक विशेषता स्वरों के ह्रस्व उच्चारण में निहित है । प्राकृत और अपभ्रंश मे संयुक्त व्यंजनो का अधिक प्रयोग है । स्वरों मे या तो सन्धि कर दी जाती है अथवा सम्प्रसारण । किसी-किसी ध्वनि का लोप कर उसे कोई अन्य रूप ही दे दिया जाता है । क्रिया-रूपो मे भी यह प्रवृत्ति मुख्य है । अपभ्रंश मे निष्ठाबोधक कई प्रत्यय है । प्रत्यय और रूपा की इस विविधता से पता लगता है कि संस्कृत से प्राकृत मे और प्राकृत से अपभ्रंश युग मे इन रूपों मे विकासात्मक प्रवृत्ति बढती रही तथा आर्येतर भाषाओं से प्रभाव रूप मे भारतीय आर्य-भाषाएँ बहुत कुछ ग्रहण करती रही है । देशी बोलियों मे कुछ ऐसे सामान्य तत्त्व

१ स्यादौ दीर्घह्रस्वौ ।—सिद्धहेमशब्दानुशासन, ८, ३३० ।
२ क्त्वा तूण इयौ ।—सं॰-पं॰ मथुराप्रसाद । पाली-प्राकृत व्याकरण, २, ३६ ।
३ क्त्वा इइउइविअवय (एप्प्येप्पिण्व्येव्येविणव ।—सिद्धहेमशब्दानुशासन ।
४ अडडडुल्ला स्वार्थिकलुक् च ।—त्रिविक्रमदेव प्राकृतशब्दानुशासन, २९,३,३ ।
५ त्वतलो: प्पणु ।—सिद्धहेमशब्दानुशासन ।
विशेष द्रष्टव्य है—लेखक का 'अपभ्रंश के प्पणु और तण प्रत्यय' शीर्षक लेख, नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ६५, अं॰ ४, संवत् २०१७ ।
६ तक्षाद्याश्छोल्लादीन् ।—प्राकृतशब्दानुशासन, ६४,३,४ ।
झाडगास्तु देश्या सिद्धा ।—वही, ७२,३,४ ।
७. अवर्णो य: श्रुति ।—पाली-प्राकृतव्याकरण, २,२५ ।

मिलते हैं, जिन की जड़ें लोकपरम्परा में लक्षित होती हैं। वस्तुत: अपभ्रंश का विकास भी उसी परम्परा से हुआ है।

देशी

प्राकृत युग में ही साहित्य की भाषा को देशी कहने का प्रचलन हो गया था। पादलिप्तसूरि अपनी कथा की भाषा को जो कि प्राकृत है देशी कहते हैं।[1] इन का समय लगभग पाँचवी शताब्दी कहा जाता है। उद्योतन सूरि (७६९ ई०) स्पष्ट रूप से कुवलयमाला कथा की महाराष्ट्री प्राकृत को देशी कहते हैं और उसे प्राकृत से भिन्न बताते हैं।[2] कोऊहल ने भी महाराष्ट्री प्राकृत में लिखित लीलावई की भाषा को महाराष्ट्र की देशी भाषा कहा है।[3] यद्यपि यह सच है कि लीलावई में देशी शब्दों का प्राधान्य है, पर स्वयं कवि अन्य स्थल पर प्राकृत को देशी भाषा कहता है।[4] दण्डी ने भी देशविशेष की जातीय भाषा होने के कारण अपभ्रंश का उल्लेख किया है।[5] प्राकृतों में देशी विशेषताओं का स्पष्टतः प्राधान्य रहा है।[6] आ० रुद्रट तो अपभ्रंश को देशी भाषा ही कहते हैं।[7] मृच्छकटिक में जिस ढक्क विभाषा का प्रयोग हुआ है उसे टक्क (आधुनिक पूर्वी पंजाब) देश की बोली माना जा सकता है। काव्यादर्श की टीका काव्यलक्षण में प्राकृत की भाँति अपभ्रंश के भी चार भेद हैं और उसे देशीय कहा है।[8] संस्कृत और प्राकृत के कवियों ने ही नहीं अपभ्रंश के लेखकों ने भी अपनी रचनाओं की भाषा को देशी कहा है। महाकवि स्वयम्भू अपने प्रबन्ध काव्य 'पउमचरिउ' की भाषा को संस्कृत और प्राकृत रूपी पुलिनों से अलंकृत तथा देशी भाषा रूपी दो तटों से उज्ज्वल कहते हैं।[9] पुष्पदन्त भी नम्रता प्रदर्शित करते हुए कहते हैं कि न तो मैं छन्दशास्त्र के नियमों को भलीभाँति जानता हूँ और न छन्द तथा देशी भाषा को ही।[10] पद्मदेव, लक्ष्मण और अन्य अपभ्रंश कवि अपनी भाषा का परिचय देशी कह कर

१ पालित्तएण रइया वित्थरओ तस्स देसीवयणेहि।
नामेण तरंगवई कहा विचित्ता विचित्ता विहुलापय॥—जेकाबी सनत्कुमारचरित की भूमिका, पृ० १७८ से उद्धृत।

२ पाययभासा रइया भाहट्ठयदेसी वयणणिबद्धा।—डॉ० आ० ने उपाध्ये लीलावई की भूमिका में उद्धृत।

३ भणियं च पियय माए रइयं मरहट्ठ देसी भासाए।
अगाइं इमोए कहाएँ सज्जणा संग जाउगाई॥—लीलावई, गाहा १३३०।

४ एमेय युद्ध जुयई मनोहर पाययाएँ भासाए।
पविरल देशी सुलक्खं कहसु कहं दिव्व माणुसियं॥—वही, गाथा ४१।

५ आभीरादिगिर काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृ ता।—काव्यादर्श, १, ३६।

६. तद्भवस्तत्समा देशीत्यनेकः प्राकृतक्रम।—वही, १, ३३।

७ षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंश।—काव्यालंकार, २,१२।

८ अपभ्रंशाऽपि प्राकृतवच्चतुर्धा स्मर्यते। यदुक्तम्—
शब्दभव शब्दसमं देशीयं सर्वशब्दसामान्यम्।
प्राकृतवदपभ्रंशं जानीहि चतुर्विधमाहितम्॥—रत्नश्रीज्ञान ' काव्यादर्श की टीका, १, ३६।

९ सक्कयपायय पुलिणालंकिय देसीभासा उभय तडुज्जल।—पउमचरिउ, १,२,३-४।

१० ण हउं होमि वियक्खणु ण मुणमि लक्खणु छंदु देसि ण वियाणमि।—महापुराण, १,८,१०।

देते हैं।[1] आचार्य हेमचन्द्र ने देसीसद्दसगह मे कहा है कि जो शब्द प्रकृति-प्रत्यय आदि से शब्दशास्त्र से सिद्ध नही है तथा संस्कृत कोशो मे जो प्रसिद्ध नही है और न लक्षणा, व्यंजना आदि शक्तियो से जिनका अर्थ सम्भव है वे इस कोश मे निबद्ध है[2], और देशविशेष (महाराष्ट्र, विदर्भ, आभीर आदि) मे प्रसिद्ध होने के कारण उन शब्दो को एवं अति काल से प्रयुक्त होने वाली प्राकृत भाषा विशेष को देशी कहते है।[3] देशी की इस परिभाषा में शब्द ही नही उन शब्दों से युक्त भाषा का भी ग्रहण हुआ है। देशीनाममाला में नाना देशों मे प्रसिद्ध देशी शब्दो का संग्रह तथा अर्थ निबद्ध है। इसमें कुछ ऐसे शब्द भी है जो अपभ्रश के हैं। उक्तिव्यक्तिप्रकरण की भाषा को डॉ० चटर्जी प्राचीन कोशल देश की बोली कोशली मानते हैं।[4] यह लगभग ग्यारहवी-बारहवी शताब्दी की रचना कही जाती है। इसके लेखक पं० दामोदर ग्रन्थ की भाषा को भ्रष्ट गिरा कहते हैं।[5] साधुसुन्दरगणी कृत उक्तिरत्नाकर मे अनेक देशी शब्दों का संग्रह है। वस्तुतः ये रचनाएँ लोक परम्परा की है जो लोकधर्म तथा भाषा का पूर्ण प्रतिनिधित्व करती हैं। इसी परम्परा मे आगे चल कर हमें विद्यापति की कीर्तिलता और पदावली जैसी रचनाएँ मिलती है। स्वयं विद्यापति ने देशी वचनो को मधुर कह कर उस का महत्त्व गाया है।[6] स्पष्टतः भाषा और काव्य की यह वही धारा है जो लोक जीवन को साथ ले कर विकसित होती रही है। इस में प्राय सभी साहित्यागों का विकास हुआ है, पर क्रमशः वे शास्त्रीय नियमो से आबद्ध होते गये, और इसीलिए केवल जन-जीवन की झलक ही उन में मिलती है, समाज की चेतना का पूर्ण प्रतिबिम्ब नहीं।

अपभ्रंश भाषा का स्थान

जाति, भाषा, साहित्य और इतिहास के उल्लिखित प्रमाणो से पता लगता है कि उत्तर वैदिक युग मे आभीर सिन्ध और पंजाब के प्रदेशों मे फैले हुए थे, जिनका मुख्य कर्म गो-पालन था। महर्षि वाल्मीकि ने उत्तरापथ के द्रुमकुल्य नामक स्थान पर दस्युओं के अन्तर्गत आभीरो का विवरण दिया है।[7] उत्तर मे

१ डॉ० हीरालाल जैन . पाहुडदोहा, भूमिका, पृ० ४४-४५।

२ जे लक्खणे ण सिद्धा ण पसिद्धा सक्कयाहिहाणेसु।
ण य गउणलक्खणासत्तिसंभवा ते इह णिबद्धा ॥—देशीनाममाला, १,३।

३ देसविसेसपसिद्धोइ भण्णमाणा अणन्तया हुन्ति।
तम्हा अणाइपाइअपयट्टभासाविसेसओ देसी ॥—वही, १,४।

४ डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी उक्तिव्यक्तिप्रकरण, प्रस्तावना, पृ० ६।

५ ततो देशे देशे प्रतिविषयं लोक पामरजनो यथा यथा गिरापभ्रष्टया यत किंचित अभिप्रेयं वस्तु वक्ति व्यवहरति सापभ्रश भाषा।—उक्तिव्यक्तिप्रकरण, श्लोक ७ विवृत्ति।

६ देसिल वअना सब जन मिट्ठा
तं तैसन जम्पओ अवहट्ठा।—कीर्तिलता, १,२१-२२।

७ उत्तरेणावकाशोऽस्ति कश्चित्पुण्यतरो मम।
द्रुमकुल्य इति ख्याता लोके ख्यातो यथा भवान ॥—रामायण, ६,२२-२९।
उग्रदर्शनकर्माणो बहवस्तत्र दस्यवः।
आभीरप्रमुखाः पापा. पिबन्ति सलिलं मम ॥—वही, ६,२२,३०।

आभीर नाम के प्रदेश का भी उल्लेख मिलता है। संगीत शास्त्र में आभीरी राग भी है।[1] जान पड़ता है कि जिस प्रकार आर्यों के आचार-विचार से हीन होने पर आभीर शूद्र और म्लेच्छ कहे गये हैं उसी प्रकार वेदों के राग से भिन्न होने के कारण, गमक से हीन आभीरी देशी राग कहा गया है।[2] यही नहीं, साहित्य में आभीर नामक एक नये मात्रिक वृत्त का भी चलन हो गया।[3] यह सब लोक-परम्परा का प्रभाव एवं विकास कहा जा सकता है। इस में शास्त्रीयता का केवल आवरण भर है। परवर्ती काल में इन में और भी अधिक विकास हुआ। इस प्रकार आभीर जाति, प्रदेश और कला का प्राचीन विवरण मिलता है। भाषा के रूप मे भरतमुनि ने जिसे आभीरोक्ति तथा उकारबहुला कहा है उस की पहिचान दण्डी अपभ्रंश से कराते है। नमिसाधु, मार्कण्डेय, लक्ष्मीधर, पृथ्वीधर और रत्नश्रीज्ञान आदि अपभ्रंश का सम्बन्ध आभीर से जोड़ते हैं। भरतमुनि आभीरो भाषा से ही नहो जाति से भी परिचित थे।[4] दण्डी ने कदाचित् पहली बार स्पष्टतः अपभ्रंश को आभीरो कहा। उन के काव्यादर्श की टीकाओं में सम्भवतः सर्वप्राचीन रत्नश्रीज्ञान कृत काव्यलक्षण उपलब्ध होती है। यह राष्ट्रकूट राजा तुंगभद्र के समय लिखी गयी थी। दण्डी के 'आभीरादिगिरः' पद की व्याख्या करते हुए टीकाकार ने कहा है कि आभीर पंजाबी है और आदि शब्द से ढक्क आदि विभाषाओ का ग्रहण करना चाहिए।[5] बहुत कर ढक्क से अभिप्राय ढाका प्रदेश से रहा होगा। पृथ्वीधर ने मृच्छकटिक में प्रयुक्त जिस ढक्क विभाषा का निर्देश किया है उस का सम्बन्ध टक्क देश से न हो कर ढाका से है। वस्तुतः अपभ्रंश पश्चिमोत्तर प्रदेश की बोली रही है पर ज्यों-ज्यों आभीरों का प्रसार उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूरब की ओर होता रहा है भाषा का क्षेत्र और विकास भी बढता रहा है। इस देश के कई प्रदेशों मे आभीरों का राज्य रहा है। ये गणतन्त्र राज्य के प्रतिष्ठापक रहे हैं। नेपाल, गुजरात, महाराष्ट्र और पश्चिमी सीमान्तप्रदेशों में कई आभीर राजाओं का राज्य रहा है। भरतमुनि ने हिमालय को तराई, सिन्धु प्रदेश और सिन्धु नदी के पूर्ववर्ती घाटी प्रदेश मे बसने वाले वनेचरों की भाषा को आभीरोक्ति कहा है। राजशेखर अपभ्रंश का

१ शुद्धपञ्चमसभूता गमकस्फुरणान्विता।
आभीरो गमहीना स्याद्बहुला पञ्चमेन च ॥ भरतकोश से उद्धृत, सं०-श्रीमान् वग्लि रामकृष्ण कवि, प्रथम संस्करण।

२ वही। तथा–
मालापञ्चमभाषेयमाभीरी परिकीर्तिता।
रिगाभ्यां च विहीना च औडुवा परिकीर्तिता ॥–जगदेव, वही।

३. एकादशकलधारि कविकुलमानसहारि।
इदमाभीरमवेहि जगणमन्तमनुद्यहि ॥—शब्दार्थचिन्तामणि (सुखानन्द), प्रथम भाग, पृ० २७३।

४. आभीरयुवतीना तु द्विवेणीधरमेव च।
शिर परिगमप्रायो नीलप्रायमथाम्बरम् ॥ —नाट्यशास्त्र, २३, ६५। चौखम्बा संस्करण।

५ आभीरा वाहिका। आदि शब्देन ढक्कादिपरिग्रह। तेषां गिरो भाषा अपभ्रंश इति अपभ्रशनाम्ना।

क्षेत्र समूचा राजपूताना, पंजाब[१] (पूर्व मे व्यास नदी से पश्चिम में सिन्धु नदी तक का प्रदेश), और मादानक कहते है। इस से यह स्पष्ट हो जाता है कि दसवी शताब्दी तक उत्तर-पश्चिम भारत मे अपभ्रंश बोली जाती रही है। किन्तु पश्चिम में ही नही पूरब में भी अपभ्रंश का प्रचार रहा है। आभीरों के स्थानान्तरण के साथ ही आभीरी भी फैलती रही है। गुप्त-युग मे आभीर राजाओ का प्रभुत्व भी रहा है। पर इतिहास में उन्हे महत्त्व नही मिला। इस का कारण सामाजिकता के अतिरिक्त हेय भावना भी कहा जा सकता है। समाज मे आभीर शूद्र माने जाते रहे है और क्षत्रियत्व का पद प्रदान करने के लिए समाज उन के लिए प्रतिकूल रहा है। यह निश्चय है कि ढक्क भाषा अपभ्रंश की बोली रही हैं, जिस पर मागधी का विशेष प्रभाव है। किन्तु यह एक बड़ा प्रश्न है कि अपभ्रश जैन-साहित्य की भाषा कब और कैसे बनी ? जैन और बौद्ध आचार्य बहुत कर जन-बोलियों मे उपदेश देने तथा ग्रन्थ लिखने के पक्षपाती रहे हैं। सम्भवतः जब आभीरों के दल नेपाल और मालवा से कई दलों मे विभक्त हो कर दक्षिण और पूरब की ओर बढे होंगे तभी लिच्छवियो से उन की मुठभेड़ हुई होगी तथा अपनी संस्कृति और भाषा से प्रभावित किया होगा। यद्यपि उस युग मे भाषागत एकरूपता किसी न किसी रूप मे अवश्य होगी पर जातिगत भिन्नता और विभिन्न संस्कृतियों के मेल से परिवर्तन होना स्वाभाविक है। और इसीलिए ढक्क विभाषा पर हम एक ओर अपभ्रंश की छाप देखते है तो दूसरी ओर मागधी का पूर्ण प्रभाव। ऐतिहासिक प्रमाणों से यह सिद्ध है कि आभीर त्रिकूटों की भाँति सफल शासक थे। पाँचवी शताब्दी मे उत्तर महाराष्ट्र और उत्तर गुजरात त्रिकूटो के अधिकार मे थे, जो उन्हे आभीर राजा से प्राप्त हुए थे[२] : यही नही, छठी शताब्दी के प्रारम्भ मे ही आभीरों ने लिच्छवि राज्य पर आक्रमण कर उसे जीत लिया था और कुछ समय तक शासन भी किया था।[३] शिलालेखो के प्रमाण से भी इस की पुष्टि होती है। इस प्रकार उक्त सन्दर्भों से पता लगता है कि अपभ्रश उत्तर-पश्चिम प्रदेशों की भाषा थी जिस का सम्बन्ध विशेष रूप से निम्न जातियो से था और प्रामाणिक रूप से जो आभीरो तथा जन सामान्य की बोली थी।

अपभ्रंश : विकार या विकास—संस्कृत के व्याडि, भर्तृहरि और पतंजलि आदि वैयाकरण उच्चारण की असावधानी से पहले जिसे अपशब्द कह कर भाषा का बोध कराते थे बाद में अपशब्द एवं भ्रष्ट शब्दो का बाहुल्य देख कर उसी को 'अपभ्रष्ट गिरः' या अपभ्रंश कहने लगे। वैयाकरणो का स्पष्ट मत है कि साधु प्रयोग संस्कृत है और विकृत अपभ्रश। उन का यह भी कथन है कि शब्दों को बिगाड़ कर बोलने की

१ पंजाब में चेहका महत्त्वपूर्ण राज्य कहा जाता है जो टक्क से अभिन्न है। उस की राजधानी सियालकोट के पास थी। टक्क पूर्व में व्यास नदी से लेकर पश्चिम में सिन्धु तक विस्तृत था। देॅ०, द क्लासिकल एज, जिल्द तृतीय, पृ० १११।

२. वही, पृ० ११३।

३. वही, पृ० ८५।

प्रवृत्ति परम्परागत है और इसलिए शब्दों की प्रकृति ही अपभ्रंश है।[१] *किन्तु महर्षि पतंजलि का कथन है कि एक ही शब्द के कई बिगड़े हुए रूप मिलते हैं और इसलिए वे सब अपभ्रंश हैं। यथा—एक गौ शब्द के वाचक गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका* आदि अनेक अपभ्रंश शब्द हैं।[२] किन्तु किसी एक वस्तु के बोधक अनेक शब्दों के होने से तो कोई भाषा अपभ्रंश नहीं मानी जा सकती है। क्योंकि एक ही भाषा में एक पदार्थ के वाचक अनेक शब्द हैं। इसलिए पतंजलि का यह अभिप्राय नहीं कहा जा सकता कि एक अर्थ के बोधक कई शब्दों के होने से वह अपभ्रंश है। इस के दो ही कारण हो सकते है। एक तो यह कि ये शब्द आर्येतर प्रजाओं द्वारा ही प्रयुक्त होते हों या शूद्रों अथवा म्लेच्छों मे व्यवहृत हो और दूसरे व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ के वाचक न हों। महाभाष्य के विवरण से भी इस का किंचित् संकेत मिलता है।[३] स्पष्ट ही महाभाष्य में कथित अपभ्रंश शब्दों में से गोणी प्राकृत मे, पाली मे और सिन्धी में तथा गावो (प्राह्मी) बंगला मे प्रयुक्त है। गाय का वाचक 'गावी' शब्द पाली में भी देखा जाता है। गोपोतलिका का अर्थ जवान गाय कहा जाता है। सम्भवतः गोता त्रस्त गाय को कहते थे[४]। महाभाष्य के आदि पद से गोणा तथा गोण शब्द का ग्रहण किया जा सकता है। प्राकृत मे 'गोणा' तथा 'गोला' शब्द भी गाय के अर्थ मे प्रचलित रहा है।[५] पाली मे 'गोण' शब्द गाय का बोधक है।[६] देशीनाममाला की टीका में भी गाय अर्थ में 'गोण' शब्द प्रयुक्त हुआ है।[७] गोण का एक अर्थ पाली और प्राकृत मे बैल भी है। हेमचन्द्र ने इस का एक अर्थ सन का वस्त्र कहा है।[८] अतएव अपभ्रष्ट शब्दों से भरित किसी भाषा को अपभ्रंश नही कहा जा सकता। वैयाकरणो का यह दृष्टिकोण सीमित एवं संकुचित कहा जा सकता है। यद्यपि महर्षि पाणिनि ने आर्येतर प्रजाओं तथा म्लेच्छों की बोलियों से संस्कृत को बचाने का अप्रतिम प्रयत्न किया, किन्तु असीरियन, मिश्र, फिनोउग्रियन आदि भाषाओं से समय-समय पर प्रभावित हो कर संस्कृत भाषा नाम-रूपों को ग्रहण

---

१. पारम्पर्यादपभ्रंशा विगुणेष्वभिधातृषु।
प्रसिद्धिमागता येषु तेषां साधुरवाचक॥—वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड, १५४।

२ एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशा। तद्यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्यादयो बहवोऽपभ्रंशा।—महाभाष्य, १, १, १।

३ वेदान्नो वैदिका शब्दा सिद्धा लोकाच्च लौकिका, अनर्थकं व्याकरणम् इति। यदि सावच्छब्दोपदेश' क्रियते, गौरित्येतस्मिन्नुपदिष्टे गम्यत एतद्ध-गाव्यादयोऽपशब्दा इति। अथाप्यपशब्दोपदेश क्रियते, गाव्यादिषूपदिष्टेषु गम्यत एतद्ध गौरित्येष शब्द-इति। किं पुनरत्र ज्यायः।
—वही, १, १, १।

४ दे०, गोत्तास शब्द, जैनागम शब्दसंग्रह (अर्द्ध मागधी गुजराती कोष), पृ० ३००। प्रथम संस्करण।

५ नंदी तंबा बहुला गिट्ठी गोला य रोहिणी सुरही।—पाइअलच्छी नाममाला, ४५।

६. गोण नाम्हि वा सुहिना सुच।—काच्चायन' पाली व्याकरण, २।१, २६, ३०। सहग्गहणेन स्यादिसेसेसु पुव्वुत्तरवचनेसूपि गोण गु गवयादेसो होति।

७. गोणशब्दस्तु गवि शब्दानुशासने साधितोऽपि गोणादिप्रपञ्चत्वादस्य प्रबन्धस्येहोपात्तः।
—देशीनाममाला, रत्नावली टीका, २, १०४।

८. शाणी गोणी छिद्रवस्त्रे। —अभिधानचिन्तामणि, ३, ६७६।

करती रही है। प्राकृत और अपभ्रंश लोक-परम्परा की भाषाएँ हैं जो देशी पानी पीकर परिपुष्ट होती रही है। उन मे जातीय और विजातीय सभी मेल के तत्त्व तथा उपादान लक्षित होते हैं। निश्चित ही ये देशी भाषाएँ रही हैं और इन में लिखा हुआ साहित्य भी बहुत कुछ लोक-साहित्य है। महाराष्ट्र मे तो अभी तक अपनी भाषा को प्राकृत कहने की परम्परा बनी हुई है। मराठी भाषा के आदि कवि मुकुन्दराज कहते हैं कि यदि गन्ना ऊपर से काला भी हो तो उस का रस तो मीठा है न? इसी प्रकार मेरे बोल प्राकृत मे होने पर भी उन में विवेक तो भरा हुआ हैं। इसी प्रकार यदि कल्पतरु के फल घर के ही झाड मे फलें तो फिर उन्हे कौन ग्रहण न करेगा? भाषा चाहे देशी हो या मराठी पर यदि उस में उपनिषदों का सार है तो हम उसे गाँठ मे क्यों न बाँधेंगे?[1] गोस्वामी तुलसीदास ने भी 'गिरा ग्राम्य' कह कर देशी भाषा का महत्त्व दर्शाया है।[2] वस्तुत: प्राकृत और देशी भाषा में कोई अन्तर नही है, केवल कथन मात्र का भेद है। दक्षिण भारत मे आलवारों ने और उत्तर मे सन्तो ने अपने ग्रन्थों की रचना बहुतकर देशी भाषा में ही की है। महाराष्ट्र के एकनाथ और उत्तर भारत के तुलसीदास और कबीरदास प्राकृत और भाषा का ही गुण-गान गाते है।[3] अतएव वैयाकरण जिसे अपभ्रष्ट तथा विकृत कहते हैं वह भाषा का विकार न हो कर विकास है। भाषा का यह विकास शब्दों मे ही नही अर्थ मे भी देखा जाता हैं। संस्कृत के जो प्रयोग वैदिक युग मे प्रचलित थे वे कालिदास के युग मे नही दिखाई देते और जो विशिष्ट शब्द-प्रयोग कालिदास मे है वे परवर्ती रचनाओ मे नही मिलते। उदाहरण के लिए भले ही कुछ शब्दो को हम ढूँढ कर गिना दें पर चलन मे बहुत से शब्द निरन्तर घटते ही चले गये है। यशस्तिलक चम्पू मे सोमदेव ने कुछ वैदिक शब्दो का प्रयोग किया है पर वे अर्थ मे भिन्न हैं।[4] यथार्थतः परिवर्तन भाषा का स्वभाव है और उस की गतिशीलता का भी यही सब से बडा प्रमाण है। जहाँ वैयाकरण शिष्टों के प्रयोग से हीन भाषा को अपभ्रंश कहते है वही साहित्यशास्त्री अश्लील तथा ग्राम्यपदो को सदोष मानते है और काव्य मे उन का निषेध करते है। स्पष्ट ही निम्न वर्ग के लोगो के शब्द-

---

१ कल्पतरुचेनि पाडे, जरी फलती घरची झाडे।
तरी तिये आवडीचेनि काडे, न लावावीं का?
देशी हा का महाराठी, परी उपनिषदाची च राहाटी।
तरी हा अर्थ जीवाचिया गाठी, का बांधावा?—विवेकसिन्धु
तथा—"महाराष्ट्रीपदेन प्राकृतग्रहणम्"—कात्यायन—सूत्रवृत्ति (भामह)।

२ स्याम सुरभि पय बिसद अति, गुनद करहि सब पान।
गिरा ग्राम्य सिय राम जस, गावहि सुनहि सुजान॥—रामचरितमानस, बालकाण्ड १० (ख)

३ आता संस्कृता अथवा प्राकृता। भाषा जाली जे हरिकथा॥—एकनाथ
जे प्राकृत कवि परम सयाने, भाषा जिन्ह हरि चरित बखाने।
—रामचरितमानस, बालकाण्ड, गुटका, पृ० ४४।
कबिरा संसकिरत कूप जल, भाखा बहता नीर।
जब चाहे तब ही लहे होवे सान्त सरीर॥—कबीर

४. देखिए यशस्तिलकम् (सोमदेव) की भूमिका, पृ० ८।

प्रयोग सुनने में बुरे लगते हैं और सम्भवतः इसीलिए वे काव्य मे अनुचित माने जाते हैं। भोज ने भी कहा है कि लोक को छोड़ कर और कही ग्राम्य प्रयोग नही चलते। अश्लील, अमंगल और घृणासूचक शब्द को ग्राम्य कहते हैं।[1] यही कारण है कि संस्कृत-साहित्य एक दो रचनाओं में छोड़ कर यथार्थ की कठोर भूमि पर पैर नही फैला सका है। फिर, जीवन्त यथार्थ मे बीभत्स और रौद्र को रस रूप मे अभिव्यक्त करना आवश्यक ही नही अनिवार्य भी है। काव्य में ऐसे सन्दर्भों में घृणा व्यंजक चित्रों को भी ग्राम्य भाषा मे अभिव्यंजित करना ही पड़ता है और पाठक अत्यन्त रुचि के साथ उस का रसास्वाद करता है। यही नही, प्रकृति, स्थान आदि के भेद से प्रबन्ध में परवर्ती युग में ग्राम्य और देशी भाषाओं का प्रयोग भी विहित माना जाने लगा था।[2] नाट्य तथा रूपकों मे स्पष्टतः अपभ्रंश कही जाने वाली भाषा का प्रयोग होता था। यद्यपि उस पर प्राकृतों का पानी चढ़ा दिया जाता था पर उस की चेतना तो झलकती ही रहती थी। यदि समूचे भारतीय वाङ्मय का आलोडन किया जाय तो एक नही अनेकों ऐसी रचनाएँ मिलेंगी जिन मे प्राकृत के साथ ही अपभ्रंश का भी प्रयोग है। अभिनवगुप्त के तन्त्रसार मे भी प्राकृत के साथ कुछ अपभ्रंश के दोहे मिलते है।[3] इन के अतिरिक्त ग्राम्यदोष के जो उदाहरण मिलते हैं उन मे जिस विशिष्ट शब्द से ग्राम्यत्व की प्रतीति करायी जाती है वह प्रायः द्व्यर्थक होता है। वस्तुतः लक्षण-शास्त्रो मे ग्राम्य और अश्लील दोष की कल्पना हेय है। समाज में ये इतने घुले-मिले शब्द होते हैं कि सामान्य जनता उन पर ध्यान ही नही देती है। इस प्रकार जन सामान्य की कुरुचि का परिणाम न हो कर यह शिष्टता का द्योतन मात्र है, जिस मे वर्ग-भेद की मूल भावना निहित है। समाज मे उच्च जनों के बीच गाली देना सब से बुरा समझा जाता है। किन्तु लोक मे विवाह जैसे मांगलिक कार्यों मे रुचि पूर्वक गारी गायी जाती है, फागें खेली जाती हैं। छोटे-बडे सभी मिल कर उन मे भाग लेते हैं। ग्राम्य गीत, लावनी और बारहमासा आदि इसी प्रकार की काव्यगत विधाएँ है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि वैयाकरण और साहित्यशास्त्री जिसे भ्रष्ट, अश्लील और ग्राम्य तथा काव्य के लिए अनुपादेय एवं हेय समझते हैं वह जन-जन की चेतनात्मक अभिव्यक्ति का प्रकाशन है। वस्तुत शब्द और अपशब्दों मे मनुष्य की वैयक्तिक और सामाजिक भावना की मुख्यता रहती है, न कि शब्दो के याथार्थ्य की। फिर शब्दो का बिगड़ना और बदलना लोक-जीवन की प्रवृत्ति में निहित रहता है।

१. अश्लीलामङ्गलघृणावदर्थं ग्राम्यमुच्यते।
देश्यातिरिक्तं लोकमात्रप्रयुक्त ग्राम्यम्। तत्त्रिधा व्रीडाजुगुप्सातङ्कदायित्वात्। तत्राद्यमश्लील श्रीर्यस्यास्ति तच्छ्लीलम्। न श्लीलमश्लीलम्।—सरस्वतीकण्ठाभरण, १, १४४।

२. प्रकृतिस्थादिभेदेन ग्राम्यादिभिरथापि या।
अपदं तस्य चानुज्ञा भाषाचित्रे विधीयते॥—वही, १, ११८।
यथा—ऐसे सच्च जि बोल्लु। इत्यादि। १, १५६।

३. जइ जइ जस्सु जहिं चिय पफुरइ अज्जवसाउ।
तह तस्सु ताहि चिय तारिसु होइ पहाउ॥—तन्त्रसार, ४, १।

भाषाशास्त्री उस के नियम गढ़ नही सकता। शब्दों का अनुशासन मात्र करना उस का ध्येय होता है। यह लोकप्रवृत्ति है कि वह सरलता और लाघव की ओर बढ़ती है। यदि भाषा भी जटिलता से सरलता की ओर बढे तो क्या उसे अस्वाभाविक कहा जायेगा? इतना ही नही, ऐसी प्रवृत्तियो को जनता भी अत्यन्त चाव से अपनाती है। भाषा संस्कृति और समाज से अपने को अलग नही कर सकती। यही कारण है कि भारतीय साहित्य के मध्ययुग मे स्त्री-पुरुष तथा व्यावहारिक वस्तुओ के नाम अपभ्रंश के साँचे में ढले हुए मिलते हैं। डॉ० अग्रवाल ने राष्ट्रकूट युग के कुछ मध्यकालीन अपभ्रंश नामो का उल्लेख किया है जो उस युग के शिलालेखों तथा जैन पुस्तक-प्रशस्तियों मे मिलते हैं।[१] इस प्रकार भाषागत विकास की प्रवृत्ति को अपभ्रष्ट या विकृत कहना रूढिबद्धता का परिचय देना है। आज भी जो प्राचीनता के पक्षपाती हैं, वे ऐसे नामों में भ्रष्टता की गन्ध पाते हैं। पर वस्तुतः यह प्राचीनता के नाम पर वर्तमान की घोर उपेक्षा है जिसे आने वाला युग कभी नही भुला सकता। और फिर जिसे आज हम संस्कृत और शिष्टता का पानी पिला कर सम्मान प्रदान कर रहे है कल वही लोक-ढाँचे में ढलती-निखरती किसी दूसरी ही भाषा के रूप को ग्रहण करने लगती है। भाषा का यह स्वभाव है, जिसे कोई बदल नही सकता। केवल हमारी मानसिक प्रवृत्ति ही उस के इस स्वभाव के कारण अच्छा-बुरा नाम दे कर अपना समाधान करती रहे पर वह समाज में स्थान बनाये बिना रहती नही। कौन जानता था कि सदियो से अपभ्रष्ट कह कर जिस की उपेक्षा होती रही है उसी की बेटी बीसवीं शताब्दी में जन-जागरण का कार्य कर समूचे भारत राष्ट्र को राष्ट्रीय भाषा बनेगी। ये कुछ ऐसे तथ्य हैं, जिन्हें हम अब अधिक समय तक अँधेरे में नही रख सकते।

अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी

अपभ्रंश मध्ययुगीन आर्य भाषाओं के विकास की अन्तिम अवस्था का नाम है। इस युग में भारतीय संस्कृति, समाज, साहित्य और भाषा तथा कला में अत्यन्त उलट-फेर दिखाई देते है, जिस का मुख्य कारण विभिन्न जातियो का सगम, मिश्रण तथा प्रभाव है। गुप्त युग से ही अपभ्रंश का प्रचार और प्रसार-क्षेत्र बढने लगता है। दसवी शताब्दी तक वह राजपूताना, मालवा, गुजरात, महाराष्ट्र और दक्षिण भारत के कुछ भागों से लगा कर पश्चिमी सीमान्त प्रदेशो तक लोक-बोलियो मे फैली रही है। यही कारण है कि अपभ्रंश की उकारान्त प्रवृत्ति सिन्धी, सौराष्ट्री और अवधी मे ही नही तेलुगु मे भी दिखाई देती है। यही नही, टेसिटोरी जिसे प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी कहते है उसे ही कई विद्वान् जूनी या पुरानी गुजराती मानते है और दोनो का ही उद्भव शौरसेनी अपभ्रंश से स्वीकार करते है।[२] इस से अपभ्रंश की व्यापकता का तो पता

१. डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल कुछ मध्यकालीन अपभ्रंश नाम, हिन्दी-अनुशीलन, धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक, वर्ष १३, अंक १-२, पृ० २२५।

२. डॉ० एल० पी टेसिटोरी पुरानी राजस्थानी, अनु० नामवरसिंह, द्वितीय सस्करण पृ० ४

लगता ही है पर दोनों की एकरूपता का भी निश्चय हो जाता है। पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी अपभ्रंश की ही एक स्थिति को पुरानी हिन्दी मानते हैं और उस से हिन्दी का विकास हुआ स्वीकार करते हैं। उन का कथन है कि विक्रम की सातवी शताब्दी से ग्यारहवी तक अपभ्रंश की प्रधानता रही और फिर यह पुरानी हिन्दी में परिणत हो गयी।[1] इस मे उन्होंने देशी का प्राधान्य माना है। किन्तु तथ्य यह है कि जिसे वह पुरानी हिन्दी कहते है उसी का विद्यापति अवहट्ठ कह कर परिचय देते हैं। और यह अवहट्ठ या अवहंस अपभ्रंश के अतिरिक्त अन्य कोई भाषा नहीं है। इस मे ग्राम्य और देशी परम्परा के तत्त्व प्राचीन काल से ही विद्यमान हैं। इस लिए इसे अपभ्रंशकालीन परवर्ती रूप अर्थात् उत्तरकालीन पश्चिमी अपभ्रंश माना जाता है। भाषा-विकास के इतिहास से पता लगता है कि किसी समय दक्षिणी सौराष्ट्री और गुजराती तथा मेवाडी (राजस्थानी) एक थी। इसी प्रकार व्रज, कन्नौजी और बुन्देली भी एक थी।[2] किन्तु उत्तर काल में राजनैतिक उथल-पुथल और छोटे-छोटे राज्यों में बँट जाने के कारण उन मे कई भेदोपभेद हो गये।

प्राकृत भाषा की प्राचीनतम रचनाओं को देखने से प्रतीत होता है कि प्राकृत युग में ही बोली के रूप मे अपभ्रश का जन्म हो गया था। केवल वैदिक भाषा में ही नही आर्मेनियन, ग्रीक और लेटिन आदि में भी बोलियाँ सुरक्षित हैं।[3] वस्तुतः पाली और प्राकृतों का विकास विभिन्न बोलियों के योग से हुआ है। फिर, भाषा का यह सामान्य तत्त्व है कि कोई भी भाषा किसी बोली को जन्म नही दे सकती। इस लिए जब हम कहते है कि हिन्दी का विकास अपभ्रंश से हुआ तो इस का यही अर्थ है कि अपभ्रंश के योग से उस का जीवन फूलता-फलता रहता है। किन्तु भाषा के पद पर समासीन हो जाने के बाद प्राय· भाषाओं का जीवन शास्त्रीय एवं कृत्रिम हो जाता है। इसीलिए विद्यापति ने देशी भाषा मे कीर्तिलता की रचना कर लोक-रुचि का परिचय दिया है। भारतीय भाषाओं मे दशवी शताब्दी के अनन्तर लोक-भाषाओं का प्रभाव बढ-चढ गया था इस लिए साहित्य में भी उन का स्थान बनने लगा था। यथार्थ में यह भाषा का संक्रमण काल था, जिस में नवीन प्रवृत्तियाँ जन्म ले रही थी। इसीलिए कोई इस काल की उत्तर-पश्चिम भारत मे फैली हुई भाषा को प्राचीन राजस्थानी, जूनी गुजराती, पश्चिमी अवहट्ठ और कोई शौरसेनी अपभ्रंश से मिलती-जुलती भाषा कहते हैं।[4] वस्तुतः इन सभी भाषा-रूपो पर आ० हेमचन्द्र के व्याकरण मे उदाहृत अपभ्रंश दोहों की छाप लगी हुई मिलती है। अतएव नाना-रूपो की कल्पना करने की अपेक्षा अपभ्रंश नाम देने मे लाघव है। भाषा-विकास की सूचक नयी अवस्था के लिए इसे

१. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी पुरानी हिन्दी, प्रथम सस्करण, पृ० ८।
२. लेखक का "हिन्दी में शोध की नयी दिशाएँ" शीर्षक लेख, "साहित्य-सन्देश", सितम्बर '६१।
३ ल्युअस एच० ग्रे · फाउण्डेशन्स ऑव लेंग्वेज, द्वितीय संस्करण, पृ० ३०४।
४. डॉ० सुनोतिकुमार चटर्जी ओरिजन एण्ड डेवलप्मेण्ट ऑव बेंगाली लेंग्वेज, पृ० ११३।

परवर्ती अपभ्रंश नाम दिया जा सकता है। यदि हम तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो परवर्ती अपभ्रंश मे हमें अत्यधिक अन्तर मिलता है। परवर्ती अपभ्रंश मे लिखी गयी रचनाएँ देशी बोलियो से युक्त हैं। उक्ति रत्नाकर, उक्ति व्यक्ति प्रकरण और गुर्जर रासक आदि ऐसी ही रचनाएँ हैं। अतएव अपभ्रंश मे बंगला, मराठी, गुजराती, राजस्थानी, बुन्देलखण्डी तथा व्रज आदि भाषाओ और बोलियों के शब्द-रूप मिलते हैं, जिन मे भाषा और रचना मे अत्यन्त साम्य है।

अपभ्रंश साहित्य का युग

ऐतिहासिक विकास के अनुसार अपभ्रंश साहित्य का युग छठी शताब्दी से पन्द्रहवी सदी तक माना जा सकता है। सोलहवी और सतरहवी सदी में लिखी गयी रचनाएँ बहुत कम मिलती है। आ० भामह के लगभग सौ-डेढ सौ वर्ष पहले नही तो उन के युग मे संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश मे प्रबन्ध काव्य अवश्य लिखे जाते रहे होंगे तभी तो उन्होने काव्य के रूप मे उन का उल्लेख किया है। अपभ्रंश साहित्य का यह युग इतिहास मे राजपूत और गुर्जरो का समसामयिक युग रहा है। आभीरो का उत्कर्ष काल भी यही है। तीसरी शताब्दी से ही आभीर राजाओ के शासन का विवरण मिलने लगता है और पुराणो के अनुसार यह कहा जा सकता है कि दस आभीर राजाओ ने आन्ध्रों के पश्चात् साठ-सत्तर वर्ष तक राज्य किया था। पश्चिमी भारत के शक क्षत्रप और ईश्वरसेन सम्भवतः (२३५-४० ई०) उस वंश के प्रतिष्ठापक थे।[१] इतिहास मे भी इस के प्रमाण विरल नही है। चन्द्रवल्ली के शिलालेख से पता लगता है कि मयूरशर्मन् ने त्रिकूट, आभीर, पल्लव, पारियात्रिक, शकस्थान, स्यन्दक, पुन्नट और मोकरी वंश के राजाओ को पराजित किया था।[२] नेपाल की एक वंशावली के अनुसार वहाँ का राजा वसन्तदेव आभीरों से पराजित हो गया था[३]। गुप्त युग मे आभीर पूर्वी राजपूताना, और मालवा मे बसे हुए थे तथा वहाँ और चम्बल की ओर उन का शासन विस्थापित था। उस समय पंजाब, पूर्वी राजपूताना और मालवा के कई भागो मे जातीय गणतन्त्र राज्य थे।[४]

मध्य युग में गुर्जरो की स्थिति अच्छी थी। परिहार राजपूत गुर्जर या गूजरों की एक शाखा है। दसवी, ग्यारहवी और बारहवी शताब्दी मे इन मे कई अच्छे राजा हुए है। राजा भोज गृजरो के प्रतिहार वंश के थे।[५] राजपूतो का देश के सभी भागों

१. के० ए० नीलकान्त शास्त्री हिस्ट्री ऑव इण्डिया, प्रथम भाग, द्वितीय संस्करण, पृ० १४०।

२. चन्द्रवल्ली इन्स्क्रिपशन आव मयूरशर्मन आर्कालाजिकल सर्वे आव मैसूर एनल रिपोर्ट १९२९, प्लेट ११, प्रकाशित १९३१, पृ० ५०।

३. द क्लासिकल एज, खण्ड तृतीय, पृ० ८४ (प्रथम सस्करण)।

४ विनसेण्ट ए० स्मिथ द अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया, चतुर्थ सस्करण, पृ० ३०२

५. वही, पृ० ४२७।

में प्राबल्य रहा है। उत्तरी भारत के राजपूतों में चौहान, परिहार, तोमर और पवार तथा दक्षिण में चन्देल, कलचुरि या हैहय, गाहड़वाल और राष्ट्रकूट मुख्य रहे हैं।[1] राजपूत परवर्ती काल में गुजरात के सभी प्रदेशों मे फैल गये थे। इस लिए उन प्रदेशों तथा जनपदों की बोली और भाषा में अत्यन्त साम्य है। आलोच्य काल में कन्नौज में गुर्जर-प्रतिहार, गाहड़वाल; शाकम्भरी और अजमेर में चौहान; बुन्देलखण्ड में चन्देल; मालवा में परमार; अन्हिलवाड में सोलंकी; त्रिपुरि में कलचुरि और बंगाल में पाल तथा सेन वंश के राज्य विस्थापित थे। दक्षिण राज्यो में मान्यखेट के राष्ट्रकूट, कल्याण के पश्चिमी चालुक्य, देवगिरि के यादव और कदम्बकुल के राज्य प्रमुख थे।

राजनैतिक स्थिति—गुप्त साम्राज्य के पतन के पश्चात् उत्तरी भारत कई छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया। दिल्ली के समीपवर्ती प्रदेश तोमरवंश के अधिकार मे थे। इस वंश का प्रसिद्ध राजा अनंगपाल था। जब अजमेर के राजा वीसलदेव (विग्रहपाल चतुर्थ) ने दिल्ली के तोमरों को युद्ध में पराजित कर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया तब दिल्ली राज्य भी अजमेर राज्य के अन्तर्गत हो गया। गुजरात में सोलंकियों का राज्य था। गुजरात की राजधानी अन्हलवाड़ा में थी। सोलंकी राजपूत पहले के प्रतिहारों के अधीन थे पर बाद में स्वतन्त्र हो गये। जैन रचनाओं में इन का पूरा विवरण मिलता है। नवीं शताब्दी में कन्नौज पर प्रतिहारों का आधिपत्य स्थापित हुआ। दक्षिण राजपूताना के गुर्जर प्रतिहारों ने भीनमाल में सातवी शताब्दी के आरम्भ में ही राजधानी बना ली थी। इस के पूर्व तक कन्नौज का वही महत्त्व था जो मुगल-युग में दिल्ली का था। कन्नौज और कश्मीर इस काल मे संस्कृत-साहित्य के दो प्रमुख केन्द्र थे। गुर्जर-प्रतिहार वंश का अन्तिम शासक राज्यपाल १०१२ ई० मे महमूद गजनवी से पराजित हो गया। कन्नौज के पतन के पश्चात् उसने अपनी राजधानी गंगा के दक्षिणी तट पर हटा ली थी; किन्तु अब उस का भी पतन हो गया। इसी समय प्रतिहार राज्य अनेक छोटे राज्यों मे विभक्त हो गया—गुजरात में चालुक्य, मालवा में परमार, अजमेर में चौहान, मथुरा में यादव, चेदि में चाहल, देहली में तोमर और बंगाल में सेन।

यवन लोग इस देश को एक साथ पूर्ण रूप से नही जीत सके। वे अपने राज्य का विस्तार क्रमशः लगभग पाँच सौ वर्षों मे कर सके। इस युग के राजा लोग युद्धप्रेमी होने के साथ ही विद्या तथा कला के भी प्रेमी होते थे। इसी काल में प्रतिहार शक्ति के क्षीण होते ही अधीनस्थ चन्देल, कलचुरि तथा चौहान राज्य स्वतन्त्र हो गये थे। इसी प्रकार गुर्जर सोलंकी, चालुक्य और मालवा के परमार भी स्वाधीन हो गये थे। स्पष्ट ही ग्यारहवी और बारहवी शताब्दी में उत्तरी भारत की शक्ति अधिक क्षीण हो गयी थी तथा साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गये थे। इस युग में कई क्षेत्रों में जहाँ जातीय

---

१. विनसेण्ट ए० स्मिथ : द अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया, चतुर्थ संस्करण, पृ० ४३०।

प्रभुत्व बढ़ रहा था वहीं विदेशी शक्तियाँ अत्यन्त प्रभावशील हो उठी थीं। इस लिए कई प्रकार के संघर्ष हुए, जिन से भारत की राजनैतिक चेतना दिनों दिन धुँधली होती गयी। सिकन्दर के आक्रमण के पश्चात् इस देश पर यूनानी, शक, सिथियाई, हूण, अरब, तुर्क, और मंगोल आदि निरन्तर आक्रमण करते रहे। ग्रीकों के पश्चात् शको का शासन स्थापित हुआ। उन के केन्द्रस्थल थे—सिन्ध, तक्षशिला, मथुरा, उज्जैन और महाराष्ट्र। शकों की ही भाँति आभीरों और कुषाणों ने भी भारतीय वर्ण-व्यवस्था पर जाने-अनजाने आक्रमण किये। कुषाणों का शासन किसी न किसी रूप मे उत्तर भारत मे दूसरी सदी ईसवी के अन्त तक जमा रहा। शको ने अपने शासन के सिन्ध, पंजाब, मथुरा, मालवा और महाराष्ट्र ये पाँच केन्द्र बनाये थे। आभीर उन के पश्चिम में स्थानापन्न हुए, कुषाण उत्तर मे।[१] गुप्त साम्राज्य को छिन्न-भिन्न करने में हूणों का आक्रमण प्रमुख था। हूण अत्यन्त बर्बर थे। स्मिथ ने गुर्जरो को श्वेत हूणों से मिश्रित जाति कहा है।[२] जो भी हो, विभिन्न जातियों के सम्पर्क और संगम से उस काल में समाज और राजनीति मे नयी चेतना का प्रसार हुआ। शको के युग मे ही आभीर भारतीय सत्ता पर छाप लगाने लगे थे। गुप्त युग मे उन का और भी जोर बढ़ा और धीरे-धीरे मध्य भारत तक छा गये। इसी समय पार्थव और पल्लवों का प्रभुत्व बिलकुल क्षीण हो जाने से कुषाणों का आधिपत्य स्थापित हुआ। कनिष्क के शासन-काल मे बौद्ध धर्म का विशेष प्रचार हुआ। उत्तर काल में गणतन्त्र राज्यो का प्राबल्य रहा, जिन का संचालन-सूत्र प्राय आयुधजीवी जातियो के हाथ रहा। यह युग जन-जीवन के विग्रह का था जो इतिहास मे मध्यकाल के नाम से जाना जाता है। यद्यपि विरोधी शक्तियाँ अब भारतीय जीवन मे घुल-मिल सी गयी थी, किन्तु पौरोहित्य और पुराण-वाद के विरुद्ध एक नयी क्रान्ति का सूत्रपात होने लगा था। यही वह समय था जब चालुक्य सत्ता राष्ट्रकूटो के हाथ पहुँच कर उन की दासी बन गयी थी। सुदूर दक्षिण मे चोल शासन राजतन्त्रात्मक व्यवस्था पर प्रभावशील था। दक्षिण भारत के इतिहास में यह स्वर्ण युग माना जाता है जब समूची राजनैतिक सत्ता एक ही तन्त्र मे केन्द्रित रही है। यह इस बात का प्रमाण है कि समय-समय पर देश की राजनैतिक चेतना विविध जातीय तथा विभिन्न विजातीय शक्तियों के द्वारा मथी जाने पर भी अपने अस्तित्व को बनाये रही है और परिस्थितियों के अनुकूल उस में भावनात्मक एकता को वह्नि प्रज्वलित होती रही है।

सामाजिक स्थिति—ग्रीको और शको के भारत आगमन के पश्चात् ही समाज कई विरोधो से अस्त-व्यस्त हो उठा था। कुषाणों ने आते ही उसे प्रभावित एवं आन्दोलित कर बहु देवी-देवताओ का प्रचार किया। इतिहास मे वे मध्य एशियाई, ग्रीक और भारतीय संस्कृतियो के पारस्परिक सम्मिश्रण के साधन बने। कनिष्क अनेक

१ भगवतशरण उपाध्याय भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण, प्रथम संस्करण, पृ० १०१।
२ विनसेण्ट ए० स्मिथ : द अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया, चतुर्थ संस्करण, पृ० ३४०।

संस्कृतियों के देवताओं में विश्वास करता था और उस के सिक्कों पर ग्रीक, मिश्रीय, पारसी तथा भारतीय देवताओं का अपूर्व समारोह है।[1] कुषाणकालीन समाज, वेश-भूषा, कला, शिल्प तथा स्थापत्य आदि में आगे चल कर बहुविध विकार हुआ जो गुप्त काल में गौरव गरिमा को प्राप्त हुआ। यद्यपि ग्रीक, शक, कुषाण, आभीर, हूण और गुर्जरो ने भारतीय सामाजिक विधान तथा वर्णाश्रम के रूप में प्रतिपालित वर्गवाद के विरुद्ध क्रान्ति की रचना की थी, किन्तु कई जातिगत इकाइयाँ उसे न अपना सकी थी। अतएव परवर्ती काल में अनेक सम्प्रदाय उठ खड़े हुए। परिणामतः सामाजिक शक्ति बिखरने लगी। जाति और नियम पर अधिक बल दिया जाने लगा। ब्राह्मणों का प्रभुत्व समाज में विशेष था। किन्तु साथ ही कई प्रकार के परिवर्तन होने लगे थे। वैवाहिक बन्धनों मे पहले जैसी दृढ़ता नही थी। राजाओ मे क्षत्रियों का प्रभुत्व बढ़ चुका था। धीरे-धीरे आक्रान्ताओं की भाँति राजनीति का प्रभाव समाज पर भी पड़ने लगा।

आलोच्य काल में दक्षिण भारत में ही नहीं उत्तर भारत में भी कला की बहुत उन्नति हुई। खजुराहो और आबू तथा कश्मीर और दक्षिण में समीपवर्ती प्रदेशों में स्थित मन्दिर इस युग की चित्रकला के जीवन्त निदर्शन हैं। राजा भोज के समय वास्तुविद्या, व्याकरण, अलंकार, योगशास्त्र और ज्योतिष आदि विषयों पर कई उपयोगी और विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखे गये।[2] इस युग मे जातिभेद बहुत ही बढ़ गया था। सदाचार की दृष्टि से उच्च वर्गों का रहन-सहन ऊँचा था। ऊँचे कुल की स्त्रियाँ शासन में भाग लेती थी, समाज के मांगलिक कार्यों मे हाथ बँटाती थी। चालुक्य नरेश जयसिंह द्वितीय की बड़ी बहिन अक्कादेवी एक प्रान्त पर शासन करती थी।[3] दक्षिण मे संगीत, नृत्य एवं ललित कलाओं का बहुत प्रचार था। वैश्य कृषि-कर्म छोड कर अब पूर्ण रूप से वाणिज्य व्यवसाय करने लगे थे। किन्तु सामाजिक विधान लगभग ज्यों के त्यों थे। वैयक्तिक आचार-विचार की अपेक्षा सामाजिक नैतिकता का महत्त्व था।

धार्मिक स्थिति—पाँचवी या छठी शताब्दी मे विभिन्न धर्म और सम्प्रदाय के लोग इस देश में मिल-जुल कर रहते थे। किन्तु सातवी शताब्दी मे विशेष कर तमिल की परिस्थितियों मे कई प्रकार के परिवर्तन हुए। अत्यन्त प्राचीन काल से भारतवर्ष मे वैदिक यज्ञ-याग, मूर्ति-पूजा, देवी-देवताओ की उपासना और बलि-दान की प्रथाएँ प्रचलित रही हैं। किन्तु आन्दोलन के रूप मे इसी समय दक्षिण भारत से एक लहर उठी, जिस का उद्देश्य जैन और बौद्ध धर्म का प्रभाव क्षीण कर शिव तथा विष्णु की उपासना का प्रचार करना था।[4] शैव और वैष्णव धर्म के प्रचारक ये सन्त एक मूर्ति

१. भगवतशरण उपाध्याय : भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण, पृ० ७५।
२. गौरीशंकर हीराचंद ओझा : मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, तृतीय संस्करण, पृ० ३५।
३. के० ए० नीलकान्त शास्त्री : हिस्ट्री ऑव इण्डिया, प्रथम भाग, पृ० २६२।
४. वही, पृ० २६६।

से दूसरी मूर्ति तक नाचते, गाते, विवाद करते तमिल भाषा में स्तोत्र और पदों को बोलते हुए अपने मत का प्रचार करते थे। वैष्णव सन्त आलवार के नाम से तथा शैव सन्त नायनवार के नाम से प्रसिद्ध हैं। भक्ति के जिस रूप का इन्होंने प्रसार किया आगे चल कर वही आ० रामानुज और रामानन्द के द्वारा उत्तर भारत के जन-जीवन में प्रचलित हो गया। वस्तुतः उक्त सन्त क्रान्तदर्शी थे, जिन्होंने जन-भाषा, साहित्य और भक्ति के विविध अगो का प्रचार किया। परवर्ती काल में आचार्य रामानुज और वल्लभ ने उन्हे सैद्धान्तिक रूप में प्रतिष्ठित कर वर्णवाद तथा उत्तरकालीन सिद्धान्तों का विरोध कर भक्ति की पूर्णतया स्थापना की।

दक्षिण मे ही नही उत्तर भारत मे भी शैव मत का अधिक प्राबल्य रहा है। इस की विभिन्न शाखाएँ और सम्प्रदाय समूचे देश मे व्याप्त है। दक्षिण के सन्त भक्तो से इस मत की भक्ति में अन्तर है। इस के मुख्य सम्प्रदाय हैं—पाशुपत, कालामुख और कापालिक। दक्षिण भारत के सातवो शताब्दी के लिखे हुए शिलालेखो तथा साहित्य में इस के उल्लेख मिलते हैं।[1] आगे चल कर पाशुपत से ही लकुलीश सम्प्रदाय का जन्म हुआ। शाक्त और कौल भी इन्ही से विकसित हुए। दसवी शताब्दी मे सोमानन्द ने कश्मीर मे शैव सम्प्रदाय की एक नयी शाखा का प्रचार किया, जो प्रत्यभिज्ञा के नाम से प्रचलित हुई।[2] पुष्पदन्त के जसहरचरिउ मे काली चण्डमारी देवी तथा भैरवानन्द का वर्णन है, जिस से ज्ञात होता है कि ग्यारहवी शताब्दी मे पशु-बलि और नाथ सम्प्रदाय का बड़ा प्रचार था।[3] इसी प्रकार सूफ़ी मत का प्रचार भी इस समय तक भलीभाँति हो चला था। बारहवी शताब्दी मे वृन्दावन मे आचार्य निम्बार्क ने वैष्णव भक्ति का प्रचार किया। तदनन्तर बंगाल मे महाप्रभु चैतन्य, जयदेव, चण्डीदास और विद्यापति ने तथा गुजरात में मध्वाचार्य ने कृष्ण-भक्ति का प्रचार किया। दसवी शताब्दी मे लोकायत सम्प्रदाय का बड़ा ज़ोर था।[4] यशस्तिलक चम्पू मे शैव, पाशुपत, लोकायत, नाथ और वैष्णव आदि सम्प्रदायो का उल्लेख मिलता है जो दसवी सदी का जीता-जागता चित्र कहा जा सकता है। यद्यपि आठवीं शताब्दी मे आचार्य शंकर ने समूचे भारत मे शैव सम्प्रदाय तथा अद्वैत वेदान्त का प्रचार कर जैन और बौद्ध को अत्यन्त हानि पहुँचायी थी, किन्तु दसवी सदी मे जैमिनि, कपिल और कणाद की भाँति जिन, चार्वाक तथा बुद्ध का आदर के साथ स्मरण किया जाता था।[5] इस युग मे खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति विशेष थी। प्रायः सभी साहित्यिक और दार्शनिक तान्त्रिक

---

१. के० ए० नीलकान्त शास्त्री हिस्ट्री ऑव इंडिया, प्रथम भाग, पृ० २७०।

२ गौरीशंकर हीराचन्द ओझा मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ० १८।

३ पुष्पदन्त : जसहरचरिउ, १.६, १.६।

४ के० के० हान्दोकी ' यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर, प्रथम संस्करण, पृ० २३०।

५. कदाचित् --पण्डितप्रकाण्डमण्डलीमण्डनाडम्बरगीगुम्फसंरम्भेषु जिनजैमिनिकपिलकणचरचार्वाकशाक्यप्रणीतप्रमाणसंवीणतया विदुष्विणीनां परिषदां चित्तभित्तिष्वारमयशःप्रशस्तीरुल्लिलेख। —वही, पृ० १२ से उद्धृत।

साधना, हिंसा और भोगवादी प्रवृत्ति का विरोध करते हैं। इस प्रकार धार्मिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से आलोच्य काल अत्यधिक चिन्तनशील रहा है।

साहित्य-साधना और संस्कृति

यह युग साहित्य-साधना की दृष्टि से अत्यन्त गौरवपूर्ण है। विभिन्न भाषाओं में, विविध रूपों तथा शैलियों में, अनेक विधाओं में साहित्य-रचना इस की मुख्य विशेषताएँ हैं। नवीं शताब्दी से बारहवी शताब्दी तक कश्मीर और कन्नौज संस्कृत-साहित्य के दो बड़े केन्द्र थे। प्राकृत के साथ ही संस्कृत काव्य तथा नाटकों का विकास इसी युग में हुआ। काव्यशास्त्र एवं लक्षणग्रन्थों की अधिकांश रचनाएँ मध्य काल में हुईं। भारतीय विचारो की पूर्णता का द्योतक यह श्रेष्ठ युग कहा जाता है। जैन, वैष्णव, शैव, बौद्ध, सूफी और सन्त तथा नाथ सभी ने निर्दिष्ट काल में उत्तम साहित्य एवं कला को समृद्ध बना कर मध्यकालीन जन-जीवन को प्रभावित किया, जिस की छाप आज भी किसी न किसी रूप में हमे दिखाई देती है। यद्यपि पूर्व गुप्त युग में अश्वघोष के बुद्धचरित से चरित काव्य की धारा आरम्भ हुई प्रतीत होती है किन्तु ऐतिहासिक व्यक्ति को लेकर बाणभट्ट ने ही कदाचित् पहले पहल हर्षचरित के रूप में रचना की। इस युग मे शास्त्र और पुराण, दर्शन और काव्य तथा नाटकों में आशातीत उन्नति हुई। संस्कृत-साहित्य के समालोचक इसी युग की देन हैं। वस्तुतः साहित्यशास्त्र का यह स्वर्णकाल कहा जा सकता है। भामह, दण्डी, लोल्लट, उद्भट, वामन, शंकुक, रुद्रट, आनन्दवर्धन, राजशेखर, मुकुल, प्रतिहारेन्दुराज, भट्टनायक, भट्टतौत, कुन्तक, धनंजय, अभिनवगुप्त, भोज, महिमभट्ट, क्षेमेन्द्र, मम्मट, रुय्यक, हेमचन्द्र, रामचन्द्रगुणचन्द्र, माणिक्यचन्द्र, अजितसेन, नमिसाधु, वाग्भट्ट और अमरचन्द्र तथा विनयचन्द्र आदि इस काल के प्रसिद्ध आचार्य थे। चम्पू-लेखकों में त्रिविक्रम भट्ट, सोमदेव, हरिचन्द्र, अर्हद्दास और नागचन्द्र मुख्य हैं। नाटक-रचयिताओ में भवभूति, राजशेखर, हस्तिमल्ल, रामचन्द्रसूरि और जयसिंहसूरि का उल्लेख किया जाता है।[1] मोहपराजय, मदनपराजय (संस्कृत), मयणपराजय, ज्ञानसूर्योदय आदि रूपक काव्य (Allegory) भी इस युग में लिखे गये। इन के अतिरिक्त ऐतिहासिक काव्य, रासा-साहित्य और जैन पुराण तथा दार्शनिक ग्रन्थ भी विशेष रूप से इस काल मे लिखे गये।

छठी से आठवी शताब्दी तक तमिल साहित्य की अधिकांश रचना हुई। यद्यपि तमिल-साहित्य की प्राचीनतम रचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं पर प्राप्त रचनाओं से ज्ञात होता है कि संघोत्तर-काल या काव्यकाल में जैन साहित्यकारों का सब से अधिक योग रहा है। इस युग मे पंच बृहत्काव्य तथा पंच लघुकाव्य की रचना मुख्य बतायी जाती है। पाँच महाकाव्यों में से ल्ळंगो विरचित शिलप्पदिकारम् और जैन मुनि तिरुत्तक्कदेवर

१. वाचस्पति गैरोला : संस्कृत साहित्य का इतिहास, प्रथम संस्करण पृ० ८१२।

कृत जीवकचिन्तामणि प्रसिद्ध प्रबन्ध काव्य है। इन में नीति और रीति का भी उचित समावेश है। पाँच लघु काव्य हैं : – नीलकेशि, शूलामणि, अशोदरकावियम्, नागकुमारकावियम् और उदयणन् कदै। कौतूहल का विषय है कि ये दसों काव्य जैन और बौद्ध मुनियों तथा कवियों द्वारा रचित है।[1] तेलुगु मे भी जैन कवि अथर्वण, विजयराघव आदि उल्लेखनीय हैं। किन्तु तेलुगु भाषा में जैन-साहित्य अत्यन्त अल्प है।

कन्नड़ की सब से प्राचीन रचना 'कविराजमार्ग' कही जाती है। इस के रचयिता जैन कवि श्रीविजय माने जाते है। इस साहित्य के इतिहास में पम्प-युग (९५०-११५० ई०) अत्यन्त समृद्ध रहा है, जो स्वर्णकाल के नाम से अभिहित किया जाता है। इस का दूसरा नाम जैनयुग भी है, क्योंकि इस काल में कन्नड़-साहित्य की श्रीवृद्धि करने में जैन-कवियों का प्रधान योग रहा है। इस साहित्य पर पम्परामायण का विशेष प्रभाव कहा जाता है। प्रत्येक कवि ने धार्मिक काव्य के साथ ही लौकिक अथवा शुद्ध काव्य रचे हैं।[2] इस युग मे जैन कवियों द्वारा विकसित चम्पूशैली परवर्ती काल मे वीर शैव कवियों के द्वारा भी अपनायी गयी।[3]

शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से यह समूचा युग प्रबन्ध काव्य का रहा है। इस में मत-वादो की प्रबलता के साथ ही विष्णु और शिव तथा शिव और जिन को समन्वयात्मक प्रवृत्ति भी मिलती है। राष्ट्रकूटों के युग में जैन धर्म और साहित्य ने अत्यन्त गरिमा प्राप्त की। आचार्य शंकर, कुमारिल भट्ट, प्रभाकर, देवसेन, विद्यानन्द, मण्डनमिश्र, अकलंक, वीरसेन, सायण, विज्ञानेश्वर, धर्मकीर्ति, उदयन, उद्योतकर, प्रभाचन्द्र, समन्तभद्र आदि प्रकाण्ड दार्शनिक इसी युग मे हुए। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तथा लोकभाषाओं में विशेषत. गीत इसी समय लिखे गये। संक्षेप मे, यह युग साहित्य की प्राय. सभी विधाओं से पूर्ण भारतीय वाङ्मय से अनुरंजित तथा काव्यमार्गों एवं दार्शनिक, लाक्षणिक, पौराणिक और धार्मिक शास्त्रों से समन्वित रहा है। भारतीय मध्ययुगीन साहित्य में जहाँ एक ओर चौल शासनकाल (८५०-१२०० ई०) मे जो कि तमिळ साहित्य का स्वर्ण युग कहा जाता है – प्रबन्ध काव्य की प्रमुखता थी वही चौलुक्य शासन काल में उत्तरी गुजरात में एक नवीन साहित्यिक चेतना जागृत रही, परिणामतः संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा प्राचीन गुजराती भाषा में धार्मिक तथा साहित्यिक रचनाओं की एक नयी लहर ही फैल गयी।[4] जूनी गुजराती में मुख्य रूप से रासो रचनाएँ ही मिलती हैं। तेलुगु साहित्य मे भी इस काल में प्रबन्ध और गीत काव्य की प्रमुखता थी। प्राकृत और अपभ्रंश मे भी गीतियों की भाँति कथा और प्रबन्ध काव्य लिखे गये। संस्कृत मे

१. पूर्ण सोमसुन्दरम् : तमिळ और उसका साहित्य, पृ० १३।
२. हिन्दी साहित्य कोश, पृ० १८७।
३ वही, पृ० १६१।
४. लक्ष्मीशंकर व्यास : चौलुक्य कुमारपाल, प्रथम संस्करण, पृ० २३६।

भी भारवि, माघ, हरिचन्द्र, देवनन्दि, रविदेव, भट्टि, कुमारदास, रत्नाकर[1], शिवस्वामी, वादीभसिंह, क्षेमेन्द्र, मंखक, हर्ष और कविराज आदि इसी काल में हुए। महाकाव्यों के अभ्युत्थान का यह काल ही रहा है। महाकाव्यों का अभ्युत्थान-युग महाकवि कालिदास से प्रारम्भ हो कर श्रीहर्ष में पर्यवसित हो जाता है।[2] इस के पश्चात् जैन महाकाव्योंका प्राधान्य रहा है जो उन्नीसवीं शताब्दी तक बराबर लिखे जाते रहे हैं। गीति काव्य के लेखकों में अमरुक, भर्तृहरि, गोवर्धनाचार्य, जिनदास और जयदेव मुख्य हैं। यद्यपि आठवीं शताब्दी से ही अपभ्रंश में लिखे गये प्रबन्ध मिलने लगते हैं पर विशेष रूप से दसवीं शताब्दी उन का उत्कर्ष काल रहा है। इस प्रकार ऐतिहासिक और साहित्यिक दृष्टि से ही नहीं, बल्कि ललित कलाओं के उत्थान की दृष्टि से भी यह युग स्वर्ण काल कहा जा सकता है।

■

१ वाचस्पति गैरोला अक्षर अमर रहें, प्रथम संस्करण, पृ० १३२। देखिए रत्नाकर और शिवस्वामी।

२. वही, पृ० १३३।

द्वितीय अध्याय

अपभ्रंश-साहित्य : सामान्य परिचय

श्री रिचर्ड पिशेल ने सन् १९०२ में जब 'माटेरियालियन् सुर-केण्टनिस डेस अपभ्रंश' नामक पुस्तक को प्राकृत के व्याकरण के परिशिष्ट रूप में प्रकाशित किया था[1] तब तक अपभ्रंश-ग्रन्थो की बहुत कम जानकारी उन्हें मिल सकी थी। अपभ्रंश के नाम पर हेमचन्द्र के व्याकरण में उद्धृत दोहों तथा संस्कृत नाटकों में बिखरे हुए दोहों तक ही वे अपभ्रंश-साहित्य को सीमित समझ सके थे। उन का अनुमान था कि इस भाषा का साहित्य विलुप्त हो गया है। सर्वप्रथम १८७७ ई० मे रिचर्ड पिशेल ने हेमचन्द्र कृत 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' का प्रकाशन किया, जिस में अपभ्रंश का व्याकरण भी सम्मिलित था। किन्तु अपभ्रंश के उपलब्ध प्रथम प्रबन्ध काव्य के प्रकाशन का श्रेय हर्मन जेकोबी को है। उन्होने पहली बार सन् १९१८ ई० में 'भविसयत्त कहा' का प्रकाशन जर्मन भाषा में किया था। भारतवर्ष में सन् १९२३ ई० में गुणे और दलाल के सम्पादकत्व में बड़ौदा, गायकवाड़ ओरियन्टल सीरिज, से यह प्रकाशित हुआ। इस के पश्चात् कई अपभ्रंश रचनाएँ प्रकाश में आयी और आती जा रही है। प्राप्त सूचनाओं तथा खोज के आधार पर उपलब्ध प्रबन्ध काव्यों की संख्या लगभग एक सौ तक पहुँच गयी है। कई अपभ्रंश कथाएँ तथा अन्य छन्दोबद्ध रचनाएँ भी है जो अभी तक प्रकाश में नही आयीं[2]। इसी प्रकार कई काव्यों की प्रतियाँ हमें आगरा और भरतपुर के भण्डारों से मिली हैं जो उल्लेखनीय है। कई छोटी-छोटी रचनाओ की हम ने दिल्ली तथा अन्य भण्डारों से प्रतिलिपि की थी। डॉ० हीरालाल जैन, पं० परमानन्द शास्त्री और अगरचन्द नाहटा के निजी संग्रह में भी कई छोटी-बड़ी अपभ्रश की रचनाएँ है। इस प्रकार अभी कई अपभ्रंश ग्रन्थ प्रकाशनीय है। इस क्षेत्र में डॉ० हर्मन जेकोबी पहले व्यक्ति थे, जिन्होने अपभ्रंशव्याकरण, भविसयत्त कहा, सनत्कुमारचरित (१९२१ ई०) आदि ग्रन्थों का पहली बार प्रकाशन किया था। भविसयत्त कहा के पश्चात् जसहरचरिउ, णायकुमार चरिउ, करकण्डु चरिउ, महापुराण, पउमचरिउ, पउमसिरी चरिउ आदि काव्य तथा अपभ्रंश काव्यत्रयी, प्राचीन गुर्जर-काव्यसंग्रह, दोहाकोष, पाहुडदोहा, सावयधम्म दोहा, संजम मंजरी, चूनड़ी, फागु आदि रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी है।

---

१. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी-साहित्य का आदि काल, तृतीय संस्करण, पृ० ३। देखिए, 'पउमसिरीचरिउ' की भूमिका, पृ० ५–६।

२. द्रष्टव्य लेखक का 'अपभ्रंश कथा काव्य और भविसयत्त कहा' हिन्दुस्तानी, भाग २३, अंक १, पृ० २२४।

उपलब्ध अपभ्रंश साहित्य मुख्यतः कथा और चरितमूलक है। प्राकृत-साहित्य की परम्परागत प्रायः सभी प्रमुख प्रवृत्तियाँ इस साहित्य में प्राप्त होती हैं। प्राकृत का कथा-साहित्य अत्यन्त विस्तृत है। इस में दृष्टान्त, लघुकथा, धर्मकथा, आख्यान, आख्यायिका, अनुयोग, पृच्छा, चरित, प्रबन्ध, पुराण, संवाद तथा प्रेमाख्यान आदि बीसियों रूप मिलते है। गद्य, चम्पू, नाटक, गीति, रास आदि विभिन्न साहित्यिक विधाओं का विकास भी प्राकृत-साहित्य में दृष्टिगोचर होता है। साहित्यिक रूप में वह काव्य-सौष्ठव से अनुरंजित तथा कल्पनात्मक वैभव से पूर्ण है। प्राकृत-साहित्य ने अपभ्रंश और आधुनिक भाषाओं के साहित्य को ही नही, बहुत कुछ अंशो में संस्कृत-साहित्य को भी प्रभावित किया है। कितनी ही नवीन परम्पराएँ और छन्द आदि उस के अपने हैं।[1] संस्कृत के नाटकों मे नृत्य, संगीत और कला एवं सामान्य पात्रों की भाषा पर प्राकृत का प्रभाव और प्रयोग स्पष्ट हैं[2]। हिन्दी के चौपाई, छप्पय, दोहा, रोला, दुर्मिल, सोरठा, गीति, कुण्डलिया; उल्लाला, पद्धड़ी या पद्धरी आदि छन्द निश्चित रूप से प्राकृत के हैं। इन के अतिरिक्त कई छन्दों का विकास अपभ्रंश में तथा परवर्ती साहित्य मे प्राप्त होता है। सस्कृत के आर्या तथा गीति, मराठी का ओवी और अभंग तथा गीतिमूलक छन्दो का निकास और विकास प्राकृत एवं अपभ्रंश के मात्रिक छन्दों से हुआ है।[3] मराठी, गुजराती, राजस्थानी और हिन्दी में प्रयुक्त अनेक मात्रिक छन्दों का स्रोत प्राकृत-अपभ्रंश-साहित्य मे निहित है। संस्कृत में अन्त्यानुप्रास अपभ्रंश की ही देन है।

बाल और यौवन-काल के सर्वांगपूर्ण चित्र इस साहित्य में प्राप्त होते हैं। संयोग और वियोग की विविध दशाओं का आकलन भी इस मे हुआ है। कथा-काव्यों में जहाँ एक ओर कथाओं का विवरण है वही काव्यात्मक वर्णन, प्रकृति-चित्रण, रसात्मक व्यंजना, अलंकरणात्मकता तथा मनोवैज्ञानिकता प्राप्त होती है। अपभ्रंशकाव्य गीति, संवाद और चित्र-विधान से अत्यन्त भरित है। उन में लौकिक और शास्त्रीय दोनों प्रकार की शैलियों का समावेश है। लोक-पक्ष की सबल अभिव्यक्ति इस साहित्य का जीवन-दर्शन है। इस मे पुराण काव्य और चरित काव्य अधिक हैं; किन्तु कथाकाव्य भी उपलब्ध हैं, जो अनुबन्धमें प्रबन्ध की भाँति हैं। मुक्तकों मे चर्यागीति, दोहा, गीत, बारहमासा आदि प्राप्त होते हैं। इस साहित्य में गद्य स्वतन्त्र रूप से नही मिलता। कुवलयमाला कहा,

---

१. डॉ० रामसिंह तोमर : 'प्राकृत-अपभ्रंश-साहित्य और उस का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव', आलोचना, जुलाई १९५३, पृ० ५६।

२. डॉ० हरदेव बाहरी : प्राकृत और उस का साहित्य, पृ० १४३।

३. विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य है—लेखक का 'प्राकृतछन्दकोश' शीर्षक लेख, हिन्दुस्तानी, भाग २२, अंक ३-४, पृ० ४५।

संस्कृत नाटकों मे, श्वेताम्बर जैन ग्रन्थो की टीकाओं में[1] तथा उक्तिव्यक्तिप्रकरण आदि ग्रन्थों में प्रकीर्णक रूप मे अपभ्रंश-गद्य दृष्टिगोचर होता है। परन्तु अभी तक स्वतन्त्र रूप में गद्य में कोई रचना उपलब्ध नही हो सकी है। हाँ, साहित्य के अतिरिक्त वैद्यक, योग और पूजा-रचनाएँ भी छन्दोबद्ध उपलब्ध है। मुनि यशःकीर्ति विरचित 'जगसुन्दरी-प्रयोगमाला' आयुर्वेद का सुन्दर ग्रन्थ है। समूचा ग्रन्थ पद्यबद्ध है। सरस्वतीस्तोत्र, दशलक्षण पूजा और अपभ्रंश भाषा में लिखित कई छोटी-छोटी धार्मिक रचनाएँ तथा फुटकर बातें भी मिलती हैं।

अपभ्रंश-साहित्य के मुख्य केन्द्र राजस्थान, गुजरात, मालवा (धार), हरियाना और बुन्देलखण्ड रहे है। मलखेडा (हैदराबाद) या मान्यखेट का नाम केवल महाकवि पुष्पदन्त के कारण कहा जा सकता है। पूर्वी अपभ्रंश-साहित्य का क्षेत्र मिथिला, बंगाल और उडीसा कहा जा सकता है। यद्यपि बुन्देलखण्ड से प्राप्त साहित्य प्रकाश मे नहीं आया है, पर वह प्रकाशनीय है। दक्षिण के राष्ट्रकूट राज्य में संस्कृत-प्राकृत की भाँति अपभ्रंश भाषा मे भी साहित्य लिखा गया। आ० रत्नश्री ज्ञान ने राष्ट्रकूट राजा तुंग के समय दण्डीके काव्यादर्श की काव्यलक्षण नामक टीका लिखी थी। पुष्पदन्त तो वहाँ जीवन भर रहे। स्वयम्भू मूलत कोशली थे। बाद मे दाक्षिणात्य कर्णाटकवासी बन गये।[2] सामान्यतः मध्यदेश में मध्ययुगीन संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश का साहित्य समानान्तर रूप से शताब्दियों तक लिखा जाता रहा है। बरार और कर्णाटक से भी अपभ्रंश साहित्य मिलने की सूचनाएँ मिलती हैं। अपभ्रंश की छोटी-बडी रचनाएँ मुख्य रूप से जहाँ-जहाँ जैन विद्वान् रहे हैं, लिखी जाती रही है। कुछ स्थानों के नाम इस प्रकार है—अणहिलपुर, श्रीवालपुर, अचलपुर, गोनद नगर (मालवा), बिलरामपुर (एटा), गोध्रा (गुजरात), चन्द्रवाड (उत्तरप्रदेश), जोगिनीपुर (दिल्ली), करहल (इटावा), हिसार, ग्वालियर, टिहुडा नगरी, मेदपाट (मेवाड), दिल्ली, सोनीपत, नागरमण्डल (गुजरात), हिसारकोट, जेरहटनगर (माण्डू) तथा रोहतक आदि।

साहित्यिक प्रवृत्तियाँ

संस्कृत, प्राकृत की भाँति अपभ्रंश के प्रबन्ध काव्यों मे भी कथानुबन्ध के साथ काव्यगत रूढियों का परिपालन प्राप्त होता है। किन्तु अपभ्रंश मे इस प्रकार के कथा-काव्यों का महत्त्व घटनाओं के क्रमिक विकास या चरित्रो के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में न हो कर पुराण-कथाओ तथा लोक-कथाओ के सामाजिक अभिप्राय तथा काव्यात्मक

१. अगरचन्द नाहटा 'श्वेताम्बर अपभ्रंश साहित्य', महावीर जयन्ती स्मारिका, अप्रैल ६२ पृ० १५०।
२. डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन पउमचरिउ भाग १, भूमिका।

वर्णन में है। कहीं-कहीं प्रबन्ध की लोक का अनुसरण भी उन में लक्षित होता है। काव्यगत रूढ़ियों में निम्न-लिखित मुख्य है—मंगलाचरण, आत्मपरिचय, विनय-प्रदर्शन, सज्जन-दुर्जन वर्णन, काव्य के वास्तविक अध्येता और रचना का उद्देश्य। संस्कृत के महाकाव्यों की रचना सर्गों मे, प्राकृतोंको आश्वासों तथा उद्देशोंमें और अपभ्रंश के महाकाव्यों की सन्धियों में हुई। सन्धि कई कडवकोंसे मिल कर बनती है। कुछ महाकाव्य काण्डों में विभक्त हैं। प्रत्येक काण्ड कई सन्धियों के मेल से बनता है। काण्डो मे विभाजन की यह शैली वाल्मीकिरामायण में मिलती है और हिन्दी मे भी दिखाई देती है, यहाँ तक कि रामचरितमानस को भी सोपानोके साथ ही काण्डों में विभाजित कर देखा जाता है।[1] रासो ग्रन्थों में घटनाओं की प्रधानता के साथ ही कथा-बन्ध ठवणि, प्रक्रम और भासों में तथा ठवणि वस्तु में विभाजित देखा जाता है। इसी प्रकार वेलि रचनाएँ कड़ियों तथा कई वेलो में विभक्त प्राप्त होती है। वेलि और फागु रचनाएँ प्राय खण्ड काव्य संज्ञक होती थी। यद्यपि ऐसा कोई नियम नही था, पर अधिकाश रचनाएँ खण्ड काव्य है। उन में खण्डकाव्य के विषय हैं[2]। रास, फागु, वेलि, विलास आदि शब्द रूढ़ हो जाने से काव्य के ही वाचक रहे हैं; निश्चित काव्यात्मक प्रवृत्ति के बोधक नही।[3] उद्देश्य के अनुसार अवश्य रास और फागु रचनाएँ अभिनयमूलक होती थी और उन के अभिनय मे नृत्यगीत मुख्य रूप से सहायक होते थे।[4] कथा के प्रवाह में लगभग समस्त रचनाओं मे गीत तत्त्व भरपूर है। गीतमूलक कई प्रकार की शैलियाँ तथा गीत इन रचनाओमे मिलते है। चर्चरी रचनाएँ तो लोकनाट्य ही रही हैं, जो नृत्य और संगीत प्रधान होती थीं। कई प्रकार के विनय और भक्तिपरक गीत भी चूनडी, रास, सन्धि, पृच्छा, अनुप्रेक्षा और जन्मकल्याणक आदि मे लिखे जाते थे। सम्भवत मराठी की भाँति पोवाड़ा या पवाडा (वीर गीत) तथा ढवल या धवल गीतो का प्रचलन अपभ्रंश काव्यो में तथा मुक्तकों मे रहा है। अतएव इन काव्य-रूपो में भेद लक्षित होता है।

वर्गीकरण

अपभ्रंश-साहित्य मुख्यतः पौराणिक और लौकिक है। प्रबन्ध-काव्यो मे कुछ काव्य पुराणो के आख्यान ले कर लिखे गये हैं और कुछ लौकिक (लोक-प्रचलित)

---

१ डॉ० हरिवंश कोछड : अपभ्रंश-साहित्य, प्रथम संस्करण, पृ० ५१।

२ कृष्णचन्द्र . 'राजस्थानी का वेलि साहित्य कुछ नयी कृतियाँ', शोध-पत्रिका, वर्ष १२ अंक १, सितम्बर १९६०, पृ० ७५।

३ लेखक का सन्देशरासक तथा परवर्ती हिन्दी काव्यधारा नामक लघु प्रबन्ध, अप्रकाशित, पृ० ३२।

डॉ० दशरथ ओझा और शर्मा . रास और रासान्वयी काव्य, प्रथम संस्करण, पृ० ८७।

कथाओं से भरित हैं। महाकाव्यों में पौराणिकता के साथ ही लोकतत्त्व का भी समावेश मिलता है। किन्तु कुछ ग्रन्थ बिलकुल पौराणिक है। ऐसे काव्यों मे से अधिकांश पुराणसंज्ञक हैं। डॉ० शम्भुनाथ सिंह ने प्रबन्धकाव्य के मुख्यत: दो रूप माने हैं[१]—शास्त्रीय प्रबन्ध काव्य और चरितकाव्य। किन्तु जिन मे कथानक की प्रधानता है और जो कई अवान्तर कथाओ से समन्वित हैं उन्हें हम पुराण की श्रेणी मे रखना चाहेंगे। क्योंकि अपभ्रंश के प्रबन्ध काव्यों का विकास एक रूप मे न हो कर बहुविध हुआ है, जिस में हमें पुराण, लोकाख्यान, घटनामूलक तथा शास्त्रीय बन्ध की शैलियाँ तथा वर्णन-प्रवृत्ति लक्षित होती है। कुछ पुराण-कथाएँ लोक-काव्य के साँचे मे ढली हुई मिलती है जो न तो पुराण काव्य के अन्तर्गत आती हैं और न लोककाव्य के ही। प्रबन्ध काव्य का यह वर्गीकरण शैली की दृष्टि से किया जाता है। वस्तु की दृष्टि से भी अपभ्रंश की उन छोटी-छोटी रचनाओं पर विचार करना आवश्यक हो जाता है जो केवल विवरण मात्र हैं और जो शुद्ध धार्मिक भावना से प्रेरित हो कर लिखी गयी। ये रचनाएँ न तो चरितकाव्य के अन्तर्गत आती हैं और न कथाकाव्य के ही। उन्हे पुराण-कथा ही कहा जा सकता है। ऐसी जैन कथाओं की रचना का उद्देश्य जनता मे दान, शील, तप, व्रत और धर्म तथा जीवन में आस्था आदि सद्भाव रूप धार्मिक गुणो का विकास करना रहा है। डॉ० वेबर, लायमन, जेकोबी, ब्युह्लर, हर्टेल और अल्सडोर्फ आदि ने जैन कथा साहित्य के इस महत्त्व का मूल्यांकन बहुत पहले किया था[२]। फिर भी, बन्ध की दृष्टि से इन का साहित्य में बराबर महत्त्व है। इस प्रकार अपभ्रंश मे एक ओर व्रत-माहात्म्य तथा उद्देश्य विशेष से वर्णित छन्दोबद्ध कथाएँ मिलती है और दूसरी ओर पुराण, चरित और कथा-काव्य प्रबन्ध काव्य की शैली मे उपलब्ध होते हैं। पुराणकाव्यो मे जो आकार-प्रकार में बृहत् तथा शास्त्रीय शैली मे निबद्ध हैं वे महाकाव्य संज्ञक है और महापुरुष के जीवन चरित को ले कर लिखी गयी प्रबन्ध रचनाएँ चरितकाव्य के अन्तर्गत आती हैं।

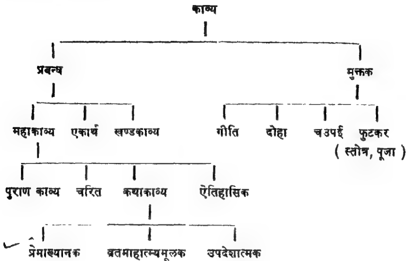
अपभ्रंश-साहित्य मे चरित काव्यो की संख्या अधिक है। भारतीय साहित्य मे चरितकाव्य का प्रचलन महापुरुषो के जीवनचरित वर्णन के निमित्त हुआ है, जिस में आदि से अन्त तक नायक का चरित-कीर्तन वर्णित रहता है। हिन्दी मे राम, कृष्ण, महावीर तथा जैन साहित्य मे त्रेसठ शलाकापुरुषों का जीवनचरित्र हमे दो रूपो मे ही अधिकतर मिलता है—पुराणकाव्य के रूप मे और चरितकाव्य के रूप मे। वस्तुतः पुराणकाव्य और चरितकाव्य का भेद शैली के आधार पर लक्षित होता है। पुराण काव्य मे विस्तार तथा पौराणिक रूढ़ियाँ अधिक होती है, जब कि चरितकाव्य में

---

१. हिन्दी साहित्य-कोश, प्रथम संस्करण, पृ० २८६।

२ मुनि जिनविजय 'कथा कोश प्रकरण का प्रास्ताविक वक्तव्य, पृ० १५।

संक्षेप होता है। संक्षेप में, अपभ्रंश-साहित्य का वर्गीकरण इस प्रकार है—



पुराणकाव्य—हरिवंशपुराण (श्रुतकीर्ति) ४४ सन्धियों मे निबद्ध, हरिवंश-पुराण (धवल) एक सौ बाईस सन्धियों का काव्य, पुष्पदन्त रचित एक सौ दो सन्धियों मे निबद्ध महापुराण, महाकवि स्वयम्भू विरचित एक सौ बारह सन्धियो का हरिवंशपुराण (रिट्ठणेमिचरिउ) तथा नब्बे सन्धियो मे निबद्ध पउमचरिउ इत्यादि।

चरितकाव्य—णेमिणाहचरिउ, पासणाहचरिउ, चन्दप्पहचरिउ, संभवणाहचरिउ, सातिणाहचरिउ, बाहुबलिचरिउ, पज्जुण्णचरिउ, सम्मइजिणचरिउ, जम्बुसामिचरिउ, सुकुमालचरिउ, महावीरचरिउ, जसहरचरिउ, करकण्डचरिउ, जीवंधरचरिउ, सुकोसल-चरिउ, मेहेसरचरिउ, पउमचरिउ इत्यादि।

कथाकाव्य—भविसयत्तकहा, जिनदत्तकहा, विलासवईकहा, सत्तवसणकहा, सिद्धचक्ककहा, सिरिपालकहा आदि।

ऐतिहासिक काव्य में विद्यापति की कीर्तिलता तथा खण्डकाव्य में अब्दुलरहमान कृत सन्देशरासक मात्र उपलब्ध हैं। दोहाबन्ध रचनाओं में सावयधम्मदोहा, पाहुडदोहा, सुप्पयदोहा तथा गीति-साहित्य में नेमिगीत, नेमीश्वरगीत (वल्हव), गुणस्थानगीत (ब्र० धीवर्द्धन), जंबूस्वामी गीत, पार्श्वगीत, चेतन गीत, रावलियो गीत, पंचेन्द्री-बेलि आदि रचनाएँ प्राप्त हुई हैं। बौद्धों की चर्यागीति, संबोधगीति, आत्मसंबोधन तथा

पद आदि इसी विधा की रचनाएँ हैं। इसी प्रकार नेमिनाथचउपई, पद्मावती चोपई, तथा जिनदत्तचउपई अपभ्रंश की चउपई रचनाएँ हैं।

उक्त रचनाओ को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि अपभ्रंश-साहित्य काव्यात्मक विधाओ से अत्यन्त समृद्ध है। रासो-साहित्य इस मे एक स्वतन्त्र ही काव्य-प्रकार है जो शैली के भेद से अन्य रचनाओं से भिन्न देखा जाता है। इसी प्रकार फागु और चर्चरी रचनाएँ बन्ध की दृष्टि से अपना पृथक् महत्त्व रखती हैं। इनके अतिरिक्त प्राकृत मे चम्पू, रूपक और गद्यकाव्य की विशेष विधाएँ हैं। अपभ्रंश मे—मयणपराजयचरिउ, मयणजुज्झ, मनकरहारास आदि रूपक काव्य तो दृष्टिगोचर हैं पर नाटक-साहित्य अभी तक उपलब्ध नही हो सका है। इसी प्रकार स्वतन्त्र गद्य-रचना भी अभी तक नही मिला है। यद्यपि आख्यानो मे तथा अन्य रचनाओ मे कही-कही अपभ्रंश का गद्य देखने को मिलता है, किन्तु अलग से गद्यबन्ध कोई रचना मेरे देखने मे नही आयी। नाट्य-रचना भी इस साहित्य मे उपलब्ध नही है। इस से यही विचार बार-बार मन मे उठता है कि हो न हो यह समूचा साहित्य पद्यबद्ध ही है। यहाँ तक कि मुनि यशःकीर्ति कृत 'जगसुन्दरी प्रयोगमाला' (आयुर्वेद ग्रन्थ) तथा श्रुतकीर्ति विरचित 'योगशास्त्र' दोनो ही छन्दोबद्ध हैं। डॉ० कोछड़ ने 'उवएसमालकहाणय-छप्पय' नामक रचना का उल्लेख किया है, जिस से पता चलता है कि छप्पयबन्ध रचनाएँ भी परवर्ती अपभ्रंश-साहित्य मे लिखी जाने लगी थी।[1] अतएव काव्य-विधा मे अपभ्रंश-साहित्य की बहुमुखी प्रगति का पता लगता है, जो पुरोगामी आधुनिक भारतीय आर्य-साहित्य का प्रेरक रहा है।

सामग्री

गत दशक में हुई शोध-खोज से यह स्पष्ट हो गया है कि अपभ्रंश में प्रबन्धकाव्यो के साथ ही कथा-साहित्य प्रचुर उपलब्ध है। किन्तु अधिकांश रचनाएँ व्रतकथाएँ है जो धार्मिक महत्त्व दर्शाने के उद्देश्य से लिखी गयी। इन कथाओं में व्रत का विधान तथा माहात्म्य विशेष रूप से वर्णित है। जिन कथाओ मे व्रत का विधान नही है वे भी धार्मिक भावना से प्रेरित शुद्ध उपदेशात्मक कथाएँ है। माणिक्कचन्द विरचित 'सत्तवसणकहा' ऐसी ही रचना है जिस मे सात व्यसनो (आखेट खेलना, मदिरा-पान करना, वेश्यागमन करना, मास खाना, चोरी करना, जुआ खेलना और परस्त्री गमन करना) के त्याग का उपदेश कथाओ के दृष्टान्तो के माध्यम से वर्णित है। ये कथाएँ सन्धिबद्ध तथा सन्धिमुक्त दोनो ही शैलियों मे लिखी हुई मिलती हैं। कुछ कथाएँ आकार मे बड़ी हैं और कुछ छोटी है। व्रतकथाएँ सामान्यत. अधिक से अधिक दो सन्धियो मे निबद्ध हैं। कुछ कथाएँ आकार मे बहुत ही छोटी हैं। ब्रह्म साधारण कृत कोकिलापंचमी, मुकुटसप्तमी, क्षीरद्वादशी, रविवासर, त्रिकालचउवीसी, पुष्पाञ्जलि,

१. डॉ० हरिवंश कोछड़ : अपभ्रंश-साहित्य, पृ० ३६८।

निर्दुःखसप्तमी, निर्झरपंचमी आदि कथाएँ पाँच-पाँच कडवकों की रचनाएँ हैं। पं० रइधू की 'अणथमीकहा' तो केवल चार ही कडवकों की रचना है। कुछ कथाएँ इन से आकार में बड़ी भी हैं; किन्तु अधिक बड़ी नहीं। उदाहरण के लिए, हरिचन्द की 'अणत्थमियकहा' सोलह कडवकों में निबद्ध है। विमलकीर्ति विरचित 'सुखवइविहाण कहा', 'सुयंधदहमीकहा' तथा देवनन्दि रचित 'रोहिणीविहाणकहा' और यति विनयचन्द्र कृत 'णिज्झरपंचमीविहाणकहा' आदि इसी आकार की रचनाएँ हैं। इसी प्रकार मुनि गुणभद्र लिखित सोलह कथाओं का पता मिलता है जो सभी छोटी-छोटी कथाएँ है। भ० ललितकीर्ति, यशःकीर्ति, नेमचन्द्र और विनयचन्द्र आदि की अधिकतर रचनाएँ इसी प्रकार की है। इन रचनाओं को देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि अधिकांश कथाएँ व्रत-माहात्म्य को प्रदर्शित करने वाली तथा आकार में छोटी और विवरणप्रधान हैं। केवल इन मे वस्तु है; विवरण नहीं। रचनाएँ वस्तुमूलक होने से संक्षिप्त तथा वर्णनरहित है। अतएव काव्यात्मक दृष्टि से इन का मूल्यांकन करने का प्रश्न ही नही उठता।

उक्त लघु या क्षुल्लक कथाओ के अतिरिक्त कुछ बृहत् कथाओं को संकलना भी प्राप्त होती है। इस प्रकार की रचनाएँ 'कथाकोष' है, जिन में धार्मिक कथाओं का संकलन दिखाई पड़ता है। ये संग्रहात्मक ग्रन्थ है जो काव्यरूप मे निबद्ध है। श्रीचन्द्रकृत 'कहाकोसु' ५३ सन्धियो में निबद्ध ऐसा ही कथाकोष है। पं० रइधू रचित 'पुण्णासवकहाकोसु' भी इसी प्रकार की रचना है। वस्तुगत वर्णन मे अवश्य कहीं-कही लेखक की मौलिकता परिलक्षित होती है। अन्य स्फुट कथाकोष भी मिलते हैं, जिन मे संस्कृत-अपभ्रंश या अपभ्रंश-हिन्दी की कथाओ का संग्रह मात्र दिखलाई पड़ता है। इन कथाकोषो के लेखक अज्ञात ही है।

तीसरे प्रकार की कथाएँ कथाकाव्य है, जिन मे कथा और काव्य का सुन्दर कलात्मक संयोजन लक्षित होता है। यद्यपि इन मे वर्णित कथाएँ लोककथाएँ हैं, नायक जन-जीवन का विशिष्ट व्यक्ति है, पर अपने कार्यों मे वह महान् तथा आदर्श है। वह यथार्थ जीवन से परे का व्यक्ति नही है। उस की महत्ता जन्मजात नहीं; जीवन के गुरुतर संघर्षों के बीच प्रतिफलित होती है। वह साधारण से महान् बनता है। ऐसे कथाकाव्यों में प्रसिद्ध तथा प्रमुख रचना है—भविष्यदत्तकथा। यह पंचमी व्रतकथा के नाम से भी प्रसिद्ध रही है। इस में श्रुतपंचमी व्रत का माहात्म्य काव्यात्मक ढंग से वर्णित है। विबुध श्रीधर रचित 'भविसयत्तकहा' भी ऐसी ही रचना है। लाखू विरचित 'जिणयत्तकहा' और साधारण सिद्धसेन कृत 'विलासवईकहा' अपभ्रंश के सुन्दर कलात्मक कथाकाव्य हैं। इधर अपभ्रंश के अन्य कथाकाव्य भी जैन भण्डारो में देखने को मिले हैं, जिन का अनुशीलन इस पुस्तक मे किया गया है।

संक्षेप में अपभ्रंश का कथा-साहित्य इस प्रकार है :

१. अनन्तकीर्ति गुरु : पुष्फंजलिकहा
२. अभ्रदेव : सवणबारसिविहाणकहा, सोडसकारणविहाणकहा, सुयखंध-विहाणकहा, बिज्जुचोरकहा ।
३. अमरकीर्तिगणि : पुरंदरविहाणकहा (वि० सं० १२७५), छक्कम्मोवएस (वि० सं० १२४७) ।
४. उदयचन्द्र : सुअंधदहमीकहा (१९६६ ई० में भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित)।
५. कवि ठकुरसी : मेघमालावयकहा (वि० सं० १५८०)
६. कवि देवदत्त : सुयन्धदसमीकहा
७. गुणभद्र भट्टारक : अणंतवयकहा, सवणावारसिविहाणकहा, पक्खवइकहा, णहपंचमीकहा, चंदायणकहा, चंदणछट्ठी कहा, णरयउतारीदुद्धा-रसकहा, णिद्दुहसत्तमीकहा, मउडसत्तमीकहा, पुप्फंजलिवयकहा, रयणत्तयविहाणकहा, दहलक्खणवयकहा, लद्धविहाणकहा, सोडस-कारणवयविहि, सुयंधदहमीकहा ।
८. देवनन्दि : रोहिणिविहाणकहा
९. धनपाल : भविसयत्तकहा
१० धाहिल : पउमसिरीचरिउ
११ नयनन्दी : सुदंसणचरिउ
१२ नरसेन : सिद्धचक्ककहा, जिणरत्तिविहाणकहा
१३ नेमचन्द : रविवयकहा, अणंतवयकहा
१४. भगवतीदास : मउडसत्तमीकहा, सुयंधदसमीकहा
१५ भट्टारक ललितकीर्ति : जिनरात्रिकथा, ज्येष्ठजिनवरकथा, दशलक्षणीव्रत-कथा, धनकलशकथा, कंजिकाव्रतकथा, कर्मनिर्जराचतुर्दशीकथा ।
१६. माणिक्यचन्द्र : सत्तवसणवज्जणकहा
१७. मुनि बालचन्द्र : निरयदुहसत्तमीकहा, रविवयकहा, णरयउतारीदुद्धारसी-कहा ।
१८. यति विनयचन्द्र : णिज्झरपंचमीविहाणकहा, णरयउतारीदुद्धारसीकहा ।
१९. यशःकीर्ति : जिणरतिविहाणकहा, रविवयकहा ।
दशलक्षणधर्मकथा (सरस्वती भवन, बम्बई)
२०. रइधू : पुण्णासवकहाकोसु, सिद्धचक्कमाहप्पकहा, अणथमीकहा, रविवउ-कहा ।
२१. रल्ह : जिनदत्तचउपई
२२. लाखू : जिणयत्तकहा, चंदणछट्ठीकहा ।

२३. विनयचन्द : णिज्झरपंचमीकहा, दुद्धारसकहा ।
२४. विमलकीर्ति : सुखसंपइविहाणकहा, सुयंधदसमीकहा, चंदायणवउकहा ।
२५. विबुध श्रीधर : भविसयत्तकहा
२६. श्रीचन्द : कहाकोसु
२७. साधारण ब्रह्म : कोकिलापंचमीकहा, मउडसत्तमीकहा, दुद्धारसीकहा, रविवउकहा, तिणचउवीसीकहा, पुप्फंजलिवयकहा, निर्दुहसत्तमीकहा, णिज्झरपंचमीकहा ।
२८. साधारण सिद्धसेन : विलासवईकहा (वि० सं० ११२३)
२९. हरिचन्द : अणत्थमीकहा, वहलक्खणकहा, नारिकेरकहा ।
३० हरिचन्द्र : पुष्पांजलिकथा

इन के अतिरिक्त कुछ अज्ञात लेखकों की कथा-रचनाएँ भी देखने को मिलती हैं, जिन मे से कुछ निम्नलिखित है—

मुक्तावलिविधानकथा, पुरन्दरविधानकथा, सुगन्धदशमीकथा, चन्दनषष्ठीकथा, निर्दोषसप्तमीकथा, रोहिणीविधान, अनन्तव्रतकथा, जिनरात्रिविधान, सुगन्धदशमीकथा, मालारोहणकथा इत्यादि । सम्भावना यह भी है कि नागौर, जैसलमेर, पाटण तथा ईडर आदि के जैन भण्डारों मे कुछ अन्य कथाएँ तथा कथाकाव्य भी उपलब्ध हो सकें । सम्प्रति इसी सामग्री का विचार करना समुचित होगा ।

कथा बनाम आख्यान

'कथा' भारतीय साहित्य का अत्यन्त प्राचीन अंग है । कथा पहले है काव्य बाद मे । कदाचित् कथाओ का चलन सब से पहले प्रकृतिविषयक रहस्य को समझने और समझाने के निमित्त हुआ था । तब उन्हें कथा नही कहा जाता था । कथा का सब से पुराना नाम आख्यान मिलता है । वेदों मे आख्यानों के विविध उल्लेख मिलते हैं । इन आख्यानों का सम्बन्ध विशेष रूप से अतिमानवीय घटनाओं से युक्त है । वैदिक आख्यानो का उपयोग मुख्य रूप से मन्त्रों की अलौकिक शक्ति के प्रदर्शन के लिए हुआ है । वे मन्त्र और यज्ञ-विधि से पूर्णतः सम्बद्ध है । अतएव उन में आख्यानों का उल्लेख मात्र है; विवरण नही मिलता । ब्राह्मण भागो मे अवश्य उन का विवरण प्राप्त होता है । किन्तु वे यथास्थान बिखरे हुए हैं । उन मे संवाद एवं वार्त्तालाप एक ही शैली मे अनुस्यूत दिखाई देते हैं । उपनिषदों मे इस शैली का विकास वार्त्ताओ तथा आख्यानों के माध्यम से हुआ । वार्ताएँ दृष्टान्त रूप में सम्भवत: इसी युग में प्रचलित हुईं । पुराण-काल में पौराणिक रचनाएँ इतिवृत्त को ले कर विकसित हुईं, जिन में धार्मिक भावना मुख्य है । युग और समाज के परिवर्तन के साथ ही लोक-परम्परा में जो वार्ताएँ जड़ जमा चुकी थीं वे ही आगे चल कर किंवदन्ती नाम से अभिहित हुईं । किंवदन्ती ही साहित्यिक विधा

में परवर्ती काल में 'लोककथा' नाम से ख्यात रही। किन्तु पौराणिक कथा का माहात्म्य आज भी धार्मिकता के विवरण तथा वर्णन से बना हुआ है।

यद्यपि कथाएँ रूपक मात्र हैं पर उन मे भारतीय जीवन के अनुभवपूर्ण अभिप्राय निहित हैं। कथा के बहाने धर्म, नीति, आचार-व्यवहार का ही उन में समावेश नहीं है वरन् लोक-जीवन का जीता-जागता चित्र तथा भारतीय संस्कृति और समाज का चित्र भी स्वाभाविक रूप मे उन मे प्रतिबिम्बित है। कई आख्यान श्रुति के अंग बन कर युगों-युगो तक प्रचलित रहे हैं। पुराण-युग मे उन मे विविध परिवर्तन और संशोधन हुए। यो तो वेदकाल से ले कर पुराण-युग तक उन में बहुविध विकास हुआ[1] पर कथा का वास्तविक ढाँचा उन्हे तभी (पुराण-युग में ही) मिल सका जब धार्मिक वृत्तों से भरपूर होने पर भी लोक-जीवन तथा घटनाओ का समावेश भी उन मे होने लगा था।

प्रत्येक देश मे कथाओ का प्रचलन मन्दिर, मसजिद, गिर्जाघर या अन्य किसी धार्मिक स्थान से हुआ है जहाँ समाज परस्पर प्रेम-सूत्र का गठबन्धन करती है। लोक-धर्मी परम्परा मे कथातत्त्व अत्यन्त विकसित हुआ। जातीय भावनाओ तथा अभिप्रायों का सुन्दर घोल कथाओं के रूप मे जन-मानस मे परिव्याप्त लक्षित होता है। केवल भारतीय साहित्य में ही नहीं, पाश्चात्य एवं युरॅपीय साहित्य में भी लोकवार्त्ताओं के माध्यम से धार्मिक भावनाओं का प्रसार हुआ। लोकवार्त्ताएँ धार्मिक आख्यानों के रूप में वैदिक काल से प्रतिष्ठित रही है। प्राग्वैदिक काल में भी वे श्रुति के रूप में प्रचलित थी। मिस्र, इजिप्ट, चीन तथा अन्य देशो की अवदान कथाएँ वर्षों तक लोक-जीवन मे मौखिक ही सुरक्षित रही है।[2] श्रुतियो और स्मृतियो मे आख्यानों का यही रूप मिलता है। उन का परवर्ती विकास पौराणिक युग के जीवन का यथार्थ धरातल है, जिस में कल्पना और आदर्श का सुन्दर मेल है।

मिस्र, चीन, भारत आदि देशों में देवी-देवताओं की मान्यता प्राग्-ऐतिहासिक काल से बराबर बनी हुई है। पूजा की विधि और उपासना में ही देश और काल के अनुसार परिवर्तन होते रहे हैं। इस सृष्टि का जन्म प्रायः सभी किसी न किसी देवी या देवता से हुआ मानते है। देवत्व की प्रतिष्ठा एवं स्थापना ऋग्वेद मे ही हो गयी थी।[3] पुराणों मे ऐसी कई रूपक कथाएँ मिलती है जिन में आध्यात्मिक तत्त्व बीज रूप मे निहित हैं। इसीलिए समाज मे आज भी उन का महत्त्व है। भारतीय वाङ्मय मे राम और कृष्ण के आख्यान शताब्दियों पश्चात् भी गौरवपूर्ण बने हुए है। इस का कारण यही प्रतीत होता है कि साहित्य की यह विधा लोकवार्त्ताओं से विकसित हुई है। भारतीय साहित्य की भाँति अन्य भाषाओ के साहित्य में भी जातीय अभिप्राय

१. एच० एल० हरियप्पा ऋग्वैदिक लीजेन्ड्स थ्रू दि एजेज, भूमिका, पृ० १५।

२ राबर्ट ग्रेमस . लारोस, इन्साइक्लोपीडिया ऑव माइथालॉजी, पृ० ६।

३. त्रिवेणीप्रसाद सिंह : हिन्दू-धार्मिक कथाओं के भौतिक अर्थ, प्रथम संस्करण, पृ० ११२।

(National motifs) लोकवार्त्ताओंसे ग्रहण किये जाते रहे हैं।[1] कालान्तर में आख्यायिकाओं और कथाओं के वे ही अंग-रूप बन कर प्रचलित हो गये।

आचार्य यास्क ने निरुक्त में ऋषि विश्वामित्र, राजा सुदास, कुशिक, देवापि तथा शान्तनु आदि की कथाओं का संक्षिप्त विवरण दिया है।[2] आख्यानों की दृष्टि से व्याख्या करने वालों को 'ऐतिहासिक' कहा गया है।[3] इस से स्पष्ट ही संकेत मिलता है कि लोकप्रचलित आख्यान इतिहास के रूप में माने जाते रहे हैं। ब्राह्मणों में प्राप्त 'आख्यान' शब्द इतिहास का वाचक है। निरुक्त में भी इतिहास और आख्यान शब्द सम्भवतः एक ही अर्थ मे प्रयुक्त है। 'आख्यान' शब्द का स्पष्ट उल्लेख उस में मिलता है।[4] 'बृहद्देवता' मे विभिन्न वैदिक आख्यानों का सुन्दर संकलन है। भारतीय कथा-साहित्य का यह प्राचीनतम संग्रह है।

मूल रूप मे साहित्य आख्यान कहा जा सकता है। पौराणिक, कल्पित तथा निजन्धरी वृत्तों को ले कर परवर्ती काल मे भारतीय साहित्य की सृष्टि हुई। साहित्य मात्र मे धार्मिक आख्यान और लोकवृत्त अतिशयोक्ति पूर्ण कल्पनाओं तथा अलंकरणात्मकता से अनुरंजित है। और कथन-भेद से साहित्य के विभिन्न अंगों की रचना का विकास सम्भव हो सका है। इसीलिए शैली-भेद से आख्यान, आख्यायिका तथा कथा आदि नाम प्रचलित हुए। वस्तु-भेद बहुत पीछे की वस्तु है। वस्तुत. इन तीनो का विकास एक ही परम्परा मे हुआ। इतिहास और पुराण भी इसी श्रेणी के हैं।[5] आख्यानों का वास्तविक विकास पुराण और काव्य-साहित्य मे मिलता है। ब्रह्मवैवर्त पुराण तथा श्रीमद्भागवत आदि मे सुन्दर आख्यानो के साथ काव्यसौष्ठव भरपूर है। उन में आख्यान तथा उपाख्यान वर्णनों के बीच चलते हुए लक्षित होते हैं। उन के इस रूप को देख कर सहज मे ही निश्चय हो जाता है कि प्रबन्धकाव्यो के पश्चात् ही पुराणो की रचना हुई है। पुराण अठारह कहे जाते है।[6] उन का मूल स्रोत वैदिक आख्यानों मे निहित माना जाता है। मन्त्रभाग और विधितत्त्व भी पुराणों के मूल में रक्षित है। यथार्थ में कुछ देवी-देवताओं को मान कर ही उन की प्रतिष्ठा तथा माहात्म्य बनाये रखने के लिए पुराणों की रचना हुई। पुराणों मे अग्नि, विष्णु और शिव की उपासना मुख्यतः वर्णित है। लिंग, स्कन्द और अग्निपुराण मे अग्नि तथा ब्रह्म, नारद, ब्रह्मवैवर्त,

१. डॉ० सत्येन्द्र मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्त्विक अध्ययन, प्रथम संस्करण, पृ० ५२।
२. यास्क निरुक्त, अ० २, पा5 ३, ख० १२।
३ "तत्रेतिहासमाचक्षते। यस्मिन्सूक्ते प्रधाना नद्य एव तत्र इममितिहासं पुरावृत्तं निदानभूतमाचक्षते आचार्या कथयन्ति।"—निरुक्त, २,७,२४। दुर्गाचार्य की टीका।
४ यास्क निरुक्त, अ० ५, पा० ४, खं० २१।
५. "आख्यानाख्यायिकेतिहासपुराणेभ्यश्च' इति।—महाभाष्य, पा० ४-२-६०।
६ ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवं च शैवं लैङ्गं सगारुडम्।
नारदीय भागवतमाग्नेयं स्कान्दसंज्ञितम्॥
भविष्यं ब्रह्मवैवर्तं मार्कण्डेयं सवामनम्।
वाराहं मात्स्यं कौर्मं च ब्रह्माण्डाख्यमिति त्रिषट्॥
—श्रीमद्भागवत, १७, २३-२४।

वराह और वामनपुराण में विष्णु एवं मार्कण्डेय और शिव पुराण में शिव की प्रधान रूप से भक्ति वर्णित है। अन्य पुराणो मे अवतार, परमपुरुष को लीला तथा लोक गाथाओं का सुन्दर संकलन है। यद्यपि पौराणिक आख्यान मानव-जीवन से सम्बन्धित हैं पर अतिलौकिक घटनाओं का समावेश भी उन मे प्राप्त होता है। फिर, उपनिषद् कालिक विचारधारा मे आत्मतत्त्व को समझाने के लिए दृष्टान्त शैली का विकास हो गया था। इसलिए पुराणों मे कथाओं और उपाख्यानों का सुन्दर मेल दिखाई देता है। विश्व मे सम्भवत: महाभारत से बढ कर कोई कथाकोश नही मिलता। एक चौथाई महाभारत उपाख्यानों से भरपूर है।[1] रामायण मे भी विविध अवान्तर कथाओ का सुन्दर संयोग है। णायाधम्मकहा में अनेक दृष्टान्त परक रूपक कथाएँ मिलती हैं। इस में वर्णित कथाएँ उपदेशात्मक एवं ललित है। जातक कथाएँ लोककथाओ के मूल मे विकसित हुई जान पड़ती हैं। पृच्छा रचनाओ में कथा धार्मिक गाथाओं में लिपटी हुई मिलती है। किन्तु णिज्जुत्तियों में कथा और उपाख्यान दोनों हो प्राप्त होते है। व्याख्या भाग को पृथक् कर देने पर निर्युक्तियों और चूर्णियो मे सुन्दर आख्यान दिखाई देते हैं। जैन शास्त्रो एवं पुराणों मे लोकाख्यान तथा कथाओं का सुन्दर संकलन है, जिन मे व्रत, उपवास, धर्म और ज्ञान का माहात्म्य वर्णित है। डॉ० उपाध्ये ने सोलह कथाकोशो का परिचय दिया है जो धार्मिक कथाओ से भरपूर है।[2] जिनेश्वरसूरि का कथाकोषप्रकरण, राजशेखरसूरि का प्रबन्धकोश, मुनि सिंहसूरि का बृहदाराधना कथाकोश, हरिषेण कृत बृहत्कथाकोश, नेमिचन्द्र रचित कथामणिकोश, देवभद्रसूरि विरचित कथारत्नकोश, उत्तमर्षि कृत कथारत्नाकर, हेमविजयगणि रचित कथारत्नाकर, श्रुतसागर विरचित व्रतकथाकोश, आ० मल्लिषेण, धर्मचन्द, सकलकीर्ति आदि कृत व्रतकथाकोश, ब्रह्म नेमिदत्त, प्रभाचन्द्र, सिंहनन्दिन्, छत्रसेन, ब्रह्मदेव ब्रह्मचारी, रत्नकीर्ति आदि विरचित आराधनाकथाकोश[3] तथा संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और भाषा मे लिखित पुण्याश्रवकथाकोश आदि उपलब्ध होते हैं। इसी प्रकार अन्य भारतीय भाषाओं मे भी जैनकथाकोशों के लिखे जाने का उल्लेख मिलता है।

गुणाढ्य की पैशाची प्राकृत मे लिखित 'वड्डकहा' लौकिक आख्यानो का मनोहर संकलन है। जनरुचि के अनुसार जनभाषा मे लिखित यह कथाकोश भारतीय जीवन मे अत्यन्त प्रचलित रहा है। कथासरित्सागर उसी का संक्षिप्त संस्करण मात्र है। उस में कथातत्त्व को प्रवाहपूर्ण बनाने के लिए काव्यांश की संयोजना हुई है।[4] क्षेमेन्द्र कृत

---

१ चतुर्विंशतिसाहस्री चक्रे भारतसंहिताम्।
उपाख्यानैर्विना तावद् भारतं प्रोच्यते बुधैः ॥ —महाभारत, आदि पर्व, १, १२०।

२. डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये बृहत्कथाकोश की भूमिका।

३ हरि दामोदर वेलणकर जिनरत्नकोश, खण्ड प्रथम, १९४४, पृ० ३२।

४. यथामूलं तथैवैतन्न मनागप्यतिक्रमः।
ग्रन्थविस्तरसंक्षेपमात्रं भाषा च भिद्यते ॥
औचित्यान्वयरक्षा च यथाशक्ति विधीयते।
कथारसविघातेन काव्यांशस्य च योजना ॥ —कथासरित्सागर, १, १०-११।

'बृहत्कथामंजरी' और बुद्धस्वामी का 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' बृहत्कथा के ही अन्य संस्करण हैं।[1] इसी प्रकार जातकों तथा अवदानों के भी कई संग्रहों का पता लगता है। चीनी भाषा में भी उन के कई संस्करणों के लिखे जाने के उल्लेख मिलते हैं। इसी परम्परा मे आगे चल कर भोजप्रबन्ध, वैताल पंचविंशतिका, सिंहासन द्वात्रिंशतिका आदि रचनाएँ लिखी गयी। हिन्दी में इन को आधार मान कर शुकबहत्तरी, माधवानल-कामकन्दला, सुदामाचरित जैसी लोककथाएँ पिछली तीन-चार शताब्दियों में रची गयी। किन्तु संस्कृत मे पंचतन्त्र की शैली उन सब से भिन्न है। उस मे लोकज्ञान का सजीव वर्णन है। यद्यपि दशकुमारचरित की रचना प्रौढ़ है, पर उस मे तत्कालीन लोक-जीवन की पूरी झलक मिलती है। सम्भवतः बाणभट्ट और वसुबन्धु की कथाएँ भी इसी परम्परा की हैं। धनपाल की तिलकमंजरी भी बहुत कुछ इस लीक पर चलती हुई जान पड़ती है। इन कथाओ के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि कथा का मूल जन-जीवन मे सुरक्षित रहा है। किसी विशेष अभिप्राय, उद्देश्य या धार्मिक भावना से प्रेरित हो कर ही पौराणिक कथाएँ समय-समय पर जातीय भावनाओं के अनुसार लिखी जाती रही हैं। अधिकाश जैन कथाएँ आचार्यों, मुनियों या यतियों तथा भट्टारकों के द्वारा लिखी गयी हैं। जैन धर्म, साहित्य और संस्कृति की रक्षा मे भट्टारको का प्रमुख हाथ रहा है। वे कई भाषाओं के जानकार तथा अधिकारी विद्वान् होते थे। तन्त्र, मन्त्र और शास्त्रो की रचना मे उन का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। आज भी राजस्थान, सौराष्ट्र—गुजरात, बरार, उत्तर प्रदेश और दक्षिण आदि मे जो बड़े-बड़े भण्डार मिलते है वे सब यतियों तथा भट्टारको की देन है। जैन समाज मे यतियों तथा भट्टारकों की परम्परा प्राचीन मानी जाती है। उन के कई स्थानो का प्रामाणिक परिचय भी मिलता है।[2] इस प्रकार कथा की सृष्टि मूल रूप में जन-वार्त्ताओ से हुई प्रतीत होती है। जहाँ उन मे अति-मानवीय घटनाओ का संयोग हो गया है वहाँ से धार्मिक आख्यान बन कर पुराणो मे अथवा पौराणिक रचनाओं मे निरूढ़ हो गयी है। अतएव उन मे कथा का वह शुद्ध स्वरूप नही दिखाई देता जो लोककथाओ में मिलता है। वैदिक युग मे असुर तथा दानवों से सम्बन्धित कथाएँ जन-जीवन मे प्रचलित रही है[3] पर वेदो मे प्राप्त श्यावाश्व, पुरुरवा-उर्वशी, तथा संवाद सूक्तों मे प्रकृति की अलौकिक सत्ता ही मुख्य हैं; मनुष्य के भावनात्मक सौन्दर्य और प्रकृतिगत सौन्दर्य से उन का कोई विशेष सम्बन्ध नही है। ब्राह्मण ग्रन्थो मे प्रतीकात्मक देवकथाएँ (Myths) ही मुख्य रूप से मिलती हैं। यद्यपि उपनिषदो मे दृष्टान्त और संवाद शैली का जन्म बहुत पूर्व ही हो गया था पर उन का

१ वाचस्पति गैरोला संस्कृत साहित्य का इतिहास, प्रथम संस्करण, पृ० ६१६।

२ अनूपचन्द जैन न्यायतीर्थ : आमेर गादी के भट्टारकों की साहित्यिक एवं सांस्कृतिक सेवा; महावीर जयन्ती स्मारिका, अप्रैल ६२, पृ० १२७। विशेष जानकारी के लिए प्रो० वी० पी० जोहरापुरकर की पुस्तक 'भट्टारक सम्प्रदाय' (शोलापुर, १९५८) द्रष्टव्य है।

३. ई० वाशबर्न हापकिन्स : इपिक माइथालॉजी, प्रथम संस्करण, पृ० ५१।

पूर्ण विकास कथा-साहित्य मे देखा जाता है। प्राकृत के प्रबन्ध काव्यों में कथन की यह विशेष शैली रही है, जिस मे वार्तालाप एवं संवाद कथा के अग हैं। उस में कथाएँ गद्य और पद्य दोनो में ही लिखी हुई मिलती है। कथाकोषप्रकरण मे संग्रहीत कथाएँ प्राकृत गद्य में लिखी गयी हैं। प्रसंगतः कुछ संस्कृत और अपभ्रंश के भी पद्य आ गये है। देशी राग मे गायी जाने वाली अपभ्रंश चौपाई भी उस में संकलित है।[१] कथा-ग्रन्थों में से कुछ तो पुराणों की पद्धति पर रचे गये हैं और कुछ आख्यायिकाओं की शैली पर। उपलब्ध ग्रन्थों मे 'वसुदेव हिण्डी' सब से प्राचीन और सब से बड़ी कथा-रचना है।[२] इस मे विभिन्न संक्षिप्त कथाओं का सुन्दर संकलन है। इस के संग्राहक संघदास क्षमाश्रमण कहे जाते है। इस की रचना पुराण-पद्धति पर हुई है। श्री हरिभद्रसूरि का धूर्ताख्यान अत्यन्त ललित कथा-रचना है। जयसिंहसूरि कृत धर्मोपदेशमाला, महेन्द्रसूरि विरचित नर्मदासुन्दरी और सुमतिगणि रचित जिनदत्ताख्यान आदि प्राकृत की मनोहर कथाकृतियाँ है। महेश्वरसूरि कृत ज्ञानपंचमीकथा प्राकृत की प्रसिद्ध कथाओ का काव्यात्मक संकलन है। आलंकारिक शैली में लिखी गयी कथाएँ भी देखी जाती है, पर अधिकतर लोकाख्यान मूलक पद्धति पर उन की रचना हुई है। प्राकृत और अपभ्रंश के कथाकाव्य अधिकतर शास्त्रीय मार्ग से हट कर लोकाख्यानक शैली पर रचे गये हैं। कुछ प्राकृत कथाकाव्य इस प्रकार हैं—तरंगवई (पादलिप्तसूरि), समराइच्च कहा (हरिभद्र सूरि), भुवनसुन्दरी (विजयसिंह सूरि) तथा निर्वाण लीलावती (जिनेश्वरसूरि) आदि। प्राकृत में प्रेमाख्यानक काव्यों की लम्बी परम्परा दिखाई देती है, जिस में शृंगार की साभिराम योजना हुई है। उन मे से कुछ के नाम हैं—रयणसेहरकहा (जिनहर्षगणि), तरंगवई (पादलिप्तसूरि), लीलावई (कोऊहल), सुरसुन्दरीचरिउ (धनेसरसूरि), भुवनसुन्दरीचरिउ (विजयसिंह), लीलावई (भूषणभट्टतनय), कथासुरसुन्दरी[3] और मलयसुन्दरी कथा आदि। प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश की भाँति गुजराती तथा दक्षिण की भाषाओ मे भी लिखित प्रेमाख्यानक कथाकाव्य प्राप्त होते हैं। जान पड़ता है कि आभीरों के प्रबुद्ध होने पर छठी-सातवी शताब्दी के लगभग कथा-रचना मे गीत और शृंगार-भावना का समावेश हो चला था। प्रायः कथाकाव्य लोकाख्यान को ले कर लिखे जाते थे। तमिल में सातवी शताब्दी मे शास्त्रीयता से हट कर लोककथाएँ लिखी जाने लगी थी। हिन्दी में तो प्रेमाख्यानक काव्यों की रचना लोक कथाओ को ले कर ही हुई है। उन के अतिरिक्त तोता-मैना, वैतालपचीसी, सिंहासन-बत्तीसी, सुवाबत्तीसी तथा ढोलामारू आदि मौलिक कथाएँ भी भारतीय जनता मे शताब्दियों से प्रचलित रही हैं। लोककथाओ मे पशु-पक्षी, पेड़-पौधे, जड़-चेतन सभी कथा के विषय मिलते हैं।

---

१ मुनि जिनविजय : जिनेश्वरसूरि कृत कथाकोषप्रकरण की भूमिका, पृ० ७४।
२. वही, पृ० ६७।
३. वेलणकर : जिनरत्नकोश, प्रथम खण्ड, पृ० ८५।

कथा और आख्यायिका

प्राकृत में कथा के लिए 'कत्थ' तथा आख्यायिका के लिए 'आइक्खिया' शब्द मिलते हैं। ठाणांगसुत्त में स्पष्ट रूप से कथा काव्य का एक भेद कही गयी है।[1] आख्यायिका का अर्थ अंग ग्रन्थों में 'वार्ता' या 'विवरण' प्राप्त होता है।[2] यद्यपि आरण्यक ग्रन्थों और यास्क के निरुक्त में भी कथा शब्द देखा जाता है, पर वहाँ वह 'कथं' (क्यों, कैसे) का वाचक है।[3] इसी प्रकार 'आख्यान' शब्द कथन अर्थ में प्रयुक्त है। प्रतीत होता है कि पुराण-युग के पूर्व साहित्य में कथा का स्थान महत्त्वपूर्ण नहीं समझा जाता था। जब से प्रबन्ध काव्यों में रसाभिनिवेश के लिए कथा की संयोजना हुई, संभवतः तभी से कथा का महत्त्व एवं गौरव प्रतिष्ठित हुआ। प्रबन्ध काव्य के रूप में आदि ग्रन्थ वाल्मीकीय रामायण का उल्लेख मिलता है पर उस के पूर्व भी कथाकाव्य लिखे जाते थे। रामायण में कथा कहने की प्राचीन परम्परा का संकेत मिलता है।[4] 'वार्त्ता' शब्द कथा से समीचीन जान पड़ता है। कालान्तर में वार्त्ता, विवरण, कथा आदि शब्दों का प्रयोग समान अर्थ में किया जाने लगा। महाकवि कालिदास ने 'वार्त्ता' अर्थ में इस का प्रयोग किया है।[5] किन्तु श्रीमद्भागवत में 'वार्त्ता' और 'कथा' शब्द समान अर्थ में प्रयुक्त हैं।[6] आचार्य चाणक्य के समय (ई० पू० चौथी शताब्दी) तक कथा शब्द सामान्य अर्थ में प्रयुक्त होता था। आख्यान और कथा से अभिप्राय तब 'कथन' प्रचलित था।[7] आ० भामह ने आख्यायिका और कथा दोनों का ही प्रयोजन 'अभिनय' माना है।[8] किन्तु रामायण में स्पष्टतः दोनों समान अर्थ के वाचक हैं।[9] वस्तुतः इस विषय में लक्षणग्रन्थकारों में विभिन्न मत है। सामान्यतः कथा का अर्थ

---

१ चउव्विहे कव्वे गज्जे, पज्जे, कत्थे, गेये।—स्थानांगसूत्र, ४, ४, ४३।

२ अट्ठाइहेऊति पसिणाई कारणाइ वाकरणाई आइक्खंति।—ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र, १,१,१३४।

३ यथा तु कथा च ब्रुवन्वा ब्रुवन्तं वा।
ब्रुयादभ्याशमेत्र यत्तथा स्यात्, इति॥—ऐतरेयारण्यकम्, ३, १, ३।

४ सनत्कुमारो भगवान् पुरा कथितवान्कथाम्।
भविष्यं विदुषां मध्ये तव पुत्र समुद्भवम्॥—रामायण, १, ८, ६।

५. अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिषु।—रघुवंश, ८, ४३।

६ यत्र भागवती वार्त्ता तत्र भक्त्यादिकं व्रजेत्।
कथाशब्दं समाकर्ण्य तात्त्विकं तरुणायते॥—श्रीमद्भागवत, ३, ६।
दुर्लभैव कथा लोके श्रीमद्भागवतोद्भवा।
कोटिजन्मसमुत्थेन पुण्येनैव तु लभ्यते॥—वही, ३, ४४।

७. कथानुरूपं प्रतिवचन।—चाणक्यसूत्र, ३२८।
कथितं षष्ठ्युपाख्यानं ब्रह्मपुत्र यथागमम्।
देवी मङ्गलचण्डी या तदाख्यान निशामयम्।—ब्रह्मवैवर्तपुराण, अध्याय ४१, प्रकृति खण्ड।

८ सर्गबन्धोऽभिनेयार्थं तथैवाख्यायिकाकथे।—काव्यालंकार, १, १८।

९ एतदाख्यानमायुष्यं पठन् रामायणं नरः।
सपुत्रपौत्रः सगणः प्रेत्य स्वर्गे महीयते॥—वाल्मीकिरामायण, बालकाण्ड, १, ९९।

वार्त्ता तथा दृश्य और श्रव्य काव्य में वह काव्य की मूल निबन्धिनी समझी जाती रही है।[१]

'आख्यान' शब्द का सामान्य अर्थ 'वृत्त' या 'विवरण' कहा जाता है। किन्तु कथा की भाँति इस का सम्बन्ध इतिहास पुराण से होता है।[२] आ० विश्वनाथ ने पूर्व वृत्त (इतिहास) को 'आख्यान' कहा है।[३] वृत्त का अर्थ कथा भी है।[४] काव्यों की रचना विभिन्न आख्यानों में हुई है। यद्यपि आख्यायिकाओं का विकास आख्यान से कहा जा सकता है, पर साहित्यिक विधा में उन में अन्तर है। लोक मे वार्त्ता, जनश्रुति और आख्यायिका का अर्थ समान रूप मे प्रचलित रहा है। किसी समय आख्यान, आख्यायिका और कथा तीनो शब्दो का अर्थ एक था, पर आज उन में बहुत अन्तर है। अब 'आख्यान' का अर्थ पुराण-कथा तथा 'आख्यायिका' का लघुकथा एव यथार्थ जीवन-वृत्त है। जीवन-वृत्त पहले भी 'आख्यायिका' के अन्तर्गत आते थे। छोटे-छोटे ऐतिहासिक वृत्त तथा जीवन-वृत्त भी आख्यायिका कहे जाते थे। बाण का 'हर्षचरित' प्रसिद्ध आख्यायिका रचना है, पर कादम्बरी कथा है। परन्तु कथा का प्रयोग अब सीमित नही है। उपन्यास, नाटक, कहानी, रूपक, नीति-दन्त-लोकवार्त्ताओ आदि मे कथा प्रधान है और साधारणत: वही उन सब मे मुख्य है। आधुनिक युग मे 'परीक्षागुरु' से ले कर 'परती : परिकथा' तक विभिन्न रूपों मे कथा-साहित्य की चर्चा की जाती रही है। शैली की दृष्टि से जो सूक्ष्म भेद उन मे पहले था वह आज भी है; परन्तु वस्तु और विषय के भेद से युगान्तरकारी परिवर्तन मुख्यतः दिखाई देता है। संभव है कि अभी और परिवर्तन हो और आंचलिक कथाओं से आगे लोकभाषाओं मे वास्तविक लोक-कथाओं की रचना हो तथा नये-नये नाम-रूपो का प्रत्याख्यान हो।

अपभ्रंश में कथा को 'कहा' कहते हैं। प्राकृत की भाँति अपभ्रंश में भी कथाओं के तीन प्रकार (Type) दृष्टिगोचर होते हैं। कुछ कथाएँ प्रबन्ध है, जिन मे महाकाव्य के गुण मिलते है और कुछ चरित्र प्रधान है जो प्रबन्धकाव्य की शैली मे लिखी गयी है तथा कुछ धार्मिक विवरण मात्र है। अतएव स्वयम्भू को रामायण चरितकाव्य होने पर भी कवि ने उसे रामकथा कहा है।[५] इस से यह भी सूचित होता है कि अपभ्रंश के कवि चरित और कथा मे अन्तर नही मानते थे। हस्तलिखित प्रतियों में भी 'भविष्य-

१ यक्षकन्यास्तथा नाग्य पिशाच्य सुरयोषित।
वशमायान्ति सुभगे नरनारीपु का कथा॥—तन्त्रालोक, तृतीय आह्निक।
रसबन्धोक्तमौचित्यं भाति सर्वत्र संश्रिता।
रचनाविषयापेक्ष तत्तु किंचिद्विभेदवत्॥—ध्वन्यालोक, ३, ६।

२ आख्यानानीतिहासांश्च पुराणानि खिलानि च।—मनुस्मृति, ३, २३२।

३ आख्यान पूर्ववृत्तोक्ति।—साहित्यदर्पण, ६. २११।

४ नाटक ख्यातवृत्तं स्यात पञ्चसन्धिसमन्वितम्।—वही, ६, ७।

५ तिहुअणलग्गणखम्भु गुरु परमेट्ठिणवेप्पिणु।
पुणु आरम्भिय रामकह आरिसु जोएप्पिणु॥—पउमचरिउ, १, १।

दत्तकथा' का नाम भविष्यदत्त चरित्र लिखा मिलता है। किन्तु वस्तु और रचना-भेद से उन मे अन्तर मानना समीचीन है। डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन पुराण काव्य और चरित काव्य नाम से दो ही भेद मानते हैं।[1] उन का कथन है कि अपभ्रंश लेखक चरित और कथाकाव्य मे कोई भेद नही करते। लेकिन यदि हम अपभ्रंश के कवियो के द्वारा अपने सम्बन्ध मे कहे हुए विचारों को लक्षण मान कर चलें तो कई विरोध उपस्थित होते हैं। जैन पौराणिक साहित्य में सप्तव्यसनवर्जन कथा ख्यात आख्यानक हैं। अपभ्रंश मे पं० माणिकचन्द्र विरचित 'सत्तवसणवज्जणकहा' अकेली रचना उपलब्ध हुई है। ग्रन्थ के प्रारम्भ मे ही कवि ने उसे 'चरिउ' और 'कहा' लिखा है, परन्तु शेष सभी स्थलों पर उसे कथा कहा है।[2] इस से स्पष्ट है कि वे इस प्रकार का कोई भेद नहीं मानते थे और न भेदमूलक विधा ही उन के सामने थी, पर आकार, रचना-बन्ध, सन्धि-निबन्ध, रीति आदि मे कई रचनाएँ एक-दूसरे से भिन्न हैं। छोटी-छोटी कथाएँ नितान्त विवरणात्मक तथा पौराणिक हैं; जब कि बडी कथाएँ काव्यतत्त्वों से तथा अभि-प्रायों से भरपूर है। फिर, जीवन के समूचे चरित्र का कीर्तन करना कथाओं का उद्देश्य नही है। वे किसी एक या विभिन्न घटनाओं से चमत्कृत हैं जो जनता पर प्रभाव डाल सकती है। यदि हम केवल कथा-काव्य को ही मानें तो महापुरुषों के जीवन-चरित्र का वर्णन करने वाली रचनाओं को भी कोई नाम देना होगा। क्योंकि अपभ्रंश कथाकाव्य की यह विशेषता है कि समाज का कोई भी व्यक्ति रचना का नायक हो सकता है। नायक बनने के लिए महापुरुष होने का नियम कथाकाव्य के लिए आवश्यक नहीं था। इसलिए कई लोककथाएँ इस साहित्य में प्रतिष्ठित दिखाई देती हैं।

आ० विश्वनाथ ने आख्यायिका को कथा की भाँति माना है। उस में कवि-वंश आदि का विवरण (स्वयं का तथा अन्य का) गद्य मे कहा जाता है। वह आश्वासों में निबद्ध होती है।[3] रुद्रट के मत मे कथा की भाँति आख्यायिका भी गद्य में लिखी जाती है। अन्तर इतना ही है कि आख्यायिका मे कवि का वंशवृत्त एवं आत्मचरित पद्य में नही होता।[4] रुद्रट के विचारो को स्पष्ट करते हुए अधिकारी विद्वान् नमिसाधु ने लिखा है कि संस्कृत मे कथा गद्य मे तथा प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं में अधिकतर पद्य मे

१ डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन : अपभ्रंश साहित्य, होलकर कॉलेज मेगजीन, १९५७–५८, पृ० १११।

२. मखेत्तें अक्खिमि जिह हउं लक्खमि मत्तवसणवज्जणचरिउ।—सप्तव्यसनवर्जन कथा, १, १।
कहि सत्तवसनवज्जणकहाणु।—वही, १. १।
इय मत्तवसणवज्जणकहाए।—वही, गद्य।

3 आख्यायिका कथावत् स्यात् कवेर्वंशादिकीर्तनम्।
अस्यामन्यकवीनां च वृत्तं पद्यं क्वचित् क्वचित्॥
कथांशानां व्यवच्छेद आश्वास इति बध्यते।
आर्यावक्त्रापवक्त्राणां छन्दसा येन केनचित्॥ —साहित्यदर्पण, ६, ३३५ ३३६।

४. अथ तेन कथैव यथा रचनीयाख्यायिकापि गद्येन।
निजवंशं स्वं चास्यामभिदध्यान्न स्वगद्येन। —काव्यालंकार, १६,२६।

लिखी जानी चाहिए।[1] आचार्य हेमचन्द्र ने भी आख्यायिका को गद्ययुक्त माना है। वस्तुतः कथा का मूल अन्तर छन्द, कथावस्तु तथा शैली पर निर्भर है। कथा में कथा-वस्तु कल्पित, अधिकतर आश्वासादि रहित गद्य में लिखित (हेमचन्द्र के अनुसार पद्य में भी) तथा पद्यों में लिखित कविवशवृत्त से युक्त होती है। किन्तु आख्यायिका में वस्तु ऐतिहासिक, आश्वास आदि मे विभक्त तथा गद्य मे लिखित कविवृत्त से युक्त होती है।[*]

कथा का स्वरूप

कथा प्रबन्ध की मूल वस्तु है। उस मे वस्तु-विवरण मुख्य होता है, किन्तु घटनाओं का विस्तार भी महत्त्वपूर्ण नही होता। कथा को गतिशील बनाये रखने के लिए काव्य में घटनाओं को योजना तथा अवान्तर कथाएँ भी सम्बद्ध देखी जाती है। इसी लिए सम्भवतः आलंकारिकों ने कथा को अलग से काव्य का भेद नही माना। किन्तु इस देश की लगभग सभी भाषाओ मे पौराणिक और आधुनिक कथा-साहित्य वर्तमान है। आ० भामह ने कथा को इतिहासाश्रय कहा है।[2] इस से यह भी संकेत मिलता है कि पुरावृत्त तथा आख्यान जन-जीवन मे शताब्दियो से प्रचलित रहे हैं। यद्यपि संरचना में तथा रूपो मे आश्चर्यजनक परिवर्तन होता रहा है, पर कथा अत्यन्त प्राचीन काल से कही जाती रही है और बाद मे भी लिखी जाती रही है और लिखी जाती रहेगी—भले ही प्रकारगत रूपो मे भेद बना रहे। क्योंकि वह ऐसी वार्त्ता होती है जिसे कहे बिना मनुष्य अपनी भावनाओ में बँध कर रह नही सकता।

गद्य प्रबन्ध के दो भेद कहे गये है—आख्यायिका और कथा। दण्डी के अनुसार कथा और आख्यायिका में मौलिक भेद नही है।[3] हेमचन्द्र ने कथा और आख्यायिका का भेद नायक के आधार पर किया है। कथा का नायक धीर शान्त और आख्यायिका का ख्यात होता है। कथा सभी भाषाओं मे तथा गद्य-पद्य मे कही जाती है, पर आख्यायिका केवल संस्कृत मे तथा गद्य मे[4]। कथा मे उच्छ्वासो का विभाग तथा वक्त्र, अपरवक्त्र मे निबद्ध होने का संस्कृत में नियम नही है।[5] किन्तु प्राकृत, अपभ्रंश मे प्राय कथाएँ सन्धि, परिच्छेद तथा आश्वासो मे निबद्ध मिलती है। अधिकतर कथाएँ पद्यबद्ध हैं, पर संस्कृत मे गद्य मे ही लिखी गयी है। आ० आनन्दवर्द्धन के कथन से और भी स्पष्ट हो

१ इत्येव मस्कतेन कथा कुर्यात्। अन्येन प्राकृतादिभाषान्तरेण स्वगद्येन गाथाभिः प्रभूतं कुर्यात्।
—नमिसाधु ' काव्यालंकार की टीका, १६, २३।

२ शब्दश्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रया कथा।
लोको युक्ति' कलाश्चेति मन्तव्या काव्यगैर्ह्यमी॥ —काव्यालंकार १, ९।

३ तत् कथाख्यायिकेत्येका जाति संज्ञाद्वयांकिता।—काव्यादर्श, १, २८।

४ नायकख्यातस्ववृत्ता भाव्यर्थशंसिवक्त्रादि सोच्छ्वासा संस्कृता गद्ययुक्ताख्यायिका। यथा—हर्षचरितादि। धीरशान्तनायका गद्येन पद्येन वा सर्वभाषा कथा। गद्यमयी-कादम्बरी, पद्यमयी-लीलावती।—काव्यानुशासन, अध्याय ८।

५. आख्यायिकोच्छ्वासादिना वक्त्रापरवक्त्रादिना च युक्ता। कथा तद्विरहिता।
—अभिनवगुप्त ' ध्वन्यालोकलोचन, ३,७

जाता है कि कथा में विकट बन्ध की प्रचुरता होने पर भी गद्य का रस से समन्वित तथा औचित्य पूर्ण होना आवश्यक है।[1] इस प्रकार आ० आनन्दवर्द्धन काव्य के सम्बन्ध में रसान्विति की जिस मान्यता को आवश्यक बताते हैं, कथा के सम्बन्ध में भी उसी को दुहराते हैं।

प्रबन्ध और कथाकाव्य

वस्तु रूप मे प्रबन्ध और कथाकाव्य मे कोई अन्तर नही है। यदि कोई भेदक रेखा खीचनी ही पड़े तो वह शैली भेद के अनुसार निर्धारित होगी। संरचना मे भी कही-कही भेद देखा जाता है पर वह बहुत ही सूक्ष्म है और सभी रचनाओं में नही मिलता। अतएव यह नि सन्देह रूप से कहा जा सकता है कि अपभ्रंश के प्रबन्ध और कथाकाव्य मे कोई अन्तर नही है। डॉ० भायाणी तो स्वरूप की दृष्टि से पौराणिक और चरितकाव्य में बहुत अन्तर नही मानते। रचना-प्रकार दोनों मे समान होता है। दोनो ही सन्धिबद्ध होते है। चरितकाव्य में विषय सीमित और सन्धियो की संख्या कम रहती है, पर पौराणिक काव्य मे विषय विस्तृत तथा सन्धियों की संख्या पचास से सवा सौ तक होती है।[2] किन्तु दोनो मे अन्तर सन्धियो का नही है, विषय और शैली का है। उदाहरण के लिए—यश.कीर्ति का पाण्डवपुराण चौतीस सन्धियो की, हरिवंशपुराण तेरह सन्धियो की तथा श्रुतकीर्तिकृत हरिवशपुराण चवालीस सन्धियों की और बुध विजयसिंह रचित 'अजितपुराण' दस सन्धियो की रचना है। डा० शम्भुनाथ सिंह अपभ्रंश के काव्यो को दो प्रकार की शैलियों मे लिखे हुए मानते है।[3] वस्तुत शैलीभेद स्पष्ट देखा जा सकता है और इसी लिए 'पउमचरिउ', 'हरिवंशपुराण' और 'महापुराण' जिस शैली मे और बन्ध-रचना मे निबद्ध है वह हमे 'णायकुमारचरिउ' में नही दिखाई देती तथा उन से भिन्न 'भविसयत्तकहा' और 'सिद्धचक्ककहा' मे दृष्टिगोचर होती है।

कथाकाव्य का स्वरूप

यद्यपि अपभ्रंश मे कथा और चरित काव्यो की प्रचुरता है, पर साहित्य के अन्य अंगों पर लिखी जाने वाली रचनाओ का सकेत उन मे मिलता है। अन्तर दरशाने के लिए हम चरित और कथाकाव्य में वस्तु-विवरण, आकार तथा शैली-भेद मान सकते है। चरितकाव्य पुरुष विशेष या त्रेसठशलाकापुरुषो के जीवनचरित से सम्बद्ध होते है और कथाकाव्य जन सामान्य के जीवन से। महापुराणों में स्पष्ट ही त्रेसठशलाका-पुरुषो के समूचे जीवन के साथ ही उन के पूर्व भवो, प्रासंगिक विभिन्न घटनाओं, अवान्तर कथाओ तथा जीवन से सम्बद्ध सभी कार्य-व्यापारों का विवरण अतिशयता के

१. कथाया तु विकटबन्धप्राचुर्येऽपि गद्यस्य रसबन्धोक्तमौचित्यमनुसर्तव्यम्।—ध्वन्यालोक, ३.८।
२. डॉ० हरिवल्लभ भायाणी 'पउमसिरीचरिउ की भूमिका, पृ० १५।
३. डॉ० शम्भुनाथ सिंह . हिन्दी महाकाव्यका स्वरूप-विकास, प्रथम संस्करण, पृ० १७३।

साथ वर्णित मिलता है। किन्तु चरित काव्यों मे उद्देश्य विशेष से नियोजित पौराणिक कथावस्तु पौराणिक या लोकशैली में वर्णित होती है। पुराण-काव्यों में साहित्यिक सौष्ठव के दर्शन और सैद्धान्तिक विचारों का समन्वय भी मिलता है। प्राकृत से ही कथाकाव्य प्रबन्ध के रूप में मिलने लगते हैं। अपभ्रंश के कथाकाव्यों में सन्धिनिर्वाह तथा काव्य रूढ़ियों का पूर्ण औचित्य दिखाई देता है। उपलब्ध सभी कथाकाव्य सन्धियों में विभक्त है। उन में एक से अधिक रसों का परिपाक है। कथा के विकास में नाटक में प्राप्त होने वाले तत्त्वो की पूर्ण संयोजना देखी जाती है। घटनाओं मे भी कार्यकारण योजना समान रूप से व्याप्त है। उन में धार्मिक प्रभाव वातावरण तथा कथानक से लिपटा रहता है। जिन कथाकाव्यो की वस्तु लोक-जीवन से गृहीत है उन में विस्मय-कारी घटनाओं का योग भी मिलता है।

कथाकाव्य प्रबन्ध का ही काव्यात्मक भेद है, जिस मे शास्त्रीयता से हट कर काव्य रूप का विकास देखा जा सकता है। उस मे लक्षणग्रन्थकारों द्वारा प्रतिपादित कुछ बातों को छोड़ कर सभी गुणों का पूर्ण समावेश प्राप्त होता है। शैली तथा वर्णन की प्रवृत्ति और शिल्प-संरचना मे अन्तर अवश्य है। डॉ० शम्भुनाथ सिंह के मत मे कथा-काव्यो की भाँति प्रबन्धकाव्य मे लोकतत्त्वो और कथानक रूढियो की अधिकता नही होती है, जिस से उस में कथाकाव्यो की तरह की एकरूपता और एकरसता नही होती[१]। इस प्रकार सामान्य रूप से अपभ्रंश मे प्रबन्ध और कथाकाव्य मे कोई भेद नही होता। क्योंकि प्रबन्ध की भाँति, प्रकृति का जीवन का अंग बन जाना, साहित्यिक रूढियो का पालन, अलंकारो का भावो के पीछे चलना, नाटकीय सन्धियों से समन्वित होना, सन्धिबद्ध होना, सन्धि के अन्त मे छन्द मे परिवर्तन हो जाना, कथा का विकास मनोवैज्ञानिकता के साथ होना तथा ग्राम नगर, प्रकृति आदि का वर्णन आदि विशेषताएँ कथाकाव्य मे भी दिखाई देती है। फिर, डॉ० शम्भुनाथ सिंह ने परम्परागत परिभाषा के अनुसार अपभ्रंश के पुराण, चरित और कथाकाव्य भेदों को निराधार बताया है, पर प्रबन्ध काव्य मानते है[२]। किन्तु डॉ० नामवरसिंह कल्पित अथवा लोक-कथा के आधार पर लिखे गये आख्यान-काव्य को कथाकाव्य कहते है[३]। वास्तव मे अपभ्रंश मे लिखे गये कथाकाव्य चरितकाव्यो से भिन्न हैं, जिन का स्पष्ट अन्तर 'कथाकाव्यानुशीलन' के प्रसंग मे विवेचित है।

कथाकाव्य और चरितकाव्य में अन्तर

कई बातो में अपभ्रंश के कथाकाव्य और चरितकाव्य में स्पष्ट अन्तर दृष्टिगोचर होता है। वस्तु की दृष्टि से कथाकाव्य मे लोकवार्ताएँ काव्य रूप में निबद्ध हैं, जिन्हे

१ हिन्दी साहित्यकोश, पृ० ४७८।

२. डॉ० शम्भुनाथ सिंह : हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास, प्रथम संस्करण, पृ० १७४-७५।

३. डॉ० नामवर सिंह : हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, तृतीय परिवर्द्धित संस्करण, पृ० २१२।

कवि की कल्पना ने जातीय अभिप्रायों तथा कथानक रूढ़ियों में गूँथ दिया है। किन्तु चरितकाव्य को कथावस्तु पुराणो से उद्धृत एवं ऐतिहासिक अनुश्रुतियों से सम्बद्ध देखी जाती है। सामान्यतः कथा या कथाकाव्य की वस्तु कल्पित अथवा कल्पनाओं से अनुरंजित होती है। संस्कृत भाषा में लिखित कादम्बरी ऐसी ही रचना है। अपभ्रंश के कथाकाव्यो की कथाएँ इस देश के विभिन्न-प्रदेशों में प्रचलित लोक-कहानियो के रूप में आज भी जनश्रुतियों से सुनने को मिल सकती हैं। जिन्हे सुन कर यह निश्चय हो जाता है कि कथाकाव्य के रूप में प्रयुक्त कथाएँ जन-मानस को लोककथाएँ हैं, जो उद्देश्य विशेष से काव्य में नियोजित हुई हैं। और इसी लिए कथा एक उद्देश्य या ध्येय ले कर कही जाती है और जहाँ उस की पूर्णता होती है, वही काव्य की समाप्ति हो जाती है। किन्तु चरितकाव्यों में यह बात नही मिलती।

चरितकाव्य मे नायक के समूचे जोवन को विभिन्न घटनाओं तथा संघर्षों का वर्णन होता है। इस लिए आ० आनन्दवर्द्धन ने इसे सकलकथा कहा है और आ० हेमचन्द्र सकलकथा को ही चरितकाव्य कहते हैं।[1] हरिभद्रसूरि का 'णेमिणाहचरिउ' (नेमिनाथचरित) चरितकाव्य है। किन्तु उस के अन्तर्गत सनत्कुमार की कथा 'कथा' है, जिसे खण्डकथा कहा जा सकता है।[2] वस्तुत. हेमचन्द्र की परिभाषा के अनुसार अपभ्रंश के कथाकाव्य वस्तु रूप में बृहत्कथाएँ हैं जो चरितकाव्य जैसे जान पड़ते हैं।[3] अतएव किसी रचना के पीछे 'चरित' शब्द जुड़ा होने से हम उसे चरितकाव्य नही मान सकते। क्योकि स्वयम्भू कृत 'रिट्ठणेमिचरिउ' निश्चय ही चरितकाव्य न हो कर महाकाव्य है। सस्कृत मे भी 'दशकुमारचरित' प्रसिद्ध कथाकाव्य है जो गद्यकाव्य का उत्तम निदर्शन माना जाता है। इसी प्रकार किसी काव्य के पीछे 'कहा' या 'कथा' शब्द जुडा होने से वह कथाकाव्य ही नही हो सकता। उस का पूरा विचार किये बिना कुछ नही कहा जा सकता। उदाहरण के लिए, नरसेन रचित तथा जयमित्रहल विरचित 'वर्द्धमानकथा' कथाकाव्य न हो कर चरितकाव्य है। वस्तुतः काव्य के नाम के पोछे कथा, चरित, विलास, रास, काव्य और विजय आदि शब्द जोड़ देने से वह रचना उस अभिधा की वाचक नही हो सकती। यद्यपि कुछ नामो की सार्थकता भी मिलती है, पर उत्तरवर्ती मध्ययुगीन साहित्य में कई रचनाओ के पीछे उक्त नाम जोड़ देने की रूढ़ि ही प्रचलित हो गयी थी। इस लिए उन मे से वस्तुपरक रचना का निर्णय करना कठिन-सा प्रतीत होता है। संस्कृत के अधिकांश चरितकाव्य ऐतिहासिक व्यक्ति को ले कर लिखे गये हैं। किन्तु कथाकाव्य की वस्तु लोकप्रचलित या उत्पाद्य होती है।

१. सकलकथेति चरितमित्यर्थ । —काव्यानुशासन, ८,८ की वृत्ति।
२. ग्रन्थान्तरप्रसिद्धं यस्यामितिवृत्तमुच्यते विबुधै.।
मध्यादुपान्ततो वा सा खण्डकथा यथेन्दुमती ॥ वही।
३. लम्भाङ्किताद्भुतार्था पिशाचभाषामयी महाविषया।
नरवाहनदत्तादेश्चरितमिव बृहत्कथा भवति ॥ वही।

उत्पाद्य वस्तु हमें तीन रूपों मे मिलती है – कवि-कल्पना प्रसूत, लोकजीवन में प्रचलित तथा जनश्रुतियो से अथवा पुराणो से गृहीत लोककथा। अतएव वस्तु के भेद से कथा-काव्य और चरितकाव्य मे स्पष्ट अन्तर है।

यथार्थ मे चरित लोक मे देखा जाता है, काव्य में तो कथा ही उस की चेतना होती है। कथा तथा कथा काव्य मे कहानी के तत्त्वों का समावेश रहता है। इस लिए उन में आदि से अन्त तक जिज्ञासा, कुतूहल, गतिशीलता, संयोग, दैवी संयोग, संघर्ष तथा जीवन का कोई तथ्य कथा में परिव्याप्त रहता है। परन्तु चरितकाव्य में कथा रुक-रुक कर चलती है। उस मे नायक के चरित्र का ही विस्तार से कीर्तन होता है। और नायक का फल ही काव्य-रचना का फलागम माना जाता है। अतएव कार्यावस्थाओं के भेद से भी इन दोनो मे अन्तर दरशाया जा सकता है।

काव्य में कार्य की मुख्य पाँच अवस्थाएँ मानी गयी हैं। इन का सम्बन्ध अर्थ-प्रकृतियो से रहता है। अर्थप्रकृति प्रयोजन की सिद्धि के लिए हेतु रूप है। कथा मे अवस्था और अर्थप्रकृति को जोडने वाली सन्धि होती है। गर्भ सन्धि से ही इष्ट प्राप्ति का बीज रूप जाता है। यह बीज प्राप्त्याशा और पताका की मिलन की स्थिति मे स्फुट होता है। किन्तु आ० धनंजय के अनुसार पताका का होना आवश्यक नही है। बिना पताका के भी प्राप्ति सम्भव है।[1] अतएव कथा मे पताका अनिवार्य रूप से नही मिलती। इसी प्रकार पंच सन्धियो का भी पूर्ण समावेश कथा काव्य में दृष्टिगोचर नही होता। किन्तु चरित काव्य मे मिलता है। आ० भरत मुनि ने—सहेतुक पंचसन्धियों से हीन रचना भी विहित मानी है।[2] वस्तुत पताका और प्रकरी तथा विमर्श सन्धि आदि का पूर्ण निर्वाह कथाकाव्य मे लक्षित नही होता। यदि हम पाश्चात्य समीक्षकों के अनुसार कथानक को अवस्था का विचार करें तो हमें कथा मे एक के बाद एक घटनाओं का उठना, उतार-चढाव, चरम परिणति, निगति तथा शमन आदि छहों अवस्थाएँ दृष्टि-गोचर होती है। लेकिन चरितकाव्य मे कथा के इन तत्त्वो का निर्वाह नही मिलता।

अपभ्रंश के आलोच्यमान कथाकाव्यों मे कथा की सब से बड़ी जो विशेषता दिखाई देती है वह यह कि नायक, प्रतिनायक या अन्य कोई पात्र कथा को संक्षेप मे दुहराते है। उदाहरण के लिए, भविष्यदत्त भविष्यानुरूपा को घर से चल कर वहाँ तक पहुँचने तथा भाई के छल-कपट की घटनाओं को सुनाता है। और जब घर वापस लौट

---

१ गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहु।
द्वादशाङ्ग पताका स्यान्न वा स्यात्प्राप्तिसंभव॥ —दशरूपक, १, ३६।

२. पूर्णसन्धि तु तत्कार्यं हीनसन्ध्यपि वा पुन।
नियमात्पञ्चसन्धि स्याद्द हीनसन्ध्यथ कारणात॥ —नाट्यशास्त्र, १६, १८।
रूपकगत चरित-रचना की पृथक् अभिधा ही 'प्रकरण' है। यथा—
विप्रवणिक्सचिवाना पुरोहितामात्यसार्थवाहानाम्।
चरित यत्रैकविध ज्ञेय तत्प्रकरणं नाम॥ —वही, १८, ६६।

कर पहुँचता है तब मामा को वापस आने तक की समस्त घटनाओं को कह सुनाता है। इसी प्रकार राजा के यहाँ राजसभा में फिर से सभी घटनाएँ दुहरायी जाती है। चरित-काव्य में कथा का यह गुण नहीं मिलता। कई विद्वान् कथानक के दुहराने को कवि की असमर्थता कह कर दोषोद्भावना कर सकते हैं। क्योंकि संस्कृत के वाल्मीकि रामायण, रघुवंश आदि महाकाव्यों में कवि अपनी कुशलता से कथा को दुहरा नही सके हैं। यह सच है कि महाकाव्य में कथा को आवृत्ति दोषमूलक ही है। किन्तु कथा में वस्तु-विवरण के साथ ही स्थान-स्थान पर पात्रो के मुख से पूर्व घटनाओ का आकलन तथा वर्णन करना ही पडता है। प्रसंगतः उस में कई कथासूत्रों की भी योजना होती है। यदि कवि ऐसा न करे तो कथा कथा न रह कर घटना मात्र रह जायेगी। अतएव संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तथा अन्य भारतीय भाषाओ की कथाओं में यह गुण विशेष रूप से देखा जाता है। उदाहरण के लिए, जिनदत्त जब राजा की कन्या से विवाह करने के लिए तैयार हो जाता है तब राजा उस का परिचय चाहता है। अब उस का परिचय, वहाँ आने का कारण चाहे जिनदत्त स्वयं बताये अथवा राजा से और कोई कहे, कहना तो पडेगा ही। इसी प्रकार जब उस की पत्नी सास-ससुर के सम्बन्ध में, ससुराल के सम्बन्ध मे जानकारी चाहे तब जिनदत्त को बताना ही पडेगा। अतएव कथा का यह दोष न हो कर गुण ही है। इसी प्रकार घर लौटने पर स्वजनों, माता-पिता से भी बाहर जाने-आने की कथा पूछने पर सुनानी ही पड़ेगी। और फिर, कथा मे कहानी कहना ही मुख्य है। इस लिए किसी-किसी कथा मे अवान्तर कथाएँ भी ऐसी जुड जाती हैं जिन का आधिकारिक कथा से तनिक भी सम्बन्ध नही होता। जिनदत्त का सिंहलद्वीप मे राजकुमारी को कथा सुनाना ऐसी ही घटना है। परन्तु कथा मे—हम इन वस्तुओं को व्यर्थ नहीं मान सकते; क्योंकि कथा धार्मिक या लौकिक हो कर भी किसी न किसी अभिप्राय से कही जाती है। यह बात सभी कथा तथा कथाकाव्यो के सम्बन्ध मे चरितार्थ होती है। इसी लिए हिन्दी में 'मधुमालती' एक कथाकाव्य है; किन्तु रामचरितमानस चरितकाव्य है। चरितकाव्य मे जीवन की समूची घटनाओ का तथा नायक के चरित्र का विशेष रूप से वर्णन रहता है। तमिल भाषा का जीवकचिन्तामणि जीवन्धर स्वामी की पौराणिक कथा को ले कर जन्म से निर्वाण तक की सम्पूर्ण घटनाओं एवं जीवन-चरित्र का वर्णन करने वाला चरितकाव्य है।[1] यही दोनों मे अन्तर है।

कथा और काव्य के भेद

संस्कृत मे कथा गद्यकाव्य के अन्तर्गत परिगणित की गयी है। क्योकि संस्कृत भाषा में आख्यायिकाएँ और कथाएँ प्रायः गद्य में ही लिखी गयी है। किन्तु प्राकृत और अपभ्रंश में पद्यबद्ध मिलती हैं। तरंगवती (पादलिप्ताचार्य), तरंगलोला, मही-

१. सी० एस० मल्लिनाथन् : तमिल-भाषा का जैन साहित्य, पृ० ८, जयपुर, १९५१।

पालकथा (वीरदेवगणि), धनदत्तकथा (अमरचन्द्र), सदयवत्सकथा (हर्षवर्द्धनगणि), वत्सराजकथा तथा सर्वांगसुन्दरीकथा प्राकृत के प्रमुख कथाकाव्य हैं।

जैन आगम में कथा और विकथा के भेद से उन के कई भेदोपभेद मिलते हैं। आ॰ जिनसेन ने त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) की कथन करने वाली कथा कही है।[१] इस लिए सामान्यत धर्म, अर्थ और काम के भेद से तीन प्रकार की कथाएँ कही जाती हैं। ये तीनों प्रकार की कथाएँ वस्तुतः धर्ममूलक होती हैं। अतएव संयम में बाधक वचन-पद्धति (अश्लील) विकथा कही गयी है।[२] धर्मकथा के चार भेद हैं – आक्षेपिणी, विक्षेपिणी, संवेदनी और निर्वेदिनी।[३] इसी प्रकार विकथा के भी चार भेद हैं – स्त्रीकथा, भोजनकथा, राजकथा और देशकथा।[४] धर्मकथा के चारों भेदों में से प्रत्येक के चार-चार उपभेदो का विवरण मिलता है।[५] इसी प्रकार विकथा के प्रत्येक भेद चार-चार उपभेदो मे स्थानांगसूत्र के चतुर्थ अंग में विभाजित दृष्टिगोचर होते हैं। वस्तुतः कथा-विकथाओ का यह भेद एकदम पौराणिक तथा रूढ है। क्योंकि कथाओं के मूल मे धार्मिक भावनाएँ तथा सामाजिक अभिप्राय ही लक्षित होते है।

अग्निपुराण में गद्यकाव्य के पाँच भेद कहे गये हैं[६] – आख्यायिका, कथा, खण्डकथा, परिकथा और कथानक। आ० रुद्रट ने प्रबन्ध काव्य के मुख्य दो भेद माने हैं – उत्पाद्य (कल्पित) और अनुत्पाद्य (पौराणिक या ऐतिहासिक)। आकार मे बडे महाकाव्य, महाकथा आदि कहे जाते है तथा छोटे लघु काव्य, लघु कथा इत्यादि।[७] आ० आनन्दवर्द्धन ने बन्ध की दृष्टि से तथा वस्तु को ध्यान मे रख कर परिकथा, खण्डकथा, सकलकथा तथा आख्यायिका आदि भेदों का उल्लेख किया है।[८] लेकिन आ० हेमचन्द्र ने कथा के सब से अधिक भेदों की चर्चा की है। उन के मत मे आख्यान, निदर्शन, प्रवल्हिका, मतल्लिका, मणिकुल्या, परिकथा, खण्डकथा और उपकथा ये नौ कथा के भेद है।[९]

१ पुरुषार्थोपयोगित्वात्त्रिवर्गकथनं कथा।
तत्रापि सत्कथां धर्म्यामामनन्ति मनीषिण ॥—महापुराण, प्रथम पर्व, ११८।

२. संयमबाधकत्वेन वचनपद्धतिर्विकथा।—स्थानांगसूत्र सटीक, पूर्वार्द्ध।

३. महापुराण, १, १३७। स्थानांगसूत्र में संवेदिनी और निर्वेदिनो के स्थान पर संवेगिनी और निर्वेगिनी नाम मिलते हैं। देखिए, वही, सटीक, ४, २, २८२।

४ समवायागसूत्र, १, ४।

५ ज्ञानचन्द्र 'जैनागमो में कथा-साहित्य का वर्गीकरण' 'साहित्य' मासिक वर्ष १२, अंक २, पृ० ४७।

६ गद्यं पद्य च मिश्रं च काव्यादि त्रिविधं स्मृतम्।
आख्यायिका कथा खण्डकथा परिकथा तथा।
कथानिकेति मन्यन्ते गद्यकाव्य च पञ्चधा ॥—अग्निपुराण, ३३७,१२।

७ सन्ति द्विधा प्रबन्धा काव्यकथाख्यायिकादय काव्ये।
उत्पाद्यानुत्पाद्या महल्लघुत्वेनं भूयोऽपि ॥—काव्यालंकार, १६, २।

८ पर्यायबन्ध परिकथा खण्डकथा सकलकथे सर्गबन्धोऽभिनेयार्थमाख्यायिकाकथे—इत्येवमादयः। तदाश्रयेणापि सघटना विशेषवती भवति।—ध्वन्यालोक, ३, ७।

९ हेमचन्द्र : काव्यानुशासन, आठवाँ अध्याय।

मुख्यरूप से कथा या कथावस्तु दो प्रकार की होती है – उत्पाद्य और अनुत्पाद्य। उत्पाद्यकथा में कवि या लेखक की कल्पना तथा मौलिकता का प्राधान्य रहता है, किन्तु अनुत्पाद्य में पौराणिक या ऐतिहासिक कथा को ज्यों-का-त्यों अपना लिया जाता है। उत्पाद्य कथा भी दो रूपों में देखी जाती है – लोक कथा और दृष्टान्त कथा। प्रायः लोक कथाएँ मनगढन्त होती हैं। आ० हेमचन्द्र के अनुसार सकलकथा और खण्डकथा मे वस्तु का अन्तर विशेष है। सकलकथा ही चरितकाव्य है। सकलकथा तथा खण्डकथा में कोई विरोध नहीं है[1] – शैली की दृष्टि से। कथाकाव्य में भी यही बात लक्षित होती है। अपभ्रंश में पद्यबद्ध सरस कथा से युक्त काव्य ही कथाकाव्य की संज्ञा से अभिहित हैं। प्राकृत की दीर्घ परम्परा मे ही इन का विकास हुआ है। पं० रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार प्रबन्धकाव्य में मानव-जीवन का पूर्ण दृश्य होता है[2] जो इन कथाकाव्यो मे भलीभाँति प्राप्त होता है। उन मे पद्मावत, रामचरितमानस आदि प्रबन्धकाव्यो की भाँति मर्मस्थल, संवाद, प्रकृति-वर्णन, घटनाओं मे सम्बद्धता और स्वाभाविक क्रम तथा रसात्मकता का सन्निवेश लक्षित होता है। इस लिए हम सरलता से उन्हे प्रबन्धकाव्य की कोटि का मान सकते हैं। शैली के अनुसार प्रबन्धकाव्य के कथाकाव्य, चरितकाव्य (पुराणकाव्य), प्रेमाख्यानक और ऐतिहासिक काव्य भेद माने जा सकते है। क्योंकि 'भविष्यदत्तकथा' जैसे लोकाख्यानक काव्यवस्तु रूप मे चरित काव्य न हो कर शुद्ध कथाकाव्य हैं, जिन मे वस्तुव्यंजना के साथ ही लोकजीवन की यथार्थ झलक मिलती है। यदि इन काव्यों में से धार्मिक तत्त्व अलग कर दिया जाय तो लोककथा मात्र रह जाती है। इन के लिखने का उद्देश्य भी चरित-कीर्तन न हो कर व्रत का माहात्म्य प्रदर्शित करना है, जो प्रत्येक धार्मिक कथा का अभिप्राय होता है। अपभ्रंश साहित्य मे ऐसी कथाएँ पौराणिक न हो कर अनुश्रुतियों पर आधारित रही हैं। गौतम गणधर के संवाद के रूप मे ये युग-युगो से प्रचलित परम्परा मे कही-सुनी जाती रही है। संस्कृत के कवि विबुध श्रीधर ने इस ओर संकेत भी किया है।[3] फिर, त्रेसठशलाकापुरुषो के चरित लिखने की प्रथा विशेष रूप से जैन साहित्य में देखी जाती है। यद्यपि परवर्ती काल मे धन्यकुमार, चारुदत्त, प्रद्युम्नकुमार आदि से सम्बन्धित चरित काव्य भी लिखे गये, किन्तु वस्तुव्यंजना के साथ ही उन में पौराणिकता विशेष दिखाई देती है। उन मे लोककथाओ का वह रस प्राप्त नही होता जो कथाकाव्यों मे व्याप्त है। इस के अतिरिक्त सघटना में भी अन्तर मिलता है। अतएव काव्यगत शैली तथा वस्तु के अभिनिवेश को ध्यान में रख कर कथाकाव्य और चरितकाव्य जैसे भेदों को मान लेने मे कोई अनौचित्य नहीं प्रतीत होता है। जन-जीवन की सामान्य घटनाओ का वर्णन

१. खण्डकथासकलकथयोस्तु प्राकृतप्रसिद्धयोः कुलकादिनिबन्धनभूयस्त्वाद्दीर्घसमासायामपि न विरोध।—ध्वन्यालोक, ३,७।

२. पं० रामचन्द्र शुक्ल : पद्मावत (जायसी-ग्रन्थावली) की भूमिका, पृ० ६६।

३. क्रमेण ज्ञाता मयाप्यपरसूरिमुखाम्बुजेभ्यः। भविष्यदत्तचरित्र, १५,५२।

करने वाली रचनाएँ भारतीय साहित्य की प्राचीन परम्परा मे कम ही मिलती हैं इस लिए इन्हे विधा-विशेष में वर्गीकृत किया जाय तो उचित ही होगा। फिर, व्रतमूलक कथाओं को किसी न किसी नाम से अभिहित करना होगा। अतएव निरी उपदेशात्मक कथाओं से प्रबन्धात्मक कथाओ का पृथक् अभिधान 'कथाकाव्य' नाम से करना समीचीन होगा।



तृतीय अध्याय

भविसयत्तकहा : एक अध्ययन

परिचय

भविसयत्तकहा अपभ्रंश के प्रकाशित कथाकाव्यो मे एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इस के रचयिता कवि धनपाल हैं। यह काव्य बाईस सन्धियों मे निबद्ध है।[1] इस मे श्रुतपंचमी व्रत के फलवर्णन स्वरूप भविष्यदत्त की कथा का वर्णन है। इस लिए इसे श्रुतपंचमी कथा भी कहते है। इस का प्रकाशन सब से पहली बार एच० जेकोबी ने सन् १९१८ मे मचन (जर्मन) मे कराया था। अपभ्रंश भाषा के प्रकाशित होने वाले काव्यो मे यह सर्वप्रथम काव्य है। भारतवर्ष में इसे प्रकाशित करने का श्रेय सी० डी० दलाल और पी० डी० गुणे को है। पहली बार यह प्रबन्ध काव्य सन् १९२३ मे गायकवाड़ ओरियण्टल सीरिज, बड़ौदा से प्रकाशित हुआ था। पहले भाषा की दृष्टि से इस का महत्त्व आँका जाता था, पर अब काव्य-कला, लोक-तत्त्व, देशी शब्द और भाषा आदि की दृष्टि से यह रचना और भी महत्त्वपूर्ण समझी जाती है। वस्तु और शैली मे भी विशेपता दृष्टिगोचर होती है। इसी लिए इस रचना ने विद्वानों का ध्यान अपनी ओर अधिक आकृष्ट किया है।

यद्यपि कवि धनपाल के सम्बन्ध मे विशेष जानकारी अभी तक नही मिल सकी है, पर स्वयं ग्रन्थकार ने अपना जो परिचय दिया है वह संक्षिप्त होने पर भी महत्त्वपूर्ण है। कवि ने धक्कड नामक वैश्य वंश मे जन्म लिया था। पिता का नाम माएसर (मातेश्वर) और माता का नाम धनश्री था।[2] कहा जाता है कि उन्हे सरस्वती का वर प्राप्त था।[3] अन्य किसी रचना के लिखे जाने का उल्लेख इस काव्य-ग्रन्थ मे नही मिलता। अतएव कवि के समय का निर्धारण करना बहुत ही कठिन प्रतीत होता है। अकेली इस रचना के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि कवि प्रतिभाशाली विद्वान् रहे होंगे और उन्होंने अन्य रचनाएँ भी लिखी होंगी। किन्तु आज उन की खोज निकालना असम्भव सा प्रतीत होता है। क्योकि धनपाल नाम के कई विद्वानों का पता लगता है। पं० परमानन्द शास्त्री ने धनपाल नाम के चार विद्वानो का परिचय दिया है।[4] ये चारों ही भिन्न-भिन्न काल के विभिन्न विद्वान् हैं। उन मे

---

१ विरइउ एउ चरिउ धणवालिं विहि खण्डहि बावीसहि सन्धिहि। २२.६।

२ धक्कडवणिवंसि माएसरहु समुब्भविण।
धणसिरिदेवि सुएण विरइउ सरसइ संभविण। २२.६।

३. चिन्तिय धणवाले वणिवरेण सरसइ बहुलद्ध महावरेण। १.४।

४. पं० परमानन्द जैन शास्त्री 'धनपाल नाम के चार विद्वान् कवि' अनेकान्त, किरण ७-८, पृ० ८२।

से दो संस्कृत भाषा के विद्वान् तथा ग्रन्थ रचयिता थे और दो अपभ्रंश के। संस्कृत के पहले धनपाल राजा भोज के आश्रित थे, जिन्होंने 'तिलकमंजरी' और 'पाइयलच्छी' ग्रन्थों की रचना 'दसवी शती' में की थी। दूसरे धनपाल तेरहवीं सदी के कवि हैं। उन के द्वारा लिखित 'तिलकमंजरीसार' नामक ग्रन्थ का ही अब तक पता लग पाया है। तीसरे धनपाल अपभ्रंश भाषा में लिखित 'बाहुबलिचरित' के रचयिता है, जिन का समय पन्द्रहवी शताब्दी है। ये गुजराज के पुरवाड वंश के तिलक स्वरूप थे। इन की माता का नाम सुहडा देवी और पिता का नाम सेठ सुहडप्रभ था।[1] चौथे धनपाल आलोच्यमान प्रमुख कथाकाव्य के लेखक धक्कड वंश में उत्पन्न हुए थे। धर्मपरीक्षा के कर्त्ता कवि हरिषेण भी इसी वंश के थे। धर्मपरीक्षा का रचना-काल वि० सं० १०४४ है। महाकवि वीर कृत 'जम्बूस्वामी चरित' में भी मालव देश में धक्कड़ वंश के तिलक महासूदन के पुत्र तक्खडु श्रेष्ठी का उल्लेख मिलता है।[2] देलवाड़ा के वि० सं० १२८७ के तेजपाल वाले शिलालेख में भी धर्कट जाति का उल्लेख है। इस से पता लगता है कि दसवी से तेरहवी शताब्दी तक यह वंश अत्यन्त प्रसिद्ध रहा है। अतएव 'भविसयत्तकहा' के लेखक धनपाल का होना इसी समय सम्भावित है।

काल-निर्णय

अत्यन्त आश्चर्य और खेद है कि दसवी सदी से ले कर सोलहवी शताब्दी तक के जिन कवियो की रचनाएँ प्रकाश मे आयी है, और जिन्होंने पूर्ववर्ती कवियों का उल्लेख किया है, उन मे धनपाल का नाम नही मिलता। कारण जो भी हो, इस से यह अनुमानित है कि कवि की प्रसिद्धि लोक मे अधिक दिनों तक नही रही। भ० क० की उपलब्ध प्रतियो मे सब से प्राचीन संवत् १४८० की प्रति मिलती है, जो लेखक को आगरा के भण्डार से प्राप्त हुई है।[3] इसी प्रति मे काव्य की, प्रशस्ति मे इसे शास्त्र तथा विक्रम संवत् १३९३ मे लिखा हुआ कहा गया है। उल्लिखित पंक्ति इस प्रकार है—

"सुसंवच्छरे अक्किरा विक्कमेणं अहीएहिं तेणवदितेरहसएणं।
वरिस्सेम पूसेण सेयम्मि पक्खे तिही बारसी सोमिरोहिणिहिरिक्खे।
सुहज्जोइमयरंगओ वुड्ढ पत्तो इओ सुन्दरो सत्थु सुहदिणि समत्तो।"

अर्थात् सुसंबत्सर विक्रम तेरह सौ तेरानवे मे पौष मास शुक्ल पक्ष बारस सोमवार रोहिणी नक्षत्र में यह सुन्दर शास्त्र शुभ घड़ी तथा शुभ दिन में लिख कर समाप्त हुआ।

---

१ गुज्जरपुरवाडवंसतिलउ सिरि सुहडसेट्ठि गुणगणणिलउ।
तहो मणहर छायागेहणिय सुहडाएवी णामें भणिय।
तहो उवरि जाउ बहु विणयजुओ धणवालु त्ति सुउ णामेण हुओ।
तहो विण्णि तणुब्भव विउलगुण संतोसु तह य हरिराउ पुण॥
—बाहुबलिचरित, अन्त्य प्रशस्ति, 'अनेकान्त' से उद्धृत

२. पं० परमानन्द जैन शास्त्री—'अपभ्रंश भाषा का जम्बूसामिचरिउ और वीर' अनेकान्त वर्ष १३, किरण ६, पृ० १५५।

३. वही, पृ० १५५

उक्त 'अक्किरा' शब्द अर्कराज (विक्रम) का वाचक है। अर्कराज का अर्थ विक्रमादित्य या विक्रमार्क है। अतएव विक्रम संवत् १३९३ पौष शुक्ल द्वादशी को यह कथाकाव्य लिख कर पूर्ण हुआ था। आधुनिक काल-गणना के अनुसार निर्दिष्ट तिथि १६ दिसम्बर, १३३६ ई० है। इस से स्पष्ट है कि काव्य का रचना-काल चौदहवीं शताब्दी है। अभी तक जिन विद्वानों ने 'भविसयत्तकहा' के रचनाकाल पर विचार किया है उन में डॉ० हर्मन जेकोबी का मत महत्त्वपूर्ण माना जाता है। उन्हों ने हरिभद्रसूरि के 'नेमिनाहचरिउ' से 'भविसयत्तकहा' की भाषा की तुलना करते हुए यह अनुमान किया था कि धनपाल कम से कम दसवीं शती में रहे होंगे। उन के अनुसार हरिभद्रसूरि नवम शती के उत्तरार्द्ध के कवि हैं; किन्तु मुनि जिनविजय जी आ० हरिभद्रसूरि को आठवीं शताब्दी का मानते हैं। वस्तुतः दोनों की भाषा-शैली में बहुत अन्तर है। श्री दलाल और गुणे के अनुसार आलोच्यमान कथाकाव्य की भाषा आ० हेमचन्द्र के व्याकरण में प्रयुक्त भाषा की अपेक्षा अधिक प्राचीन है। धनपाल के समय मे अपभ्रंश बोली जाती रही होगी; जब कि हेमचन्द्र के समय में वह मृतभाषा हो गयी थी।[1] यदि हम 'भविसयत्तकहा' का प्रारम्भिक भाग यह मान कर विचारणीय न मानें कि पूर्ववर्ती प्रबन्धकाव्य की परम्परा मे इस कथाकाव्य की भी रचना हुई और इसी लिए महाकवि स्वयम्भू के 'पउमचरिउ' तथा प्रस्तुत काव्य की साहित्यिक रूढ़ियों मे समानता मिलती है, तो उचित हो है। किन्तु काव्य के सम्पूर्ण रूप को ध्यान से देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि धनपाल ने 'पउमचरिउ' को आदर्श मान कर कुछ बातें प्रभाव रूप में और कुछ ज्यों-की-त्यों अपने काव्य मे अपना लीं। उदाहरण के लिए—जैसे केतुमती पुत्र के वियोग में 'हा पुत्त पुत्त' कह कर विलाप करती है, वैसे ही कमलश्री भविष्यदत्त के शोक मे 'हा हा पुत्त पुत्त' कहती हुई करुण विलाप करती है। डॉ० भायाणी ने शब्द, भाषा और भाव-साम्य को दृष्टि से दोनो के कुछ अंशों को तुलना करते हुए लिखा है कि धनपाल के सामने प्रारम्भिक कड़वकों को लिखते समय स्वयम्भू का 'पउमचरिउ' विद्यमान रहा होगा।[2] रचना-प्रकार की दृष्टि से उन का यह कथन उचित ही है। इस से यह अत्यन्त स्पष्ट है कि धनपाल स्वयम्भू के पश्चात् हुए। और कुछ समय बाद नहीं शताब्दियों के अन्तराल से हुए। वस्तुतः कथानक और वर्णन की दृष्टि से प्रस्तुत काव्य पर विबुध श्रीधर के 'भविष्यदत्तचरित्र' का अत्यन्त प्रभाव है, जो बारहवीं शताब्दी की रचना है। अतएव धनपाल का चौदहवीं शताब्दी में विद्यमान होना उचित जान पड़ता है।

ऐतिहासिक तथ्य

ग्रन्थ में वर्णित युद्ध-वर्णन से ज्ञात होता है कि कवि का युग अशान्तिपूर्ण था

१ सं० सी० डी० दलाल और पी० डी० गुणे : धनपाल की भविसयत्तकहा, १९२३, परिचय, पृ० ४।
२. सं० डॉ० हरिवल्लभ चूनीलाल भायाणी : पउमचरिउ, १९५३, परिचय, पृ० ३६-३७।

और स्वयं उस ने युद्ध का सजीव दृश्य आँखों से देखा था या किसी योद्धा से सुना था। परिशिष्ट में लिखित प्रशस्ति से विदित है कि यह काव्य दिल्ली नगर से पूर्व दिशा में साठ कोस की दूरी पर स्थित रम्मु[१] (रामनगर) नगर में बसने वाले—अग्रवाल वंश में उत्पन्न रतनपाल के पोते के पुत्र यानी पन्तो बाधू के लिए लिखा गया था। रतनपाल के चार पुत्र थे। बड़ा पुत्र दुर्लभ अत्यन्त गुणी था। उस के हिमपाल, देवपाल, और लुद्दपाल नाम के तीन पुत्र हुए। धर्मात्मा हिमपाल दिल्ली में रहता था। उस के बाधू नाम का पुत्र हुआ। इसी बीच लोग अकाल से वैभव और सम्पत्तिहीन हो गये। सभी हाथ मलने लगे। चारों ही विषादमग्न हो गये। लोगो ने अपना धर्म छोड दिया। अपने निवास-स्थान को त्याग कर लोग अत्यन्त दुर्गम दूर देश में पहुँच गये। प्रचण्ड मुहम्मदशाह उस समय शासन कर रहा था। सागरप्रमाण उस का राज्य था। शत्रुओं का मान मर्दन कर तथा लोगों का उपकार करते हुए उस ने एकछत्र राज्य किया। विप्लव काल के प्रवृत्त होने पर बाधू जफराबाद[२] (दफरायबाद) पहुँचा और उस के लिए यह शास्त्र लिखा गया[३]। इतिहास के आलोक मे हमे जो तथ्य प्राप्त होते है वे इस प्रकार है—

कवि ने उस समय दिल्ली के सिंहासन पर मुहम्मदशाह का शासन करना लिखा है। इतिहास मे राजा का नाम मुहम्मद बिन तुगलक मिलता है। किन्तु उस के अन्य नामों मे मुहम्मद तुगलक और मुहम्मद शाह का भी उल्लेख मिलता है।[४] मुहम्मद बिन तुगलक का शासन-काल १३२५-५१ ई० माना जाता है। आलोच्यमान रचना का काल १६ दिसम्बर १३३६ ई० है। अतएव इतिहास से उस का पूरा मेल बैठता है। पुष्पिका मे जिस विद्रोह का संकेत है वह दिल्ली सल्तनत से सम्बन्धित था, जो लगभग १३३५ ई० के लगभग हुआ था। इसी प्रकार अकाल का भी उल्लेख मिलता है। सन् १३३५ ई० मे सुल्तान मुहम्मद शाह मदुरा के लिए कूच करता है पर वारंगल से ही वह लौट आता है। जब सुल्तान दिल्ली—वापस लौट कर आता है तब देखता है कि चारो ओर अकाल पड रहा है। सहस्रों मनुष्य और पशु मर गये। इसलिए वह अपनी राजधानी दिल्ली से हटा कर गंगा के पास शमसाबाद मे ले गया।[५] इस से अकाल की

---

१. इत्थतरि अइ रमणीउ रम्मु, णामेण णयरु आमी-पवण्णु। अंतिम प्रशस्ति।

२. इतिहास में भी जफराबाद का उल्लेख मिलता है। प्रशस्ति में निर्दिष्ट बाधू के जफराबाद में पहुँचने से यही प्रतीत होता है कि कवि धनपाल जोनपुर के निकट—(लगभग चौदह-पन्द्रह मील दूर) जफराबाद मे रहते थे। सन् १३५८ में फीरोजशाह भी बंगाल की युद्ध-यात्रा के समय मार्ग में जफराबाद में ठहरा था। वही, पृ० १८६।

३ मुहमदसाहो बिराओ पयडा | लिओ तेण सायरपमाणेहि दण्डो।
उससिर्कांट्ठ णिद्दलिवि मलिऔवि माणो | किओ रज्जु इकच्छत्ति उवयतमाणो।
पयटटे विड्सम्मि काले रउद्दे | पहुत्तो सुबद्धधू उ दफरायबादे।
इहत्ते परत्ते सुहायारहेउ | तिणे लिहिय सुअपचमी णियहं हेउ। वही।

४. आर० सी० मजूमदार : द दिल्ली सल्तनत, भारतीय विद्याभवन, प्रथम संस्करण, पृ० ६१।

५. वही, पृ० ७७।

भयंकरता का पता लगता है, जिस से यह स्वाभाविक ही था कि हिमपाल जैसे साहूकार भी दरिद्र हो गये थे। मुहम्मदशाह अत्यन्त प्रतापी राजा था। उस ने अपने जीवन में कई युद्ध किये। उस का शासन बहुत विस्तृत था। वह हिमालय से ले कर दक्षिण भारत तक का शासन-सूत्र सम्हालता था। सन् १३२८ ई० तक मुहम्मद तुगलक दक्षिण में इण्डियन पेनिनसुला तक सीमा स्थापित करने में सफल हो गया था।[1] समय-समय पर गुजरात और दक्षिण भारत के बलवों को भी उस ने दबाया। उस ने दिल्ली सल्तनत का बहुत बड़ा सीमा तक विस्तृत कर शासन स्थापित कर लिया था, किन्तु मृत्यु के पूर्व ही विन्ध्य के दक्षिण का भाग उस के अधिकार से निकल गया था।[2] कहा जाता है कि मुहम्मदशाह अपने युग का सुशिक्षित और विद्वान् बादशाह था। वह कई विषयों का जानकार था।[3] उस की प्रसिद्धि का यह भी एक कारण था कि उस के राज्याश्रय में विद्वानों का सम्मान था। सन् १३२८ ई० में आचार्य जिनप्रभसूरि का मुहम्मदशाह को धर्म-श्रवण कराना एक महत्त्वपूर्ण घटना मानी जाती है। वह सभी धर्मों के साधु-सन्तों और फकीरों का आदर करता था। सम्भवत इसी लिए मुसलमान उसे काफिर कहते हैं।[4] इस प्रकार ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर कवि धनपाल का चौदहवी शताब्दी में भविष्यदत्तकथा की रचना करना सुनिश्चित प्रतीत होता है।

धनपाल का सम्प्रदाय

धनपाल जैनधर्म के दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुयायी थे। अतएव यह स्वाभाविक ही था कि कवि अपनी रचना मे अपनी मान्यता के अनुसार वर्णन करता। भविसयत्तकहा के 'जेण भंजिवि दियम्बरि लायउ' के अतिरिक्त कतिपय वर्णनों तथा सैद्धान्तिक विवेचन के अनुसार भी उन का दिगम्बरमतानुयायी होना निर्विवाद सिद्ध होता है। कवि ने अष्टमूलगुणो का वर्णन करते हुए कहा है कि मधु, मद्य, मांस और पाँच उदुम्बर फलों को किसी भी जन्म मे नही खाना चाहिए।[5] कवि का यह कथन भावसंग्रह के कर्त्ता देवसेन के अनुसार है।[6] आ० सोमदेवसूरि तथा पं० आशाधर को भी यही मान्यता है।[7] आ० अमृतचन्द्र ने भी अहिंसाव्रत के अन्तर्गत इन्हीं आठ वस्तुओं का त्याग

१. वही, पृ० ७७।
२ वही, पृ० ८०।
३. वही, पृ० ८१।
४ वही, पृ० ८६।
५ महु मज्जु मसु पंचुबराइं खज्जंति ण जम्मंतर सयाइं। (१६, ८)
६ महुमज्जमंसविरई चाओ पुण उंबराण पंचण्ह।
अट्ठेदे मूलगुणा हवंति फुडु देशविरयम्मि। भावसंग्रह, गाथा ३५६।
७ मद्यमांसमधुत्यागैः सहोदुम्बरपञ्चकैः।
अष्टावेते गृहस्थानामुक्ता मूलगुणाः श्रुतौ॥ उपासकाध्ययन, कल्प २१, श्लोक २७०।
तत्रादौ श्रद्धज्जेनीमाज्ञां हिंसामपासितुम्।
मद्यमांसमधून्युज्झेत् पञ्चक्षीरिफलानि च॥ सागारधर्मामृत, २, २।

आवश्यक बताया है।[१] रत्नकरण्डश्रावकाचार तथा अन्य ग्रन्थों में यह उल्लेख किंचित् भिन्न मिलता है।[२] यह उल्लेख आचार्य कुन्दकुन्द की मान्यता के अनुसार है। कवि का सल्लेखना का चतुर्थ शिक्षाव्रत के रूप में वर्णन करना इसी मान्यता का द्योतक है।[३] इसी प्रकार सोलह स्वर्गों का वर्णन भी दिगम्बर-परम्परा के अनुसार है।[४] क्योंकि श्वेताम्बर-परम्परा में बारह स्वर्गों का ही उल्लेख मिलता है। इन सैद्धान्तिक मान्यताओं का उल्लेख होने से स्पष्ट हो जाता है कि धनपाल दिगम्बर सम्प्रदाय के थे। यह भी ध्यान देने योग्य है कि कवि ने अपभ्रंश के कवि विबुध श्रीधर से भी बहुत कुछ ग्रहण किया था। क्योंकि आ० जिनसेन तथा समन्तभद्र ने अष्टमूलगुणों में तीन मकारों और पाँच अणुव्रतों को गिनाया है। परन्तु विबुध श्रीधर ने मद्य, मांस, मधु और पाँच उदुम्बरफलों के त्याग को आठ मूलगुण कहा है।[५]

कथावस्तु

भरतक्षेत्र के कुरुजागल (वर्तमान रोहतक हिसार) नामक प्रदेश में गजपुर (हस्तिनापुर)[६] नाम का एक सुन्दर तथा अत्यन्त समृद्ध नगर था, जिस में भूपाल नामक राजा राज्य करता था। उसी नगर मे धनवइ (धनपति) नाम का नगरसेठ रहता था, जो अपने गुणों के कारण प्रसिद्ध था। उस का विवाह नगर के धनी-मानी हरिबल नाम के सेठ की पुत्री कमलश्री से हुआ था जो अत्यन्त रूपवती और गुणवती थी। बहुत समय तक उन दोनो के कोई सन्तान न होने से कमलश्री विशेष रूप से चिन्तित रहने लगी और एक दिन मुनिवर के पास जाकर उस ने निवेदन किया—भगवन्! मैं इस प्रकार कब तक दुःख भोगती रहूँगी? उन्होंने उत्तर मे कहा—तुम्हारे नय, विनय, पराक्रम और गुणों से युक्त चिरंजीवी पुत्र होगा। कुछ दिनों के पश्चात् भविष्यदत्त उत्पन्न हुआ। महीने भर बाद कमलश्री वस्त्राभूषणों से सज्जित पुत्र को गोद में लिये हुए जिनवर की पूजा सुनने तथा दर्शन करने के लिए जिनमन्दिर गयी। सभी लोगों ने बड़ा उत्सव मनाया।

इधर भविष्यदत्त पढ़-लिख कर विविध कलाओ मे पारंगत होता है और

---

१. मद्यं मांसं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन।
हिंसाव्युपरतिकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव॥ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ३, ६१।

२ मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपञ्चकम्।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः॥ रत्नकरण्डश्रावकाचार ४, ६६।

३. चउथउ पुणु सल्लेहण भावइ सो परलोइ सुरत्तणु पावइ।
अहो इह परलोयहो परमसिक्ख इय बारहविह सावयह सिक्ख। (१६, १२)

४ अप्पुणु पुणु तवचरण चरेप्पिणु अणसणि पंडियमरणि मरेप्पिणु।
दिवि सोलहमइं पुण्णायामि हुउ सुरवइ विज्जुप्पहु णामि। (२०, ६)

५. मज्जु मंसु महु णउ भक्खिवज्जइ पंचुंबरफल णियरु मुइज्जइ।
अट्ठमूलगुणु ए पालिज्जहिं महुं संधाण एहिं ण गसिज्जहिं॥—भविसयत्तचरिय, ६, २८।

६. विविधतीर्थकल्प, पृ० २७ हस्तिनापुरकल्प।

उधर कमलश्री के वात्सल्य, प्रियवचन और कोमलता आदि गुणों से खीझ कर पूर्व जन्म के अनिष्ट के कारण सेठ धनवइ का मन कमलश्री की ओर से फिर जाता है। कमलश्री पति के रूखे व्यवहार को देख कर क्षमा माँगती है और सब कुछ करने के लिए कहती है, पर इस से वह और भी उपेक्षा भाव प्रकट कर कहता है कि मैं तुम्हें आधे क्षण भी नहीं देख सकता हूँ। पति के व्यवहार से खेद-खिन्न हो कमलश्री माता के घर चली जाती है, और माँ के गले लग कर बहुत रोती है। इतने में ही धनपति (धनवइ) का भेजा हुआ चतुर व्यक्ति हरिबल के पास पहुँचता है और कहता है कि कमलश्री कुल की आन-बान का पालन करने वाली पतिव्रता नारी है इस लिए उसे अपने घर में शरण दे दो। उस के प्रिय गुणों से धनवइ का मन फिर गया है। धनवइ का दूसरा विवाह सेठ धनदत्त की कन्या सरूपा के साथ बहुत धूम-धाम से होता है। नगर के सभी लोग उछाह मनाते है। राजा भी विवाह में सम्मिलित होता है। हरिदत्त (हरिबल) और परिजनो को कमलश्री पर सन्देह होने लगता है किन्तु वह पवित्रता के साथ धार्मिक जीवन बिताती है। सरूपा सुन्दरी होने के साथ ही अभिमानवती भी थी। वह ललित-कलाओं में निपुण थी। कुछ समय के बाद उस के बन्धुदत्त नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। बड़ा होने पर बन्धुदत्त बहुत उत्पात मचाने लगा। जब पूरा नगर बन्धुदत्त से तंग आ गया तब सब सेठों ने मिल कर विचार किया कि यह युवतियों के साथ बहुत छेड़खानी करता है इस लिए बन्धुजनों के साथ कंचनपुर चलने के लिए उसे तैयार कर भेज देना चाहिए। मन्त्रीजन व्यवसाय के निमित्त बन्धुदत्त को भेजने मे सहमत हो गये। बन्धुदत्त के साथ पाँच सौ वणिक् भी चलने को तैयार हो गये। बन्धुदत्त को साथियों के साथ कंचनद्वीप जाते देख कर भविष्यदत्त भी माता के बार-बार रोके जाने पर भी उन सब के साथ हो लिया। जब सरूपा को पता चलता है कि भविष्यदत्त भी साथ में जा रहा है तो वह बन्धुदत्त को भलीभाँति सिखा-बुझा कर कहती है कि किसी भी प्रकार भविष्यदत्त को समुद्र में छोड़ देना, जिस से बन्धु-बान्धवों से उस का समागम न हो सके। किन्तु भविष्यदत्त की माता उसे उपदेश देती हुई 'पराया धन तथा स्त्री को न छूने की' शिक्षा देती है। पाँच सौ वणिक् जनों के साथ दोनो भाई जहाज में बैठ कर सम्मान के साथ चल पड़े। कई द्वीपान्तरो को पार कर उन का पोत मदनाग द्वीप के समुद्री तट पर जा लगा। प्रमुख लोग उतर कर मदनाग पर्वत की शोभा निरखने लगे, जो सामने ही दुर्गम और दुर्लंघ्य स्थित था। बन्धुदत्त भविष्यदत्त को वहाँ के भयावने वन में फूल चुनता हुआ छोड़ कर पोत में सवार हो कर सब के साथ आगे की ओर चल पड़ता है। जब भविष्यदत्त जहाज को जाता हुआ देखता है तब वह हाथ मलता है और सिर धुनने लगता है। चिन्ताओं मे डूबता-उतराता हुआ भविष्यदत्त जंगली जानवरो से व्याप्त उस वन में प्रवेश करता है। दिन भर के घूमने-फिरने से थक कर वह एक स्वच्छ बड़ी शिला को देख कर उस पर बैठ जाता है और हाथ-पैर धो कर पुष्पों से जिनदेव की अर्चना करता है। फिर वृक्षों से फलों को

तोड़ कर भोजन करता है। इतने में ही सन्ध्या हो जाती है। चारों ओर घना अन्धकार फैल जाता है। भविष्यदत्त परमात्मा का ध्यान करता हुआ वहीं स्थित रहता है। सवेरा होने पर जिनदेव का स्मरण करता हुआ फिर वन में भटक जाता है। अन्त में उसे कुछ-कुछ रास्ता दिखाई देता है और गुफा में से हो कर वह एक उजाड़ नगर मे पहुँच जाता है। तिलकद्वीप को उस कंचननगरी को देख कर भविष्यदत्त आश्चर्यविमुग्ध हो जाता है। घूमता-फिरता वह चन्द्रप्रभ के जिनमन्दिर में पहुँचता है। अत्यन्त भक्ति के साथ वह चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र की विधिपूर्वक कई घंटों तक पूजा करता है।

इसी बीच पूर्व विदेह क्षेत्र मे यशोधर नाम के मुनि से अच्युत स्वर्ग का देवेन्द्र अपने पूर्व जन्म के मित्र धनमित्र के सम्बन्ध मे पूछता है कि वह किस गति को प्राप्त हुआ है। शुक्लध्यान के धारक मुनिराज भविष्यदत्त का पूरा वृत्तान्त सुनाते है और कहते है कि तुम्हारा वह मित्र इस समय तिकलद्वीप के महान् पुर मे चन्द्रप्रभ के जिन-भवन में आसनपट्ट पर बैठा हुआ है। उस नगर की सुन्दरी से उस का पाणिग्रहण होगा तथा दोनो सुखोपभोग करेंगे। मुनि के इन वचनो को सुन कर सुरपति उस नगर में गया। उस मन्दिर की परिक्रमा कर मित्र को सुख से सोता हुआ देख कर भीत पर अक्षर-पंक्तियों को लिख कर तथा मानभद्र नामक यक्षेश्वर से अपने मित्र का ध्यान रखने के लिए कह कर वह अपने स्थान को लौट गया। भविष्यदत्त जब सो कर उठता है तब कौतुक से वह भीत पर लिखे हुए वाक्यों को पढता है कि मन्दिर से पूर्व दिशा मे पाँचवें घर में सुन्दर कुमारी है, जो तुम्हारी स्त्री है और यह पूरा नगर तुम्हारा है इसलिए उठो, वहाँ जाओ, देर मत करो। भविष्यदत्त स्वप्न देखता हुआ-सा वहाँ से निकला और पाँचवें घर पर जा पहुँचा। सुन्दरी से वह नगरी के उजड़ने का कारण तथा राजा के सम्बन्ध मे पूछता है। वह भलीभाँति अतिथि का सम्मान कर भोजन-पान करा कर कहती है कि इस तिलकपुर का राजा यशोधन था। मेरे पिता भवदत्त नगरसेठ थे। माता का नाम मदनवेगा था। उस की बडी बेटी का नाम नागश्री था और मैं छोटी भविष्यानुरूपा हूँ। रोती हुई वह कहती है कि यहाँ पर एक बलवान् असुर आया है, जिस ने पूरा नगर उजाड दिया है। न जाने क्यो उस दुष्ट पापी ने मुझे छोड दिया है। कदाचित् तुम्हे भी वह कष्ट न दे। भविष्यदत्त भी अपनी सकट-कथा कह सुनाता है। इतने मे ही वह दैत्य आ पहुँचता है। भविष्यदत्त उस से तनिक भी नही डरता और उस का सामना करने के लिए तैयार हो जाता है। उस के अदम्य तथा अपूर्व साहस को देख कर असुर प्रसन्न हो जाता है। वह कहता है कि मै पूर्व जन्म मे कौशिक (कोसिउ) नाम की नगरी मे तापस था। वहाँ के मन्त्री वज्रोदर (वज्जोयर) ने मेरा अपमान किया था जिस से मन मे बैर बाँध कर मै असुर हुआ और वह मन्त्री इस तिलकद्वीप का राजा हुआ। इस लिए राजा से बैर होने के कारण मे ने सपरिवार नागरिक जनों के साथ उस का संहार कर दिया है। वह असुर सविधि भविष्यदत्त और भविष्यानुरूपा का विवाह कर वापस चला जाता है। इधर भविष्यदत्त दाम्पत्य

जीवन सुख से बिताता है और उधर कमलश्री के मन में पुत्र के न आने की चिन्ता व्याप्त हो जाती है।

एक दिन कमलश्री सुव्रता नाम की अर्जिका के पास जा कर कहती है कि मेरे ऊपर न जाने किस अशुभ कर्म का कोप है कि मैं पुत्र के सुख से वियुक्त हो गयी हूँ। साध्वी उसे श्रुतपंचमी व्रत के पालन का उपदेश देती हुई कहती है कि असाढ़ सुदी पंचमी को प्रथम बार इस व्रत को ग्रहण कर नन्दीश्वर के पर्व-दिनों में पालना चाहिए। इस की विधि यह है कि कातिक, फागुन या असाढ की पहली शुक्ल पंचमी को व्रत का प्रारम्भ कर पाँच वर्ष और पाँच महीनों तक पंचमी के दिन उपवास और छठ्ठी के दिन एक बार भोजन करना चाहिए। तथा इन दिनों मे विषय-कषायों से दूर रह कर धर्म-ध्यान मे समय बिताना चाहिए। कुल मिला कर सरसठ उपवास करना चाहिए। तदनन्तर उद्यापन विधि से यह व्रत समाप्त होता है। इस दीर्घ तप से क्या मेरा पुत्र मुझ से आ कर मिलेगा? कमलश्री के यह पूछने पर वह मुनिराज के पास उसे ले जाती है। मुनिवर उस से कहते हैं कि तुम्हारा पुत्र अभी जीवित है। वह द्वीपान्तर मे सुख भोग रहा है। यहाँ आ कर वह आधा राज्य प्राप्त करेगा और शासन करेगा। इन वचनो से कमलश्री समाश्वस्त हो जाती है। इस बीच भविष्यदत्त को तिलकपुर में बारह वर्ष बीत जाते हैं। एक दिन भविष्यानुरूपा ससुराल के सम्बन्ध में पूछती है। भविष्यदत्त को माता के दुःखो का स्मरण हो आता है और वे दोनो गजपुर को प्रस्थान करते है। बहुत-सा धन, मणि, रत्न आदि ले कर वे उसी गुफा मे से हो कर समुद्र तट पर पहुँचते है। कुछ दिनो मे बन्धुदत्त का जहाज़ भी उसी तट पर आ लगता है। बन्धुदत्त अपने किये की क्षमा माँगता है। भविष्यदत्त सब का यथोचित सम्मान कर भोजन-पान कराता है। फिर सभी जहाज़ पर बैठ कर चलने की सोचते ही है कि भविष्यानुरूपा को नागमुद्रिका का स्मरण हो आता है। भविष्यदत्त इधर नागमुँदरी लेने जाता है और उधर बन्धुदत्त जहाज़ चलवा देता है। भविष्यदत्त फिर अकेला उस द्वीप मे रह जाता है।

बन्धुदत्त भविष्यानुरूपा के समक्ष अपनी वासनात्मक भावना प्रकट करता है। भविष्यानुरूपा अपने शील पर दृढ हो कर परमार्थ का उपदेश देती है। देवता स्वप्न देता है—सुन्दरि, चिन्ता मत करो। एक मास मे प्रिय मिलेगा। जहाज़ डगमगाता है। भविष्यानुरूपा से जो सब प्रार्थना करते है तब तूफ़ान शान्त होता है। बन्धुदत्त को नगर मे आया हुआ जान कर कमलश्री सब से भविष्यदत्त के सम्बन्ध में पूछती है पर कोई भी ठीक से नही बताता है। तब वह दौडी-दौड़ी मुनिराज के पास जाती है। वे कहते हैं कि तीस दिन मे तुम्हारा पुत्र आ जायगा।

भविष्यदत्त फिर तिलकद्वीप पहुँचता है। वहाँ से मानभद्र की सहायता से विमान मे बैठ कर अपने घर वापस आता है। कमलश्री फूली नहीं समाती है। वह माता को तिलकपुर का पूरा वृत्तान्त सुनाता है। माता से यह जान कर कि भविष्या-

नुरूपा का तैल चढ़ने वाला है वह राजा के पास जाता है और कई प्रकार के रत्न, मणि आदि उपहार मे देता है। वह माता को नागमुद्रिका दे कर उसे भविष्यानुरूपा के पास भेजता है। भविष्यदत्त राजा को सब वृत्त सुनाता है। परिजनों के साथ वह राजसभा मे जाता है और बन्धुदत्त के विवाह पर आपत्ति प्रकट करता है। राजा धनवइ को बुलाता है। बन्धुदत्त का रहस्य खुलने पर राजा क्रोध से जल उठता है। धनवइ और बन्धुदत्त को कारावास का दण्ड दिया जाता है। किन्तु भविष्यदत्त कहता है कि जनता की माँग पर धनवइ को छोड दीजिए। राजा धनवइ को मुक्त कर देता है। नगर के प्रमुखजन तथा सेठ लोग राजा से निवेदन करते है कि बन्धुदत्त को देश निकाला दे दिया जाय। परन्तु भविष्यदत्त विरोध करता है। वह राजा से अपनी पत्नी की परीक्षा के लिए विनय करता है। राजा जयलक्ष्मी और चन्द्रलेखा नाम की दो दासियों को भेजता है। वे जा कर भविष्यानुरूपा से कहती है कि राजा ने भविष्यदत्त को देश निकाले का आदेश दिया है और बन्धुदत्त को सम्मान प्रदान किया है इस लिए अब तुम बन्धुदत्त के साथ रहो। किन्तु वह भविष्यदत्त मे अपनी अनुरक्ति प्रकट करती है। धनवइ नव दम्पति को ले कर घर आता है। कमलश्री व्रत का उद्यापन करती है। पूरे जैनसंघ को जेवनार दी जाती है। वह पिता के घर जाने को तैयार होती है, पर कंचनमाला दासी के कहने से सेठ कमलश्री से क्षमा माँगता है। एक दिन राजा सपरिवार भविष्यदत्त को बुलाता है। वह धनवइ से सुमित्रा के विवाह का प्रस्ताव भविष्यदत्त के साथ रखता है। कुछ समय के बाद पाचाल नरेश चित्राग का दूत भूपाल नरेश के पास आता है और कर तथा अपनी कन्या (सुमित्रा) को देने का प्रस्ताव रखता है। राजा बडे असमंजस मे पड जाता है। भविष्यदत्त युद्ध के लिए तैयार होता है। भविष्यानुरूपा युद्ध के लिए भविष्यदत्त का शृगार करती है। साहस तथा धैर्य का परिचय देता हुआ वह पाचाल नरेश को बन्दी बना लेता है। राजा सुमित्रा के साथ ही अपना राज्य भी भविष्यदत्त को सौप देता है।

कुछ समय बाद भविष्यानुरूपा के दोहला होता है। वह तिलकद्वीप जाने की इच्छा व्यक्त करती है। इसी समय विजयार्द्ध पर्वत पर रहने वाला मनोवेग नाम का विद्याधर मुनिवर के वचनो के आदेश से वहाँ आ पहुँचता है और हरिदत्त के साथ सपरिवार भविष्यदत्त को विमान मे बैठा कर तिलकद्वीप पहुँचा देता है। वहाँ अत्यन्त उछाह से सब चन्द्रप्रभ जिनदेव का पूजन करते है। वही चारण मुनि के दर्शन कर श्रावक धर्म को भलीभाँति सुनते और समझते है। तदनन्तर मनोवेग के मित्र होने की पूर्व भव की कथा पूछते और सुनते है। फिर सभी लौट कर गजपुर आ जाते हैं। मनोवेग अपने घर जाता है। भविष्यदत्त को राज्य करते हुए बहुत समय बीत जाता है। भविष्यानुरूपा के चार पुत्र उत्पन्न होते हैं—सुप्रभ, कनकप्रभ, सूर्यप्रभ और सोमप्रभ। तथा तार (तारा) और—सुतार (सुतारा) नाम की दो पुत्रियाँ हुईं। सुमित्रा से भी धरणेन्द्र नाम का एक पुत्र और तारा नाम की पुत्री हुई।

बहुत समय के बाद गजपुर में विमलबुद्धि नाम के महामुनि आते हैं। भविष्यदत्त सपरिवार उन को वन्दना के लिए गया। राजा अपने पूर्व भवान्तर मुनिराज से सुन कर विरक्त हो जाता है। उस के साथ धनवइ, हरिदत्त और रानी प्रियसुन्दरी आदि दीक्षा ग्रहण करते है। उन सब को दीक्षित देख कर अन्य सेठ लोग भी दोक्षा लेते है। पीछे से भविष्यदत्त जिन-पूजन-उत्सव समारोह के पश्चात् केशलोंच कर पाँच महाव्रतों को धारण कर मुनि हो जाता है। सुप्रभ को राजगद्दी मिलती है। नागरिक जन और कमलश्री, लच्छी, सुमित्रा, भविष्यानुरूपा आदि शोक में विह्वल हो आँसू बहाते हैं। भविष्यदत्त चिरकाल तक महा तप कर वैमानिक जाति का देव उत्पन्न होता है। अन्त में वह चौथे भव में शिवलोक मे गमन करता है।

चरित्रचित्रण

मनुष्य जीवन मे चरित्र का अत्यन्त महत्त्व है। प्रबन्ध काव्यो मे विशेष रूप से चरित्र-चित्रण की सृष्टि होती है। घटनाओं की भाँति भावो मे संघर्ष और जीवन पर उन का प्रभाव स्पष्ट रूप से अपभ्रंश के कथाकाव्यो मे दिखाई देता है। यद्यपि भविष्यदत्त सामान्य व्यक्ति है पर विनय, शालीनता और उदात्त गुणों से संयुक्त होने के कारण वह धीरोदात्त नायक को भाँति चित्रित किया गया है। वह धीर, वीर ही नही साहसी और क्षमाशील भी है। पिता की अनीति मे भलीभाँति परिचित होने पर भी राजा के द्वारा बन्दी बनाये जाने पर वह विरोध करता है और राजा से कह कर पिता को मुक्त कराता है। यहाँ उस की महत्ता का पता चलता है। भविष्यदत्त न तो किसी पर अन्याय करता हुआ दिखाया गया है और न किसी अन्याय को वह सहन ही करता है। अतएव सिन्धुनरेश के अन्यायपूर्ण प्रस्ताव से असहमत हो कर वह सब से आगे बढ कर युद्ध लडता है और निर्भीकता के साथ अपनी वीरता का परिचय देता है। सामान्य वणिक्पुत्र हो कर भी भविष्यदत्त राजोचित प्रवृत्तियों एवं गुणो को प्रदर्शित कर अन्त मे राजा बनता है और सफलता से राज्य-शासन करता हे। लेखक ने जहाँ दैवी संयोग, आकस्मिकता और आश्चर्यजनक वृत्तो की संयोजना धार्मिक प्रभाव स्पष्ट करने के हेतु की है, वहो नायक के चारित्रिक गुणों पर भी प्रकाश डाला है। 'भविसयत्तकहा' मे मुख्य रूप से विरोधी प्रवृत्तियो वाले वर्गगत चरित्र दृष्टिगोचर होते है। एक का प्रतिनिधित्व भविष्यदत्त और कमलश्री करते है तो दूसरे का बन्धुदत्त और सरूपा। राजा भूपाल और धनवइ मे कुछ व्यक्तिगत विशेषताएँ मिलती हैं जो उन के स्वाभाविक चरित्र को स्पष्ट कर देती है। राजा जहाँ न्यायी है, हित और अहित का विवेक रखता है वही अन्याय का प्रतिकार करने के लिए भी तत्पर हो जाता है। मन्त्रियों के विरोध करने पर भी वह सिन्धुनरेश से युद्ध मोल ले कर स्वयं सामना करने के लिए तैयार होता ही है कि भविष्यदत्त अपने साहस और पराक्रम का परिचय दे कर उसे बन्दी बना लेता है। धनवइ लोकनीति और रीति का

अनुसरण करता हुआ भी बिना किसी अपवाद के दूसरा विवाह करने के लिए कमलश्री जैसी गुणवती स्त्री का परित्याग कर देता है। ये ही कुछ विशेषताएँ हैं जिन में भविष्यदत्त जैसे आदर्श तथा वर्गगत चरित्र और अन्य वैयक्तिक चरित्र स्वाभाविक रूप में अपना विशेष स्थान रखते हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने चरित्र का विधान चार रूपों में लिखते हुए निर्दिष्ट किया है कि तुलसीदास जी के समान किसी सर्वांगपूर्ण आदर्श की प्रतिष्ठा का प्रयत्न जायसी ने नही किया। रत्नसेन प्रेम का आदर्श है, गोरा-बादल वीरता के आदर्श हैं, पर एक साथ ही शक्ति, वीरता, दया, क्षमा, शील, सौन्दर्य और विनय इत्यादि सब का कोई एक आदर्श जायसी के पात्रो में नही है।[1] किन्तु भविष्यदत्त के चरित्र में सभी आदर्श रूपों की प्रतिष्ठा स्वाभाविक रूप में अभिव्यंजित हुई है। वह बन्धुदत्त के दुष्कृत्य के लिए उसे क्षमा प्रदान ही नही करता है वरन् उस का यथोचित सम्मान भी करता है। भाई का भाई के प्रति, बेटे का बाप के प्रति, माँ के प्रति और राज्य के प्रति वह कर्तव्य-विधान का परिचय देता हुआ विनय और शील को प्रकट करता है। वस्तुत. भविष्यदत्त का चरित्र आदर्श गुणोपेत है जिस मे शक्ति, शील और सौन्दर्य का स्वाभाविक साहचर्य लक्षित होता है। यद्यपि वह असाधारण बनिये का बेटा है पर अपने आदर्श गुणों के कारण महान् पुरुष के पद को प्राप्त कर लेता है। और इसी लिए धनपाल ने लोक मे प्रसिद्ध महापुरुष की कथा काव्यात्मक रूप मे निबद्ध कर उन के आदर्श गुणो को अभिव्यक्त किया है।[2]

पौराणिक दृष्टि से भविष्यदत्त के चरित्र में आदर्श की ही प्रधानता है। किन्तु वह आदर्श जातिगत स्वभाव के रूप मे स्फुट न हो कर वैयक्तिक रूप मे प्रकाशित हुआ है। काल और परिस्थितियो के अनुसार नायक की मनोवृत्तियो तथा कर्तव्य भावना ने उस के सुप्त शौर्य और शक्ति को जाग्रत् कर सच्चे स्वरूप का परिचय दिया है। कवि ने नायक के सद्‌गुणो का विकास प्रेमजन्य या भक्तिजन्य रूप मे न दिखला कर उस की कर्म भावना मे प्रदर्शित किया है। यद्यपि यह कर्म भावना पूर्व जन्म से सम्बन्धित है पर अदम्य साहस और धैर्य के बीच जिन अद्‌भुत घटनाओ का संयोग हुआ है वे निमित्त मात्र है।

भविष्यदत्त के व्यक्तिगत स्वभाव को प्रधानता दे कर भी धनपाल ने उस के जातिगत स्वभाव की उपेक्षा नहीं की है। अतएव वह तिलकद्वीप से लौटने पर सब से पहले राजा के पास जा कर उपहार भेंट करता है, पर भविष्यानुरूपा के सम्बन्ध मे उस समय कुछ भी नहीं कहता है। इस प्रकार वह पहले राजा को प्रसन्न कर उसे अपने पक्ष मे ले लेना चाहता है जो वणिको की जातिगत विशेषता है। उधर अपनी माँ को भविष्यानुरूपा के पास नागमुद्रिका के साथ भेज कर अपनी बुद्धिमत्ता का परि-

१. प० रामचन्द्र शुक्ल जायसी-ग्रन्थावली, भूमिका, पृ० ११७।
२ सो हियइ धरेवि पवरमहासिरिकुलहरहो।
वित्थारमि लाइ किसणु भविसमहाणरहो। १, १।

वध देता है। सिन्धुनरेश के प्रस्ताव से असहमत हो कर भविष्यदत्त अपनी जातीय स्वाभिमानिता और दूरदर्शिता को ही प्रदर्शित कर अन्त में वीरता का सच्चा निदर्शन प्रस्तुत करता है।

इस काव्य में दो खण्ड हैं, जिन में दो वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हुए पात्र दृष्टिगोचर होते हैं। भविष्यदत्त का चरित्र आदि से अन्त तक व्याप्त होने पर भी मुख्य रूप से उत्तरार्द्ध में विकसित हुआ है। पूर्वार्द्ध में धनवइ, कमलश्री और सरूपा के चरित्र मुख्य है।

धनवइ: धनपति नगरसेठ होने के कारण मिलनसारता, उदारता, दाक्षिण्य, मधुर वक्तृत्व आदि गुणों से भूषित है, किन्तु रूप और धन-यौवन सम्पन्न होने से वह दूसरा विवाह कर लेता है तथा पूर्वपत्नी का सर्वगुणोपेत होने पर भी त्याग कर देता है। वह जातीयता के रँग में पूरी तरह रँगा हुआ दिखाई देता है। धनवइ व्यवहार-चतुर और सयाना है। इस लिए विवाह के अवसर पर राजा को बुलाना नहीं भूलता है और समय से आगे चल कर पूरा लाभ उठाता है। नगर में उस का बड़ा मान-सम्मान है। जनता उसे भलीभाँति चाहती है, क्योंकि वह व्यवहार और चरित्र में मधुर है। और इसी लिए बन्धुदत्त के साथ उस के बन्दी बनाये जाने पर जनता विरोध करती है तथा भविष्यदत्त के कहने पर कि जनता की माँग का सम्मान होना चाहिए, राजा उसे मुक्त कर देता है। उस के बाद भविष्यदत्त के कारण उस का पहले से अधिक मान बढ़ जाता है। यद्यपि धनवइ में गर्व है, पर स्वभाव से वह शान्त प्रकृति का है। परिस्थिति और घटनाओं के अनुसार वह सहज कर्म छोड़ कर युद्ध के लिए सज्जित होता है। इस प्रकार धनवइ के चरित्र में लेखक ने गुण और अवगुण दोनों का सुन्दर सामंजस्य चित्रित किया है।

स्त्री-चरित्रों में भविष्यानुरूपा का और कमलश्री का चरित्र मुख्य है, जो सद्गुणों का प्रतिनिधित्व करती है; पर बन्धुदत्त और सरूपा दुर्जन-चरित्र के रूप है जो भ्रातृत्व और मातृत्व के विपरीत आचरण करते हुए दिखाई देते हैं।

बन्धुदत्त: बन्धुदत्त का चरित्र आरम्भ से ही भविष्यदत्त से प्रतिकूल दरशाया गया है। युवावस्था के पदार्पण करते ही वह युवतियों के साथ छेड़खानी करने लगता है। माँ के समझाने पर कि भविष्यदत्त तुम्हारा जेठा भाई है इस लिए धन-सम्पत्ति में उस का विशेष अधिकार होगा, वह आश्वस्त हो जान-बूझ कर भविष्यदत्त को मैनागद्वीप में छोड़ देता है। यही नहीं, वापस लौटने पर जब फिर से भविष्यदत्त से उस का मिलन होता है तब क्षमा किये जाने पर भी वह भाई को धोखे से छोड़ कर सारी सम्पत्ति को और उस की पत्नी को अपनी कह कर छल-कपट को प्रकट करता है। यहाँ तक कि वह माता-पिता को भी भविष्यानुरूपा के सम्बन्ध में पूछे जाने पर सच नहीं बतलाता है। इस प्रकार उस का चरित्र छल-कपट, विश्वासघाती और लम्पट का चरित्र है जो मर्यादाओं से परे है।

भविष्यानुरूपा : सुन्दरी होने पर भी उसे अपने रूप का गर्व नही है जो नारी जाति का सामान्य स्वभाव समझा जाता है। सपत्नी के प्रति ईर्ष्या की भावना अवश्य व्यक्त करती है, पर पति के समझाने पर वह मान जाती है। इस प्रकार पतिपरायणा होने पर भी सच्चे पातिव्रत्य को कठिन परिस्थितियो मे भी बनाये रखती है, यही उस की सब से बड़ी विशेषता है।

कमलश्री : कमलश्री रूप और शील दोनों मे उत्कृष्ट नारी चित्रित है। पति के द्वारा परित्यक्त हो जाने पर वह धर्म-ध्यान मे अधिक समय बिताती है। परिवार में और समाज मे सभी के साथ उस का इतना अच्छा व्यवहार है कि सब उस के साथ सहानुभूति रखते है। पुत्र के प्रति उस का अत्यन्त स्नेह और वात्सल्य है कि वह उस को देख-देख कर ही पूरा जीवन बिता लेना चाहती है। पुत्र के न लौटने पर उसका वियोग उसे असह्य हो जाता है। धर्म पर उस की श्रद्धा अगाध है। पुत्र के लिए वह श्रुत-पंचमी व्रत का पालन करती है। किन्तु वह स्वाभिमानिनी है और इसी लिए पति के पास अन्त मे बिना बुलाये नही जाती है।

सरूपा सरूपा का चरित्र कमलश्री का विरोधी है। अपने रूप पर उसे बहुत गर्व है। सपत्नी तथा उस के पुत्र से अत्यधिक ईर्ष्या है। इसलिए वह बन्धुदत्त को समझाती है कि जैसे भी बने भविष्यदत्त को अवश्य मार देना। स्त्री-स्वभाव की भाँति वह धन-कंचन और वैभव की बड़ी शान दिखाती है। पुत्र के लौटने पर और मन के अनुकूल उस के आचरण से वह फूली नही समाती है। यद्यपि वधू पर उसे सन्देह होता है पर पुत्र जो कुछ कहता है उसे सच मान कर उस से वह कुछ भी नही पूछती है। यहाँ पर उस की अदूरदर्शिता का पता चलता है। इसी प्रकार सरूपा संगीत, कला आदि मे शिक्षित होने पर भी नारी जाति के विशेष और सामान्य दुर्गुणों से व्याप्त है। वह अपनी सौत से वैसे ही जलती-भुनती और कुढती है जैसे कि कोई दुष्ट स्वभाव की स्त्री होती है।

प्रबन्ध-संघटना

यद्यपि कथा-बन्ध की दृष्टि से भविष्यदत्तकथा प्रबन्ध-काव्य है किन्तु उस मे मुख्य कथा ही है। कथा के विकास के साथ ही घटनाओ को कार्य-कारण योजना समान रूप से मिलती है, पर काव्य का कार्य पूर्णत: धार्मिक भावना से ओतप्रोत है। इस लिए कथा का अन्तिम और कुछ-कुछ मध्य भाग अवान्तर कथाओ के सन्निवेश से गतिहीन और प्रभावहीन जान पडता है। वस्तुतः प्रबन्ध का पूर्वार्द्ध भाग जैसा कसा हुआ और प्रभावोत्पादक है वैसा उत्तरार्द्ध नही। कहीं-कही शैथिल्य भी दृष्टिगोचर होता है। परन्तु पुराण-कथाओ से इन प्रबन्ध काव्यों में कथा के विकास और काव्यात्मक संवेदना में पूर्ण साहचर्य लक्षित होता है। प्रस्तुत काव्य मे मुख्य कथा के प्रवाह के साथ ही प्रासंगिक वृत्तों का संचार दिखाई देता है। किन्तु उन का सम्बन्ध आधिकारिक कथा-

वस्तु से किसी न किसी रूप में सम्बद्ध होने से औचित्य का पूर्ण निर्वाह देखा जाता है। अवान्तर कथाओं की नियोजना कर्म-विपाक की दृष्टि से ही हुई है, जिस मे व्यक्ति के विकास-क्रम की ओर तथा धार्मिक व्रत-माहात्म्य की ओर ध्यान आकर्षित कर रचना को प्रभावपूर्ण बनाया गया है। सम्प्रदायविशेष से सम्बन्धित होने के कारण भी ऐसा करना आवश्यक था। फिर, इस से यह भी सूचित होता है कि चौदहवी शताब्दी तक अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्यों पर पौराणिक प्रभाव बना हुआ था।

समालोचको ने प्रबन्धकाव्य में कार्यान्विय को आवश्यकता पर अधिक बल दिया है। डॉ० शम्भूनाथ सिंह के मत मे रोमांचक कथाकाव्यो में कार्यान्विति नहीं होती और न नाटकीय तत्त्व हो अधिक होते हैं। उन का कथानक प्रवाहमय और वैविध्यपूर्ण अधिक होता है पर उस मे कसावट और थोडे मे अधिक कहने का गुण, जो महाकाव्य का प्रधान लक्षण है, नही होता।[1] किन्तु विण्टरनित्ज ने 'भविसयत्तकहा' को रोमाचक महाकाव्य माना है।[2] जो भी हो, इतना निश्चित है कि प्रस्तुत काव्य में कथानक गतिशील और कसा हुआ है। केवल पूर्व जन्म की अवान्तर कथाओ मे कुछ शैथिल्य प्रतीत होता है। परन्तु कथा और घटनाओ का आदि से अन्त तक पूर्ण सामंजस्य तथा कार्यान्विति स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। इसलिए प्रबन्धकाव्य के मौलिक गुणो की दृष्टि से यह एक सफल रचना कही जा सकती है। क्योंकि इस मे कथानक का विस्तार कथातत्त्व के लिए न हो कर चरित्र-चित्रण के लिए हुआ है, जो महाकाव्य का प्रधान गुण माना जाता है। चरित्र-चित्रण मे मनोवैज्ञानिकता का सन्निवेश इस काव्य की विशेषता है। फिर, कथानक में नाटकीय तत्त्वों का भी पूर्ण समावेश है। वस्तुतः इस काव्य का महत्त्व तीन बातो मे है—पौराणिकता से हट कर लोक-जीवन का यथार्थ चित्रण करना, काव्य-रूढियो का समाहार कर कथा को प्रबन्धकाव्य का रूप देना और उमे सवेदनीय बनाना।

काव्य-रूढियाँ

यद्यपि पुराण-काल में ही काव्य को रूढियो की परम्परा चल निकली थी, पर सम्यक् रूप से उस का प्रचलन अपभ्रंश-काव्यों मे देखा जाता है। उपलब्ध काव्यो मे सर्व प्राचीन स्वयम्भू के 'पउमचरिउ' मे भी इन का सन्निवेश हुआ है। प्रस्तुत काव्य मे इन काव्य-रूढियो का पालन दिखाई देता है—१. मंगलाचरण, २. विनय-प्रदर्शन, ३. काव्य-रचना का प्रयोजन, ४. सज्जन-दुर्जन-वर्णन, ५. वन्दना (प्रत्येक सन्धि के प्रारम्भ मे स्तुति या वन्दना), ६. श्रोता-वक्ता शैली, ७. अन्त में आत्म-परिचय। इन में से मंगलाचरण की पद्धति अत्यन्त प्राचीन है। श्रोता-वक्ता शैली वाल्मीकि

१. डॉ० शम्भूनाथ सिंह . हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास, पृ० ८८।
२. एम० विण्टरनित्ज ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, १९३३, खण्ड २, पृ० ५३२।

रामायण और विमलसूरि के 'पउमचरियं' मे भी मिलती है।[1] इस के मूल में कथानक की प्राचीनता को द्योतित करने वाली प्रवृत्ति ही मुख्य जान पडती है। परवर्ती काल मे प्रबन्धकाव्य की शिल्प-रचना में ये रूढियाँ ज्यों की त्यों अपना ली गयी। हिन्दी में गोस्वामी तुलसीदास के 'रामचरितमानस' मे इन को सुन्दर संयोजना मिलती है।

काव्य के प्रथम कडवक मे जिन-वन्दना है। जिन को अरहंत, अनन्त, महन्त, सन्त, शिव, शंकर और अनादिवन्त विशेषणो से सम्बोधित किया गया है। फिर, कवि कुलधर का स्मरण कर महापुरुष भविष्यदत्त को कीर्ति का विस्तार करने के लिए प्रवृत्त होता है। किन्तु वह अपनी अयोग्यता का विचार कर कह उठता है कि हे विद्वज्जनो, मै तुम्हारा स्मरण करता हूँ, क्योंकि मै मन्दबुद्धि, गुणहीन और अर्थ के विचार से शून्य हूँ। मै मोहरूपी अन्धकार से व्यामोहित मूर्ख इस दुर्धर व्यापार मे प्रवृत्त हुआ हूँ।[2] कवि अपनी असमर्थता प्रकट करने के अनन्तर सज्जनो के सम्बन्ध मे कहता है कि जिस प्रकार वैभवहीन हो जाने पर मनुष्य शोभित नही होता उसी प्रकार काव्य के गुणों से हीन कवि की सहायता सज्जन नही करते अथवा कोई भी निर्धन जन शोभा प्राप्त नहीं करता। और फिर बिना धन-सम्पत्ति के पुण्य भी नही होता।[3] किन्तु असमर्थ होने पर भी मै काव्य-रचना कर रहा हूँ। जिस की बुद्धि का जितना विकास होता है वह मनुष्य लोक मे उतनी ही प्रकट करता है। क्या ऐरावत हाथी के चिंघाडते रहने पर अन्य हाथी अपना चिंघाडना छोड देते है? क्या गगन-मण्डल में चन्द्रमा के उदित होने पर तारागण चमकना छोड देते है? यदि नही, तो मैं भी इस महाकाव्य को निश्चय ही कह रहा हूँ।[4] दुर्जनो के सम्बन्ध मे लिखता हुआ कवि कहता है कि उन का काम दोषों

---

१ आदिकविश्रोत्रान्मोकेर्नारद प्रति प्रश्न। तस्योत्तररूपेण सक्षेपतो नारदकर्तं रामचरितवर्णनं, तच्छ्रवणफलकथनं च।

तप स्वाध्यायनिरत तपस्वी वाग्विदावरम्।
नारद परिपप्रच्छ वाल्मीकिर्मुनिपुगवम् ॥
—वाल्मीकिरामायण, बालकाण्ड १,१।

२. बुहयण सभानमि तुम्ह तिस्थु हउं मंदबुद्धि णिग्गुणु णिरत्थु।
मोहंधयारवामोहमूढु दुग्घरवावारकयारिछूढु। १,२।

३. किं करमि खीणविहवप्पहाय णउ लहमि सोह सज्जणसहाए।
अह णिद्धणु जणु सोहइ ण कोइ धणुसंपय विणु पुण्णहिं ण होइ।१,२।

४ जसु जित्तिउ बुद्धिवियासु होइ सो तित्तउ पयडइ मच्चलोइ।
पिक्खवि अइरावउ गुलुगुलंतु कि इयरहत्थि मा मउ करंतु।
महाकव्वकईहु ताहं तणिय किर कवण कह।
किं उडय मयंकि जोइंगणउ म करउ पह॥ १,२।

तुलना।

अहवा ण इत्थ दोसो जइ उइयं ससहरेण णिसिसमए।
ता किं णहु जोइज्जइ भुअणे रयणीसु जोइक्खं ॥ संदेशरासक, १,८।
जइ मयगलु मउ करए कमलदलव्वहलगंधदुप्पिच्छो।
जइ अइरावइ मत्तो ता सेसगया मा मच्चंतु ॥ वही, १,१।
जा जस्स कव्वसत्ती सा तेण अलज्जिरेण भणियव्वा। वही, १,१७।

को ढूँढ़ निकालना ही होता है। इसलिए मैं तो उन्हें गुणवन्त ही कहता हूँ। उन पर क्रोध क्यों करना चाहिए ? श्रेष्ठ कवि भी अपशब्द को ढूँढ़ता है। उस को सैकड़ों दोष उद्‌भासित होते हैं।[1] कवि कथा के सम्बन्ध मे प्रकाश डालता हुआ कहता है कि सेठ श्रेणिक के पूछने पर गौतम गणधर ने यह श्रुतपंचमी विधान कहा, जिस से यह कथा प्रचलित हुई।[2] आत्म-परिचय के आरम्भ मे कवि इतना ही कहता है कि वणिग्वर धनपाल ने चिन्तन कर इस दु:खमय काल मे श्रेष्ठ आचार्यों से प्राप्त कर इस कथा को अभिव्यक्त किया है।[3]

उक्त काव्य-रूढ़ियाँ सन्देशरासक, पद्मावत और रामचरितमानस आदि मे कुछ परिवर्तन के साथ लगभग सभी दिखाई देती हैं। इस से यह पता चलता है कि भारतीय प्रबन्धकाव्य के मध्य युग मे प्रबन्ध-संघटना के लिए काव्य-रूढ़ियाँ आवश्यक मानी जाने लगी थी। वाल्मीकि रामायण और संस्कृत के प्रबन्धकाव्यो मे मंगलाचरण को छोड कर अन्य काव्य-रूढ़ियो के दर्शन नही होते। वस्तुत: यह अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्यो की अपनी परम्परा है, जो लोकधारा से प्रवाहित रही है। सम्भवत: प्राकृत के काव्यो से इस प्रबन्धात्मक संघटना का विकास हुआ। अपभ्रंश के कथाकाव्यो मे इन मे क्या-कैसा विकास हुआ—इस का विचार अगले अध्याय मे किया जायगा।

वस्तु-वर्णन

आलोच्य ग्रन्थ मे वस्तु-वर्णन कई रूपों में मिलता है। कवि ने जहाँ परम्पराभुक्त वस्तु-परिगणन, इतिवृत्तात्मक शैली को अपनाया है, वही लोकप्रचलित शैली मे भी जन-जीवन का स्वाभाविक चित्रण कर लोकप्रवृत्ति का परिचय दिया है। परम्परागत वर्णनो मे नगर-वर्णन, नखशिख-वर्णन, वन-वर्णन और प्रकृति-वर्णन दृष्टिगोचर होते हैं, जिनमें कोई नवीनता लक्षित नही होती। किन्तु कही-कही संश्लिष्ट योजना द्वारा सजीवता सहज रूप मे प्रतिबिम्बित है। कई मार्मिक स्थलो की यथोचित संयोजना काव्य मे रसात्मकता मे ओतप्रोत है। यद्यपि कुछ स्थलों पर काव्य विवरण प्रधान हो गया है, पर वस्तु-वर्णनों मे मुख्य रूप से रसात्मकता की पूरी समरसता देखी जाती है। घटना-वर्णनों के बीच अनेक मार्मिक स्थलो की नियोजना स्वाभाविक रूप से हुई है, जिन में कवि की प्रतिभा अत्यन्त स्फुट है। मुख्य वर्णन इस प्रकार है—

नगर-वर्णन

इसमे बगीचों, धन-धान्य, सरोवरो, सरिताओ, पक्षियों और नगर की समृद्धि का वर्णन है। कवि ने संक्षेप में वर्णन कर वहाँ की सघन और शीतल अमराइयों की

१ पग्गिछिद्दसइहि वावारु जासु गुणवंतु कहिमि कि कोवि तासु।
अवसद्द गवेसइ वर कईहु दोसइ अब्भासइ महसईहु। १,३।
२ तहो गणहरु गोयमु गुणवरिट्ठु तिं तइयहं जं सेणियहु सिट्ठु।
पुच्छंतह सुअपंचमिविहाणु तहिं आयउ एहु कहाणिहाणु। १,४।
३. चिंतिय धणवाले वणिवरेण सरसइ बहुलद्ध महावरेण। १,४।

ओर संकेत करते हुए कहा है कि उस गजपुर नाम के नगर में पथिकजन पेड़ों की छाया में घूमते हुए, रात में दल के दल विहार करते हुए, हास-परिहास करते हुए, गन्ने का रस-पान करते हैं। वह इतना वैभवपूर्ण और सुखी नगर है मानो आकाश से खिसक कर स्वर्ग का एक खण्ड ही पृथ्वी पर अवतीर्ण हुआ हो। (१,५)

एक अन्य स्थल पर उजाड नगरी का वर्णन करते हुए कवि ने मार्मिक दृश्यों को इतनी सुन्दर संयोजना की है कि आँखों के सामने चित्रपट की भाँति विविध चित्र मालाओ के रूप मे एक के बाद एक घूमने लगते हैं। चित्रण जहाँ यथार्थ है वहीं कल्पना-गत बिम्बों की सजीवता भी दर्शनीय हैं। ऐसे स्थलों पर कवि की रागात्मिका वृत्ति वर्णनों मे विशेष रूप से रमी है और कल्पना करते-करते वह थकती नही है; वरन् सुन्दर से सुन्दर कल्पना-प्रसूत वास्तविक चित्र अंकित करती जाती है। चित्र है—भविष्यदत्त उस तिलकद्वीप की सुन्दर नगरी में, जो चारो ओर से गोपुर और परिखाओं से घिरी हुई थी तथा श्वेत कमल के समान जिसमे स्वच्छ घर थे और जो मणि तथा रत्नों की कान्ति से जगमगा रहे थे, ऐसी शोभित हो रही थी मानो बिना जल का सरोवर छबि बिखेर रहा हो, ऐसी उस नगरी मे घूमता हुआ अत्यन्त आश्चर्य से एक-एक वस्तु को देखता हुआ कहता है—भवनो की खिडकियाँ अधखुली क्या दिख रही है मानो किसी नयी बहू की ही अधखुली तिरछी आँखें हों, अथवा फलकों के बीच का भाग क्या दिखलाई दे रहा है मानो कुछ-कुछ काम से अन्धी हुई युवती ही अपनी अधखुली जाँघो का प्रदर्शन कर रही हो। धन-सम्पत्ति से भरे हुए भाँड-बरतन क्या दिख रहे हैं मानो कोई नागिन ही अपने मुकुट के चित्र-विचित्र रेखा-चिह्नों को ही प्रकट कर रही हो। छेदो मे से दिखाई देने वाला प्रकाश ऐसा जान पड रहा है मानो धन की अभिलाषा मे किसी एक पुरुष ने एकान्त में दीप जलाया हो। इतना ही नही, खम्भे अविचल योगियों की भाँति ऐसे दिखाई दे रहे थे मानो सुरति-क्रीडा आरम्भ करने के पहले युवक और युवती वसनहीन हो गये हों। गोपुर के मार्ग भी अब गायो की धूलि से रहित हो गये है। बगल मे से पवन से उड़ायी हुई ध्वजा-पताकाएँ चंचल दिखाई दे रही है। जो बड़े-बडे भवन चिर-काल से लोगो से व्याप्त थे वे अब रति-क्रीडा समाप्त कर लेने वाले दम्पति युगल की भाँति नि.शब्द है। जहाँ पर निरन्तर पनिहारियो के आने-जाने से बहुत समय तक पनघट शब्दायमान होते रहते थे वे भी अब भाग्यवश मूक हो गये है। (४,८)

कंचनद्वीप-यात्रा-वर्णन

वस्तु-वर्णन मे कवि ने जिस रीति को अपनाया है, उस मे वर्णन विस्तार या चित्रण न हो कर समास शैली मे विवरण और वर्णन दोनो का सामंजस्य दिखाई देता है। मुख्य रूप से कवि की प्रवृत्ति प्रकृति से मेल-मिलाप न कर मानवीय भावनाओं से प्रभावित तथा सब ओर उस की ही आन्तरिक और बाह्य छबि निरखती प्रतीत होती है। यद्यपि मार्ग मे विभिन्न पदार्थों के, जलजन्तुओ के और पर्वत आदि के मनोहर

दृश्यों का सुन्दर वर्णन किया जा सकता था, पर कवि ने चार पंक्तियों में ही गजपुर से मैनाग द्वीप की दूरी नाप कर अत्यन्त संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया है—

लंघंतइं दीवंतरथलाइं पिक्खंति विविह कोऊहलाइं ।
इय लीलइं वच्चंताहं ताहं उच्छाहसत्तिविक्कमपराहं ।
दुप्पवणिणं घणतरुवर समीवि वहणइं लग्गइं मयणाविदीवि । (३,२३)

इस से ऊपर के कड़वक में कवि ने वर्णन करते हुए कहा है कि वे सुन्दर कुँवर रंग-बिरंगे घोड़ों पर चढ़ कर कुरुजंगल की धरती से दूर मलकते हुए चले जा रहे थे । बड़े-बड़े जंगलों, पुर, ग्राम, खेड़ों और थोडी झोपडियों वाले गांव-गंवइयों को लाँघते हुए, जमुना नदी तथा दुर्गम नदियों और स्थानों को पार कर, अन्यान्य भाषा-भाषियों से देखे जाते हुए समुद्र के तट पर पहुँच गये । इस वर्णन में भी उक्त प्रवृत्ति स्पष्ट है—

चडुलगतुरंगिहिं आरुहिवि संचल्लिय सुंदर कुमर ॥ (३,२१)
अग्गेयदिसइं मल्हंति जंति कुरुजंगल महिमंडलु मुयंति ।
लंघंति वियणकाणण पलंब पुरगामखेडकव्वडमडंब ।
जउणाणइ सलिलु समुत्तरेवि जलदुग्गइं थलदुग्गइं सरेवि ।
अण्णण्ण देसभासइ णियंत रयणायरे वेलाउलइं पत्त । (३, २२)

समुद्र-वर्णन

समुद्र का वर्णन पौराणिक न हो कर कवि की मूल प्रवृत्ति का परिचायक है । वह समुद्र को घोर-गम्भीर महापुरुष की भाँति चित्रित कर उस की गहनता, शालीनता और मर्यादाशीलत्व का चित्र एक ही पंक्ति में अंकित कर देता है—

लक्खिउ समुद्दु जललवगहीरु सप्पुरिसु व थिरु गंभीरु धीरु । (३,२२)

'जललवगहीरु' कह कर उस की पूर्णता की ओर संकेत किया गया है । जब मनुष्य विचारों और अनुभवों में उथला होता है तब वह चंचल तथा उछल-कूद मचाने वाला होता है, पर भरा-पूरा व्यक्ति गंभीर और संयमी होता है । मनुष्य में इच्छा और महत्वाकाक्षाओं का होना स्वाभाविक है । समुद्र में भी साँप के विष की भाँति विष से व्याप्त विषम लहरें बडे-बडे तटों पर किलोल-क्रीड़ाएँ कर रही थीं । और उस समय वह समुद्र-तट लहरों के टकराने से ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो खरीदने और बेचने वाले मनुष्यों का कलकल कोलाहलमय वचनालाप हो रहा हो ।

आसीविसोव्व विसविसमसीलु वेलामहल्लकल्लोललीलु ।
दिट्ठइं विउलइं वेलाउलाइं कयविक्कयरयवयणाउलाइं । (३,२२)

यहाँ पर 'आसीविसोव्व' कह कर कवि ने साँप की भाँति लहराती हुई तथा बार-बार समुद्र के किनारे को चूमती हुई लहरों का कितना सुन्दर चित्र बिम्बार्थ के माध्यम से चित्रित किया है । नीचे की पंक्ति में भारत की किसी हाट से समुद्र के तट की कितनी सुन्दर समता दर्शायी है । थोड़े में ही कवि ने बहुत कुछ कह दिया है ।

विवाह-वर्णन

इस वर्णन में हमें परम्पराभुक्त पद्धति का दर्शन न हो कर लोक-जीवन का यथार्थ चित्रण दिखाई देता है। सेठ धनवइ के विवाह की तैयारियाँ हो रही हैं। मण्डप तान दिये गये हैं। घर-घर तोरण बाँध दिये गये हैं। वह परम छबि सभी का मन हर रही है। सैकड़ों वितान (चंदोवे) जनता का मन चुरा रहे हैं। धरती पर मँडवा गड़ा हुआ है। कई रंगों के सुगन्धित चन्दन छिड़के जा रहे हैं। अगुरु चन्दन से सैकड़ों घर सुगन्धित और शोभित हो रहे हैं। मुख देने वाले सज्जनो की तरह सरस कमल अविरल विकीर्ण किये जा रहे हैं। निज गोत्र एवं कुल के जनों से साँथरी तथा मोतियो से भरी जाने वाली रंगावली के रचे जाने पर विशिष्ट स्वजनो के साथ बैठ कर वार्तालाप किया जाने लगा। राजा को पीढा पर बैठाया गया। फिर, हास-परिहास को छोड कर भोजन के लिए सुन्दर वस्त्रों को उतार कर लोग अन्तःपुर मे पहुँचे। घर के प्रधान ने अनेक भक्ष्य तथा सुन्दर पदार्थों का भोजन कराया। फिर, पान, वस्त्र ले कर जो जिस के योग्य था उसे प्रदान किया। भेरी, शंख, मादल आदि मागलिक बाजो से दसो दिशाएँ भर गयी। कवि की कल्पना है कि उस समय ऐसा लग रहा था मानो अच्छे मुहूर्त और नक्षत्र को देख कर प्रत्यक्ष स्वर्ग ही भूतल पर उतर आया हो।

किय मंडवसोह घरि घरि बद्धइ तोरणइं।
उल्लोच सयाइं रइयइ जणमण चोरणइं॥ (१,८)
खंचिय मेइणि तंडविय वण्ण वहु परिमलचंदणछडय दिण्ण।
अविरल पइण्ण सरसारविन्द पूरिवि णिविट्ठ सुहिसयणविंद।
कालागुरु खण्डइ बोहियाइं वरभवण सयइं उवसोहियाइ।
णिय गोत्तमाइं मंगलवलीउ पूरिवि मोत्तियरंगावलीउ।
संभासिउ सयणु विसिट्ठु इट्ठु णरणाहु चउक्कासणि बइट्ठु।
पुणु किउ परिचित्ति संपहारु वरभोयण वत्थाहरणसारु। (१,९)

इस काव्य में विवाह का वर्णन तीन स्थलो पर हुआ है। चौथे स्थान पर तेल चढाने का वर्णन है। इन वर्णनो को ध्यान से पढने पर पता चलता है कि उस युग मे वैवाहिक रीति-रिवाज आज की ही भाँति समाज मे प्रचलित थे। विवाह के लिए मण्डप गाडे जाते थे। रंगावली पूरी जाती थी। मगल-कलश और वन्दनवार सजाये जाते थे। मंगल वाद्यो के साथ भाँवरें पडती थी और लोगो को भोज दिया जाता था। कन्या महावर से चरणों को रजित करती थी तथा आँखों मे कज्जल और माथे पर तिलक लगाती और वस्त्राभूषणो से सज्जित होती थी। विवाह मे विशेष रूप से श्वेत वस्त्र को छोड कर रंगीन परिधान धारण करती थी। दहेज की भी प्रथा थी। धनवइ ने स्वर्ण, मणि और रत्नो का लोभ छोड़ कर सज्जन लोगों के कहने से धनदत्त की पुत्री सरूपा को ब्याहा था—

अवगण्णिवि सुहिसज्जणवयणइं   मोकल्लिवि सुवण्णमणिरयणइं ।
णियणयविणयायारिपइत्तहो   मग्गिवि लइय धीय धणयत्तहो । (३,१)

युद्धयात्रा-वर्णन

युद्ध के लिए जाती हुई अपने नगर की पूरी सेना को देख कर लोगों को ऐसा प्रतीत हुआ मानो प्रलय काल ही सेना के रूप में प्रकट हो गया हो । यथा—

....   अवलोइय णियभडबलु असेसु ।
दरिसहु कुरुजंगलि पलयकालु,   कुरुवइ उक्खिणहु समूलडालु ।
गयउग्गियारपओलिभंगु   दरमलहुछुहिवि बलु चाउ रंगु ।
हयभेरिपयाणउं णवर दिण्णु   धरदरमलंतु संचल्लिउ सिण्णु । (१३,१३)

उक्त पंक्तियों में युद्धयात्रा का कितना सजीव वर्णन है ! पढते ही सेना द्वारा धरती रौंदने का चित्र आँखों के सामने घूमने लगता है ।

युद्ध-वर्णन

युद्ध का वर्णन अत्यन्त विस्तार के साथ कवि ने किया है । घनघोर युद्ध का सजीव वर्णन नीचे की पंक्तियों में अत्यन्त सजल है—

हरिखरखुररणखोणी खणंतु   गयपायपहारि धरदरमलंतु ।
हणु मारि मारि करयलु करालु   सण्णद्धबद्धभडथडवमालु ।
तं णिइवि सघण अहिमुहु चलंतु   धाइउ कुरुसाहणु पडिखलंतु । (१४,१३)

पद-योजना भी विकट बन्ध के अनुकूल है । आगे का वर्णन बिम्ब-योजना से पूर्ण होने के कारण काव्यात्मक तथा यथार्थ चित्रण से समन्वित है । रणस्थली में घोड़ों के तेज खुरों से उठती हुई सघन धूलि को देख कर कवि कल्पना करता है कि वह धूलि क्या थी मानो योद्धाओं की परसन्तापाग्नि से उत्पन्न होने वाला धुँआ ही सब ओर व्याप्त हो रहा था । धूलि आकाश तक फैल रही थी, जिस से जग में चारों ओर अन्धकार छा रहा था । इतना अधिक अँधेरा छा गया था कि योद्धाओं को अपनी और दूसरों की तलवार तक नहीं दिखाई दे रही थी—

तो हरिखरखुरग्गसंघट्टिं   छाइउरणअतोरणे ।
णं भडमच्छरग्गि   संधुक्कण धूमतमंधयारणे ॥
धूलीरउगयणंगणु भरंतु   उट्ठिउ जगु अंधारउ करंतु ।
णउ दीसइ अप्पुणपरु सखग्गु   ण गइंदु ण तुरउ ण गयण मग्गु । (१४,१४)

तैल चढाने का वर्णन

विवाह होने के पूर्व भविष्यानुरूपा को धनवइ के घर तैल चढाया जाता है । यह एक सामाजिक प्रथा है । आज भी तैल चढ़ाने की प्रथा भारतवर्ष के विभिन्न भागों में

वर्तमान है। कमलश्री वहाँ पहुँचती है। इतने मे ही तैल चढ़ाने का भी शुभ मुहूर्त आ पहुँचा। किसी एक स्त्री ने वधू के पास जा कर उसे सब लोगों के बीच समाश्रित किया। पहले सोचा कि यह अत्यन्त व्याकुल है, इसलिए क्या करें; पर प्रावरण के भीतर ही हँस कर मन ही मन तैल लगाना आरम्भ कर दिया। किसी अन्य स्त्री ने उसे आवरणरहित कर दिया और बहुत देर तक वह उस के हाथ के नाखूनों को देखती रही। कोई निरन्तर कटाक्षपात से अनुरंजन करती रही। कोई परस्पर हास-परिहास करने लगी। किसी अन्य स्त्री ने भविष्यानुरूपा के अगों को भलीभाँति देख कर कहा कि इसे तो बहुत पहले ही तैल लग चुका है। चतुर युवतियाँ मुँह पर धोती का पल्ला रख कर हँसने लगी। फिर क्या था, स्त्रियाँ आपस मे कई तरह की बातें करने लगी—

....   आयरु तिल्लि करहु सुमुहुत्ति।
अण्णहि सुमुहु समासिउ मुद्धई   कि किज्जइ विग्गोवउ सुद्धई।
ताइवि पंगुरणहु अब्भंतरि   लाइउ तिल्लु हसिवि चित्तंतरि।
अण्णइं तहि पंगुरणहु विवत्तिउ   दिट्ठउ चिरु कररुहवणपंतिउ।
अण्णइं अहरउ णयणकडक्खिउ   अण्णिवि हसिवि अण्णहिं अक्खिउ।
अण्णइं वृत्तु णिहालिवि अंगउ   आयहिं कहिमि तिल्लु चिरु लग्गउ।
मुहि अंचलु देवि हंसइ   समुब्भडु तरुणियणु।
लइ लायहु तेल्लु   वालहिउब्भंखरिउ तणु॥ (९,२१)

इस प्रकार हास-परिहास के बीच तैल चढाने का वर्णन लोक-जीवन के सामाजिक महत्त्व को हमारे सामने प्रस्तुत करता है।

वसन्त-वर्णन

कवि ने वसन्त-वर्णन में जहाँ सामान्य इतिवृत्तात्मक वर्णन किया है वही उस में लोक-जीवन की भी झलक दिखाई देती है। यथा—

घरि घरि चच्चरि कोऊहलाइ   घरि घरि अंदोलय सोहलाइं।
घरि घरि तोरणइं पसाहियाइं   घरि घरि सयणइं अप्पाहियाइं
घरि घरि बहु चंदण छडय दिण्ण   मचकुंदवणय दवणय पइण्ण।
घरि घरि जयमंगलकलसं किय   घरि घरि घर देवय अवयरिय।
घरि घरि सिंगारवेसु धरिवि   णच्चिउ वरजुवईहिं उत्थरिवि। (८,९)

अर्थात् घर-घर कुतूहल से चाँचर खेली जाने लगी। घर-घर हिंडोले शोभायमान होने लगे। घर-घर तोरण बाँधे जाने लगे। घर-घर मे स्वजन अपने हृदय को अर्पित करने लगे यानी कि बहुत चाव से एक दूसरे से प्रेम करने लगे। घर-घर मे चन्दन छिड़का हुआ है। मुचकुन्द के वन के वन फूल उठे है। घर-घर पर जयमंगल कलश शोभित हो रहे हैं मानो किसी देवता ने ही अवतार लिया हो। घर-घर मे अच्छे वेश में सुसज्जित हो स्त्री-पुरुष नाच-गान मे रत हो रहे है।

अपभ्रंश की कई रचनाओं में चर्चरी, तालरासक, डाडारास और रासनृत्य आदि का उल्लेख मिलता है, जिस से पता चलता है कि लोक-जीवन में उस समय उन का विशेष प्रचार था।

बाल-वर्णन

वसन्त-वर्णन की भाँति बाल-वर्णन भी स्वाभाविक रूप मे हुआ है। शिशु भविष्य-दत्त का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि माता कमलश्री के उठे हुए पीन स्तनो से सट कर और गले के हार को धकेल कर बालक स्तनपान करता है। वह लोगो के हाथो-हाथ घूमता है। अपने अच्छे चरित्र से सभी को सुहाता है। स्त्री-पुरुष सभी उसे गोद मे लेते है। श्रेष्ठ विलासिनी स्त्रियाँ भी उसे चूमती हैं।

कमलसिरिहि पीणुण्णयसट्टइं पेल्लिवि हारु पियइ थणवट्टइं।
हत्थिहत्थु भमइं जणविंदहो चरिय सुहावउ सुट्ठु णरिंदहो।
णरणाहिं सइं अंकि लइज्जइ चामरगाहिणीहिं विज्जिज्जइ।
पवरविलासिणीहिं चुंबिज्जइ अण्णहिं पासिउ अण्णइं लिज्जइ।
सीहासण सिहरोवरि मुच्चइ वरविलयहं सिरि कुरुलवि लुचइ।(२,१)

बालक की इन स्वाभाविक चेष्टाओं का वर्णन करता हुआ कवि आगे कहता है—जब कोई भविष्यदत्त का चुंबन लेता है तो उस के कपोलों से छूने वाले वस्त्र को वह स्तन समझ कर दूध पीने के लिए उस के गले लग जाता है। अपने कोमल पगो से स्तन पर पड़े हुए हार को दलता है और जड़े हुए श्वेत हार को तोड़ता है।

चुंबिज्जंतु कवोलइं चीरइं गलि लग्गंतु थणहिं अहि खीरइं।
कोमलपयहिं दलइ थणहारइं आखंचिवि तोडइ सियहारइं। (२,१)

इन वर्णनों मे कवि की प्रतिभा का प्रदर्शन न हो कर लोक-जीवन का यथार्थ चित्रण है। इन को पढने से सहज मे ही स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने लोककथा के साथ ही जन-जीवन का भी पूर्ण सामंजस्य पौराणिक तथा लोक शैली मे अभिव्यंजित किया है।

राजद्वार-वर्णन

भविष्यदत्त राजद्वार पर पहुँच कर देखता है कि योद्धाओ के ठट्ठ के ठट्ठ संचार कर रहे हैं। विस्तृत मैदान मे हाथी किलोलें कर रहे हैं। तुर्की देश के घोड़े हिनहिना रहे है। राजद्वार सशक्त सामन्तो से संकुल है। उस द्वार के भीतर प्रवेश करने वाला कनकदण्ड से ही रोक लिया जाता है। वहाँ कोई मनमानी नही कर सकता, स्वच्छन्द विहार नही कर सकता। सभी का मान वहाँ पर गल जाता है। उस राज-द्वार को भोट, जाट, जालन्धर, मारवाड, टक्क, कीर, खस, बर्बर, मरु, अंग,

कलिंग, वैराटक, गुजरात, बंगाल, लाट और कर्नाटक देश के लोग प्रतिहारी के रूप में रक्षा करते हैं।

णिग्गउ वणिवरिंदु पहुवारहो भडयडणिवहविसमसंचारहो।
जहिं गय गुलुगुलंति पिहु जंगम हिलिहिलंति तुक्खारतुरंगम।
जहिं मंडलिय सक्कसामंतहं णिवडइ कणयदंडु पइसंतहं।
गलइ माणु अहिमाणु ण पुज्जइ णियसच्छंदलील णउ जुज्जइ।
जहिं अब्भोट्टजट्टजालंधर मारुअटक्ककीरखसवब्बर।
मरुवेयंगकुंगवेराडवि गुज्जरगोडलाडकण्णाडवि।
इय एमाइ मुक्क सवसुंधर अवसरु पडिवालंति महाणर। (१०,१)

इन देशों को नामावली से पता चलता है कि राजा भूपाल का राज्य कितना विस्तृत था। दूसरे, उस युग मे कई छोटे-छोटे राज्य थे। तीसरे, तुर्क आदि देशों से भारत के अच्छे व्यापारिक सम्बन्ध थे। वहाँ के घोडे युद्ध मे अच्छा काम देते थे। क्योंकि तुर्की घोडे सब से अच्छी जाति के माने गये हैं।

शकुन-वर्णन

भविष्यदत्त उस गहन वन मे जिन का स्मरण करता हुआ रोमांचित हो कर इधर-उधर घूमने लगा। इतने मे ही शुभ शकुन उत्पन्न करने वाली बातें दृष्टिगत होने लगी। एक ओर श्याम चिरैया उडती हुई दिखाई दी और दूसरी ओर बायी ओर से मधुर वायु बहती हुई लक्षित हुई। प्रिय से मिलाप करने वाले मधुर शब्दों में कौआ कुलकुलाने लगा। बायी ओर मधुर मुसकान के साथ लावा पक्षी दिखाई दिया—और दाहिनी ओर मैना दिखाई दी। दाहिनी आँख और बाहु फड़क कर यह सूचित करने लगे मानो यह कह रहे हों कि इसी मार्ग से जाओ।

जिणु समरंतु संचलिउ धीरु वणि हिंडइ रोमंचिय सरीरु।
सुणिमत्तइं जायइं तासु ताम गयपयहिणंति उड्डेवि साम।
वामंग सुत्ति रुहुरुहइ वाउ पिय मेलावउ कुलकुलइ काउ।
वामउ किलिकिंचिउ लावएण दाहिणउं अंगु दरिसिउ मएण।
दाहिणु लोयणु फंदइ सबाहु णं भणइं एण मग्गेण जाहु। (४,५)

वन-वर्णन

यद्यपि मैनाग द्वीप के वर्णन में कवि ने कुछ वृक्षों के नाम गिनाये हैं, पर कवि की प्रणाली परिगणनात्मक न हो कर उस द्वीप में मुख्यता से पाये जाने वाले पेड़ो को दर्शाना है। वन-वर्णन मे भी प्रमुख पशु-पक्षियों के नाम कहे गये हैं, पर कवि वन की भयंकरता और उस मे भविष्यदत्त का इधर-उधर भटकना बताना चाहता है। भविष्यदत्त मरण के भय को छोड़ कर उस वन में घुस गया, जहाँ सिंह प्रवर्तमान था और जहाँ

दिशा मण्डल नहीं दिखाई देता था। जहाँ पर दुःख का प्रभाव स्पष्ट था, उस भीषण वन में घूमता हुआ वह बड़ी कठिनाई से क्रोध से भरे हुए मृगेन्द्र को देख सका। किसी स्थान पर हाथियों के झुण्ड के झुण्ड थे और कही पर काले-काले गैंडे किलोलें कर रहे थे। भविष्यदत्त ने देखा कि कहीं दर्प से भरे हुए हाथी चले जा रहे हैं, जो न तो किसी से नष्ट किये जा सकते है और न जिन्हें कोई रोक ही सकता है। कही पर गाढ़े काजल की तरह काले-काले सुअर धरती पर लोटते हुए और जलाशयों से निकलते हुए दिखाई दे रहे थे। कही पर नाचते हुए मोर अपने आप को भूल रहे थे। कही पर भयंकर शब्द हो रहा था और किसी स्थान पर बाँसों की पंक्ति में दावानल सुलग रहा था।

पइट्ठो वणिदो वणे तम्मि काले पइट्ठो तहिं दुण्णिरिक्खे खयाले।
दिसामंडलं जत्थ णाउं अलक्खं पहायं पि जाणिज्जए जम्मि दुक्खं।
भमंतो सुभीसावणं तं वणं सो णियच्छेइ दुप्पेच्छराइं सरोसो।
कहिंचिप्पएसे सजूहं गइंदं महाणीलकल्लोल गण्ड सणिद्दं।
कहिंचिप्पएसे णिएउं णरिंदं ण णट्ठं ण रुद्धं सदप्पं मइंदं।
कहिंचिप्पएसे घणं कज्जलाहं गयं भुंडि णीसावराहं वराहं।
कहिंचिप्पएसे मऊरं पमत्तं णडंतं पि अप्पाणयं विण्णडंतं।
कहिंचिप्पएसे समुण्णोण्णघोसो हुओ पायडो वंसयाले हुयासो। (४,३)

रूप-वर्णन

आलोच्य ग्रन्थ मे रूप-वर्णन कई स्थलों पर हुआ है। कमलश्री के सौन्दर्य का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि वह गोल, सुन्दर कटिवाली तथा सुन्दर एव विकसित स्थूल स्तनों से युक्त थी। उस का मुख पूनम के चन्द्रमा जैसा गोल और सुन्दर था। बड़ी-बडी आँखें नये कमल के पत्ते के समान थीं। वह स्थिर थी और कलहंस के समान चाल रखती थी। यह तो उस के बाह्य सौन्दर्य का वर्णन हुआ। अन्तरंग मे वह इतनी उज्ज्वल, पतिव्रता और भक्ति से ओतप्रोत थी कि कवि ने उसे "अखलिय जिणवर-सासणिभत्ती" कह कर उस की पूर्ण विशेषताओं को सरसता से अभिव्यक्त कर दिया है।

सा कमलसिरी णाउं तहु पत्ती अखलिय जिणवरसासणिभत्ती।
समचक्कल कडियल सुमणोहर वियडरमणघणपीणपओहर।
छणससिबिंबसमुज्जलवयणो णवकुवलयदलदीहरणयणो। (१,१२)

सरूपा के रूप का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि वह पूनम के चन्द्रमा के समान सुन्दर और भौरे की भाँति मधुर वचनालाप करने वाली थी। दाँतों की पंक्ति की प्रभा से उस का मुख प्रहसित था। सकल कला-कलापों से पूर्ण वह अभिनव लक्ष्मी के समान अवतीर्ण जान पड़ती थी।

पुण्णिममइंद रुंदससिवयणी दंतपंतिपह पहसिय वयणी।
सयलकलाकलावसंपुण्णी अहिणवलच्छि णाइं अवइण्णी। (३,२)

यद्यपि आलोच्य ग्रन्थ में वर्णनों मे आवृत्ति नही दिखाई देती है, पर कुछ नये उपमानो को छोड कर प्राचीनता का ही अधिक आश्रय लिया गया है। अतएव नख-शिख-वर्णन की भी प्रवृत्ति मिलती है। काम-क्रीडा का वर्णन, मान धारण करना और प्रणयरोष आदि का यथास्थान उल्लेख हुआ है। कवि ने नख से ले कर शिख तक का पूरा वर्णन किया है। वर्णन-शैली पुरानी होने पर भी काव्यगत उपमान नये है। उदाहरण के लिए भविष्यानुरूपा के अग पर रोमावलि (त्रिवलि) ऐसी शोभित होती थी जैसे कोई चींटी की कतार हो।

रोमावलि वलि अंगि विहावइ थिय पिपीलिरिछोलि व णावइ। (५,९)

इसी प्रकार उस की चारो ओर से गोल और पतली कमर बीचोंबीच मे इतनी पतली थी कि करतल की मुट्ठी में समा जाती थी।

समवक्कल कडियलु किसु मज्झउ णज्जइ करयलु मुट्ठिहि गिज्झउ। (५,९)

तथा रत्नाभरण से विभूषित उस का कण्ठ ऐसा शोभित हो रहा था जैसे कि समुद्र के उपकण्ठ मे तटवर्ती श्री भूषित होती है।

रयणाहरण विहूसिय कंठि वेलासिरि व उवहि उवकंठि। (५,९)

संक्षेप मे कवि मे, गुण और क्रिया के योग से सम्पूर्ण चित्र को अभिव्यजित करने की अद्भुत क्षमता है। मुक्तक काव्य की यह स्वतन्त्र विशेषता मानी जाती है[१]। वस्तुत. अप्रस्तुत-योजना जाति, गुण, क्रिया, शक्ति एव स्वभाव के आधार पर की जाती है। कवि किसी एक का अवलम्बन ले कर दोनो पक्षो का आधारभूत चित्र स्पष्ट कर देता है। यह विशेषता खडी बोली की कविता मे ही नही अपभ्रश की कविता मे भी पूर्ण रूप से विद्यमान है। छायावादी कविता मे अवश्य नवीन अप्रस्तुत योजना दिखाई देती है, जिस मे प्रस्तुत अप्रस्तुत मे ही अन्तर्निहित नही होता वरन् प्रस्तुत ही अप्रस्तुत बन जाता है।[२]

प्रस्तुत काव्य मे अप्रस्तुत-विधान, क्रिया-व्यापार और सादृश्य दोनों ही रूपो मे हुआ है। नीचे की पंक्तियो में भविष्यानुरूपा के गुण और उस के सौन्दर्य को दर्शाने के लिए कवि ने क्रियागत साम्य की ओर संकेत किया है—

णं वम्महभल्लि विधणसीलजुवाणजणि।
तहि पिक्खिवि कंति विभिउ झत्ति कुमारु मणि॥ (५, ८)

अर्थात् युवकों के हृदय को बीधने के लिए कामदेव के भाले के समान उस सुन्दरी को देख कर कुमार भविष्यदत्त का मन तुरन्त ही आश्चर्य से चकित हो गया।

यहाँ 'कुमारुमणि' कितना सार्थक प्रयोग है।

---

१ मुक्तकेषु हि प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिन कवयो दृश्यन्ते, यथा ह्यमरुकस्य कवेर्मुक्तक शृङ्गाररसस्यन्दिन. प्रबन्धायमाना प्रसिद्धा एव। ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत।

२. डॉ० मोहन अवस्थी 'खड़ीबोली काव्य की अप्रस्तुत-योजना', हिन्दुस्तानी, भाग २३ · अंक १, पृ० ८।

मैनागद्वीप का वर्णन

यह वर्णन वास्तविक और लोक-जीवन से भरपूर है। गजपुर से चल कर सब लोग समुद्र-तट पर पहुँचते है और वहाँ से पोत मे बैठ कर मैनागद्वीप के तट पर पहुँचते हैं। सभी प्रमुख लोग उतर पडते है। देखते है—सामने आँखों को सुहावना लगने वाला, दुर्लंघ्य, दुर्गम और बडी कठिनाई से भ्रमण करने पर भी अत्यन्त प्यारा मैनाग नामक पर्वत स्थित है। उसी के घने पेड़ो के पास मैनागद्वीप है। वे सब लोग वही पर घूमने लगे। कुछ लोग आलस्य को छोड़ कर पानी लाने लगे। कुछ घडे भरने लगे और कुछ जो घडे भर कर ला रहे थे उनको हाथों मे सँभालने लगे। उस वन मे चंचल तमाल, ताल, मालूर, माल और सलई आदि के सुन्दर वृक्ष थे। कही पर कमलों से भरित सरोवर शोभित हो रहे थे। किसी ओर पानी के झरने प्रतिध्वनित हो रहे थे। हाथी के झुण्ड घूम रहे थे। सुन्दर वृक्षो के प्रसून मकरन्द से भरित सुगन्ध बिखेर रहे थे। किसी ओर मनोहर किशलय और पत्ते थे तो किसी ओर रस से भरे हुए फल।

तरलतमालतालमालूरमालसल्लइदुमरवण्णु ।
पिक्खइ कहिमि ताइं पकयसराइं सयवत्तसोहियाइं ।
कत्थइ पाणियाइं अवमाणियाइ करिजूहृ डोहियाइं ।
कत्थइ णिज्झराइं पडिरवकराइं जलरेणु भूसियाइं ।
वरतरुकुसुमगधपरिमलसुयधमयरंदमोसियाइं ।
कत्थइ मणहराइं किसलयहराइं दलवह [illegible]तलाइ । (३,२४)

यह पूरा वर्णन व्यावहारिक जीवन की भाँति जाना-माना और पहचाना-सा लगता है। यही इस की विशेषता है। घरेलू बातों का समावेश कर कवि ने लोक-जीवन को ही अभिव्यक्त कर दिया ह। कवि की यह प्रवृत्ति स्वाभाविक जान पड़ती है। क्योकि तैल चढाने के वर्णन मे तो अत्यन्त स्पष्ट है ही, पर वसन्त-वर्णन मे भी हमे उस युग के लोक-जीवन की झाँकी सहज रूप मे दिखलाई पडती है।

प्रकृति-वर्णन

प्रकृति का काव्य मे अत्यन्त महत्त्व है। जीवन की सुख-दुखात्मक अनुभूतियों मे कवि की भावनाओं का प्रकृति से साहचर्य स्थापित करना स्वाभाविक ही है, क्योकि वह उस से प्रेरणा, उल्लास और आनन्द ही नही वरन् अपनी मनःस्थिति का साम्य भी प्राप्त करता है। यथार्थ मे मनुष्य हृदय की विविध भावात्मक अनुभूतियाँ प्रकृति से प्रभावित हो कर काव्यात्मक रूप मे निबद्ध देखी जाती हैं। प्रकृति मानव की अन्तः-प्रकृति और बाह्य प्रकृति दोनो को अतिशय अनुरंजित एवं प्रभावित करती है। संस्कृत-काव्यो मे प्रकृति-चित्रण शुद्ध परिस्थिति योजना के लिए आलम्बन रूप में दृष्टिगोचर होता है। वाल्मीकि रामायण मे प्रकृति का यही स्वरूप देखने को मिलता है। परवर्ती

काल में जब दृश्यकाव्यों की रचना होने लगी और दोनों काव्य-धाराएँ एक बिन्दु पर (रस की दृष्टि से) केन्द्रित हो गयी, सम्भवतः तभी रस के उद्दीपन के लिए उद्दीपन रूप में प्रकृति चित्रण भी आवश्यक हो गया। वस्तुतः भावों की स्वाभाविक अभिव्यक्ति किसी भी रूप-विधान में हो सकती है। वह शैली या विषय के अनुसार न हो कर मनःस्थिति और घटनाओं के प्रभाव के अनुकूल होती है। इसलिए सम्भवतः आलम्बन पक्ष का सर्वप्रथम सन्निवेश हुआ। उद्दीपन रूप में प्रकृति-चित्रण संस्कृत के नाटकों में या मुक्तक रूप में मिलता है। प्रबन्धकाव्य में प्राकृतिक दृश्यों का विधान संस्कृत में आचार्य दण्डी, राजशेखर और विश्वनाथ ने किया है और हिन्दी में इस का विचार पं० रामचन्द्र शुक्ल ने किया है। मुख्य रूप से उस की चार विधाएँ मानी जा सकती हैं— १. आलम्बन रूप में, २. उद्दीपन रूप में, ३. अलंकृत शैली में और ४. अप्रस्तुत रूप में।

प्रस्तुत काव्य में आलम्बन रूप में तथा लोकशैली में मुख्यतः प्रकृति-चित्रण वर्णित है। वन-वर्णन और वसन्त-वर्णनों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने स्वाभाविक-रीति से कितना सुन्दर वर्णन आलम्बन रूप में किया है।[1] अलंकृत रूप में सन्ध्या का एक दृश्य देखिए—

थिउ वीसवंतु खणु इक्कु जाम दिणमणि अत्थवणहु ढुक्कु ताम।
हुअ संझ तेय तविरसराय रत्तंवरु णं पंगुरिवि आय।
पहिपहिय थक्क विहडिय रहंग णिय णिय आवासहो गय विहग।
मउलियरविंद वम्महु वितट्टु उप्पण्णु वालमिहुणहु मरट्टु।
परिगलिय संझ तं णिइवि राइ असइ व सकेयहु चुक्क णाइं।
हुअ कसण सवत्तिव मच्छरेण सिरि पहय णाइं मसि खप्परेण।
हुअ रयणि वहलकज्जलसमोल जगु गिलिवि णाइं थिय विसमसील।
अवरोप्परु पयडं तेहिं गुज्झु मिहुणहिं पारंभिउ सुरय जुज्झु।
एहइ पडिवण्णि करालि कालि गहभूयजक्खरक्खसवमालि।
वणि विसम विएसि विचित्त पत्तु तह वि हुअ कप्पु कमलसिरिपुत्तु। (४,४)

अर्थात् भविष्यदत्त के उस शिला पर बैठने के एक याम के पश्चात् ही सूर्यदेव अस्ताचलगामी हो गये। तब सझा हो गयी। रक्तिम वर्ण का सूर्य घूँघट में मुख छिपाने लगा। पथिकजन मार्ग में ही रुक गये। चकवे अपने जोड़े से बिछुड़ गये। पक्षी अपने घोंसलों में चले गये। कमल संकुचित हो गये। कामदेव मानो गर्व से भरे हुए बाल मिथुन के रूप में उत्पन्न हो गया हो। खिसकती हुई उस सन्ध्या को देख कर ऐसा जान पड़ता था—मानो उलटे रखे हुए हस्ततल की भाँति रजनी किसी के संकेत से फिसल पड़ी हो। अन्धकार क्या फैल गया था मानो सौत की डाह से कालापन छा गया था। ऐसा लगता था मानो स्याही ही खप्पर में भर कर सिर पर पोत दी गयी हो।

१. वन-वर्णन के लिए द्रष्टव्य है—४,३, मैनागद्वीप-वर्णन ३,२४, तथा—वसन्त-वर्णन -८,८-९।

रात काजल-सी बहुत अँधेरी क्या थी मानो जग को लीलने के लिए कोई विषमशीला (नायिका) हो। उस रात के आ जाने से मिथुनों ने परस्पर गुह्य सुरतकालीन युद्ध प्रारम्भ कर दिया था। काल के समान अत्यन्त भयंकर प्राप्त ग्रह, भूत, यक्ष और राक्षसों का संचार हो गया था। इस प्रकार वन में विषमता से भरी हुई विचित्र वस्तुओं को देख कर भविष्यदत्त काँप गया।

इस प्रकार वर्णन-शैली लोक-साहित्य के अधिक निकट है। इस में कवि-समय की जो दो-चार बातें दिखाई पडती हैं वे शास्त्रीय परम्परा का पालन न हो कर प्रसिद्धि के रूप मे प्रयुक्त जान पडती हैं। उदाहरण के लिए, प्रिया से बिछुड़ जाने के बाद भविष्यदत्त अत्यन्त दुखी होता है और समुद्र तट से फिर वन की ओर चल पड़ता है। वहाँ वह मूर्च्छित हो जाता है और उसे वन की शीतल बयार थपकी देती है।

दूसह पियविओय संतत्तउ मुच्छइं पत्तउ।
सीयलमारुएण वणि वाइउ तणु अप्पाइउ। (७,८)

यहाँ भविष्यदत्त का मूर्च्छित होना न तो कामावस्था से सम्बन्धित है और न प्रकृति के उद्दीपन से। वह पत्नी के बिछोह मे इतना दुखी है कि आत्मविस्मृत हो कर अपने दुःख को न सह सकने का भाव प्रदर्शित करता है। इस लिए इस समय की मूर्च्छा विरह का अंग बन कर उस की मन स्थिति को द्योतित कर रही है। और इस लिए हम उसे भले ही काम की दशा कह लें, पर उद्दीपन रूप मे शीतल पवन का बहना और भविष्यदत्त का मूर्च्छित होना नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उस के आगे ही कवि कहता है कि बार-बार भविष्यदत्त उस नागमुद्रिका को देख कर प्रिया की स्मृति मे सन्तप्त हो रहा था।

करयलि णायमुद्द संजोइवि पुणु पुणु जोडवि। (७,८)

संक्षेप मे, यहाँ प्रकृति विरह का अंग न बन कर स्वतन्त्र रूप में इस काव्य मे लक्षित होती है, जिस में मनुष्य की भावनाएँ संवेदित हो कर प्रकृति का शृंगार करती है। अलंकृत-वर्णन मे कवि की कल्पना ही मुख्य होती है। वह शास्त्रीयता से न बँध कर लोक-जीवन के स्वतन्त्र वातावरण में चित्रित करता है और यही उस की विशेषता है।

भाव-व्यंजना

प्रबन्ध में परिस्थितियों और घटनाओ के अनुकूल मार्मिक स्थलों को संयोजना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानी जाती है, क्योंकि कवि की प्रतिभा और भावुकता का सच्चा परिचय उन्हो स्थलों पर मिलता है, जिन मे मनुष्य हृदय की वृत्तियाँ सहज रूप मे प्रसंग को हृदयंगम करते ही भावनाओं में तन्मय हो जाती हैं। भावों के उतार-चढाव में घटनाओ का बहुत कुछ योग रहता है। कवि की दृष्टि में उन का विशेष महत्त्व स्वाभाविक रूप में आकलित हो जाता है। इसी को पं० रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि प्रबन्ध-

कार कवि की भावुकता का सब से अधिक पता यह देखने से चलता है कि वह किसी आख्यान के अधिक मर्मस्पर्शी स्थलों को पहचान सका है या नहीं।[1] भविष्यदत्तकथा में निम्नलिखित स्थल अत्यन्त मर्मस्पर्शी कहे जा सकते है--बन्धुदत्त का भविष्यदत्त को अकेला मैनागद्वीप में छोड देना और साथ के लोगों का सन्तप्त होना, माता कमलश्री को भविष्यदत्त के न लौटने का समाचार मिलना, बन्धुदत्त का लौट कर आगमन, कमलश्री का विलाप और भविष्यदत्त का मिलन आदि।

एक भाई का अपने भाई को निर्जन बीहड द्वीप मे नितान्त अकेला छोड देने से बढ कर मार्मिक करुण दृश्य अन्य क्या हो सकता है ? भविष्यदत्त की उस समय वही दशा होती है जो किसी सामान्य जन की हो सकती है। वह धरती पर हाथ पटकता है, छाती कूटता है और अत्यन्त दुखी हो कर कहता है कि माता ने पहले ही कहा था, पर मैं नहीं माना। मेरा कार्य ही नष्ट हो गया। इस घायल अवस्था मे मेरा कहाँ उद्धार होगा ? मृत्यु ही मेरे सामने आ गयी है। इस प्रकार विविध भावों मे डूबता-उतराता भविष्यदत्त अपने भाग्य को कोसता हुआ कह उठता है कि मेरा भाग्य ही उलटा है, किसी को क्या दोष ? अच्छा हुआ कि जिस अकार्य के करने से मुझे पाप कर्म का बन्धन हुआ था वह आज दूर हो गया। मुझे बिना किसी निमित्त कारण के इतना दुःख बदा हुआ था सो मिल गया, पर कुल को कलंक लग ही गया। और अब अधिक विषाद नहीं करना चाहिए। जो कुछ होना होगा सो होगा। इन भावों को भाता हुआ वह सामने फैले हुए वन मे प्रविष्ट हो गया।

कर महियलि हणेवि उरि कंपिउ   ण चलिउ जं चिरु जणणिह जंपिउं।
णट्ठु कज्जु कहि अब्भुद्धरणउं वणि   असमाहिइ आयउ मरणउ।
अण्णण्णइं चिंतिज्जंति मणि   खलविहि अण्णण्णइं सरइ।
सुट्ठु वि वियड्ढु गुणसय भरिउ   दइवि परम्मुहु किं करइ। (४।१)

उक्त प्रसंग मे कवि ने भविष्यदत्त की विविध मानसिक दशाओं की विस्तार से अभिव्यंजना की है, जिस में मनुष्य की अनुभूतियों का तादात्म्य सहृदय से अपने आप हो जाता है। बन्धुदत्त के डाँटने-फटकारने पर पोत चला दिया जाता है और भविष्यदत्त अकेला छोड दिया जाता है। किन्तु उस के उन वचनों को सुन कर नागरिक जनों के सिर पर मानो वज्रदण्ड ही गिर पडता है। सभी लोग कहते है कि यह अच्छा नहीं हुआ। हम सब का सब वाणिज्य निष्फल गया। यह तो हमारे साधुपन की लज्जा का व्यापार हुआ है। न केवल यात्रा, न धन, न मित्र, न घर, न धर्म, न कर्म, न जीव, न शरीर, न पुत्र, न पत्नी वरन् इष्टजन भी बहुत दूर गजपुर (हस्तिनापुर) देश मे स्थित है। यहाँ तो निश्चय से ही अधर्म ने धर्म को लील लिया है। और धर्म के नाश

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल : गोस्वामी तुलसीदास, सप्तम संस्करण, पृ० ७८।

हो जाने से सभी कर्म अब अकर्म हो गये है। सभी लोग अत्यन्त सन्तप्त हो कर कहने लगे कि भविष्यदत्त को मार कर बडा भारी दुष्कृत्य किया गया।

गयं णिप्फलं ताम सव्वं वणिज्जं हुअं अम्ह गुत्तम्मि लज्जावणिज्जं।
ण जत्ता ण वित्तं ण मित्तं ण गेहं ण धम्मं ण कम्मं ण जीयं ण देहं।
ण पुत्तं कलत्तं ण इट्टं पि दिट्ठं गयं गयउरो दूरदेसे पइट्ठं।
स्वयं जाइ णूणं अधम्मेण धम्मं विणट्ठेण धम्मेण सव्वं अकम्मं।
कयं दुक्कियं दोहएणं हएणं सुहायारभट्ठेण दुट्ठेण एणं। (३,२६)

बन्धुदत्त को कंचनद्वीप की यात्रा से घर लौट कर आने पर जितनी अधिक प्रसन्नता है उस से कही अधिक नगर के लोगो को हर्ष होता है। यह समाचार मिलते ही कि लोग व्यापार कर नदी-तीर पर आ पहुँचे हैं, नगर के सभी लोग हर्ष से भर कर दौड पडते है। वे इतने अधिक हर्ष मे उल्लसित है कि किसी ने सिर का कपडा कही पहन लिया है, किसी ने शीघ्रता मे हाथो के कगन कही के कही पहन लिये है, कोई पुरुष किसी स्त्री से ही आलिगन करने लगा, किसी के अंग का प्रतिबिम्ब कही और पडने लगा, किसी ने किसी दूसरे का ही सिर चूम लिया। इस प्रकार संभ्रम और पुलक से भरे हुए लोग अपने सभी कामो को छोड कर प्रिय की कुशल-अकुशल की बात करते हुए नदी-तट पर पहुँचे। धनवड ने आँखो मे प्रेम के आँसू भर कर गद्गद वाणी मे बेटे की कुशल-क्षेम पूछी।

धाइउ सयलु लोउ विहडप्फडु केणवि कहुवि लयउ सिरकप्पडु।
केणवि कहुवि छुड्डु करिककणु केणवि कहुवि दिण्णु आलिगणु।
केणवि कहुवि अगु पडिबिंबउ केणवि कोवि लेवि सिरु चुंबिउ।
गय वइयहि कम्मइ मेल्लियइ णयणइं हरिसमुजलोल्लियइ।
पियकुसलाकुसलु करतियइ चित्तइं संदेहविडवियइ।
धणवइ अंसुजलोल्लियणयणउ पुच्छइ पुणुवि सगग्गिरवयणउ। (८,१-२)

इन स्थलो पर कवि की सूक्ष्म-बूझ का और सामाजिक अनुभूतियो का पता लगता है कि कवि उन परिस्थितियो और घटनाओ से कितना प्रभावित है और उस के मन पर उन की क्या मानसिक प्रतिक्रिया होती है। विचार करने पर स्पष्ट ही धनपाल की भावुकता का परिचय मिल जाता है। दोनो वर्णनो मे कवि ने जहाँ मानवीय सवेदनात्मक भावानुभूतियो का प्रकाशन किया है वही भविष्यदत्त के साथियो की मनोभावनाओमे ग्लानि व्यक्त कर मनोविज्ञान का भी समावेश किया है।

इधर वसन्त का आगमन होता है और उधर बन्धुदत्त अपने घर लौटता है। नगर मे प्रतिदिन मगलकलश सजाये जाते है, उत्सव मनाये जाते है। इसी समय कमलश्री किसी से सुनती है कि सब लौट कर आ गये, पर भविष्यदत्त नही आया। उस के मन की जो वृत्ति होती है उसे कवि के शब्दो मे सुनिए—

तं णिसुणिवि सहसत्ति चमक्किय उट्ठिय सोय दवग्गि दमक्किय ।
गुज्झावरण गूढ सुणिउत्तहं घरि घरि भमिय णयरि वणिउत्तह ।
कारणु किंपि कोवि णउं साहइ पर पियवयणु चवइ मुहु चाहइ । (८,११)

अर्थात् उस बात को सुन कर वह बिजली की भाँति सहसा ही चमक गयी । जैसे ही उठ कर खडी हुई वैसे ही मानो समूचे शरीर मे दावाग्नि दमक गयी । किन्तु फिर भी वह बडा-सा घूँघट डाल कर नगर के बडे-बडे वणिक्पुत्रों के घर-घर घूमी । कारण कोई भी कुछ नही सुनाता है, पर मीठे वचन कह कर सभी अभिलाषा और चाह प्रकट करते है । और फिर बन्धुदत्त से यह सुन कर कि भविष्यदत्त किसी द्वीप मे रुक गया है, कुछ दिनो मे आ जायगा, उस की जो स्वाभाविक चेष्टाएँ होती है उस का वर्णन देखिए—

तहु जपंतहु वयणु पलोइवि थिय कवोलि करयलु संजोइवि ।
णउ सुंदरई चवंतहु वयणइ थोरंसुवहिं णिरुद्धइं णयणइं । (८,१२)

अर्थात् कहते हुए बन्धुदत्त के मुँह को देख कर कमलश्री हथेली पर कपोल को रख कर स्थित हो गयी । वह भाव-मुद्रा मे पूरी तरह लीन हो गयी । अब कुछ भी नही बोलती है । बडी-बडी आँसू की बूँदें बहने लगी, जिस से आँखें निरुद्ध हो गयी । कमलश्री विलाप करती है कि हा हा पुत्र ! मै तुम्हारे दर्शन के लिए कब से उत्कण्ठित हूँ । चिर काल से आशा लगाये बैठी हूँ । कौन आँखों से यह सब देख कर अब समाश्वस्त रह सकता है ? हे धरती ! मुझे स्थान दे, मै तेरे भीतर समा जाऊँ । पूर्व जन्म मे मैने ऐसा कौन-सा कार्य किया था, जिस से पुत्र के दर्शन नही हो रहे हैं । इस प्रकार के वचनो के साथ विलाप करते हुए उसे एक मुहूर्त बीत गया ।

हा हा पुत्त पुत्त उक्कठियइ घोरंतरिकालिपरिट्ठियइं ।
को पिक्खिवि मणु अब्भुद्धरमि महि विवरु देहि जि पइसरमि ।
हा पुव्वजम्मि किउ काइ मइं णिहि दंसणि जं णयणइं हयइं । (८,१२)

अन्त मे वह कहती है कि मेरे हृदय का आधार एक ही पुत्र है और वह भी अब सन्देह मे है ।

एक्कु पुत्तु हियवइ साहारणु तासुवि गउ सदेहहु कारणु । (८,१६)

माँ की कितनी मार्मिक वेदना ऊपर की पंक्तियों मे निहित है । कमलश्री को इस समय उतना ही दु ख होता है जितना कि श्री रामचन्द्र जी के द्वारा सीता के परित्याग पर सीता जी को होता है । वस्तुत इन मानवीय भावनाओ का यथार्थ चित्रण करना ही सच्चा कवि-कर्म है । भविष्यदत्त अन्त में एक दिन लौट कर घर आ ही जाता है । विमान को घर के आँगन मे उतरा हुआ देख कर कमलश्री भगवान् का स्मरण करती हुई दौडती आती है । भविष्यदत्त माता से कहता है कि हे कमले ! क्यों दौड रही हो ? किन्तु वह पुत्र के वचनो पर ध्यान न दे कर बडी तेजी से भागती हुई हर्ष से

फूली नहीं समाती तथा वेग से पुत्र के शरीर से लिपट जाती है। कमलश्री के आँखो से आँसू बह रहे हैं। उसे कुछ भी नहीं सूझ रहा है, किन्तु नयनो से वह मुख-दर्शन का सुख प्राप्त कर रही है।

घरपंगणि पंकयसिरि धावइ	अजियजिणवयणइं परिभावइ।
भविसयत्तु धणु घरि संपेसइ	माणिभद्दु पियवयणइं भासइ।
सुव्वयविहिमि जाम णवकारिय	तो सविलक्खइं सण्ण समारिय।
हलि हलि कमलि कमलि कि धावहि	पुत्तहो वयणु काइं ण विहावहि।
तं णिसुणिवि रहसेण पधाइय	हरिसि णियय सरीरि ण माइय।
मरहमु दिण्णु सणेहालिगणु	णिवडिवि कमकमलहु थिउ णंदणु।
मुहदंसणु अल्हंतइं णयणइं	अंसु मुआवियाइं जह रयणइं। (९,७)

कितना मार्मिक दृश्य है! पढने के साथ ही आनन्द के अश्रु छलछला आते है। इतना ही नही, कवि आगे वर्णन करता है कि उसी क्षण कमलश्री का मातृत्व उमड आता है और चौबीसो सोतो से दूध झरने लगता है। वह पुत्र के आगमन का उत्सव मनाने लगती है। शुभ मगलकलश सजाये जाते है। दधि, दूर्वा और अक्षत से पूजन कर पुत्र की न्योछावर फेरी जाती है।

णिम्मच्छणउं करिवि णियपुत्तहि	वहइ खीरु चउवीसहि सोत्तहि।
सुहमंगलजलकलससमारिय	दहिदुव्वक्खय सिरि संचारिय। (९,७)

इन वर्णनों से स्पष्ट है कि कवि की भाव-व्यजना वैयक्तिक न हो कर सामाजिक अधिक है। और इसलिए हम कह सकते है कि आलोच्यमान रचना लोकमगल की भावनाओ से अनुप्राणित है। सामाजिक शिष्टाचार, मर्यादा, व्रत, कर्तव्य-विधान आदि से समूची रचना परिव्याप्त है। समाज और लोक-जीवन का स्थान-स्थान पर चित्रण है, जो इस काव्य की अपनी विशेषता है। उन मे केवल भावो की ही अभिव्यक्ति नही है, वरन् उन का उत्कर्ष भी अभिव्यंजित है। इस प्रकार नाना भावो मे हम कवि की रसात्मकता और भावुकता से ओतप्रोत हो काव्य की मार्मिकता से सहज मे प्रभावित होते है। प्रभावान्विति और रस-व्यजना की दृष्टि से भविष्यदत्तकथा उत्कृष्ट कोटि की रचना है। मुख्य रूप से शृगार, वीर और शान्त रस का परिपाक इस मे हुआ है। परन्तु इस का अंगी रस कौन है, यह एक जटिल प्रश्न है। यदि आधिकारिक कथा का विवेचन करे तो स्पष्ट ही वीर रस को प्रधान मानना होगा, क्योकि भविष्यदत्त को, सिन्धु राजा को पराजित कर दिये जाने पर ही वास्तविक रूप से राज्य की प्राप्ति होती है, और सुमित्रा के साथ उस का विवाह होता है। युद्ध मे उसे शौर्य-वीर्य का परिचय देना पड़ता है। नायक की महत्ता का पता हमे इसी स्थल पर लगता है। फिर, भविष्यदत्त का जीवन साहसिक कार्यो से भरपूर रहा है। अतएव सरलता से नायक की फल-प्राप्ति के अनुसार वीर रस प्रधान माना जा सकता है। भविष्यदत्त

युद्धवीर ही नही धर्मवीर, कर्मवीर और दानवीर भी है। उदारता, धीर-वीरता और साहस आदि गुण उस के जीवन मे कूट-कूट कर भरे है। और इसीलिए लेखक ने उसे साधारण पुरुष न कह कर महापुरुष कहा है।

यद्यपि मुख्य कथा से वीर रस का घनिष्ठ सम्बन्ध है, पर वह परिणति मे शृंगार से सम्बन्धित है, क्योकि युद्ध-वर्णन के मूल मे राज्य-प्राप्ति न हो कर स्त्री की संरक्षा थी। इसलिए फलागम मे अन्तर आने से यहाँ वीर रस प्रधान न हो कर शृंगाररस मुख्य माना जायेगा। किन्तु ग्रन्थ का पर्यवसान शान्त रस मे हुआ है, और इसलिए शान्त मुख्य कहा जाना चाहिए। कथाकाव्य का पूर्वार्द्ध निश्चय ही शृंगार रस की मधुर व्यजना से अभिव्यजित है। विवाह, कामक्रीड़ा, वियोग और मिलन आदि ही इस की मुख्य विषय-वस्तु है। जीवन के उदात्त प्रेम का चित्रण करना ही कवि के काव्य-व्यापार का मुख्य प्रयोजन है। इसलिए शृंगार की व्यजना मुख्य मानी जा सकती है। परन्तु कथा की नियोजना सोद्देश्य हुई है। इस मे श्रुतपंचमी व्रत का माहात्म्य मुख्य रूप से वर्णित है। भविष्यदत्त का उद्देश्य धर्म, अर्थ या काम की प्राप्ति नही है। वह किस प्रकार भवान्तरो का उच्छेद कर मोक्ष प्राप्त करता है, यही ग्रन्थ-कार का मुख्य प्रयोजन है। और यही कारण है कि भविष्यानुरूपा के वियोग का वर्णन कवि ने विस्तार से नही किया। यद्यपि काव्य मे उपदेशात्मक अश सरस है, पर उस का कई स्थानो पर समावेश है। नायक भी संकट-काल मे धर्म का आश्रय लेता हुआ दिखाई पडता है। कमलश्री तो धर्म की प्रतिमूर्ति ही चित्रित है। मुख्य कथानक से निर्वेद मूलक भावो का पूरा लगाव है, इसलिए शान्त रस ही प्रधान है। और फिर यह तो जैन काव्यो की विशेषता ही मानी जाती है कि विभिन्न रसो की अभिव्यजना होने पर भी उन का पर्यवसान शान्त रस मे होता है। इस प्रकार समग्र प्रभाव मे भी शान्त रस मुख्य लक्षित होता है।

वात्सल्य का वर्णन दो स्थलो पर विशेष रूप से अभिव्यजित है। पहले स्थान पर उस की व्यजना माता के मुख से न हो कर पुत्र के वचनो से हुई है और दूसरे स्थल पर माता का वियोग-वात्सल्य अभिव्यक्त हुआ है। दोनो ही प्रसग मार्मिक है। यथा—

अच्छइ जणणि कहिमि दुक्खल्लिय बहु दुज्जण दुव्वयणहि सल्लिय।
जाइ सुइरु चितविउ मुआसइ पुत्तजम्मि दोहलयपियासइ।
णवमासइ णिय कुक्खिहि धरियउ पुणु रउरवकालहु उत्तरियउ।
णिय सरीर खीरि परिपालिउ अणुदिणु पियवयणिहि दुल्लालिउ।
ताहिं कयावि ण किउ मइ चंगउ आयउ दुक्खें पूरिवि अगउ। (६,१२)

अर्थात्, भविष्यदत्त से जब भविष्यानुरूपा सास-ससुर के सम्बन्ध मे पूछती है तो उस की आँखो के सामने ममतामयी माता का सजीव चित्र घूमने लगता है। वह कहता है कि मेरी माता दुर्जनों के छिदने वाले वचनो से अत्यन्त दुखी है। पुत्र-जन्म की

आशा मे उस ने बहुत दु:ख पाया। मुझे नौ महीने तक कूँख मे धारण किया। पिता के त्यागने के रौरव काल को बिताया। अपने शरीर के दुग्ध से मेरा पालन-पोषण किया। प्रिय वचनो से वह सदा दुलार करती रही। पर मैं ऐसा अभागा हूँ कि मैं ने उस माता के लिए तनिक भी सुखदायक काम नहीं किया। वह दु:ख से अंगों को घूर कर समय बिता रही है।

ऊपर की इन पंक्तियो मे वात्सल्य 'शोक का अंग बन कर' अभिव्यक्त हो रहा है, और विषाद सचारी भाव है। परिस्थितियो के अनुसार मानव-मन की भावनाएँ विविध मानसिक अनुभूतियो से संवलित होती प्राय देखी जाती हैं। इसलिए जहाँ भविष्यदत्त मे विभिन्न भावो और अनुभावो का संचार दिखाई देता है वही माता कमलश्री मे शोक स्थायी भाव प्रतीत होता है। वह दु:ख मे इतनी जड हो जाती है कि वात्सल्य अन्त मे पुत्र के चिर वियोग की आशका से 'शोक' मे परिणत हो जाता है और करुण रस की अभिव्यक्ति होने लगती है। वह पुत्र के जीने की आशा छोड़ देती है और कहती है कि धरती फट जा, मै तुझ मे समा जाऊँ। गीत शैली मे वर्णित भयानक रस का उत्कृष्ट निदर्शन है—

तओ आगओ सो अराइण्णराओ महाभीमु भाभासुरो भिण्णकाओ।
असतो विसतो सुपच्छण्णमित्तो कुले सुप्पहूयाण भूयाणमित्तो।
अखोणीवलग्गो असामण्णभासो घणधार घोरा कयट्टहासो।
सिरे उद्धकेसो जलनतरिक्खो सचमट्टिसेसो भिसं दुण्णिरिक्खो।
सयाभूलयाभंगुरावत्तगत्तो दुरालोयणो दुम्मुहो रत्तणित्तो।
फुरताहरुट्टो ससीर गिलतो ललतग्जीहो हम्मि उग्गिलंतो।
महापावकम्मो गुसघट्ट गाढो कयतुव्व कुद्धो करालुग्गदाढो। (५,१७)

अर्थात् जब भविष्यदत्त उस सुन्दरी से वार्तालाप कर रहा था तभी उस अरण्य का राजा अत्यन्त भीमकाय चमचमाता हुआ वह राक्षस आ पहुँचा। कुल मे जो भी अच्छे-बुरे थे वे सब इसी पिशाच के द्वारा भेदे जा चुके थे। अधपर मे ही उस ने घने अँधेरे मे असामान्य भाषा मे घोष तथा अट्टहास किया। उस के सिर के ऊपर के केश प्रकाशमान अन्तरिक्ष की भाँति थे। उस के शरीर मे चमडा और हड्डी ही शेष रह गये थे। बडी कठिनता मे वह उस समय देखा जा सकता था। उस की विकराल आँखे, भयानक मुँह और लाल-लाल आँखें सैकडो अस्थिर भूवलय के आवर्त के गर्त जान पड रहे थे। वह महान् पापकर्मी अधरों को फडकाता हुआ, पवन को लीलता हुआ, लपलपाती जीभ को निकाले हुए हर्म्य को उठाता हुआ उस भवन मे प्रविष्ट हो गया।

उक्त वर्णन मे भय स्थायी भाव विस्मय और आवेग से पुष्ट हो भयानक रस की सृष्टि कर रहा है। ऐसे दृश्य किसी भी आश्रय मे अनुभावो को सहज मे ही अभिव्यक्त कर देते हैं। यही इस की विशेषता है। आलम्बनगत विभाव की अभिव्यंजना तो यहाँ अत्यन्त स्पष्ट है।

रौद्ररस की व्यंजना केवल एक ही स्थान पर हुई है, जहाँ सिन्धुनरेश की स्वत्व-छेदक बातों को सुन कर भविष्यदत्त को क्रोध आता है और उस का मुँह तमतमा जाता है। क्रोध का पूरा आवेश यहाँ भविष्यदत्त में दिखाई देता है। चित्र है—

तं वयणु सुणेविणु भविसयत्तु णियकुल विवाय परिहवण तत्तु।
आवेसवेस विप्फुरिय णयणु जंपिउ सरोसु णिद्दुरिय वयणु।
अहु दिट्ठु तुम्हि आयहु अगण्णु वाणियउ वुत्तु पुणु काइ अण्णु।
कुलकित्तिविणासणु मइलियसासणु कि वुल्लाविउ एहु खलु।
णीसारिवि घल्लहु लइ गलथल्लहु पावउ णिय दुव्वयणफलु। (१३,८)

अर्थात् उस के वचनों को सुन कर भविष्यदत्त ने जातिगत विपाक के पराभव से सन्तप्त हो कर क्रोध के आवेश से भर कर क्रोधपूर्वक मर्मभेदक वचनों को कहा। तुम ने देखा कि यह नगण्य (बेचारा बनिया का बेटा) है। पर ऐसा मत समझना। तुम ने यह बनिया से कहा सो ठीक, पर अन्य किसी से मत कहना। अपनी कुल-कीर्ति का विनाश करने के लिए, शासन को मैला करने के लिए इस दुष्ट को कल क्यों बुलाया है? उसे अभी गरदनियाँ दे निकाल कर बाहर फेंको। वह अपने दुर्वचनों का फल भोगे।

वात्सल्य रस की अभिव्यंजना तो इस काव्य में स्वाभाविक रीति से हुई है। माता कमलश्री कई स्थानों पर पुत्र के प्रति ममतामयी भावनाओं को अभिव्यक्त करती है—वियोग-काल में और संयोग में भी। यथा—

तं सुणिवि जणेरि सिरि करपल्लव धरिवि थिय।
समसज्झसि हूअ णाइ विणिम्मिय कट्ठमिय॥ (९,१४)

दुक्खु दुक्खु णियमणि संजोइउ पुणु पुणु पुत्तहु वयणु पलोइउ।
हा तहि कालि पुत्त मइ वुत्तउ गमणु विएण समाणु ण जुत्तउ।
हा पर बन्धुवत्तु महु सज्जणु जेण पुत्त तउ ण किउ विमद्दणु।
एम करेवि सुइरु कूवारउ पुणु पुणु सिरु चुंबिउ सयवारउ (९,१५)

माता केवल पुत्र के प्रति वत्सल-भाव ही प्रकट नहीं करती, वरन् उसे आत्मतोष है कि बन्धुदत्त सचमुच सज्जन है, उस ने कम से कम पुत्र का विमर्दन तो नहीं किया। इस से जहाँ कमलश्री के उदात्त चरित्र पर प्रकाश पड़ता है वहीं माँ की बेटे के प्रति सच्चे स्नेह की झलक लक्षित होती है। पुत्र के मिलने पर वह इतनी हर्षित होती है कि बहुत देर तक विलाप करती हुई बार-बार, सैंकड़ो बार पुत्र का सिर चूमती रही। इस से बढ़ कर वात्सल्य का अन्य क्या दृष्टान्त हो सकता है?

यद्यपि अन्तिम सन्धि में शोक का प्रसंग आया है, पर उस में करुण रस का न तो विस्तृत संचार है और न पूरा परिपाक ही। धनवइ और भविष्यदत्त के मुनि बन जाने पर—उन की धर्मपत्नी सरूपा, सुमित्रा और भविष्यानुरूपा विलाप करती हुई कहती हैं—

हा चंचल पहु ववगय सणेह कहु मेल्लिय हउं कंटइय देह ।
हा पंकयसिरि धम्माणुराइ पइसहु एत्तिउ दंसणु सुमाइ ।
धणवइ विणु पत्तिए तं जि गेहु पिक्खइ पजलंतु दहंतु देहु ।
णिंदइ अप्पाणउं काउ दीणु तउ करिवि ण सक्कमि हउं णिहीणु ।
धण्णाइं ताइं तिण्णिवि जणाइ छड्डेवि लग्गरं तव चरणि जाइं । (२२,३)

अर्थात् हाय ! प्रभु का चपल स्नेह बीत गया । रोमांचित शरीर वाली मुझे क्यो छोड गये ? हाय, कमलश्री धर्मानुरागिनी दीक्षा-ग्रहण कर अर्जिका बन गयी । वह—सुमाता हो गयी । बिना पति के घर देखने से शरीर जलता है, प्रज्वलित होता है । इस प्रकार अपने-आप को कोसती हुई वे कहती हैं कि हम लोग तो इतने दीन-हीन हैं कि तप करने में भी असमर्थ हैं । उन लोगों को धन्य है जो सब कुछ छोड कर आप के चरणो में जा लगे ।

यहाँ पर तथा अगली पंक्तियो मे नागरिक जनो की वेदना एवं व्यथा का अनुमान कर जो करुणा जग रही है वही शोक का अभिव्यक्त कर रही है । भाग्यनिन्दा और उच्छ्वास अनुभाव है, जो आवेग दैन्य और स्मृति मे पुष्ट हो रहे हैं ।

इसी प्रकार हास्य रस का एक उदाहरण देखिए—

अण्णइ वुत्तु णिहालिवि अगउ आयहि कहिवि तिल्लु चिरु लग्गउ ।
महि अंचलु देवि हसइ समुब्भडु तरुणियणु ।
लइ लायहु तिल्लु वालहि उब्भंखरिउ तणु ॥
अण्ण भणइं म हसह वराई म कुण मंवड सुत्तवराई ।
अण्ण भण्णइं णियकज्जवहुल्ली विणु मुत्ति किय गलि कठुल्ली । (९,२१-२२)

अर्थात् भविष्यानुरूपा तेल के लिए सज्जित है । तैल लगाया जाने वाला है । किन्तु कोई सयानी स्त्री उस के अंगो को भली भाँति देख कर कहती है कि तैल तो बहुत पहले ही लग चुका है । चतुर तरुणियाँ उस की बात समझ कर मुँह मे आँचल दे कर हँसती हैं । लो, तैल लाओ । बाला की देह क्लान्त हो रही है । सुभगे, हँसो मत— इस प्रकार हास-परिहास के बीच नगर की स्त्रियाँ ऐसी बातो का कथन करती है कि पाठक के हृदय मे आश्रयगत अनुभूति विस्फुरित हो रसात्मकता का सचार कर देती है । स्पष्ट ही यहाँ हास्य प्रसन्नता से अभिव्यक्त न हो कर औत्सुक्य से तथा चपलता से अनुभूयमान प्रतीत हो रहा है ।

उक्त भावनात्मक प्रसगो को देखने से पता चलता है कि भविष्यदत्तकथा मे विभाव, भाव और अनुभावों की सुन्दर अभिव्यजना हुई है । लगभग सभी संचारी भाव विविध स्थलो पर संचरणशील लक्षित होते हैं । यही नही, उन की मूल स्थिति का अनुभवन चेष्टाओ द्वारा अभिव्यक्त हुआ है । इसी को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि साहित्य के ग्रन्थो मे संचारियो के बाह्य चिह्न भी बताये गये है, जो वास्तव मे

उन के अनुभाव ही हैं। जैसे, गर्व में तन कर खड़ा होना, अवज्ञा करना, अँगूठा आदि दिखाना,—अवहित्था में अनभीष्ट कार्य की ओर प्रवृत्ति दिखाना, दूसरी ओर देखना, चिन्ता में दीर्घ नि:श्वास लेना, सिर झुकाना, हाथ पर गाल रखना, माथा सिकोड़ना— इत्यादि।[1] इस प्रकार भाव-विधान में काव्य विविध विशेषताओं से समन्वित और पुष्ट है।

वियोग-वर्णन

संयोगकालीन वास्तविक सुख का अनुभव करने के लिए वियोग एक अनिवार्य भूमिका है, जिस में मनुष्य का प्रेम संचित हो कर रागानुराग को रग-रग में व्याप्त कर देता है। अतएव वियोग के बिना संयोग का महत्त्व न तो लोक में है और न काव्य में। वाल्मीकि से ले कर आज तक जितने प्रबन्ध काव्य लिखे गये हैं उन में थोड़ा-बहुत वियोग-वर्णन अवश्य मिलता है। किन्तु शैलीगत भिन्नता में उन में कुछ न कुछ भेद अवश्य दृष्टिगोचर होता है। कहीं-कहीं यह वर्णन क्लिष्ट होता है और कहीं-कहीं वैयक्तिक अनुभूतियों की मार्मिक अभिव्यंजना से ओत-प्रोत। लेकिन कहीं-कहीं इन दोनों रूपों से भिन्न लोकगत सुनी हुई बातों के आधार पर कवि तथ्यपरक वर्णन कर उस मन स्थिति को अभिव्यक्त करता है। आलोच्यमान कथाकाव्य में संयोग और वियोग दोनों के वर्णन इसी रूप में वर्णित हैं।

प्रकृति में सहानुभूति की कल्पना कर या मानसिक वृत्तियों को प्रकृति सुन्दरी के मनोरम क्रियाकलापों में निबद्ध कर जो तादात्म्य स्थापित हो जाता है—उस में यही प्रतीति होने लगती है कि प्रकृति हमारे सुख-दु:ख में साथ दे कर भावानुभावों के प्रदर्शन में सहानुभूति प्रकट कर रही है। और उद्दीपन रूप में वही प्रकृति जब सुखद चेष्टाओं से हम में मधुरतम भावों को भरती हुई लक्षित होती है तब वही वियोग काल में वेदना और व्यथा को नाना क्रिया-कलापों में प्रकट करती हुई जान पड़ती है। प्रकृति के इस उद्दीपन रूप का भ० क० में वर्णन नहीं मिलता। छल से भविष्यानुरूपा के बन्धुदत्त के साथ पोत में बैठ कर चली जाने पर भविष्यदत्त बहुत दु:खी होता है। विरह से वह अत्यन्त सन्तप्त हो जाता है। बार-बार प्रिया के मुख का स्मरण एवं उस का चिन्तन करता है। किन्तु गुरुतर वियोग के वेग को सह न सकने से वह मूर्च्छित हो जाता है। इस समय शीतल पवन आ कर उसे जगाती है, तब कहीं चेतना लौटती है।

दूसह पियविओय सतत्तउ मुच्छइ पत्तउ, सीयलमारुएण वणिवाइउ तण् अप्पाइउ। (७,८)

इस प्रकार यह वर्णन उद्दीपन रूप से बिलकुल विपरीत है।

विप्रलम्भ शृंगार के पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण में से पूर्वराग को छोड़ कर तीनों भेद इस में मिलते हैं। कमलश्री पति धनवइ के मान धारण कर लेने पर घर में ही अत्यन्त दु:खी हो कर वियोग में छटपटाती है। कवि उस का वर्णन करता है—

१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : रस-मीमांसा, तृतीय संस्करण, पृ० १८८।

तं पणइणिहि पणउ ण समप्पइ पेम्मुम्माएं मणु संतप्पइ ।
अंगइं विरहदाहु ण सहंति णयणइं जित्थु णाहु तहिं जंति । (२,७)
तथा— पिय वयणि मयणि आसणि सयणि रइवासरि वि णा मिलइ । (२,६)

धनवइ के प्रणय से हीन उस का मन अत्यन्त संतप्त रहने लगा । उस के अंग विरहाग्नि सहन करने मे असमर्थ हो गये । उस की आँखें जाते हुए पति की ओर लग गयी । इतना ही नही, प्रिय के वचन, मदन, आसन और शयन में भी उसे कभी सुनने को नही मिल पाते । यह सामन्तयुगीन भारतीय समाज की संभवतः एक विशेष प्रवृत्ति ही बन गयी थी । भविष्यदत्त के मैनागद्वीप मे छूट जाने पर भविष्यानुरूपा बहुत दुःखी होती है । वह तरह-तरह से अपने मन को समझाती है और विचार करती है कि मैं गजपुर में हूँ और पतिदेव द्वीपान्तर में है, जो सैकड़ों योजन दूर है । किस प्रकार से मिलना हो ? जिस द्वीप की भूमि में मनुष्य संचार नहीं करते वहाँ कैसे पहुँचूँ ? मुझे जितना दुःख भोगना था—उतना भोग लिया । बिना आशा मे कब तक प्राण धारण करूँ ? इतने मे ही वह किसी से सुनती है कि कमलश्री ने यह निश्चय किया है कि एक महीने मे यदि मेरा पुत्र आकर नही मिला तो मैं प्राणों का त्याग कर दूँगी ।

तो भविसाणुरूव विसमट्ठिय चिंतइ तुंगतवंगि परिट्ठिय ।
गयउरि हउं पिययमु दीवंतरि जोयण सयइं अणेयइं अंतरि ।
संभउ कवणु एत्थु किर संगमि जहिं संचरवि णाहि महि जंगमि ।
जेत्तिउ दुक्खु मज्झु तणु भुंजइ तेत्तिउ सोवि कहिमि अणुहुंजइ ।
अच्छइ समसमंतु दुहसायरि किं मुउ झंप देइ रयणायरि ।
विणु आसइं किम मणु साहारमि लइ घल्लिवि घरसिहरहु मारमि । (८,२०)

यहाँ पर कवि ने आकाश-वाणी का प्रयोग न कर अस्वाभाविकता से कथानक को बचा लिया है । उसके औचित्य का यह सबसे बडा प्रमाण है । किन्तु भविष्यानुरूपा का करुण विलाप न होना खटकता है । करुण वात्सल्य का अवश्य सुन्दर वर्णन कमलश्री के मुख से हुआ है, जो अत्यन्त मार्मिक है । (दे० ८, १३)

इस वियोग-वर्णन में रीति-परम्परा से ग्रस्त मानवीय भावनाओं का प्रदर्शन न हो कर मनुष्य जीवन की वास्तविक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति हुई है । कमलश्री और भविष्यानुरूपा का प्रेम नायक तथा नायिका का प्रेम न हो कर आदर्श भारतीय नारी का प्रेम है, जो प्राणो के रहते हुए अपने हृदय में किसी दूसरी मूर्ति को प्रतिष्ठित करने के लिए किसी भी प्रकार तत्पर नहीं है । यद्यपि वियोग के सन्दर्भ मे काम की दस दशाएँ कही गयी हैं और अपभ्रंश के प्रबन्ध काव्यों मे विशेष रूप से स्वयम्भू के 'पउमचरिउ' (२१,९) में मिलती हैं, किन्तु यहाँ उन में से अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति या उद्वेग तथा मूर्छा आदि का स्वाभाविक रूप से सन्निवेश मिलता है । परन्तु उनमें वह आवेग और तृष्णा नही है, जो प्रेम-गर्भित टेक की अतिशयता में लक्षित होती है इसका

एक कारण यह भी कहा जा सकता है कि यह काव्य शास्त्रीय शैली में न रचा जाकर लोक-शैली में लिखा गया है, जिसमें जन-जीवन की अनुभूतियों को स्वाभाविक रूप में वाणी प्रदान की गयी है। अन्य रसों में रौद्र, हास्य, वात्सल्य और भयानक की प्रसंगतः मधुर अभिव्यंजना हुई है; बीभत्स रस अवश्य नही मिलता। शोक नाममात्र के लिए कहा जा सकता है। यही नही, अनुभाव और संचारी भावो की भी उचित संयोजना प्रस्तुत काव्य में हुई है। उदाहरण के लिए—भविष्यदत्त उस तिलकपुर मे चन्द्रप्रभ के मन्दिर में पूजन करने के बाद वही बाहर आ कर सो जाता है। जब जागता है और दीवाल पर लिखे अक्षरो को पढता है तो विस्मय से भर जाता है। उसके मन में तरह-तरह की शंकाएँ उठती हैं कि प्रच्छन्न रूप मे कपट से मुझे कोई मन्दिर से बाहर तो नही निकालना चाहता है अथवा इन विकल्पों से क्या, बिना मरे कोई अपने मनोरथ पूरे नही कर सकता है। एक साथ कई सचारी भावो को कवि ने इन पंक्तियों मे व्यंजित किया है—

मुहि करयलु देवि परिचिंतइ विंभयभरिउ।
इउ काइ विहाणु असउ वा असंभउ अच्छरिउ॥
अहिणउ लिहिउ एउ विणु भतिए दीसइ पडिउ चुण्णु तलि भित्तिए।
किं पच्छण्णु कोवि वेयारइ कवडि जिणभवणहु णीसारइ।
अहवइ एण काइं सुवियप्पिं मरणु विणाहिं अवूरिं मप्पि। (५, ६-७)

भविष्यदत्त के मन मे यहाँ एक साथ क्रम से चिन्ता, विस्मय, शंका, तर्क, भय और आवेग संचरण करते हुए लक्षित होते हैं। साथ ही शोक को सूचित करने वाला अनुभाव (मुख पर हथेली रख कर चिन्ता मे डूबना) का चित्र भी कवि ने अभिव्यंजित किया है। इसी प्रकार अन्य स्थलो पर क्रमशः कई संचारी भावो की अभिव्यंजना हुई है। एक चित्र देखिए—

तं णिययकुडुवु सुमरिवि अंगइं हल्लियइं।
हुअ गग्गिरवाय णयणइं अंसुजलुल्लियइं॥ (५, १२)

अर्थात् सुन्दरी भविष्यानुरूपा भविष्यदत्त को अपने परिवार के सम्बन्ध मे कहती हुई अपने कुटुम्ब का स्मरण कर काँपने लगी। उसकी वाणी गद्‌गद हो गयी और आँखों मे आँसू छलछला आये। इन पंक्तियो मे स्मृति और स्नेह के साथ ही कम्प, स्वरभंग, अश्रु और स्तम्भ आदि अनुभाव भी स्वाभाविक रूप में अभिव्यजित हैं। यद्यपि शृंगार के दोनों पक्षो का चित्रण काव्य में किया गया है, पर जायसी तथा सूर की भाँति वियोग-वर्णन की अतिशयता एवं गम्भीरता नही मिलती। कम-से-कम शब्दो मे कवि ने मार्मिक भावनाओ की व्यजना की है। इसी प्रकार संभोग-वर्णन मे स्तम्भ, रोमाच, स्वेद आदि अनुभाव नही मिलते। यद्यपि रचना मे काम-क्रीडा का वर्णन है, पर हाव-विधान भी लक्षित नही होता। इस का कारण यही प्रतीत होता है कि कवि का लक्ष्य काव्यशृंगार प्रधान न बना कर शान्त रस को अंगी मान कर रचना करना था।

संवाद-योजना—

आलोच्यमान कथाकाव्य में संवादपूर्ण कई स्थल दृष्टिगोचर होते हैं, जिन से काव्य का चमत्कार बढ़ गया है और कथानक में स्वाभाविक रूप से गतिशीलता आ गयी है। मुख्य रूप से निम्नलिखित संवाद इस कथाकाव्य में द्रष्टव्य हैं— प्रवास करते समय पुत्र भविष्यदत्त और माता कमलश्री का वार्तालाप, भविष्यदत्त-भविष्यानुरूपा का संवाद, भविष्यानुरूपा-भविष्यदत्त-संवाद, राक्षस-भविष्यदत्त-संवाद, भविष्यदत्त-बन्धुदत्त-संवाद, कमलश्री-भविष्यदत्त-संवाद, राजा भूपाल-भविष्यदत्त-संवाद, भविष्यदत्त-भविष्यानुरूपा-संवाद, कमलश्री-मुनि-संवाद, कमलश्री-धनवइ-संवाद, बन्धुदत्त-सरूपा-संवाद और मनोवेग विद्याधर-भविष्यदत्त तथा मुनिवर-संवाद आदि।

इस प्रकार प्रबन्धकाव्य की भाँति इस रचना मे संवादों की प्रचुरता है। छोटे-छोटे कई संवाद यथास्थान नियोजित हैं। इन संवादों में नाटकीयता, अभिनेयता, वाक्चातुर्य, कसावट, मधुरता तथा हाव-भावों का प्रदर्शन एवं यथास्थान व्यंग्य का समावेश हुआ है। अतएव जहाँ संवादो के सहारे कथानक आगे बढ़ता हुआ जान पड़ता है वही वातावरण तथा दृश्य का पूर्ण चित्र आँखों के सामने घूमने लगता है। उदाहरण के लिए, भविष्यदत्त को जब पता लगता है कि बन्धुदत्त वाणिज्य के लिए विदेश जा रहा है तब वह भी हर्ष से भर कर माता के पास जाता है और भाई के साथ जाने के लिए आज्ञा चाहता है। किन्तु भविष्यदत्त के वचनो को सुन कर माता की आँखें गीली हो जाती हैं, वाणी अटपटाने लगती है। वह कहती है—

हा हउ पुत्त काइं तइं जंपिउ   सिविणंतरि वि णाहि महु जंपिउ।
एक्कु अकारणि कुवियवियप्पिं   दिण्णु अणंतु दाहु तउ वप्पिं। (३,१०)
....
विहि पडिकूलु अम्ह पडिसक्कइ   अत्यह छेउ सहिवि को सक्कइ।
एक्क दव्विअहिलासि विचित्तइं   को जाणइं दाइयइं चरित्तइं।
जइ सरूव दुट्ठत्तणु भासइ   बन्धुअत्तु खलवयणहिं वासइ।
तो तउ करइ अमंगलु जतहो   मूलु वि जाइ लाहु चितंतहो। (३,११)

भविष्यदत्त कहता है—

भविसयत्तु विहसेविणु जंपइ   तुम्हहं भीरत्तणि ण समप्पइ।
अइयारि वामोहु ण किज्जइ   समवयजणि पोढत्तणु हिज्जइ। (३,१२)

इस प्रकार उक्त संवादो को भली भाँति देखने पर कई बातें स्पष्ट हो जाती हैं। एक तो, ये संवाद बहुत बड़े-बड़े हैं। किन्तु यह ध्यान मे रखने योग्य है कि माता कमलश्री और पुत्र भविष्यदत्त के बीच होने वाले वार्तालाप ही अधिक बड़े हैं; अन्य नही। दूसरे, माता कमलश्री इन संवादो में पुत्र को समझाती हुई सीख देती है। तीसरे, पात्र-

गत मनोवैज्ञानिक चरित्रों का पता हमें संवादो मे मिलता है। चौथे, ये नाटकीयता से पूर्ण हैं। संवादों में प्रवाह एवं क्षिप्रता है। पुत्र विनयपूर्वक माता को प्रणाम कर निवेदन करता है। इसी प्रकार माता अपनी ममता को उँडेल कर हाव-भावों का प्रदर्शन करती है। अतएव वातावरण और दृश्यो के बीच संयम एवं शिष्टाचार का पालन दिखाई पड़ता है। कहीं-कहीं संवादों में माधुर्य स्पष्ट रूप से लक्षित है। यथा—

तं णिसुणिवि णिसायरु झक्किउ परिचिंतइ मणेण आसंकिउ।
णउ सामण्णु कोवि णरु दीसइ जो महु समुहुं भडत्तणु दरिसइ।
इउ विरसु रसंतु मइं संचारिउ सयलु पुरु।
पडिवयणसमत्थु एहउ कोवि ण दिट्ठु णरु॥ (५,१८)

इस प्रकार संवादों मे कसावट, सरसता तथा मधुरता परिलक्षित होती है।

वस्तुतः संवादो की सब से बडी विशेषता सरलता, स्वाभाविकता और सजीवता कही जा सकती है। आलोच्यमान कथाकाव्य में उक्त गुणो का उचित सन्निवेश हुआ है। संवादों मे वातावरण के बीच चित्रों का अभिनिवेश वस्तु को सौन्दर्य से जगमगा देता है। और यही कारण है कि पात्रो की मनोवैज्ञानिकता एवं सजीवता संवादो के बीच में से झाँकती हुई जान पडती है। उदाहरण के लिए—

णाह तइउ मइं णउ परियच्छिउ इत्तिउ कालु कहिमि णउ पुच्छिउ।
पिय चिंतंति सुरउ वंच्छेव्वइं अवसरु कहिमि ण हुउ पुच्छेव्वइं।
कवणु देसु जहि तुहु उप्पण्णउं कवणु णयरु सुरसिरि संपुण्णउं।
राणउ कवणु तित्थु दिहिगारउ कवणु जणणि पिउ कवणु तुहारउ।
तं णिसुणिवि तेण णियसहएसुवि संभरिउ।
जलु णयणिहिं मुक्कु हियवउ कलुणसरहो भरिउ॥
सो णिय जम्मभूमि सुमरंतउ णिय जणेरि वच्छल्लु सरंतउ।
परिचिंतइ परिवट्टिय सोइं काइं एण महु तणइं विहोइं। (६,११-१२)

उक्त उदाहरणो से स्पष्ट है कि अधिकतर संवाद बडे-बडे हैं। अतएव अभिनेय की दृष्टि से उन्हे महत्वपूर्ण नही कहा जा सकता। हाँ, संवादो के माध्यम से पात्रो के चरित्रोपर विशेष रूप से प्रकाश पडता है। उक्त उदाहरण मे भविष्यदत्त अपनी पत्नी की बातों को सुन कर जन्म-भूमि और माता का स्मरण करता हुआ माँ के वात्सल्य को तथा अन्य चारित्रिक गुणों को प्रकाशित करता है। भविष्यदत्त कहता है—

धणवइ णाउं जणणु अम्हारउ णरवरिंद परिवारपियारउ।
मायरि कमल सुअण दिहिगारी हरिबलदुहिय सासु तुम्हारी।
सइ चारित्तसील संपुण्णी लच्छिहि तणइं अंगि उप्पण्णी।
अण्णु वि बंधुअत्तु महु दाइउ तेण समाणु वणिज्जिं आइउ। (६,१३)

स्पष्ट ही भविसयत्तकहा में संवाद सजीव, सरल और स्वाभाविक हैं। भाषा भी संवादों के अनुकूल प्रसाद एवं मधुर है। अतएव रंगमंच की उपयोगिता को छोड़ कर सभी बातो में—उक्त काव्य के संवाद सफल हैं। और इस बात का सब से बड़ा प्रमाण यही जान पड़ता है कि उन में भाषा की चुस्ती तथा संवाद की स्वाभाविकता है। सवाद मे स्वाभाविकता का होना उस का प्रथम तथा अनिवार्य गुण है। इस प्रकार भविसयत्तकहा के संवाद काव्यगत सौन्दर्य की दृष्टि से उत्कृष्ट बन पड़े है।

शैली—अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्यों की भाँति इस कथाकाव्य मे 'कडवकबन्ध' है, जो सामान्यतः दस से सोलह पंक्तियो का है। कम-से-कम दस और अधिक से अधिक तीस पंक्तियाँ एक कड़बक मे प्रयुक्त है। कड़वक पज्झटिका, अडिल्ला या वस्तु से समन्वित होते हैं। कही-कही दुवई का प्रयोग भी मिलता है। इस भिन्नता का कारण यही प्रतीत होता है कि यह रचना की एक शैली थी, जिस मे प्रबन्ध और विषय की दृष्टि से अन्त्यानुप्रासमय छन्दोयोजना नियत पंक्तियो में होती थी। साधारणतः एक कडवक मे कम से कम कुल आठ यमक या सोलह पंक्तियाँ देखी जाती है। इसी प्रकार सोलह मात्राओ का एक पद कहा जाता है। किन्तु इस के सम्बन्ध में बिलकुल निश्चित मत नही दिया जा सकता है। क्योकि एक तो समूचे साहित्य का अनुशीलन नही हुआ है और दूसरे नियमो मे भी भेद दिखाई देता है। कविदर्पण में स्पष्ट कहा गया है कि सन्धि कड़वकबद्ध होती है, और कडवक पद्धडिया आदि चार प्रकार के छन्दो मे रचा जाता है[1]। सन्धि के प्रारम्भ में तथा कडवक के अन्त में ध्रुवा, ध्रुवक या घत्ता छन्द का प्रयोग किया जाना चाहिए। ध्रुवा षट्पदी, चतुष्पदी, और द्विपदी के भेद से तीन प्रकार का कहा गया है। अतएव घत्ता एक सामान्य शब्द है, जो रचना-विशेष का बोधक है। यद्यपि घत्ता नाम का एक छन्द भी है, किन्तु सामान्यतः किसी भी छन्द को 'घत्ता' कहा जा सकता है। सामान्यतया कड़वक के अन्त मे दो पंक्तियों के ही छन्द देखे जाते हैं। दोहा भी इस का अपवाद नही है। दोहा का प्रयोग अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्यों मे कम दिखाई देता है। इस से यही जान पडता है कि प्रयोग शैली के विभिन्न रूप पहले से ही प्रचलित थे। महाकवि स्वयम्भू के "चउमुहेण समप्पिय पद्धडिय" से भी इसी बात का सकेत मिलता है कि उन के पूर्व ही अपभ्रश के प्रबन्धकाव्यो की रचना पद्धड़ियाबन्ध मे होती थी। परवर्ती कवियों मे यशःकीर्ति ने 'हरिवंशपुराण', वीरकवि ने 'वरागचरित', नयनन्दी ने 'सुदर्शनचरित', देवसेनगणि ने 'सुलोचनाचरित', हरिषेण ने 'धर्मपरीक्षा', अमरकीर्ति ने 'यशोधरचरित' और पुष्पदन्त ने 'महापुराण' पद्धड़ियाबन्ध मे लिख कर अपभ्रंश की परम्परागत साहित्यिक

१ कडबयनिवहो सन्धी पद्धडियाईहिँ चउहिँ पुण कडव।
सन्धिमुहे कडवन्ते धुवा च धुवय च घत्ता वा॥
'मयणपराजयचरिउ' की प्रस्तावना से उद्धृत, पृ० ६७

बन्धरचना का पालन किया है[1]। भगवतीदास ने 'मृगांकलेखाचरित्र' मे गाथाओं का प्रयोग प्राकृत में, पद्धड़िया का अपभ्रंश में और दोहा, सोरठा का हिन्दी मे किया है[2]। इस से अपभ्रंश के साथ पद्धड़िया छन्द के विशेष सम्बन्ध का पता लगता है। वस्तुतः प्रयोग-शैली के भेद से तीन रूप दिखाई देते हैं–पद्धडियाबन्ध, छड्डणिया या रासाबन्ध और दोहाबन्ध। पद्धडिया के कई भेदों का पता मिलता है। नयनन्दी ने 'सुदर्शन-चरित्र' मे रयणमाल, चित्तलेह, चंदलेह, पारंदिया, रयडा आदि पद्धडिया के भेदो का प्रयोग किया है[3]। अधिकतर दोहा छन्द मुक्तकबन्ध मे प्रयुक्त है। यद्यपि पद्मकीर्ति, रयधू आदि ने अपने प्रबन्धकाव्यो में दोहा का प्रयोग किया है, पर वह परवर्ती विकास है। प्रारम्भिक युग के प्रबन्धकाव्यों मे दोहा नही मिलता। फिर, मुक्तकबन्ध के लिए दोहा अत्यन्त उपयुक्त छन्द है। प्राकृत मे गाथा, संस्कृत मे दोधक और हिन्दी में दोहा मुख्य रूप से मुक्तक काव्य मे प्रयुक्त हुए हैं।

आलोच्यमान काव्य में मुख्य रूप से पद्धडिया छन्द प्रयुक्त है। निश्चय ही यह कथाकाव्य पद्धडिया शैली में लिखा गया है, जो प्रबन्धकाव्य की सर्वाधिक प्रचलित शैली रही है। साधारणतया एक सन्धि मे पन्द्रह से लेकर तीस कडवक तक देखे जाते हैं। किन्तु इस मे ग्यारह से लेकर छब्बीस कडवक तक एक सन्धि मे निबद्ध है। कडवक के अन्त में घत्ता देने का नियम व्यापक था। घत्ता मे प्राय. दोहे के आकार के छन्दो का प्रयोग हुआ है। क्योकि यह एक शैली थी कि पहले दोहे का आकार का कोई छन्द हो फिर उस से बडा या भिन्न छन्द-रचना हो और कड़वक के अन्त मे पहले जैसा या वही छन्द हो। इससे बन्ध-रचना मे सुन्दरता तो आ ही जाती है, पर विषय और भावो की अभिव्यक्ति में भी तारतम्य का निर्वाह करने वाली शैली बँध-सी जाती है। कडवक के अन्त मे जिस छन्द का प्रयोग किया गया है—(दोहे के या भिन्न आकार के) उस की सामान्य संज्ञा 'घत्ता' है। किन्तु कडवक के प्रारम्भ मे प्रयुक्त होने वाले छन्द की कोई सामान्य जाति नहो कही गयी है। सम्भव है कि यह परवर्ती विकास हो और पहले के लिखे हुए प्रबन्ध काव्यों मे उस का प्रयोग न हुआ हो। इस कथाकाव्य मे सन्धि के आरम्भ मे ही प्राय. कडवक के पूर्व दोहा के आकार का छन्द देखा जाता है, जिन मे या तो जिन-वन्दना है अथवा सन्धि मे वर्णित कथा का सार है। (५, १)

१ पद्धडिया छंदें सुमणोहरु भवियण जणमण सवण सहकरु। हरिवंशपुराण, १३, ११।
वहु भावहि जे वरगचरिउ, पद्धडियाबन्धे उद्धरिउ। जम्बुस्वामीचरित, १. ४।
णियसत्तिए त विरयमि कव्वु, पद्धडियाबन्धे ज अडव्वु। सुदर्शनचरित, १, २।
जं गाहाबन्धे आसिउत्तु, सिरिकुन्दकुन्दगणिणा णिरुत्तु।
तं एमहिं पद्धडियहि करेमि, नरि किंपि ण गूढउ अत्थु देमि॥ सुलोचनाचरित्र, १, ६।
जा जयरामें आसि, विरइय गाहपबन्धे।
साहमि धम्मपरिक्ख, सा पद्धडियाबन्धे॥ धर्मपरीक्षा, १, १।
तासउ चरित्तु जसहरणिवासु, पद्धडियाबन्धे किउ पयासु। षट्कर्मोपदेश, १, ७।
२. डॉ० हरिवंश कोछड अपभ्रंश-साहित्य, पृ० २४५।
३. वही, पृ० १७४।

प्रत्येक सन्धि के आरम्भ में तीर्थंकर चन्द्रप्रभ की वन्दना से यह भी स्पष्ट है कि ग्रन्थ के प्रारम्भ, मध्य और अन्त के विधान को कवि ने मान्यता दी है। (७, १) अतएव अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्यों में प्रयुक्त बन्ध-शैली सार्थवती है, जो विविध प्रयोजनो से भरित तथा कथानुबन्ध से समन्वित है। शैली का यही रूप आलोच्यमान कृति में द्रष्टव्य है।

भाषा

यद्यपि धनपाल की भाषा साहित्यिक अपभ्रंश है, पर उस में लोकभाषा का पूरा पुट है। इस लिए जहाँ एक ओर साहित्यिक वर्णन तथा शिष्ट प्रयोग हैं वही लोक-जीवन की सामान्य बातों का विवरण घरेलू वातावरण मे वर्णित है। उदाहरण के लिए—सजातीय लोगो की जेवनार मे षट् रसों वाले विभिन्न व्यंजनो के नामों का उल्लेख है, जिन मे घेवर, लड्डू, खाजा, कसार, माँड़ा, भात, कचरिया, पापड आदि मुख्य हैं।.

गुणाधारिया लड्डुवा खीरखज्जा कसारं सुसारं सुहाली मणोज्जा।
पुणो कच्चरा पप्पडा दिण्ण भेया जयंताण को वण्णए दिव्व तेया। (१२,३)

डॉ० एच० जेकोबी के अनुसार धनपाल की भाषा बोली है, जो उत्तर प्रदेश की है।[१] यद्यपि शास्त्रीय भाषा मे 'भविष्यदत्त कथा' की गणना नही की जा सकती, पर उस पर शास्त्रीय प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। धनपाल की भाषा साहित्यिक भाषा है। केवल लोक-बोली का पुट या उस के शब्द-रूपो की प्रचुरता होने से हम उसे उस युग को बोली जाने वाली भाषा नही मान सकते। क्योकि प्रत्येक रचना मे बोल-चाल के कुछ शब्दों का आ जाना स्वाभाविक है। इस का विचार भाषा की बनावट को ध्यान मे रख कर किया जा सकता है कि वह बोली है या भाषा? धनपाल की भाषा मे जैसी कसावट और सस्कृत के शब्दो के प्रति झुकाव है उस से यही सिद्ध होता है कि उन की भाषा बोलचाल की न हो कर साहित्य की है। इस का एक कारण यह भी है कि धनपाल की रचना से मिलती-जुलती भाषा परवर्ती रचनाओ मे हमे स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। यही नही, अपभ्रंश के कवि विबुध श्रीधर की रचना धनपाल से डेढ सौ वर्ष पूर्व की है, जिस की भाषा धनपाल की रचना से सरल एवं स्वाभाविक है। उसे हम बोलचाल की भाषा कह सकते हैं—यद्यपि उस की भाषा भी सहज रूप मे बोलचाल की नही है; किन्तु धनपाल की भाषा बोलचाल की नही है। उदाहरण के लिए--

किउ अब्भुत्थाणु णराहिवेण अहिणउ पाहुडु अल्लविउ तेण। (१३,२)
(कृत अभ्युत्थान नराधिपेन अभिनव प्राभृत अर्पितं तेन)

१. डॉ० एच० जेकोबी फ्रॉम द इण्ट्रोडक्शन टु द भविसयत्तकहा, अनु० प्रो० एस० एन० घोसाल, जर्नल आव द ओरियण्टल इन्स्टिट्यूट, बडौदा, द्वितीय खण्ड, अंक सख्या ३, मार्च १६५३, पृ० २३६।

इन पंक्तियों पर संस्कृत का प्रभाव स्पष्ट है। भाषा को साहित्यिक बनाने का प्रयत्न कई स्थलों पर लक्षित होता है। यथा—

पुणु वि जक्खकद्दमिण पसाहिउ तिलउ। (प्रसाधित) (९,१६)
परिगलिय रयणि पयडिय विहाणु। (प्रकटित) (४, ५)
(अत्रान्तरे) एत्थंतरि कुमारु कीलतउ लीलइ णियमंदिरि संपत्तउ। (सम्प्राप्त)
(२,११)

रयणाहरण विहूसिय कंठि बेलासिरिव उग्गहि उवकंठि। (५,९)
(रत्नाभरणविभूषितकण्ठं बेलाश्रीरिव उद्गतं उपकण्ठं)।

भविष्यदत्तकथा की भाषा पश्चिमी अपभ्रंश है, जो प्रायः एक सहस्र वर्ष तक साहित्य की भाषा रही है और जिस मे उत्तर, पश्चिम तथा मध्यदेश का एक चौथाई साहित्य लिखा मिलता है। डॉ० तगारे ने पश्चिमी अपभ्रंश की जिन विशेषताओ का निर्देश किया है वे भविसयत्तकहा में भली भाँति दृष्टिगोचर होती है।[1] आलोच्यमान काव्य की भाषा भले ही आदर्श भाषा न हो, पर परिनिष्ठित अपभ्रंश अवश्य है; जिस के लक्षण हमे आ० हेमचन्द्र के व्याकरण मे मिलते हैं। इस से स्पष्ट हो जाता है कि कवि धनपाल की प्रयुक्त भाषा साहित्यिक है; किन्तु बोलचाल की भाषा का पुट दिया हुआ है। डॉ० जेकोबी ने आ० हेमचन्द्र के द्वारा निर्दिष्ट जिस ग्राम्य अपभ्रंश का कथन किया है वह साहित्यिक एवं शास्त्रीय-अपभ्रंश से कुछ बातो मे समानता रखती है। इसलिए जिस पुल्लिग 'हो' एकवचन प्रत्यय के कारण भविसयत्तकहा की भाषा को ग्राम्य कहा गया है वह उचित नहीं है। क्योंकि उसी में 'हु' के प्रयोग विरल नही हैं। किन्तु डॉ० जेकोबी का कथन है कि 'हु' और 'हि' 'हो' के बदले लिखे जाते थे[2]। परन्तु तथ्य यह है कि—दोनों ही रूप अन्य साहित्यिक रचनाओं में मिलते हैं। लाखू कृत 'जिनदत्त-चरित्र' शुद्ध साहित्यिक रचना है, किन्तु उस मे भी दोनों रूप देखे जाते है। फिर, प्राकृत के वैयाकरणों ने शौरसेनी प्राकृत के अन्तर्गत जिस अपभ्रंश का निर्देश किया है वे लक्षण भविसयत्तकहा मे मिलते है। उदाहरण के लिए—'प' को 'व' हो जाना (कमलवावि < कमलवापिका); 'स' को 'ह' (दह, णियसह < निश्वास) 'य' को 'ज' (जसोहण < यशोधन); श और ष को 'स' (कसण, विसाउ), 'म' को 'ह' (अलोहु, अहिमाणु, अहिसिंचिय); 'ख' को 'ह' (सुह, साहा), 'थ' को 'ह' (णाह) हो जाना इत्यादि।

वस्तुत भाषागत प्रवृत्तियो के विभिन्न शब्द-रूप भविसयत्तकहा में दिखाई देते हैं, पर काव्य-रचना का झुकाव परिनिष्ठित अपभ्रंश को ओर ही है, जिस का विधान हमे आ० हेमचन्द्र के 'शब्दानुशासन' में प्राप्त होता है। इस से यह भी स्पष्ट है कि धनपाल

१ डॉ० गजानन वासुदेव तगारे : हिस्टारिकल ग्रामर ऑव अपभ्रंश, पूना, १९४८, पृ० २९०।
२. डॉ० एच० जेकोबी 'इन्ट्रोडक्शन टू द भविसयत्तकहा, जर्नल आव द ओरियण्टल इन्स्टिट्यूट, बड़ौदा, खण्ड २, ३, पृ० २४०।

की भाषा उत्तरकालिक अपभ्रंश है, जिस मे भाषागत परिवर्तन के रूप स्पष्ट हो चले थे। इसीलिए हमें 'हु' और 'हो' दोनों रूप मिलते है। किन्तु प्राधान्य 'हु' का है। यथा—

मामहु मंदिरि जणु संभासिवि पणविवि किउ संकेउ समासिवि ॥ (९,१०)
तथा— रुक्खहु णामि फलु संवज्झइ कि अंबइ आमलउ णिवज्झइ ॥ (२,३)
एवं— तुहु परिवुण्णु अहिट्ठिय दव्वि पहु सम्माण दाण गुण गव्वि । (३,१४)

इस प्रकार जहाँ 'हु' दिखाई देता है वह या तो भाषा की उकारान्त प्रवृत्ति के कारण है अथवा विभक्ति के विनिमय या विकल्प से। और जहाँ 'हो' है वह विभक्ति के कारण। उदाहरण के लिए—

एहु महंतु पुत्तु तउ वप्पहो सामिउं धणहो पउर माहप्पहो ।
सहु जणणिय गेहहु णीसारिउ अच्छइ कढकढंतु मणि खारिउ । (३, १५)

यहाँ पर 'वप्पहो', 'धणहो', 'माहप्पहो' शब्द स्पष्टतः षष्ठी विभक्ति के एकवचन के रूप हैं। 'गेहहु' शब्द पंचमी का एकवचन है। तथा एहु, सहु प्रथमा विभक्ति एकवचन के तद्भव होने से भाषा को उकारान्त प्रवृत्ति के सूचक है। अतएव 'हु' और 'हो' को भाषा का निर्णायक मान लेना उचित नही जान पडता।

अलंकार-योजना

प्रबन्ध काव्य मे अलंकार-योजना का भी विशेष स्थान है। भावों की स्फुट अभिव्यक्ति और वस्तु के उत्कर्ष एवं प्रतीयमान चित्र या बिम्ब को अभिव्यंजित करने के लिए अलंकार-योजना आवश्यक ही नही अनिवार्य भी प्रतीत होती है। यदि कल्पना भावों को जगाती है तो अलंकार उसे साँचा या रूप प्रदान करता है। इसलिए प्राचीन आचार्यों ने प्रबन्ध काव्य में अलंकार-विधान की अनिवार्यता का निर्देश किया है। किन्तु अलकारो के चमत्कार के पीछे काव्य को चमत्कृत बनाने का प्रयोजन उचित नही है। क्योंकि अलंकार भावों के पीछे वैसे ही चलते दिखाई देते हैं जैसे कि दिये के पीछे अँधेरा। वास्तव मे सीधी-सादी बात मे आकर्षण कम दिखाई पडता है। अलंकार-योजना से उस का चमत्कार बढ जाता है। इसीलिए काव्य मे उस का महत्त्व है। अलंकारों की कई कोटियाँ हैं। सामान्यतः मुख्य दो कोटियाँ कही जाती है— साधर्म्य या औपम्यमूलक और विरोधमूलक। साधर्म्यमूलक अलंकार है—उपमा, परिणाम, सन्देह, रूपक, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, स्मरण, अपह्नुत, उत्प्रेक्षा, तुल्ययोगिता, दीपक, दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा, व्यतिरेक, निदर्शना, श्लेष और सहोक्ति। इन मे से उपमा को छोड कर शेष अलंकारो में औपम्य गम्यमान होता है, इसलिए उन्हें औपम्यमूलक भी कहते हैं। आलोच्यमान काव्य मे साधर्म्यमूलक अलंकारों की ही मुख्यता है। यदि सच पूछा जाय तो अलंकारो की कोई इयत्ता नही। बात कहने के जितने ढंग हो सकते हैं उतने ही अलंकार। फिर भी सादृश्य, साधर्म्य, वैधर्म्य, विरोध, हेतु, लोक-व्यवहार,

वाक्यरचना, तर्क आदि के भेद से अलंकारों को अनेक श्रेणियाँ मानी जाती हैं। परन्तु यह कहा जा सकता है कि उपमा सब से प्रधान अलंकार है, और कदाचित् अलंकारों के विकास के मूल में यही अलंकार रहा होगा। वस्तुतः विद्वानो के चित्त को अनुरंजन करने वाली स्फुट प्रतीयमान कोई वस्तु नही होती, किन्तु अन्य के द्वारा प्रतीयमान होने पर हम उसी रूप मे उसे ग्रहण करते है। और इसलिए औपम्य के तीन रूप देखे जाते है—भेद, अभेद और उभयनिष्ठ।

भारतीय साहित्य में ऐसा कोई काव्य न होगा जिस मे उपमा अलंकार का प्रयोग न हुआ हो। इस से जहाँ उपमा की व्यापकता का पता चलता है वही उस की प्राचीनता का बोध होता है। ऐसे अलंकार के प्रयोग मे कवि का कौशल और औचित्य द्रष्टव्य होता है। महाकवि कालिदास की उपमाओ की सुघरता इसी मे है कि वे साधर्म्य-योजना की सटीकता के साथ स्फीत बिम्ब प्रदान करती हैं—अभिव्यंजित करती हैं। साधर्म्य-योजना जाति, गुण, क्रिया और स्वभाव के आधार पर की जाती है। वह कहीं पर गम्यमान होती है और कही पर प्रतीयमान।

सादृश्यमूलक अलंकारों मे उपमा और उत्प्रेक्षा का प्रयोग मुख्यता से इस काव्य में देखा जाता है। उपमा के कई रूप दृष्टिगोचर होते है। वह केवल सादृश्य योजक समान धर्म की प्रकाशिका न हो कर वस्तु के मूर्त और अमूर्त भाव मे भी साम्य प्रदर्शिका है। यथा—

तेण वि दिट्ठु कुमारु अकायरु वडवाणलिण णाइं रयणायरु। (५,१८)

अर्थात् उस राक्षस ने भविष्यदत्त को वैसा ही अकायर देखा जैसे समुद्र के भीतर रहने वाली अग्नि (वडवानल) होती है। यहाँ केवल धर्म साम्य ही नही है, अपितु वस्तु, स्वभाव, गुण और क्रिया-साम्य भी है। ऐसी उपमा बहुत कम मिलती है। अब प्रकृति-वर्णन मे मानवोय रूपों तथा भावो की सुन्दर अभिव्यक्ति का चित्र देखिए—

लक्खिउ समुद्दु जललवगहीरु सप्पुरिसु व थिरु गभीरु धीरु।
आसीविसोव्व विसविममसीलु वेलामहल्लकल्लोललीलु।
दिट्ठइं विउलइ वेलाउलाइं कयविक्कयरयवयणाउलाइं। (३,२२)

अर्थात् उन्हो ने जल से भरे हुए गहरे समुद्र को स्थिर, गम्भीर और धीर पुरुष की भाँति देखा। उस विशाल तट पर किलोलें करने वाली लहरें साँप के समान थी। शब्दायमान समुद्र-तट उस हाट की भाँति था, जो रत्नों की खरीद और बेंच करने वालों से शब्द-संकुल होता है।

उक्त पंक्तियों मे मूर्त की उपमा अमूर्त से होने के साथ साँप और समुद्र की लहरों की क्रिया मे अत्यन्त साम्य लक्षित होता है। ऐसी उपमाओ से भरित कई स्थल आलोच्यमान कथाकाव्य मे है, जिन मे कवि की प्रतिभा परिलक्षित होती है। किन्तु उपमाओं से अधिक उत्प्रेक्षाएँ काव्य मे प्रयुक्त है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि धनपाल उत्प्रेक्षा के कवि है। वस्तुतः उत्प्रेक्षा में कवि की कल्पना को अधिक स्वातन्त्र्य और

विकसितरूप से स्फुट भाव-भूमि मिलती है, जिस में कोई रोक-टोक नहीं होती। जहाँ वह कल्पना को जगाने मे सहायक होती है वहीं भावों की उन्मुक्त अभिव्यंजना के लिए स्पष्ट एवं स्फीत बिम्ब सामने लाती है। यही उत्प्रेक्षा का माहात्म्य है। और फिर जिस प्रकार भाषा में स्वार्थिक प्रत्यय नये शब्दों को गढने और अन्य भाषाओं से ग्रहण करने के लिए प्रवेश-द्वार के समान है वैसे ही उत्प्रेक्षा नये-नये उपमानों को साहित्य में पुरस्कृत करने के लिए खिड़की की भाँति है। वाच्यमान और प्रतीयमान के भेद से कई प्रकार की उत्प्रेक्षाएँ देखी जाती है। प्रस्तुत काव्य में भी उस को मूल विशेषता निहित है। प्रायः सभी प्रकार की उत्प्रेक्षाएँ इस मे दिखाई देती है। उन के विस्तार में न जा कर केवल दो-चार उदाहरणो के नमूने प्रस्तुत करना पर्याप्त हैं।

कवि की कल्पना है कि रात काली इसलिए हो गयी कि सौत-की डाह से मानो श्री ने पथिको के ऊपर खप्पर मे भर कर स्याही उडेल दी हो। (४, ५) यहाँ असिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा है। क्योंकि सन्ध्या के बाद रात का आ जाना और कालिमा का फैल जाना स्वाभाविक है; पर सौत की डाह से स्याही का उडेलना कारण बता कर उत्प्रेक्षा की गयी है, जो वस्तुतः कारण नहीं है। कवि की कल्पना स्वाभाविक और नवीन जान पडती है। इसी प्रकार अन्य उदाहरण है—

पारिगलिय रयणि पयडिउ विहाणु णं पुणु वि गवेसिउ आउ भाणु (४, ५)

रात बीत गयी। सवेरा हो गया। कवि कहता है कि यह सूरज आज फिर इसलिए निकल आया है कि कल इसका कुछ खो गया था, जिसे ढूंढने के लिए आया है। कुछ परम्परित उत्प्रेक्षाएँ भी मिलती है। उदाहरण के लिए—गजपुर का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि वह सब को आश्चर्य मे डालने वाला गजपुर नाम का नगर क्या था, मानो धरती पर आकाश से उतर कर आया हुआ स्वर्ग का एक खण्ड था।

तहिं गयउरु णाउं पट्टणु जणजणियच्छरिउ।
ण गयणु मुएवि सग्गखण्डु महि अवयरिउ॥ (१, ५)

यह कल्पना वाल्मीकिरामायण, स्वयम्भू के हरिवंश पुराण, पुष्पदन्त के महापुराण, यशोधरचरित, कालिदास के मेघदूत, धाहिल के पद्मसिरीचरित, नरसेन के सिद्धचक्रकथा आदि छोटे-बडे कई काव्यों म मिलती है। वास्तव मे धनपाल की कुछ कल्पनाएँ निराली है। कवि कहता है कि थोडा दूर पर भविष्यदत्त ने एक पुरानी पगडडी देखी, जो जैनधर्म की पुरानी पुस्तक हो जान पडती थी।

थोवंतरि दिट्ठु पुराण पंथु भविएण वि ण जिणसमयगंथु। (४, ५)

इसी प्रकार भविष्यदत्त उस नगरी के भवनो के अधखुले गवाक्षों को देखता हुआ कहता है कि वे मानो नयी बहू के आधी आँखो की कोरो से देखे जाते हुए नयन-कटाक्ष हो।

पिक्खइ मंदिराइं फलअद्धुग्घाडिय जालगवक्खइं।
अद्धपलोइ राइ णं णवबहुणयणकडक्खयं॥ (४, ८)

सचमुच कवि की कल्पना यहाँ अत्यन्त उर्वर और अनुभूतिपूर्ण प्रतीत होती है। समूचा काव्य ऐसी कल्पनाओ से भरा हुआ है, जो लोक-जीवन के उपमानो की सजीवता सहेजे हुए है। इनमें अभिव्यक्ति और प्रवृत्ति दोनों मे ही नवीनता लक्षित होती है। उदाहरण के लिए उसने स्वच्छ वापी जल से तथा कमलों से लबालब भरी हुई देखी। इस बात को कवि अपने ढग से इस प्रकार कहता है कि आगे चल कर उसे कमलों से भरी हुई वापी ऐसी दिखाई दी मानो किसी कामिनी के छाया युक्त पयोधर हो।

अग्गइ कमला वावि सुमणोहर ण कामिणि सच्छाय पओहर। (४, १२)

यहाँ कितना सुन्दर बिम्ब प्रस्तुत हुआ है। 'पयोघर' मे श्लेष भी है। स्वरूपोत्प्रेक्षा इन पंक्तियों मे स्पष्ट हो गम्यमान है। कवि ने एक-एक वस्तु की सुन्दर से सुन्दर उत्प्रेक्षा कर भावो का बिम्बार्थ ग्रहण कराया है। ये उक्तियाँ निश्चय ही काव्य की शोभा विधायक तथा भावो की बिम्ब-योजना मे शक्ति समन्वित है। अन्य अलंकारो के उदाहरण इस प्रकार है—

(१) हट्टमग्गु कुलसील णिउत्तहिं सोह ण देइ रहिउ वणिउत्तहिं[1]। (विनोक्ति)

(२) रुक्खहु णामि फलु संवज्झइ किं अंबइ आमलउ णिवज्झइ[2]। (वैधर्म्य दृष्टान्त)

(३) जो भक्खइ मंसु तासु कहिमि कि होइ दय[3]। (काव्यलिग)

(४) जिम-जिम ताहि आस णउ पूरइ तिम-तिम पणइणि हियइ विसूरइ[4]। (विशेषोक्ति)

(५) असिरिव सिरिवत्त सजल वरंग वरंगणवि।
मुद्धवि सवियार रंजणसोह निरंजणवि[5]॥ (विरोधाभास)

(६) तो तउ करइ अमगलु जंतहो मूलु वि जाइ लाहु चिंतंतहो[6]। (लोकोक्ति)

(७) कलि-तरुवरहो मूलु छिदिज्जइ[7]। (रूपक)

(८) किउ अपमाणु णिउत्तु मुहुल्लउ अहरउ णावइ दाडिमहुल्लउ[8]। (व्यतिरेक)

(९) जोव्वणवियाररसवसपसरि सो सूरउ सो पंडियउ।
चलमम्मणवयणुल्लावएहि जो परतियहिं ण खंडियउ[9]॥ (अर्थान्तरन्यास)

---

१ कुल-शील में नियुक्त होने पर भी बिना वणिक्पुत्रों के वहाँ के हाट-मार्ग शोभित नही हो रहे थे।

२ वृक्ष के नाम के अनुसार फल लगते है। क्या आम का फल आमले के पेड में लगता है ?

३ जो मांस खाता है उसके दया कहाँ से हो सकती है ?

४ वह प्रणयिनी जैसे-जैसे प्रियतम की आशाओं, अभिलाषाओ को पूर्ण करती थी वैसे ही उसे सन्ताप उत्पन्न होता था, हृदय विसूरता था।

५. वह निर्धन होने पर भी श्रीमती थी। करुणापूर्ण श्रेष्ठ स्त्री होकर भी वरांगना (वेश्या) नही थी। मुग्धा नायिका होने पर भी विचारशील थी। आँखो में बिना अजन लगाये आकर्षक एवं मोहने वाली थी।

६ विघ्नों के रहते हुए जो तप करता है वह लाभ की आशा में मूल भी छोड़ता है।

७. कलह रूपी वृक्ष की जड़ भी नष्ट कर देना चाहिए।

८. मुख से सलग्न अधर (निचले ओंठ) ने अनार के फूल को नीचा दिखा कर उसका अपमान किया।

९. यौवनकालीन विकार रस के प्रसरित होने पर तथा चंचल मार्मिक वचनों के आलाप होने पर जो बिंधते नहीं वे ही विद्वान् तथा पण्डित है।

छन्द

भाषा, शैली और अलंकारों की भाँति अपभ्रंशों के छन्दों में भी देशीपन स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। अपभ्रंश के काव्यों में मुख्यतः मात्रिक छन्दों का प्रयोग हुआ है। मात्रिक-रचना परवर्ती प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य की निजी विशेषता है। क्योंकि वैदिक वृत्त वर्णमय हैं। पद में वर्ण और स्वर मुख्य होते हैं। यदि हम पद को अक्षरमय मानें तो वैदिक वृत्त वर्णमय है। मुख्य वैदिक छन्द है—गायत्री अनुष्टुभ्, जगती, त्रिष्टुभ्, पंक्ति, बृहती और उष्णिक्। इन वैदिक वृत्तों की विशेषता अक्षरपरिमाण में निहित है। मात्रिक छन्दों का प्रयोग परवर्ती विकास है। जिसमे नियत वर्णों का समावेश होता है उसे वृत्त कहते हैं। किन्तु नियत मात्रा वाला पद्य जाति कहा जाता है। प्राचीनों के अनुसार पद्य के दो भेद हैं—वृत्त और जाति[1]। काव्य-परम्परा के उत्तरवर्ती काल में मात्रा तथा अक्षरों की नियत संख्या से सामान्य रूप का ही बोध होने लगा था इसलिए उसे छन्द नाम से अभिहित किया जाने लगा। छन्द वर्णिक और मात्रिक दोनों प्रकार के छन्द-रूपों का वाचक है। प्रारम्भिक काव्यो मे गणवृत्त नही थे। उनमे मात्रिक और अक्षर वृत्त ही प्रयुक्त होते थे। किन्तु परवर्ती संस्कृत-साहित्य मे पाद-रचना गण के आधार पर की जाने लगी थी। गण तीन वर्णों से बनता है। संस्कृत के काव्यो मे गण-वृत्तो का भलीभाँति प्रचलन होने पर प्राकृत-काव्यों में भी उनका समावेश होने लगा। अपभ्रश में यह प्रवृत्ति साहित्यिक रूढ़ियों के साथ ही प्राकृत से आयी जान पड़ती है।

अल्सडोर्फ ने वृत्तों के दो भेदो का निरूपण किया है—गणवृत्त और मात्रिक[2]। किन्तु स्पष्ट रूप से हमे छन्दो के तीन भेद दिखाई देते हैं—अक्षरवृत्त, गणवृत्त और मात्रिकवृत्त, लौकिक छन्दों के भी ये तीन भेद कहे गये हैं[3]। कहा जाता है कि लौकिक छन्दो की उत्पत्ति वैदिक वृत्तो से हुई है, परन्तु अध्ययन करने से पता लगता है कि वृत्त तथा जाति-बन्धो से हट कर समय-समय पर नवीन बन्ध एवं छन्दो की रचना साहित्य मे होती रही है। कुछ ऐसे छन्दों का पता चला है जो लय तथा राग-रागनियो के अनुकूल ढल कर लोक-बोलियो मे सगीत और भावो की सृष्टि करते है[4]। इस दृष्टि से मध्यकालीन भारतीय साहित्य का विशेष महत्त्व है।

इस कथाकाव्य मे निम्न-लिखित छन्द विशेष रूप से प्रयुक्त हैं[5]—

---

१ पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्त जातिरिति द्विधा।
वृत्तमक्षरसंख्यातं जातिर्मात्राकृता भवेत्॥ नारायण।
पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति त्रिधा। —अग्निपुराण, ३३७।

२ अपभ्रंश स्टडियन, १९३७, पृ० ४६।

३. आदौ तावद् गणच्छन्दो मात्राच्छन्दस्ततः परम्।
तृतीयमक्षरच्छन्दश्छन्दस्त्रेधा तु लौकिकम्॥—छन्द·शास्त्र पृ० ४६।

४. देवेन्द्र कुमार जैन "प्राकृतछन्दकोश" हिन्दुस्तानी, भाग २२, अंक ३-४, पृ० ४०-४६।

५. श्री दलाल और गुणे 'भविसयत्तकहा' की भूमिका, पृ० २८-३६।

पज्झटिका, अडिल्ला, दुवई, मरहट्टा, सिंहावलोकन, काव्य, प्लवंगम, कलहंस, गाथा, घत्ता, उल्लाला, अभिसारिका, विभ्रमविलासवदन, किन्नरमिथुनविलास, मर्कटिका, चामर, भुजंगप्रयात, शंखनारी, लक्ष्मीधर और मन्दार।

पज्झटिका या पद्धड़ी

यद्यपि दोहा अपभ्रंश का औरस छन्द कहा जाता है, किन्तु अपभ्रंश के प्रबन्ध काव्यों में स्वतन्त्र रूप में इस के दर्शन नही होते। पद्धडिया छन्द अवश्य प्रायः सभी काव्यों में बन्ध रूप में मिलता है। इस की प्राचीनता का उल्लेख भी है। स्वयं स्वयम्भू ने स्वीकार किया है कि उन्होंने पद्धडिया छन्द चतुर्मुख से ग्रहण किया, जो छड्डणिया, दुवई और ध्रुवक से जड़ा हुआ है।[१] 'स्वयम्भूछन्द' में इन का विस्तृत विवेचन मिलता है। वस्तुतः पद्धड़िया और घत्ता प्रयोग-शैली के छन्द है, जो बन्ध-रचना के अनुरूप प्राकृत और अपभ्रंश-काव्यों में प्रयुक्त हुए हैं। पद्धडिया में चतुर्मात्र गण तथा चारों पद समान होते है। कुल चौंसठ मात्राएँ होती है। पूर्वार्द्ध में या उत्तरार्द्ध में यमक होता है।[२] किन्तु प्राकृतपैंगलम् में यमक का उल्लेख न हो कर प्रत्येक चरण के अन्त में जगण की रचना आवश्यक कही गयी है। इस का उदाहरण है—

कि करमि खोणविहवप्पहाइ णउ लहमि सोह सज्जण सहाइ।
अह णिद्धणु जणि सोहइ ण कोइ धणु संपय विणु पुण्णहिं ण होइ। (१,२)

यह पद्धड़िया छन्द है। इस में चार चरण है। चारो मे समान रूप से सोलह-सोलह मात्राएँ है। अन्त मे जगण (मध्य गुरु) है।

अडिल्ला

आ० स्वयम्भू ने स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है कि प्रबन्ध-रचना की दृष्टि से कड़वकों की बहुविध रचना होती है, जिन में पद्धड़िया, छड्डणि, घत्ता आदि पर विशेष ध्यान दिया जाता है। उदाहरण के लिए, जिस कडवक मे पद्धडी छन्द का प्रयोग होता है वह कडवक सामान्यतः सोलह पंक्तियों का होता है।[३] किन्तु आलोच्यमान ग्रन्थ में इस नियम का पालन नही हुआ है। चार पद्धडिया और एक घत्ता के क्रम से आठ से सोलह तथा चौबीस पंक्तियों तक की कडवक-रचना हुई है। अडिल्ला में भी सोलह मात्राएँ होती है। दोनों में अन्तर यह है कि अडिल्ला मे कहीं भी जगण का प्रयोग नही होता है और दो पादों के अन्त में यमक तथा चरण के अन्त में दो लघु मात्राएँ होती हैं[४],

१ छड्डणिय दुवइ धुवएहि जडिय चउमुहेण समप्पिय पद्धडिय।—हरिवंशपुराण, (१, २)।
२ चत्वारि पादाः षोडशमात्रा आद्य द्वे उत्तरार्द्धे च यमक। सन्देशरासक अवचूरिका। प्राकृतपैंगलम् १,१२५। स्वयम्भूछन्द, ८,२०।
३ पद्धडिआ पुण जेइ करेन्ति ते मोलह मत्तउ पउ धरेन्ति।
जिहि पआहि जमउ ते णिम्मअन्ति कडवअ अट्ठहि जम अहिरअन्ति॥ वही (८,१४)
४ सोलह मत्ता पाउ अलिल्लह बे वि जमक्का भेउ अडिल्लह।
हो ण पओहर किंपि अडिल्लह अन्त सुपिअ भण छन्दु अडिल्लह॥ प्राकृतपैंगलम्, (१,१२७)

किन्तु पद्धड़िया में यमक आवश्यक नही है; पर प्रत्येक चरण के अन्त में जगण-रचना अनिवार्य है। इस का उदाहरण है—

अखलिउ सालंकारु सणेउरु पसरिउ पिंडवासु अंतेउरु।
सीहवारु सीहासणछत्तइं एवमाइ अण्णइं मि विढत्तइं। (१३,१०)

इस प्रकार अपभ्रंश के छन्दों में हमे दो बातें विशेष रूप से दिखाई देती हैं। एक तो यह कि बन्ध-रचना के निमित्त उन का प्रयोग होता है और दूसरे अलंकार-रचना छन्दों मे गर्भित रहती है। यद्यपि सभी छन्दों मे यह प्रवृत्ति नही दिखाई पडती है, किन्तु यह भी एक प्रवृत्ति है। सामान्यत. जैसा कि पीछे कहा है कि एक कडवक मे आठ यमक या सोलह पंक्तियाँ होती हैं। सोलह पंक्तियो मे पद्धड़ी या अडिल्ला के चार छन्द होते है। किन्तु यह नियम व्यापक नही है। इस का कारण यही प्रतीत होता है कि पहले घत्ता देने का नियम नही रहा होगा। महाकवि स्वयम्भू के समय से ही इस का कदाचित् प्रचलन हुआ है। क्योकि बन्ध-रचना मे किसी छन्द को घत्ता नाम दिया जा सकता है। जिस प्रकार सन्धि के प्रारम्भ मे प्रयुक्त होने वाले विभिन्न छन्दो को ध्रुवक कहते है वैसे ही कडवक के आदि या अन्त मे प्रयुक्त स्वतन्त्र छन्द की कोई अभिधा नही थी। कोई भी छन्द आदि या अन्त मे प्रयुक्त हो सकता था और जो छन्द प्रयुक्त होता था उस का वही नाम होता था। 'स्वयम्भूछन्द' में कहा गया है कि सन्धिबद्ध रचनाओ मे घत्ता, दुवई, गाथा, अडिल्ला कडवक के अन्त मे और पद्धडिया तथा छड्डणि प्रारम्भ मे प्रयुक्त होते है।[1] इस प्रकार बन्ध-रचना तथा तद्रूप छन्दो का विधान-अपभ्रंश-प्रबन्ध काव्यो मे आठवी शताब्दी मे ही हो चुका था। परवर्ती विकास-क्रम मे अन्य कई महत्त्वपूर्ण बातें मिलती है।

घत्ता

इस छन्द मे बासठ मात्राएँ होती है। इस के आधे भाग मे दसवी, अठारहवी और इकतीसवी मात्रा पर विराम होता है। दोनो चरणों मे चतुर्मात्रिक सात गण तथा अन्त में तीन-तीन लघुमात्राएँ होती हैं।[2]

घत्ता का उदाहरण है—

विहुणिय सिरु भरडक्खिय लोयणु पइ पइ विभइ अणिमिसलोयणु।
णवतरुपल्लवदल सोमालउ हिडइ तित्थु महापुरि वालउ॥ (४, ७)

भविष्यदत्तकथा मे घत्ता के कई प्रकार देखने को मिलते है। किसी में यदि तेईस मात्राएँ है तो किसी में सत्ताईस, किसी मे उनतीस, तीस, इकतीस और बत्तीस

१ सन्धिहि आइहि घत्ता दुवई गाहाडिल्ला।
मत्ता पद्धडिआए छड्डुणि आवि पडिल्ला॥ स्वयम्भूछन्द, (८,३५)।

२ पिंगल कइ दिट्ठउ छन्द उकिट्ठउ घत्त मत्त बासट्ठि करि।
चउ मत्त सत्त गण बे वि पाअ भण तिण्णि तिण्णि लहु अन्त धरि॥ प्राकृतपैंगलम्, (१.९९)।
पढम दह बीसामो बीए मत्ताइं अट्ठाइ, तीए तेरह विरई घत्ता मत्ताइं बासट्ठि॥ वही (१.१००)

मात्राएँ एक पंक्ति अर्थात् पादयुगल में हैं। परन्तु कवि ने जिस छन्द का प्रयोग किया है उस के नियमों का पूरा पालन हुआ है। भले ही मात्रा के पीछे शब्दों में हेर-फेर करना पड़े, पर छन्दोभंग दृष्टिगोचर नहीं होता।

दुवई

संस्कृत में इसे द्विपदी कहते हैं। द्विपदी का अर्थ दो पद है। वस्तुतः इस में पाद चार प्रतीत होते हुए भी दो ही होते हैं। केवल दो पदों में पूरी बात कह दी जाती है। इस के भी कई रूप या प्रकार मिलते हैं। प्रस्तुत काव्य में सन्धि के प्रारम्भ में ही नहीं मध्य मे भी तथा कड़वक के अन्त मे दुवई का प्रयोग हुआ है।

दुवई के एक पद में अट्ठाईस और दोनों में मिला कर छप्पन मात्राएँ होती है। इस में एक षट्कल, पाच चतुष्कल और अन्त में एक गुरु होता है।[1] इस का उदाहरण है—

पाणिग्गहिण जाइ जामायहु अहियमणाणुराइणा।
जं चिंतिउ मणेण णीसेसु वि तं तहु दिण्णु राइणा॥ (१५, २)

मरहट्ठा

इस में चार पंक्तियाँ होती हैं। प्रत्येक पंक्ति मे उनतीस मात्राएँ होती हैं। आठ मात्रा और फिर ग्यारह के स्थान पर विराम होता है। प्रारम्भ में षट्कल, फिर पंचकल तथा चतुष्कल और अन्त मे क्रमशः गुरु, लघु तथा कुल एक सौ सोलह मात्राएँ होती हैं।[2]

चामर

इस छन्द के प्रत्येक चरण मे तेईस मात्राएँ होती हैं। आठवीं मात्रा गुरु आर सातवीं लघु होती है। इस के आदि और अन्त मे क्रमशः गुरु और लघु तथा लघु और गुरु मात्रा होती है। इस मे पन्द्रह वर्ण और तेईस मात्राएँ एक पाद मे कही गयी हैं।[3]

---

१ छक्कलु मुह संठावि कइ चक्कलु पच ठवेहु।
अतहि एक्कइ हार दइ दोआइ छंद कहेहु॥ प्राकृतपैंगलम्, (१, १५४)
पढम गणे कलछक्कं चउक्कला पंचहुंति कमलता।
गुरुमज्झउ मज्झ लहुआ दुवईए वीअ छट्ठंसा॥ मन्देशरामक-अवचूरिका, (२, १११)

२ एहु छंद सुलक्खण भणइ विअक्खण जंपइ पिंगल णाउ,
विसमइ दह अक्खर पुणु अट्ठक्खर पुणु एगारह ठाउ।
गण आइहि छक्कलु पंच चउक्कलु अन्त गुरु लहु देहु,
सउ सोलह अग्गल मत्त समग्गल भण मरहट्ठा एहु॥ प्राकृतपैंगलम्, (१, २०८)

३ चामरस्स बीस मत्त तीणि मत्त अग्गला,
अट्ठ हार सत्त सार ठाइ ठाइ णिम्मला।
आइ अंत हार सार कामिणी मुणिज्जए,
अक्खरा दहाइ पंच पिंगले भणिज्जए॥ प्राकृतपैंगलम्, (२, १५८)

इस का उदाहरण है—

आघुट्ठइं ताइं सत्त परमसिद्धक्खरइं ।
सम्मत्ति जाइ कयकल्लाणपरंपरइं ॥ (५, १६)

इस के दोनों पादों में पन्द्रह-पन्द्रह वर्ण और तेईस-तेईस मात्राएँ हैं । यद्यपि पहले पाद मे सोलह वर्ण हैं, पर दोनों बातो में सर्वथा निर्दोष उदाहरण मिलना कठिन है ।

भुजंगप्रयात

इस छन्द के प्रत्येक पाद मे बारह वर्ण तथा बीस मात्राएँ होती है । इस में चार यगण होते हैं ।[1] उदाहरण है—

पयट्टो वणिंदो वणे तम्मि काले,
पइट्ठो तहिं दुण्णिरिक्खे खयाले ।
दिसामण्डलं जत्थ णाउं अलक्खं,
पहायं पि जाणिज्जए जम्मि दुक्खं ॥ (४, ३)

शंखनारी

इस छन्द की रचना भुजंगप्रयात के आधे पाद को लेकर की जाती है । इस के प्रत्येक चरण मे छह वर्ण अर्थात् दो यगण होते हैं । समूचे छन्द में चार चरण तथा चौबीस वर्ण होते है[2] । उदाहरण इस प्रकार है—

रणे णीसंरते भयं वीसंरते ।
महावाणि वग्गे पुरे हट्ट मग्गे ॥ (१४, ८)

मरहट्टा

इस मे प्रत्येक पंक्ति में उनतीस मात्राएँ तथा कुल एक सौ सोलह मात्राएँ होती है । उदाहरण इस प्रकार है—

तहिं घणतरु समोवि मयणायदीवि हिंडंति ते वणिंद ।
दूरज्झिय पमाय परिमुक्क चाय चक्कलिय गोढविंद ।
केवि जलु आहरंति कुंभइं भरंति आवंति तं जि लेवि ।
तरुफल चुणंति गेयइ कुणंति कुसुमइं खुडन्ति । (३, २४)

श्री दलाल और गुणे ने भ० क० की भूमिका में यही उदाहरण दिया है । किन्तु विचार करने पर यह खरा नही उतरता है । इस की प्रत्येक पंक्ति की मात्राएँ भिन्न हैं । कल-रचना की दृष्टि से आरम्भ की दो पंक्तियों मे मरहट्टा छन्द मान सकते हैं । अन्त मे क्रमशः गुरु और लघु भी है । परन्तु अन्य पंक्तियो में उक्त लक्षण खरा नही उतरता । फिर, छन्द पूरे कड़वक मे प्रायः एक ही देखा जाता है । केवल प्रारम्भ में तथा अन्त मे कहीं-कहीं छन्द मे भेद मिलता है ।

---

१. अहिगण चारि पसिद्धा सोलहचरणेण पिंगलो भणइ ।
तोणि सआ बीसग्गल मत्तसंखा समग्गाइ ॥ वही, (२, १२५) ।

२. खडावण्णबद्धो भुअंगापअद्धो ।
पआ पाअ चारी कही संखणारी ॥ वही, (२, ५२) ।

सिंहावलोकन

इस छन्द में चार चरण और प्रत्येक चरण मे सोलह मात्राएँ होती हैं। इस में चतुष्कल तथा सर्वलघु की रचना की जाती है, और किसी भी चरण में जगण, भगण या द्विगुरु चतुष्कल न आने पावे—इस का ध्यान रखना आवश्यक होता है।[1] उदाहरण है—

घरि घरि तोरणइं पसाहियाइं
घरि घरि सयणइं अप्पाहियाइं।
घरि घरि बहु चंदण छडय दिण्ण
मचकुंद वणय दवणय पइण्ण॥ (८,९)

काव्य

इस छन्द के प्रत्येक चरण मे चौबीस मात्राएँ होती हैं। प्रत्येक पाद के आदि और अन्त में दो षट्कल तथा मध्य मे तीन चतुष्कल होते हैं। द्वितीय चतुष्कल मे जगण या विप्रगण (चार लघु) होना चाहिए।[2] इस का प्रयोग छप्पय के प्रथम चार चरणो में वस्तु के रूप में तथा कहीं-कही स्वतन्त्र रूप से भी देखा जाता है। स्वतन्त्र रूप मे—वस्तुरूप में इस के उदाहरण मिलते हैं। यथा—

पियविरहाणलेण संतत्तउ सो हिंडंतउ।
पइसइ चंदकंति चैतालइ सव्व सुहालइ॥ (७, ८)

तथा—

दूसह पियविओय संतत्तउ मुच्छइं पत्तउ।
सीयलमारुएण वणिवाइउ तणु अप्पाइउ॥ (वही)

प्लवंगम

यह इक्कीस मात्राओं का छन्द है। इस में तीन षट्कल, चरण के आदि मे गुरु तथा अन्त में लघु एवं गुरु होता है। किसी मे आरम्भ में गुरु देखा जाता है और किसी में अन्त मे। तीन षट्कल (अठारह मात्राएँ) के साथ एक गुरु और एक लघु होता है[3]। उदाहरण है—

---

१ मण विप्प सगण धरि पअह पअं
भण मिहअलोअण छन्द अं।
गुणि गण मण बुज्झहु णाअ भणा,
णहि जगणु ण भगणु ण कण्ण गणा॥ प्राकतपैंगलम्, (१, १८३)

२ आइ अन्त दुहु छक्कलउ तिण्णि तुरंगम मज्झ।
तीए जगणु कि विप्पगणु कव्वह लक्खण बुज्झ॥ वही, (१, १०९)

३ पअ पअ आइहि गुरुआ पिंगल भणेइ सअल णिब्भंति।
छन्द पवंगम दिट्ठो मत्ताणं एकवीसंवो॥ प्राकृतपैंगलम्, (१,१८)
तिक्कलु चउकल पंचकल तिअ गण दूर करेहु।
छक्कलु तिण्णि पलंत जेहि लहु गुरु अत सुणेहु॥ (वही, १, १८)

सा वरसिज्ज समारिवि दिण्ण पडिग्गहय ।
धूववत्तिउट्ठीविय दीविय कणयमय ।
पण्णु फुल्लु हरियंदणु घुसिणु समाहरिवि ॥
सजलंतरि भिंगारहं सव्वट्टउ करिवि ॥ (१२, १२)

अन्तिम पंक्ति सदोष है ।

कलहंस

इस छन्द में तेईस मात्राएँ एक चरण में कही गयी हैं । इस में चार चरण होते हैं । चरण में प्रति दसवीं मात्रा पर यति होती है ।[1] इस का उदाहरण है—

पिक्खइ आवणाइं भरियंतर भण्डसमिद्धइं,
पयडिय पण्णयाइं णं णाइणि मडडहं चिंधइं ।
एक्क षणाहिलास पुरुसाइबलं रंचिपलित्तइं,
वरइत्तइजुवाइ णं वड्ढु कुमारिहुं चित्तइं ॥ (४, ८)

गाथा

गाथा के सब से अधिक भेदों का उल्लेख हमें प्राकृत के छन्दकोशो मे मिलता है । प्राकृतपैंगलम् मे इस के सत्ताईस भेदो का कथन है ।[2] किन्तु छन्दोनुशासन मे इस के सहस्रो विकल्पो का उल्लेख है । उस मे कहा गया है कि गाथा आर्या की भाँति ही संस्कृत से भिन्न भाषाओ मे प्रयुक्त होता है ।[3] वस्तुत: आर्या आर्य जाति की साहित्यिक बन्ध-रचना का सूचक है । अतएव प्राचीनता के साथ-साथ शिष्टता एवं पूज्यता का भाव भी लिये हुए है । परन्तु गाथा लोकगाथाओ में प्रयुक्त होने वाला छन्द है, जो सर्वथा स्वतन्त्र रूप मे विकसित हुआ है । अतएव आ० हेमचन्द्र ने समझने के लिए उसे आर्या की भाँति कहा है । सच बात तो यह है कि प्राकृत और अपभ्रंश का व्याकरण बहुत बाद मे लिखा गया । क्योकि बोलचाल को भाषा के व्याकरण नही लिखे जाते । जब तक भाषा स्थिर नही हो जाती उस के नियमो का अभिधान करना सुसम्मत नही होता । इसी प्रकार सम्मत लक्षणो के जाने बिना शास्त्रीय साहित्य भी नही लिखा मिलता । और जब तक साहित्य नही होता तब तक विविध छन्दो की शैली और परम्परा का विकास नही हो पाता । अतएव सभव है कि लोकयुगीन गाथा को देख कर उस की समता पर आर्या छन्द की रचना हुई हो । अपभ्रंश-काल में तो विभिन्न मात्रिक छन्द वर्णवृत्तों मे ढाले गये, जो इसी प्रवृत्ति के सूचक है कि पहले निर्मिति लोक मे होती है और बाद मे उस की रचना साहित्य मे की जाती है । आलोच्यमान कथाकाव्य मे गाथा का उदाहरण है :—

---

१. समे नव आजे चतुर्दश कलहस । छन्दोऽनुशासन, (६, २०, २४)
२. लच्छी रिद्धी बुद्धी लज्जा सव माआ देहीआ । प्रा० पै० (१, ६०-६१)
३. आर्यैव सस्कृतेतरभाषासु गाथासज्ञेति गाथाग्रहणम् । अत्र पूर्वार्धे प्रथमे च विकल्पाश्चत्वार: । अन्योऽन्यताडनायां द्वादशसहस्राण्यष्टौ शतानि । एवमपरार्धेऽपि—छन्दोऽनुशासन, (४, १)

तहिं वणगहणि वहल तरुतंडवि गमिय रयणि अइ मुत्तामंडवि ।
पसरि पइट्ठु गहिरु गिरिकंदरु, तं लंघिवि दिट्ठउ वरपुरवरु । (९, १२)

श्री दलाल और गुणे ने गाथा का यह उदाहरण दिया है, किन्तु सभी प्रकार की गाथाओं मे पूर्वार्द्ध मे तीस और उत्तरार्द्ध में सत्ताईस मात्राएँ कही गयी हैं, जो उक्त उदाहरण में नहीं हैं । वस्तुतः यह संकीर्णस्कन्धक है, जिसे छन्दकोश मे गाथिनी कहा गया है । इस के पूर्वार्द्ध में तीस मात्राएँ तथा उत्तरार्द्ध मे बत्तीस होती हैं ।[१] भ० क० में इस के अन्य उदाहरण भी मिलते हैं ।

भविसयत्तकहा में समाज और संस्कृति

आलोच्यमान काव्य में राजपूतकालीन समाज और संस्कृति की स्पष्ट झलक दृष्टिगोचर होती है । भविष्यदत्त केवल सकल कलाएँ, ज्ञान-विज्ञान, ज्योतिष, तन्त्र-मन्त्रादिक ही नही सीखता है, वरन् विविध आयुधों का विविध प्रकार से संचालन, संग्राम में विभिन्न चातुरियों से बचाव, मल्लयुद्ध तथा हाथी-घोडे की सवारी आदि की भी शिक्षा प्राप्त करता है, जो उस युग की विशेष कलाएँ थी—

जोइसतंतमंतवहुभेयइं वहुविण्णाणजाणगुणछेयइं ।
विविहाउहइ विविहसंचरणइं रणि हत्थावहत्थवावरणइं ।
दिण्ण पहर पडिपहर पमुक्कइं खलणवलणवंचण लाहुक्कइं ।
मल्लजुज्झ आवग्गण संचइ ढोक्काकत्तरिकरणपवंचइ ।
गयतुरंग परिवाहण सण्णइं सारासार परिक्खण गण्णइं । (२।२)

उस युग में स्त्रियाँ विभिन्न कलाओं में तथा विशेषकर संगीत और वीणालापन में निपुण होती थी । सरूपा इन कलाओं से युक्त थी—

वीणालावणिगेयपरिक्खणु कुडिलवियारि सरोसणिरिक्खणु । (३,३)

सामाजिक वातावरण और लोकरूढियों से भरित यह काव्य लोकयुगीन विशेषताओं की छाप से अंकित है, जिस मे भविष्यदत्त का रण-कौशल प्रकट करना, धनवइका युद्ध के लिए तैयार होना, व्यापार छोड़ना आदि ऐसी बातें है, जो राजपूत काल की निजी विशेषताएँ रही है ।

लोकजीवन और लोकरूढ़ियाँ

लोकजीवन में परिव्याप्त सामान्य मान्यताओं का समावेश भलीभाँति इस काव्य मे हुआ है । बन्धुदत्त के द्वारा छल से छोडे जाने पर भविष्यदत्त उस भयानक जंगल मे रात बिताता है । सबेरा होने पर फिर से वह वन में भटकता है कि इतने मे ही उसे शुभसूचक चिह्न दिखाई देने लगते हैं । अच्छी बयार बहने लगती है । बाँयी ओर मधुर ध्वनि करता हुआ लावा पक्षी और दाहिनी ओर मैना दृष्टिगत होती है । दाहिनी

१. गीतिस्कन्धके संकीर्णम् । वही (४, १७)

आँख और भुजा फड़कने लगती हैं—मानो ये बता रही हों कि यह मार्ग है, इस से चले जाओ। (४,५)। इसी प्रकार पुत्र के वियोग में संतप्त कमलश्री भोजन-पान, शयन, वचन सब कुछ छोड़ देती है। उसे कुछ भी अच्छा नहीं लगता। केवल खिसकते हुए कंगन वाले हाथो से कौओं को उड़ाती है। यदि कहीं चतुरता से कौआ बोलता है तो वह समझती है कि मेरा भविसयत्त मार्ग में आ रहा है। अतः वह कहती है कि मेरे भविष्यदत्त को घर के आँगन में ले आओ—

आसणु सयणु वयणु णउ भावइ   सिढिलवलय वायसु उड्डावइ।
रडि वायस जइ किंपि वियाणहिं   भविसयत्तु महु पंगणि आणहिं। (६,१)

स्पष्ट ही उस युग मे प्रिय-वियोग में भारतीय ललनाएँ कौओं को उड़ाती थी और उन के माध्यम से पति तक सन्देश पहुँचाती थी—

वायसु उड्डावंतिए पिउ दिट्ठउ सहसत्ति।
अद्धा वलया महिहि गय, अद्धा फुट्ट तडत्ति॥ (हे० प्रा० ८,४,३५२)

पुत्र के परदेश-गमन के अवसर पर माताएँ चन्दन का तिलक बेटे को लगा कर दही, दूर्वा और अक्षत उस के सिर पर डाल कर पूजा-वन्दना करती थी। यह मांगलिक कामना लोकाचार है, जो प्राचीन काल से इस देश मे प्रचलित है। भविष्यदत्त की यात्रा के अवसर पर कमलश्री भी उस की पूजा करती है और बाद मे उपदेश देती है—

सावि सिप्पि चंदणहु भरेविणु   अहिणवकंचणपत्ति करेविणु।
वंदणु करिवि वयणु अवलोइवि दहिदुव्वक्खय सिरि संजोइवि। (३,१७)

इसी प्रकार जल-देवता का पूजन भी एक लोक-रूढ़ि थी। जन सामान्य का विश्वास था कि यदि वरुण देवता की अर्चना नही की गयी तो कोई न कोई अनिष्ट हो सकता है। बन्धुदत्त जब मैनागद्वीप से लौटता हुआ घर के लिए प्रस्थान करता है तो वही समुद्र-तट पर शुभ मुहूर्त मे चन्दन का चौक पूर कर पुष्प और अक्षतों से जल-देवता की पूजा करता है तथा दीपक बाल कर आरती उतारता है—

इत्थंतरि सुमुहुत्तु समारिउ   किउ चउक्कु चंदणु वद्धारिउ।
पुज्जिय जलदेवय वित्थारिं   पुप्फक्खय वलिदीवंगारिं। (७,३)

इसी प्रकार जलदेवता का प्रत्यक्ष होना और पोत का विपरीत दिशा मे बहना आदि लोक-विश्वास है, जिनमें भारतीय जनता की आस्था दृढ़ एवं अत्यन्त सबल है—

हुअ पच्चक्ख महाजलदेवय हल्लोहलिउ लोउ वहणट्ठिउ।
चलिउ पवणु विवरीउ परिट्ठिउ। (७,११)

कवि धनपाल के समय में बहु विवाह की प्रथा थी। अतएव धनवइ और भविष्यदत्त दोनो के दो-दो विवाह होते है। समाज में वैश्यों का अच्छा स्थान था। राजा उन का आदर-सम्मान करता था। नगरसेठ अत्यन्त प्रभावशाली होता था। व्यापार ही

राज्य की आय बढ़ाने का प्रमुख साधन था। इस लिए जो लोग धन कमाने के लिए द्वीपों की यात्रा करते थे, राजा उन्हें सभी प्रकार की सुविधा राज्य की ओर से प्रदान करता था। समाज में यदि किसी प्रकार की अनुशासनहीनता या अव्यवस्था हो तो राजा उसे दूर करना अपना कर्तव्य समझता था। राजा लोग विशेष रूप से कानों में सोने के बने हुए कुण्डल, हाथों में कडे और माथे पर मुकुट धारण करते थे—

भविसत्तुणरिंदु कडयमउडकुंडलधरहिं। (२०,९)

विवाह एवं मांगलिक कार्यों में बहुत अधिक द्रव्य व्यय किया जाता था। नागरिक जनों को भोजन-पान, विलेपन के अतिरिक्त यथायोग्य वस्त्र भी भेंट में दिये जाते थे—

तंबोलु विलेवणु वत्थु लेवि जं जासु जोग्गु तं तासु देवि। (१,९)

बड़े लोगों के विवाह में राजा भी सम्मिलित होता था। राजा के लिए विशेष प्रबन्ध किया जाता था। लोग घर-घर उत्सव मनाते थे। मांगलिक कार्यों में मुख्य रूप से दमामा, शंख, तुरही और मादल बजाये जाते थे। किन्तु युद्ध के समय विशेषतः नगाड़ा बजाते थे। जय-मंगल की घोषणा की जाती थी। बालकों की भाँति कन्याएँ भी विविध कलाओं की शिक्षा प्राप्त करती थी। वे गेंद से खेलती थी—

भिंदुअहिं रमंतिहिं णयणइट्ठु पंगुरणविवरियणकलसु इट्ठु। (१,८)

वर कन्या को देखे बिना विवाह नहीं करता था। किन्तु समाज में पर्दा-प्रथा भलीभाँति प्रचलित थी। वयस्क कन्याएँ तक पर्दा करती थीं—

तो इक्क वयकण्ण पगुरणहि सुहडहिं णारसीहहिं। (१४,१५)

शृंगार-प्रसाधन में महिलाएँ अत्यन्त रुचि रखती थी। बड़े घर की ललनाएँ चन्दन से उबटन करती थी। सुवासित पदार्थों का लेपन करती थी। विविध प्रकार के आभूषणों को धारण करती थी। भविष्यदत्त के सकुशल घर लौट आने पर तथा भविष्यानुरूपा को पति का सन्देश देने के लिए जाते समय कमलश्री विभिन्न आभूषणों का शृंगार करती है—

कमलइं पुत्तपयाव फुरंतिए लइउ दिव्वु आहरणु तुरंतिए।
वद्धु कडिल्लि अलक्खिय णामउ उप्परि पीडिउ रसणादामउ।
मुक्कउ किंकिणीउ णउ संकिउ भरिवि रयणकंचुवउ तडक्किउ।
मुद्धमरालजुयल किउ छण्णउं कम्बु कण्ठ कदलिइ रवण्णउ।
पीणघणत्थणमण्डलहारि सिरुधम्मिलकुसुमपब्भारि।
कण्णहिं कुंडलाइं आवद्धइं उप्परिवेढियाइं पहविधइं।
पूरिउ रयणचूडमणिवलयहि दिण्णइं केऊरइं बाहुलयहि। (९,१७)

जान पड़ता है कि करधनी, हार, कुण्डल और केशकलाप में कुसुमों का प्रसाधन सामान्य वनिताएँ भी करती थी। इसी प्रकार अँगूठी, भुजबन्द, कंगन, बिछुए, कटिसूत्र, मणिसूत्र आदि का भी सामान्य जनता में प्रचलन था। ये आभूषण तरह-तरह की शिल्प-

रचना से मुद्रित होते थे। स्त्रियाँ गहनों से हाथ-पैर की अँगुलियाँ और प्रकोष्ठ भर लिया करती थीं—

अंगुलीउ मणिमुज्जावत्तउ वीसहिं अँगुलीहिं पक्खित्तउ।
पयमणिबद्धहिं णेउरजुयलउ सुहसंजविय महुररवमुहलउ।
जंघाजुयलि रयणि पज्जत्तउ कडियलि रमणि कणयकडिसुत्तउ।
मुहमणिचूडहु कंकणजुयलउ सोहिउ अट्ठहारि वच्छयलउ। (९,१७)।

मांगलिक कार्यों के लिए चौक पूरना, मंगल कलस सजाना, देवताओं का आह्वान करना आदि लोकरूढ़ियाँ प्रचलित थीं।

उस काल में युद्ध किसी सुन्दरी या राज्य-विस्तार के निमित्त होते थे। आलोच्यमान काव्य में पोदनपुर का राजा चित्रांग अपने सन्देश मे दो ही बातें राजा भूपाल के सामने रखता है–मेरी अधीनता स्वीकार करो और भविष्यदत्त की दोनों पत्नियों को स्वेच्छा से भेंट कर दो—

अहु कण्णहि कारणि काइं महारणि जाय तुम्ह विवरीयमइं।
अज्जवि पियवत्तइ इक्कि सुमित्तइं हउं परिओसउं पुहइवइ॥ (१३,११)

उस समय कई छोटे-छोटे राज्य थे। चित्रांग सिन्धुपति कन्धर का पुत्र था। अनन्तपाल चम्पा का राजा था। मच्छ, कच्छ और कन्धार देश के राजा भी इस संग्राम मे सम्मिलित थे। ये सब पाचालदेश के राजा की ओर थे। चित्रांग उन सबका नायक था। इस से पता लगता है कि इस प्रकार के युद्ध उस युग में सामान्यतः प्रचलित थे। राज्य के छोटे होने पर कोई भी चार राजा मिल कर सरलता से धावा बोल देते थे। राजा भूपाल तथा उस के मन्त्री जनों के पैरों के नीचे से धरती इसी लिए खिसक गयी थी। किन्तु भविष्यदत्त ने सच्चे उत्साह, साहस एवं पराक्रम का परिचय दे कर देश की तथा अपनी लाज रख ली। धर्म के मूल में सत्य और न्याय की रक्षा मुख्य है, जिसे चरितार्थ कर कवि ने व्यावहारिक नय का रहस्य खोल कर रख दिया है।

विबुध श्रीधर और भविसयत्तचरिय

जैन-साहित्य में श्रीधर और विबुध श्रीधर नाम के कई विद्वानों का पता लगता है। प० परमानन्द शास्त्री ने श्रीधर नामक सात विद्वानों का परिचय दिया है।[1] संस्कृत भाषा मे लिखित विश्वलोचनकोश के रचयिता आचार्य श्रीधरसेन और श्रुतावतार की रचना करने वाले धरसेन या श्रीधरसेन निश्चित ही अपभ्रंश के कवि विबुध श्रीधर से भिन्न थे। अपभ्रंशकाव्य पार्श्वनाथचरित के कर्त्ता श्रीधर थे; विबुध श्रीधर नही।[2]

१ पं० परमानन्द जैन शास्त्री : 'श्रीधर या विबुध श्रीधर नाम के विद्वान्', अनेकान्त, वर्ष ८ किरण १२, पृ० ४६२।
२ इय सिरिपासचरित्तं रइयं बुहसिरिहरेण गुणभरियं। पार्श्वनाथचरित, १,१।

विबुध कवि की उपाधि जान पड़ती है, पर बुध शब्द पंडित या विद्वान् अर्थ का वाचक है। अतएव वे अन्य कवियों से भिन्न हैं। चौथे विबुध श्रीधर संस्कृत के भविष्यदत्त-चरित के लेखक है, जो अपभ्रंश के विबुध श्रीधर के समकालिक प्रतीत होते हैं। पाँचवें विबुध श्रीधर सुकुमालचरित के रचयिता है, जिन्होंने अपभ्रंश भाषा के पद्धड़िया छन्द में तथा छह सन्धियों में काव्य-रचना की है।[1] कवि श्रीधर वर्द्धमान चरित के भी लेखक थे। यह काव्य दस सन्धियों में निबद्ध है।[2] इनके सम्बन्ध में कुछ कहना बहुत ही कठिन है। कवि के उल्लेख से यही पता लगता है कि इन्होंने चन्द्रप्रभचरित और शान्तिनाथचरित काव्यों की भी रचना की थी।[3] वर्द्धमानचरित की एक अपूर्ण प्रति दूनी भण्डार, जयपुर में मिलती है। कवि अग्रवाल कुल में उत्पन्न हुए थे और हरियाना के निवासी थे।

परिचय

अपभ्रंश के कवि विबुध श्रीधर ने भविसयत्तचरिय की रचना चन्द्रवाड़ नगर में स्थित माथुरवंशीय नारायण के पुत्र सुपट्टसाहु की प्रेरणा से की थी।[4] समूचा काव्य नारायणसाहु की भार्या रूपिणी के निमित्त लिखा गया है।[5] यह काव्य छह परिच्छेदों में निबद्ध है। इस में भविष्यदत्त की कथा काव्य रूप में वर्णित है। सुपट्टसाहु नारायण के पुत्र थे। उन के ज्येष्ठ भ्राता का नाम वासुदेव था।[6] कवि ने अपने सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा। ग्रन्थ-रचना का उल्लेख अवश्य मिलता है। इस काव्य की रचना कवि के अनुसार वि० सं० १२३० में फाल्गुन मास के शुक्ल पक्ष में दशमी तिथि रविवार को सम्पूर्ण हुई।[7] ग्रन्थ के अन्त में कवि ने सुपट्ट साहु और रुप्पिणी की प्रशंसा करते हुए पूरा विवरण दिया है। वह साहु पूर्व समय में इस पृथ्वी तल पर अपने गुणों से अत्यन्त प्रसिद्ध था। उस के सीता नाम की गृहिणी थी, जो विनय तथा निर्मल गुणो से भूषित थी। उन के हाल नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। उन दोनों के जगविख्यात देवचन्द

---

१ प० परमानन्द शास्त्री ' अनेकान्त, वर्ष ८, किरण १२, पृ० ४६४।

२. वही, पृ० ४६६।

३. वही, पृ० ४६६।

४. सिरिचन्दवारणयरट्ठिएण जिणधम्मकरण उक्कठिएण।
माहुर कुलगयणतमीहरेण विबुहयणसुयमणधणहरेण।
मइवर सुपट्ट णामालएण विणएण भणिउं जोडेवि पाणि। भविष्यदत्त चरित, १,२।

५ इय सिरि भविसयत्तचरिए विबुहसिरि सुकइ सिरिहर विरइए साहु णरायणभज्जा रुप्पिणि णामकिए। वही।

६. णारायणदेहसमुब्भवेण मणवयणकायणिंदियभवेण।
सिरिवासुएव गुरुभायरेण भवजलणिहिणिवडणकायरेण॥ (१,२)।

७ विक्कमाइच्चकाले पवहंतए सुहयारएविसाले।
वारहसयवरिसहि परिगएहिं दुगुणियपणरह वच्छरजुएहि।
फग्गुणमासम्मि वलक्खपक्खें दसमिहिदिणे तिमिरुक्करविवक्खें।
रविवारिसमाणिउं एउ सत्थु जिह मइं गरियाणिउं सुप्पसत्थु॥ (६,३०)।

नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। वह माथुरकुल का भूषण, गुणरत्नों की खान था। जैनधर्म में उस की प्रगाढ़ श्रद्धा थी। लक्ष्मी के समान उस की माढी नामक धर्मपत्नी थी। उस के गर्भ से कनक वर्ण के समान साधारण नाम के पुत्र ने जन्म लिया। उस के दो पुत्र हुए। दूसरे का नाम नारायण था। इसी नारायण की भार्या रुप्पिणी थी, जिसने इस ग्रन्थ को लिखवाया था। कामदेव के समान उन दोनों के पट्टु नाम का पुत्र था। दूसरे पुत्र का नाम वासुदेव था। तीसरा यशदेव कहा गया है। उन के कुल पाँच पुत्र थे। सभी धर्म का पालन करने वाले अच्छे गुणों से विभूषित थे।

यह काव्य १५३० श्लोक ग्रन्थ प्रमाण है।[1] इस ग्रन्थ के लेखक कवि श्रीधर मुनि थे। सुपट्ट साहु उन की अनन्य भक्ति से दान, पूजा, व्रत आदि धार्मिक अनुष्ठानों में अनुरक्त रहता था।[2] कवि ने उसे सम्यक्त्व से अलंकृत, सच्चा धार्मिक होने से अभिनन्दन योग्य कहा है। इस काव्य में भविष्यदत्त के उत्पन्न होने से ले कर उस के निर्वाणगमन तक की सम्पूर्ण कथा का वर्णन है।

कथानक

तीर्थंकरों की वन्दना के पश्चात् कवि यथाशक्ति एवं बुद्धि के अनुसार इस श्रेष्ठ काव्य को रचने का प्रयोजन बतलाता हुआ कहता है कि चन्द्रवाड नगर में रहने वाले माथुर कुल मे उत्पन्न सुपट्ट नामक साहु ने हाथ जोड़ कर अपनी माता के लिए मुझ से भविष्यदत्तचरित्र एवं पंचमी उपवास के पवित्र फल के वर्णन स्वरूप ग्रन्थ रचने को कहा। कवि ने उत्तर में कहा—भो सुप्पट, मैं अपनी सामर्थ्य के अनुसार जो कुछ मेरी बुद्धि मे आता है उसे ज्यों का त्यों वर्णित कर कहता हूँ।

इस जम्बूद्वीप के अत्यन्त रम्य सुमेरु पर्वत की दक्षिण दिशा में शोभायमान एक कुरुजंगल नामक देश है। वह देश गोधन, नाना पशु-पक्षी, विविध कुसुम तथा सरोवर, सरिताओ आदि से अत्यन्त समृद्ध है। उस देश मे हस्तिनागपुर है, जहाँ के लोग दान-पूजा आदि धार्मिक कृत्यों में सदा दत्तचित्त रहते हैं। वहाँ सब प्रकार के सुख हैं। जनता धन-धान्य से समृद्ध है। यह वही नगर है जिस में बहुत पहले ऋषभ जिनेन्द्र कुरुवंश को अलंकृत करने वाले उत्पन्न हुए थे। यहीं सोमप्रभ राजा ने जन्म लिया था, जो इन्द्र के समान प्रभावशाली था। सोमप्रभ के मेघेश्वर नामक पुत्र हुआ, जो इसी नगर का चक्रवर्ती था। उस के पश्चात् सनत्कुमार चक्रवर्ती हुआ। तदनन्तर शान्ति, कुन्थु और अरह नामक तीनों चक्रवर्ती यहाँ हुए। और भी अन्य श्रेष्ठ तथा प्रतापशाली राजा इस नगरी मे उत्पन्न हुए। जिनवर चन्द्रप्रभ के समय में यहाँ भूपाल (भूवालु) नाम का राजा राज्य करता था। वह विविध भूषाओं से अलंकृत ऐसा जान

---

१. एयहो सत्थहो संखपसाहिय पंचदहजिसयफुड्डतीयसाहिय। (६,३३)।

२. सम्मत्तालंकिउ धम्मि असंकिउ दाणविहाणविसत्तउ।
सुप्पट्टु अहिणंदउ जिणपयवंदउ तवसिरिहरमुणिभत्तउ॥ (६,३३)।

पड़ता था मानो जनता के अनुराग से स्वर्ग को छोड़ कर स्वयं इन्द्र ही पृथ्वी पर उतर आया हो। उस का यश गुफाओं और पर्वतों तक में लोगों के द्वारा गाया जाता था। इसी नगर में अत्यन्त रूपवान् धनपति नामक सेठ रहता था। वह नाना कलाओं से अलंकृत, गुणों से विभूषित और वैभव से सम्पन्न था। राजा ने अत्यन्त सम्मान पूर्वक उसे नगरसेठ के पट्ट पर समासीन किया। इसी अवसर पर सेठ धनेश्वर ने अत्यन्त रूपवती कमलश्री नाम की पुत्री का विवाह गाजे-बाजे के साथ धनपति से कर दिया। सेठ धनपति और कमलश्री बहुत समय तक काम-सुख का अनुभव करते हुए विभिन्न क्रीड़ाओं में समय बिताते रहे, किन्तु कोई सन्तान-प्राप्ति नहीं हुई। एक दिन उस नगर में सुगुप्ति नाम के मुनि का आगमन हुआ। कमलश्री ने दोनों हाथों को जोड़ कर भक्ति पूर्वक उन मुनि की पूजा-वन्दना की और पूछा कि हे स्वामिन्! मुझ मन्दभागिनी के कोई पुत्र होगा या नहीं। यह सुन कर मुनिदेव ने मधुर वाणी में समाश्वस्त करते हुए कहा—हे कमलश्री, कमल के समान ही तुम्हारे पुत्र उत्पन्न होगा। इन वचनों को विश्वासपूर्वक गाँठ में बाँध कर वह निश्चिन्त हुई। उस ने मुनि को आहार-दान दिया और सुख पूर्वक रहने लगी। कुछ समय बाद उस के गर्भ रह गया, और उत्तम दिन में अत्यन्त सुन्दर पुत्र उत्पन्न हुआ। इस अवसर पर राजा और रानी बधाई देने आये तथा वस्त्राभूषणों से सुशोभित किया। बड़ा उत्सव मनाया गया। बालक धीरे-धीरे चन्द्रमा की भाँति वृद्धि को प्राप्त हुआ। पाँच वर्ष का समय घर में ही खेलते-कूदते बीत गया। दोनों हाथों में चूरा (कड़े) पहने हुए, नूपुरों को पैरों में बाँधे हुए बाहर से जब उन्हें शब्दायमान करता हुआ वह घर में आता था तब जननी को अत्यन्त आनन्द प्राप्त होता था। इस प्रकार खेल-कूद में बालक भविष्यदत्त आठ वर्ष का हो गया। तब समारोह के साथ माता-पिता ने उसे उपाध्याय के घर पढने को बिठा दिया। भविष्यदत्त अल्प समय में ही लक्षण, अलंकार, छन्द, काव्य, आगम, नाटक आदि का अध्ययन कर शास्त्रों के अर्थ तथा विचारों से संयुक्त हो गया।

द्वितीय परिच्छेद में कवि ने धनपति और कमलश्री के अनुरागहीनता के कारण को बतलाते हुए लिखा कि पहले कमलश्री ने मुनिराज की निन्दा की थी इस लिए वह दुर्भाग्य को प्राप्त हुई, और एक दिन उस के पति ने उस से यहाँ तक कह दिया कि तुम में कोई दोष नहीं है, पर मुझे तुम भुजंगिनी के समान प्राण लेने वाली जान पड़ती हो। बेचारी कमलश्री रोती हुई अपने पिता के घर पहुँचती है। उसे अकेली रोती हुई देख कर पिता के मन में शंका उत्पन्न हुई। इसी समय धनपति का भेजा हुआ एक गुणवान् पुरुष कमलश्री को संबोधने और वृत्तान्त सुनाने आता है, और कहता है कि आप की पुत्री में कोई दोष नहीं है, इस लिए इसे घर में रख लीजिए। कमलश्री वियोग में किसी प्रकार पिता के घर अपना समय बिताने लगी। इधर कमलश्री धर्म पूर्वक अपना समय बिता रही थी और भविष्यदत्त की शिक्षा-विधि चला रही थी, उधर नगर में सेठ धनपति धनदत्त की सरूपा (सुरूपा) नामक पुत्री से ब्याह कर

भोग ऐश्वर्य के आनन्द को लूट रहा था। उस के बन्धुदत्त नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। वह साक्षात् कामदेव के समान था। सरूपा और बन्धुदत्त को प्राप्त कर सेठ धनपति कमलश्री को बिलकुल भूल गया। बन्धुदत्त धीरे-धीरे बढ़ कर युवावस्था को प्राप्त हुआ। एक दिन मित्रों के साथ वह उद्यान में गया। वहाँ मित्रों की सम्मति से स्वर्णद्वीप जाकर व्यापार कर द्रव्य कमाने की योजना प्रस्तावित हुई। धनपति ने राजा भूपाल से निवेदन किया। उन्होंने डुग्गी पिटवा कर पूरे नगर में इस की सूचना पहुँचवा दी। यह समाचार पा कर पाँच सौ मित्र बन्धुदत्त के साथ चलने को तैयार हो गये। भविष्यदत्त ने माता के सामने बन्धुदत्त के साथ जाने की इच्छा व्यक्त की। किन्तु कमलश्री ने यह कह कर बहुत रोका कि वह सौतेला भाई है और इस लिए जहाँ भी अवसर पायेगा वहाँ तुम्हें निश्चित मार डालेगा; पर भविष्यदत्त अपनी इच्छा पर दृढ़ रहा तथा जाने के लिए तैयार हो गया। वह बन्धुदत्त से मिला। सरूपा ने यह सुन कर कि भविष्यदत्त साथ में जाने को तैयार है, बन्धुदत्त को बहुत सिखाया-पढ़ाया और कहा कि जब भी अवसर हाथ लगे उसे जीता मत छोड़ना। अच्छे दिन में सभी पोत में बैठ कर दक्षिण दिशा के पूर्व कोण के अन्तर की ओर चल पड़े। मार्ग में तूफान आ गया, सभी बहुत घबराये। जिनदेव का स्मरण करने से संकट टल गया। आगे बढ़ने पर दूसरे दिन पवन उन के अनुकूल हो गया। और आगे चल कर मदन (मणय) द्वीप के किनारे लग गये। द्वीप अत्यन्त मनोहर था। सुपारी, लौंग, अनार, जंबीर आदि फलों की विपुलता थी। नारियलों की तो भरमार थी। सब वहाँ उतरे। पोत में ईंधन आदि चढ़ा कर, सभी को बुला कर और भविष्यदत्त को छोड़ कर बन्धुदत्त ने वहाँ से प्रस्थान कर दिया। उस के बाद उस ने सब को बताया कि उस से मेरा वैर है, इस लिए किसी ने कुछ भी नहीं कहा। किन्तु मन ही मन सब ने उस की निर्दयता को धिक्कारा। जब भविष्यदत्त ने पोत को जाते हुए देखा तब नाना प्रकार के फलों को सम्हालता हुआ शीघ्रता से दौड़ा और चिल्लाया कि मुझे चढ़ाओ, जहाज चला। किन्तु उस का भाग कर जहाज पकड़ना निरर्थक रहा। भविष्यदत्त मन में विचार करता है कि माँ ने बार-बार कितना रोका था, पर मैं नहीं माना। बिना पुण्य के मनुष्य की चाहना पूरी नहीं होती। अपनी पुण्यहीनता का विचार कर भविष्यदत्त प्रलाप करता हुआ संताप से बार-बार झूरने लगा। भीषण वन में भटकता हुआ वह अन्त में समतल भूमि में पहुँचा, जहाँ एक अत्यन्त स्वच्छ शिला बिछी हुई थी। पास में ही झरना झर रहा था। मुख का आचमन कर उस ने वहीं जिनदेव की भावपूजा की और फलों का भोजन किया। इतने में ही साँझ हो गयी, चारों ओर अन्धकार फैल गया। भविष्यदत्त वहीं शिला पर सो गया।

तीसरे परिच्छेद में भविष्यदत्त जिनदेव का स्मरण करता हुआ प्रभात में शयन से उठता है और बार-बार चिन्ता करता हुआ चल पड़ता है। चलते-चलते वह थक कर चूर हो जाता है और अन्त में तिलकपुर पहुँचता है। नगर परिखा और कोट से घिरा

हुआ था। गोपुर तथा घर भलीभाँति सजे हुए थे। किन्तु वहाँ पर एक भी मनुष्य नहीं दिखाई दिया। भविष्यदत्त उस पुर की शोभा को देख कर ठगा-सा रह गया। वहीं उसे चन्द्रप्रभ जिन का मन्दिर दिखाई दिया। उस के भीतर प्रवेश कर उस ने भक्तिभाव से पूजन किया। यहीं से कवि एक अन्य कथानक को ऊपर से जोड़ देता है, जो इस प्रकार है—इसी बीच पूर्व विदेह क्षेत्र में यशोधर नाम के मुनिराज को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। वहाँ जा कर विद्युत्प्रभ ने उन से अपना पूर्व वृत्तान्त पूछा। केवलज्ञानी मुनि ने उत्तर में कहा कि हस्तिनागपुर में वणिक् सेठ धनपति और कमलश्री से उत्पन्न भविष्यदत्त पूर्व जन्म में तुम्हारा मित्र था, जो इस समय भाई से धोखा खा कर तिलकपुर में भटक कर पहुँच गया है। वह बारह वर्ष तक उस नगर मे भविष्यानुरूपा के साथ पाणिग्रहण पूर्वक सुखों का उपभोग करने के बाद बन्धु-बान्धवों से आ कर मिलेगा। मुनि के इन वचनों को सुन कर उन्हें प्रणाम कर वह भविष्यदत्त को देखने के लिए चल पड़ा। उस नगर मे पहुँच कर वह देखता है कि मेरा मित्र सो रहा है। उसे जगाना उचित न समझ कर उस ने खड़िया से दीवाल पर अक्षरों की कुछ पंक्तियाँ लिख दीं। फिर, क्षण भर मे मानभद्र को बुला कर कहा कि तुम इसे माता-पिता के पास हस्तिनागपुर सुख से भेज देना। सो कर उठने पर भविष्यदत्त ने देखा कि दीवाल पर कुछ लिखा है। बार-बार ध्यान से देख कर उस ने उन अक्षरो को पढ़ा और लिखे अनुसार वह उत्तर दिशा मे स्थित पाँचवें घर पर जा पहुँचा। वहाँ भविष्यानुरूपा (भविसाणुरूव) नाम की सुन्दरी रहती थी। उस ने जब भविष्यदत्त को देखा तब अत्यन्त हर्षित हुई। उस ने ललित वचनों मे भविष्यदत्त का परिचय पूछा। उस ने आने का सब वृत्तान्त बताया। इसी समय एक विकराल असुर वहाँ आया और भविष्यदत्त को मारने के लिए दौड़ा। किन्तु भविष्यदत्त ने दृढ़तापूर्वक उसे रोक दिया। जब वह अत्यन्त निकट आ गया तब उस का कोप शान्त हो गया और वह चला गया। असुर जाते-जाते उस कुमारी को भविष्यदत्त के लिए सौंप गया और कह गया कि तुम्हारे लिए ही मै ने इसे बचा कर रखा है। भविष्यदत्त भविष्यानुरूपा के साथ अनेक प्रकार की क्रीड़ाओ तथा मनोविनोदो मे काल यापन करता हुआ सुख से रहने लगा।

उधर कमलश्री अत्यन्त सन्तापित हो कर पुत्र के वियोग मे छीजने लगी। पुत्र के दर्शन के लिए वह अधिकाश समय जिनमन्दिर मे बिताने लगी। इसी समय सुव्रता नाम की अर्जिका से कमलश्री ने सब वृत्तान्त कहा। उन्होने सित पंचमी के दिन उपवास तथा श्रुत-पंचमी व्रत पालन करने का उपदेश दिया। रत्नत्रय की भाँति यह व्रत असाढ़, कातिक और फागुन की सित पंचमी को विधान-पूजन और उपवास के साथ पाला जाता है। इस क्रम से इकसठ महीने तक व्रत को साध कर फिर उद्यापन विधि से समाप्त करना चाहिए। कमलश्री भूखी-प्यासी रह कर मलिन मुख से पुत्र का ध्यान करती हुई व्रत-उपवास पूर्वक रहने लगी। उसे अत्यन्त दुःखी जान कर अर्जिका ने कमलश्री को

साथ में ले जा कर ऋषभ नामक मुनि से भविष्यदत्त के सम्बन्ध में पूछा। उन्होंने उत्तर दिया कि बारह बरस के बाद वैसाख सुदी पंचमी के दिन वह स्त्री-रत्न, स्वर्ण, रत्न आदि से सम्पन्न हो कर घर वापस आयेगा। मेरे इन वचनों को निश्चित मानो। कमलश्री भी उन पर विश्वास रख निश्चिन्त हो कर व्रतों का पालन करती रहो।

चतुर्थ परिच्छेद का आरम्भ भविष्यदत्त और भविष्यानुरूपा के मधुर आख्यान से होता है। भविष्यानुरूपा पति से अपनी ससुराल के सम्बन्ध में पूछती है। भविष्यदत्त सब वर्णन कर सुनाता है। फिर दोनों ही एक मत हो उस नगर से धन, कंचन, रत्न, मणि आदि साथ में ले कर हस्तिनागपुर के लिए प्रस्थान करते हैं। वे दोनों समुद्र के तट पर पहुँचते हैं। इतने में बहुत समय के बाद वणिक्‌दल के साथ बन्धुदत्त उसी मार्ग से जहाज में लौटता हुआ कुतूहल के साथ उन को देख कर वहाँ पर उतर पड़ता है और सब के साथ भविष्यदत्त से मिलता है। वह भाई से अपने दुर्व्यवहार के लिए क्षमा माँगता है। भविष्यदत्त उन सब का वस्त्राभूषणों से स्वागत कर उन्हें षड्रस-व्यंजनों का भोजन चाँदी के थालों में कराता है। बन्धुदत्त इस समय भी अपना कपट-पूर्ण व्यवहार नहीं छोड़ता। वह भाई से उल्लास के साथ कहता है कि ऐसा करो जिस से हम सब धन-कन-कंचन से युक्त एक साथ बन्धु-बान्धवों से जा कर मिल सकें। भविष्यदत्त अपना सब सामान और धन, रत्न आदि जहाज पर चढ़वा देता है और भविष्यानुरूपा भी उस पर बैठ जाती है। इतने में उसे स्मरण हो आता है कि मेरी नागमुद्रा तिलकपुर में सेज पर छूट गयी है। वह पतिदेव से लाने के लिए निवेदन करती है। इधर भविष्यदत्त मुँदरा लेने जाता है और उधर बन्धुदत्त जहाज चलवा देता है। भविष्यदत्त जहाज को जाता हुआ देख कर शून्य मन हो जाता है। उसे बहुत अधिक सन्ताप होता है और कई तरह से प्रलाप करने लगता है। वन के पक्षी उसे समझाते हैं और वह चन्द्रप्रभ के जिनमन्दिर में पहुँचता है। भगवान् का पूजन करने से उस का चित्त शान्त होता है। उधर भविष्यानुरूपा पति का स्मरण करती हुई बहुत दुःखी होती है। बन्धुदत्त कामभाव से उस के पास जाता है और करुण याचना करता है। वह समुद्र में डूब कर प्राणों को छोड़ने का विचार करती है। किन्तु वनदेवी स्वप्न में उसे सम्बोधती है और कहती है कि एक महीने के भीतर तुम्हारे स्वामी बहुत द्रव्य से युक्त तुम से आ कर मिलेंगे इस लिए मरने का विचार छोड़ कर कुछ दिन और प्रतीक्षा करो। उस ने यह भी कहा कि तुम्हारे शील के प्रभाव से ही जहाज किनारे लग सका है। सब लोग अपने घर पहुँच जाते हैं। बड़ा आनन्द मनाते हैं। कमलश्री सरूपा से भविष्यदत्त के सम्बन्ध में पूछती है, पर वह कुछ भी नहीं कहती। तब बन्धुदत्त से पूछती है। वह उत्तर में कहता है कि वह वहीं रह गया है। तब चिन्तित हो कर अर्जिका तथा मुनि से पूछती है। वे बतलाते हैं कि बीसवें दिन तुम्हारा पुत्र घर आयेगा। बन्धुदत्त राजा के पास जाता है। वह उपार्जित द्रव्य उसे सौंपता है। भविष्यानुरूपा के साथ विधिवत् पाणिग्रहण की तैयारी होने लगती है। इसी बीच

अच्युत स्वर्ग के इन्द्र के आदेश से मणिभद्र तिलकपुर पहुँचता है, जहाँ भविष्यदत्त पूजा-विधि सम्पन्न कर रहा था। वह विद्याधर उस से आने का समस्त वृत्त कहता है और समझाता है। उस ने तुरत ही सोने का रत्नजटित एक विमान तैयार कर उसे रत्नों से भर दिया। भविष्यदत्त आवश्यकीय वस्तुओं को ले कर विमान में बैठ कर घर के आँगन में आ उतरा। उस समय कमलश्री अर्जिका के पास थी। उन्होंने उस से कहा—लो उठो, तुम्हारा बेटा आ गया। माँ को देखते ही भविष्यदत्त उस के पैरों लगा और माँ ने उसे छाती से लगा लिया। उस ने उसे बहुत असीसें दी और फिर अर्जिका के पास ले गयी। वहाँ से आ कर माँ ने बेटे को बन्धुदत्त और भविष्यानुरूपा के विवाह का सब वृत्तान्त सुनाया। बेटे ने भी आदि से ले कर अन्त तक का सब वृत्त कह सुनाया। सवेरे भविष्यदत्त राजा को धन-द्रव्य देने गया। राजा ने उस से बहुत कुछ पूछा, पर वह चुप रहा। दूसरे दिन राजा के पास भविष्यदत्त के मामा ने जा कर कहा कि हमारे भानजे के साथ बन्धुदत्त का झगड़ा है। राजा ने धनपति सेठ को बुला कर उत्तर माँगा, पर सेठ ने घर में विवाह होने से इस प्रसंग को टालना चाहा। तब राजा ने उसे बलात् बुलवाया। कमलश्री ने जा कर राजा के सामने मुंदरी तथा वस्त्राभूषण उपस्थित किये। सेठ ने यह झगड़ा जान कर बन्धुदत्त से बहुत कुछ पूछा, पर उस ने सच नहीं बताया। दूसरे दिन राज-मन्दिर मे सभा हुई। बन्धुदत्त बोला मेरा कोई झगड़ा नही है। किन्तु भविष्यदत्त को देख कर उस का मन काँप गया। सब रहस्य प्रत्यक्ष हो गया। राजा को जब बन्धुदत्त की करतूतो का पता लगा तो तुरन्त तलवार हाथ में ले कर उसे मारने के लिए तैयार हो गया। किन्तु भविष्यदत्त ने राजा को रोका और दण्ड देने से बचाया। राजा ने भविष्यदत्त को आधा सिंहासन दिया और अपनी पुत्री को देने का वचन दिया। कमलश्री को इस से अत्यन्त सन्तोष हुआ। धनपति ने कमलश्री के प्रति किये गये व्यवहार के लिए राजा के समक्ष क्षमा मांगी। बन्धुदत्त से उस के पैरों में पड़ कर प्रणाम करवाया। भविष्यदत्त और भविष्यानुरूपा की ठाट-बाट से पाणिग्रहण-विधि सम्पन्न हुई। राजा ने आधा राज्य और अपनी पुत्री सुमित्रा को भी विधि पूर्वक भविष्यदत्त को सौंप दी।

पाँचवें परिच्छेद का 'भविष्यदत्त के राज्य करने से' आरम्भ होता है। गृहिणी और राज्य सुख का भोग करते हुए भविष्यदत्त का बहुत समय बीत गया। इस बीच भविष्यानुरूपा के दोहला उत्पन्न हुआ और पति के पूछने पर उस ने तिलकद्वीप जाने की इच्छा व्यक्त की। इतने मे मनोवेग नाम का एक विद्याधर राजा के पास आया और फिर उस ने भविष्यदत्त से कहा कि मेरी माता तुम्हारे घर मे प्रिया के गर्भ में आयी हैं, ऐसा मुझ से मुनिराज ने कहा है। इस लिए आप मुझे कुछ करने की आज्ञा प्रदान करें। भविष्यदत्त प्रिया के साथ विमान में बैठ कर विद्याधर के साथ तिलकद्वीप के लिए चल पड़ा। मार्ग में उसे वही शिला, झरना आदि मिले। वहाँ पहुँच कर भक्तिपूर्वक जिनपूजन किया और आनन्द पूर्वक विहार किया। वहाँ उन्हे

चारण मुनि युगल दृष्टिगोचर हुए । उन से पूर्व भव का वृत्तान्त सुन कर विमान से वापस घर लौट आये ।

कुछ समय के बाद भविष्यानुरूपा के सोमप्रभ नामक पुत्र उत्पन्न हुआ । उस के कुछ वर्षों के पश्चात् एक दूसरा कंचनप्रभ नाम का पुत्र हुआ । फिर, दो पुत्रियाँ हुईं, जिन का नाम तारा और सुतारा था । सुमित्रा के भी धरणीपति नामक पुत्र उत्पन्न हुआ । दूसरी उस के धारिणी नाम की पुत्री हुई । ये सभी सुन्दर और रूपवंत थे । निष्कंटक राज्य करते हुए भविष्यदत्त को बहुत समय बीत गया । इस बीच मणिभद्र की सहायता से सिंहलद्वीप तक अपनी कीर्ति को फैला कर अनेक राजाओं को अपने अधीन कर लिया । एक दिन चारण ऋद्धिधारी मुनिवर के आगमन को सुन कर धनपति और कमलश्री के साथ भविष्यदत्त परिवार सहित मुनि-वन्दना के लिए गया और उन से श्रावक का धर्म पूछा । मुनिराज ने अष्ट मूल गुण पालन करने का उपदेश किया ।

छठें परिच्छेद में भविष्यदत्त के निर्वाण का विवरण देते हुए कवि ने ग्रन्थ को समाप्त किया । सेठ धनपति मुनिराज से अपने पूर्व भवों को पूछता है । मुनि पहले भवों की कथा कह कर तीन भवों के पश्चात् भविष्यदत्त के मोक्ष जाने की बात कहते है, जिसे सुन सभी हर्षित होते हैं । कमलश्री सुव्रता के साथ अर्जिका हो जाती है और धनपति एक वस्त्र धारण कर ऐलक की दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं । धनपति कठोर तप को तप कर दसवें स्वर्ग मे जा कर सुरपति होते है और कमलश्री स्त्रीलिंग का छेद कर रत्नचूल नाम का देव होती है । भविष्यानुरूपा भी स्वर्ग में जा कर देव हुई और वहाँ से पृथ्वीतल पर आ कर पुत्र हुई । कमलश्री नन्दिवर्द्धन नामक नृप हुई । भविष्यदत्त पन्द्रह हजार राजाओ के साथ मुनिव्रत धारण कर क्रम से भवों का छेदन कर मोक्ष-लक्ष्मी को प्राप्त करता है ।

भविष्यदत्तकथा और उस की परम्परा

धनपाल की भविष्यदत्त कथा काव्य के लिए कोई नवीन वस्तु नही थी । क्योकि इस के पूर्व महेश्वरसूरि प्राकृत में 'ज्ञानपंचमीकथा' लिख चुके थे । किन्तु दोनों कथाओं में अन्तर है । महेश्वरसूरि की ज्ञानपंचमीकथा में दस आख्यान हैं । उस में भविष्यदत्त की कथा श्वेताम्बर-परम्परा में वर्णित है । इस परम्परा में इस कथा के अन्य नाम हैं—सौभाग्यपंचमीकथा, श्रुतपंचमी वर्णनरूप ज्ञानपंचमी कथा और वरदत्तगुणमंजरीकथा । मुख्य रूप से ज्ञानपंचमीकथा में वरदत्त और गुणमंजरी की कथा वर्णित मिलती है । परन्तु महेश्वरसूरि की ज्ञानपंचमी में कुछ अन्तर है । इस मे कथा इस प्रकार है—'दक्षिण भारत में गजपुर नाम के नगर मे भूपाल नामक राजा राज्य करता था । उसी नगर में धणवइ सेठ रहता था, जिस के कमलश्री नाम की सुन्दर पत्नी थी । उन दोनों के भविष्यदत्त पुत्र उत्पन्न हुआ । आठ वर्ष की अवस्था में ही वह सर्व विद्याओं में पारंगत हो गया । सहसा सेठ का मन कमलश्री से उचट गया और उस ने वरदत्त सेठ तथा

मनोरमा की पुत्री नागसरूपा से विवाह कर लिया। उस से बन्धुदत्त पुत्र उत्पन्न हुआ। पाँच सौ साथियों के साथ दोनों स्वर्ण द्वीप में गये। मार्ग में मयनागद्वीप में छल से बन्धुदत्त भविष्यदत्त को छोड़ देता है। भविष्यदत्त कंचन से परिपूर्ण नगरी में गुफा में से हो कर पहुँचता है। पूर्व विदेह में जसोधर मुनि से पूर्व भव का वृत्तान्त सुन कर अच्युतकल्प का महेन्द्र मित्र भविष्यदत्त के पास जाता है और दीवाल पर अक्षर लिख कर लौट आता है। भविष्यदत्त उन अक्षरों को पढ कर पाँचवें घर पर पहुँचता है। सुन्दरी से उस का विवाह हो जाता है। कमलश्री समाधिगुप्त नामक मुनिराज से पुत्र-प्राप्ति के निमित्त नागपंचमी का व्रत ग्रहण करती है। अन्त में भविष्यदत्त घर लौट कर आता है। जब राजा को बन्धुदत्त के दुष्कृत्य का पता लगता है तब वह बन्धुदत्त को दण्ड देता है और भविष्यदत्त के साथ अपनी कन्या का विवाहकृत्य पूरा कर आधा राज्य प्रदान करता है। भविष्यदत्त की पत्नी भविष्यदत्ता के दोहला होता है। दोनो ही तिलकद्वीप में जाते हैं। वहाँ युगल मुनिवर के दर्शन होते हैं। बहुत समय तक सुख भोग करने के उपरान्त एक दिन नगर में मुनिराज का आगमन सुन कर भविष्यदत्त दर्शन करने जाता है और दीक्षा ग्रहण कर लेता है।' इस प्रकार युद्ध-विवरण को छोड कर कथानक लगभग दोनों में समान है। किन्तु धनपाल की भविष्यदत्तकथा की वस्तु स्पष्टतः विबुध श्रीधर रचित 'भविष्यदत्तचरित्र' से ली गयी है। कथानक-बन्ध तथा शैली में भी दोनों में साम्य लक्षित होता है। केवल विबुध श्रीधर ने धनेश्वर और लच्छी के पुत्री कमलश्री का होना कहा है और धनपाल ने उसे हरिबल तथा लच्छी की पुत्री कहा है। शेष बातें दोनों में समान हैं।

जैन-साहित्य में भविष्यदत्त की कथा ख्यातवृत्त रही है। अतएव प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में इस के लिखे जाने के उल्लेख मिलते हैं। जिनरत्नकोश में दस ज्ञानपंचमी कथाओं का उल्लेख है।[1] इसी प्रकार मंजुश्री विरचित 'कार्तिकसौभाग्यपंचमीमाहात्म्य' कथा संस्कृत में तथा पद्मसुन्दर कृत भविष्यदत्तचरित्र (नाटक) का उल्लेख मिलता है।[2] इन के अतिरिक्त अपभ्रंश में विबुध श्रीधर रचित भविष्यदत्तचरित्र तथा संस्कृत में पं० श्रीधर कृत भविष्यदत्तचरित्र का उल्लेख ही नहीं रचनाएँ भी प्राप्त होती हैं। हिन्दी मे ब्र० रायमल्ल विरचित भविष्यदत्तचौपई मिलती है, जिसे पंचमीकथा या पंचमीरास भी कहते हैं। बनवारी कृत भविसदत्तचरित्र संवत् १६६६ को रचना है, जो चौपाई बन्ध में निबद्ध है। इसी प्रकार भविष्यदत्त तथा पंचमीव्रतकथा को ले कर कई अज्ञात लेखकों की भी रचनाएँ मिलती हैं। गुजराती में वणारसी कृत ज्ञानपंचमी चैत्यवन्दन, ज्ञानपंचमी उद्यापनविधि स्वाध्याय, विजयलक्ष्मीसूरि रचित ज्ञानपंचमीदेववन्दन, ज्ञानपंचमीस्वाध्याय और गुणविजय

१. एच० डी० वेलणकर : जिनरत्नकोश, पृ० १४८।
२. वही, पृ० ८६।

कृत ज्ञानपंचमीस्तवन आदि रचनाएँ मिलती हैं ।[1] संस्कृत में मेघविजय विरचित पंचमी-कथा और क्षमाकल्याण कृत सौभाग्यपंचमीकथा काव्यों का उल्लेख मिलता है ।[2] हिन्दी मे जिनउदय गुरु के शिष्य और ठक्कर माल्हे के पुत्र विद्धणु की ज्ञानपंचमीचउपई का भी उल्लेख है ।[3] मुक्तिविमल कृत ज्ञानपंचमी तो बहुत पहले प्रकाशित (१९१६ ई०) हो चुकी है । हिन्दी मे तो छोटी-बडी प्रकाशित-अप्रकाशित कई रचनाएँ मिलती हैं । बनारसीलाल विरचित भविष्यदत्तचरित्र तो धनपाल की भविष्यदत्तकथा का हिन्दी पद्यानुवाद ही जान पडता है । इसी प्रकार साहु रत्नपाल भण्डारी लिखित दोहा-चौपाई छन्दोबद्ध भविष्यदत्तश्रुतपंचमी की कथा भी धनपाल के कथाकाव्य का पद्यानुवाद है । यह संवत् सतरह सौ सत्तावन की रचना है । परन्तु अविकल अनुवाद दोनों में से एक भी नही है । हाँ, सिन्धुनरेश के युद्ध का विवरण दोनों मे मिलता है । इस प्रकार महेश्वरसूरि से ले कर (नवमी शताब्दी से पूर्व) पन्नालाल चौधरी (उन्नीसवी शताब्दी) तक भविष्यदत्तकथा निरन्तर भारतीय भाषाओं में लिखी जाती रही है । इस से कथा के महत्त्व का पता लगता है ।

संस्कृत के कवि विबुध श्रीधर

संस्कृत के कवि विबुध श्रीधर कृत भविष्यदत्तचरित्र पन्द्रह सर्गों की रचना है । इस की ग्रन्थ-संख्या पन्द्रह सौ बत्तीस है । अपभ्रंश के कवि विबुध श्रीधर और इन की रचना कथावस्तु मे बिलकुल समान है । भाषा सरल एवं प्रसाद गुण से युक्त है । कही-कही महाकवि कालिदास की शैली तथा भावों का प्रभाव दिखाई देता है । यथा-स्थान सूक्ति तथा नीतिमूलक वाक्यों के प्रयोग से काव्य सजीव बन गया है । कवि ने इस कथा को गुरु-परम्परा से प्राप्त कर श्रुति रूप में ज्यों की त्यों अपना कर लेखबद्ध कर अपने आप को अभिव्यक्त किया है । इस की एक प्रतिलिपि प्रति आमेरशास्त्र-भण्डार, जयपुर मे है, जो विक्रम संवत् १५५५ की लिखी हुई है । निश्चय ही यह काव्य अपभ्रंश-कवि विबुध श्रीधर के भविष्यदत्तचरित्र के पश्चात् लिखा गया है ।

अपभ्रंश-कवि विबुध श्रीधर

कई बातों मे अपभ्रंश के कवि विबुध श्रीधर और उन के काव्य का महत्त्व है । पहली तो यह कि धनवइ कमलश्री को इस लिए नही छोडता है कि बालक भविष्यदत्त रतिगृह में था और उसे देख कर सेठ के मन में अन्यथा भाव उत्पन्न हुए और उस ने पत्नी को मायके जाने के लिए कह दिया; किन्तु वह किसी बात पर रुष्ट हो जाता है जिस से उस का हृदय उस से निकल जाता है और वह छोड़ देता है । महेश्वरसूरि की कथा में इस का संकेतमात्र है कि बिना किसी दोष के सहसा ही वह उसे छोड़

१. महेश्वरसूरि कृत ज्ञानपंचमीकथा की प्रस्तावना, पृ० ७ ।
२. मोहनलाल दुलीचन्द देसाई—जैनसाहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, बम्बई, १९३३, पृ० ६५३ ।
३. नेमिचन्द्र शास्त्री : जैनसाहित्य परिशीलन, पृ० २०६ ।

देता है। संस्कृत की कथा में विबुध श्रीधर की कमलश्री विनय के साथ पति से पूछती है कि आप किस कारण से मुझ से कुपित हो गये हैं, क्योंकि बिना कारण तो पशु पर भी कोई कुपित नहीं होता। किन्तु सेठ कहता है कि नही, तुम से कुछ भी दुःख नही है; किन्तु तुम्हें देखते ही हृदय में आग लग जाती है। परन्तु अपभ्रंश-कवि विबुध श्रीधर की कमलश्री पति से तर्क-वितर्क न कर प्रेम से पूछती है कि क्या आप मुझ पर रुष्ट है? मुझे इस प्रकार अकेली क्यों कर दिया? यदि मुझ मे कोई दोष हो तो बताइए। वह अकारण ही अपने क्रोध को प्रकट करता हुआ कहता है कि तुम में कोई दोष नही है। धनपाल ने वातावरण उत्पन्न कर उस मे स्वाभाविकता ला दी है, पर पाठक के मन मे यह प्रश्नवाचक चिह्न लगा ही रह जाता है कि अकारण पति ने कमलश्री को क्यों छोड़ दिया? धनपाल ने इस का समाधान यही दिया है कि पूर्व कर्मों के अनिष्ट से ही धनवइ ने पत्नी के साथ ऐसा व्यवहार किया। इस लिए ज्यों-ज्यों कमलश्री उस की आशाओं को पूरा करती है त्यों-त्यों उस का हृदय बिसूरता है। अन्त में जब वह घर मे ही वियोगिनी की भाँति दुःखों को झेलने लगी तब किसी प्रकार माता-पिता के घर चली गयी। यहाँ कवि ने कर्मों को अदृष्ट कारण बता कर कथा की अस्वाभाविकता को बचा लिया है।

विबुध श्रीधर की भविष्यदत्तकथा

अपभ्रंश में लिखा हुआ यह कथाकाव्य धनपाल की भविष्यदत्तकथा से पहले की रचना है। काव्य का प्रारम्भ जिन-वन्दना से हुआ है। फिर, कवि ने अपना संक्षिप्त परिचय दे कर भविष्यदत्त के चरित्र के वर्णन का उपक्रम किया है। इस काव्य में छह परिच्छेद हैं। प्रत्येक परिच्छेद कडवकों मे निबद्ध है। बन्ध-रचना में यद्यपि कवि ने साहित्यिक परम्परा का पालन किया है, पर साहित्यिक रूढियो का परिपालन नही हुआ है।

भाव-पक्ष

प्रत्येक काव्य की गुण-दोष की विवेचना के लिए उस के भाव और कला-पक्ष दोनों का सम्यक् विवेचन और अभिव्यंजना के अनुरूप उस की परख आवश्यक है। काव्य का सौन्दर्य इन्ही दो कूलो के मध्य तरंगित देखा जाता है। भाव-पक्ष में मर्मस्पर्शी भावनाओं और रसान्विति की मुख्यता निहित होती है। कला-पक्ष में रस, अलंकार, छन्द, भाषा और शैली मुख्य हैं।

यद्यपि इस काव्य में कई मार्मिक स्थल हैं, पर घरेलू वातावरण से ओतप्रोत कमलश्री का वह दृश्य दर्शनीय है जब वह धीरे-धीरे माता के घर पहुँचती है। माता उसे अपनी आँखों से क्षीण शरीर से युक्त देख कर कहती है कि क्या तुम्हारा प्रेम चुक गया है? कमलश्री माता को दुखी देख कर कहती है कि माता दुःख क्षणिक है, इस लिए दुःख मत करो, मन स्थिर करो (२,५)। धनपाल के काव्य मे कमलश्री

माता को उपदेश देती हुई नहीं दिखाई देती। वह माता के गले से लिपट जाती है और रोती है। माता उसे समझाती है। कमलश्री रोती हुई तो यहाँ भी दिखाई देती है, पर उस का विवेक जाग्रत है। उस में गलदश्रु भावुकता नहीं है। गीतशैली में भावों की अभिव्यक्ति होने से उस में भावात्मक चित्र सजीव हो उठा है।

बन्धुदत्त भविष्यदत्त को छल से मैनागद्वीप में छोड़ जाने के पश्चात् जब लौट कर उसी मार्ग से आता है तब भविष्यदत्त को सामने देख कर लज्जा से उस का मुख नीचा हो जाता है। वह कहता है—हे भाई, मुझ पर क्षमा करो। मैं कृतघ्नी निश्चय ही कोयल की भाँति हूँ। मैं ने तुम्हारे विरह में वैसे ही दुःख पाया है जैसे कि गरमी के दिनों में बिना पानी के वृक्ष संतप्त होते हैं।

तं मज्झुप्परि खम करहि भाय हउं णिग्घिणु खलु कोइल णिणाय।
हउं तुह विरहे संपत्तु दुक्खु जिह पाणिएण विणु गिम्हे रुक्खु॥ (४,५)

यहाँ कवि ने भाई के मन की होने वाली स्वाभाविक मनःस्थिति का वर्णन कर लज्जा और ग्लानि के भावों को तिरोहित कर बन्धुदत्त के कपटपूर्ण हृदय का संकेत कर दिया है। इसी लिए वह भविष्यदत्त से कहता है कि अब ऐसा करो कि हम सब एक साथ बन्धु-बान्धवों से जा कर मिलें। भविष्यदत्त उस की चाल को न समझ कर उस के साथ जाने को तैयार हो जाता है। कथावस्तु की दूसरी विशेषता का हमें यहाँ पता लगता है जब भविष्यानुरूपा पति से कहती है कि मैं सेज पर नागमुद्रिका भूल आयी हूँ, इस लिए उसे ले आइए। इधर भविष्यदत्त मुंदरी लेने जाता है और उधर बन्धुदत्त अवसर पा कर पोत चलवा देता है। कई कथाओं में भविष्यदत्त का नागमुंदरी लेने जाने का कारण प्रदर्शित नहीं है। यह विबुध श्रीधर की अपनी विशेषता है। यदि कालिदास ने शाप की कल्पना कर शाकुन्तल की वस्तु की अस्वाभाविकता बचा ली तो विबुध श्रीधर ने नागमुंदरी की कल्पना कर स्वाभाविकता की रक्षा की है। क्योंकि यह कह देने से कि छल से बन्धुदत्त फिर से भविष्यदत्त को छोड़ कर चल दिया पाठकों को सन्तोष नहीं होता। फिर, पहले का कारण तो स्वाभाविक था कि भविष्यदत्त पहली बार उस वन में, द्वीप में आया था और पुष्पप्रिय था इस लिए दूर तक वनराजि को देखता निकल गया और इसी बीच बन्धुदत्त ने अवसर पा कर उसे वहीं छोड़ दिया। किन्तु यहाँ ऐसी क्या बात थी? नागमुंदरी भविष्यानुरूपा को बहुत प्रिय थी, इस लिए भविष्यदत्त उसे लेने चला गया। कथा की यह स्वाभाविकता विबुध श्रीधर और धनपाल दोनों में है।

मार्मिकता की दृष्टि से वह स्थल अत्यन्त सरस है, जहाँ बन्धुदत्त से दूसरी बार छले जाने पर भविष्यदत्त बहुत दुखी होता है और कई प्रकार से विलाप करता है। इस समय उस की वही दशा होती है जो सीता के हरण किये जाने पर श्रीरामचन्द्र की हुई थी। वन के पक्षी भविष्यदत्त को सम्बोधते हुए कहते हैं—

ते भणहि णाइ भो भविसयत्त   पियविरह जाय महदयसयत्त ।
मा करहि सोउ णियमणि मइल्ल   जिणधम्मकम्म विरयण छइल्ल ।
संजोय विओयइ हुंति जाणु   सव्वहं जणाहं मा भंति आणु ।

अर्थात् वे पक्षी कहते हैं कि हे भविष्यदत्त ! प्रिय के वियोग में बहुत दुःख होता है, पर शोक कर अपना मन मैला न करो । क्योंकि तुम जिनधर्म के कार्यों को करने में चतुर हो और इस लिए जानते ही हो कि कर्मों के विपाक से संयोग और वियोग होता है । सभी लोगों को ये सुख-दुःख देते है । इस में किसी प्रकार की भ्रान्ति न करो ।

इसी प्रकार पुत्र के वियोग मे कमलश्री अत्यन्त दुखी होती है । वह नहाना-धोना और बोलना तक छोड देती है । उस की माँ समझाती है, पर उस का मन नहीं मानता । जैसे-तैसे उस के दिन बीतते हैं । वस्तुतः वियोग जीवन मे अनिवार्य है । बिना उस के प्रेम आँच में तप कर खरा नही होता, किन्तु संसारी जीवों की परिणति आकुलता-व्याकुलतामय अधिक होती है, इस लिए वे वियोग का मूल्य नही आँक पाते ।

गीतिशैली मे वन एवं प्रकृति का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि भविष्यदत्त ने उस भयानक वन में मदजल से भरे हुए श्रेष्ठ हाथियो को देखा । कही पर शाखामृग (बन्दर) निर्भय हो कर डालियों से चिपके हुए थे, कही पर छोटे और कही पर आकाश को छूने वाले वृक्षों को शाखाओ पर लोटते हुए, हरे फलो को तोडते हुए बन्दर दिखाई दे रहे थे । कहीं पर पुष्ट देह वाले सुअर घूम रहे थे और कही रोष से से भर कर किसी को भग्न कर महाबाघ पेड़ों से आ लगे थे । कही-कही पर विकराल काल के समान पशु दिखाई पड़ रहे थे और कही पर मोटे-ताजे सियार परस्पर जूझ रहे थे । उसी के पास मे झरना बह रहा था, जो पहाड़ की गुफाओं को अपने कलकल शब्द से भर रहा था—

तें बाहुडंडेण   कमलसिरिपुत्तेण
दिट्ठाइं तिरियाइं   बहुदुखभरियाइं
गयवरहो जंतासु   मयजलविलित्तासु
कित्थुवि मयाहीसु   अणुलग्गु णिरभीसु
कित्थुवि महीयाहं   गयणयलवि गयाहं
साहासु लोडंतु   हरिफलइं तोडंतु
केत्थुवि वराहाहं   वलवंतदेहाहं
महवग्घु आलग्गु   रोसेण परिभग्गु
केत्थुवि विरालाइं   दिट्ठइं करालाइं
केत्थुवि सियालाइं   जुज्झंति थूलाइं
तहे पासे णिज्झरइ सरंतइं   गिरिकन्दरविवराइं भरंतइं ।

इस प्रकार वर्णन स्वाभाविक है । इस में अलंकरण या चमत्कार बिलकुल नही है । देखी हुई वस्तुओ का ज्यों का त्यों वर्णन है । प्रकृति का यह वर्णन आलम्बन रूप

में हुआ है। अपभ्रंश के कथाकाव्यों की यह विशेषता है कि उन में प्रकृति का आलम्बनात्मक वर्णन ही मुख्य है। नायक की वियोग की अवस्था मे प्रकृति की वस्तुएँ न तो आँसू ही बहाती है और न प्रिय के वियोग में स्मृतियों को उद्दीप्त कर सहानुभूति ही प्रकट करती है। इस में कवि की निवृत्ति भावना ही मुख्य जान पड़ती है, जो पूर्व पक्ष में संयोग शृंगार तथा विप्रलम्भ का चित्रण कर अन्त मे उस की यथार्थता का रहस्योद्‌घाटन करती है। परन्तु इस का यह अर्थ नही है कि जनसुलभ अनुभूतियों और मानवीय संवेदनाओ की करुण अभिव्यक्ति का अभाव है। यथार्थतः राग-विराग की कोमलतम अनुभूतियों से काव्यात्मक अभिव्यंजना समन्वित है, जिस मे जीवन का परिवेश धार्मिक भावनाओं से मण्डित है। इस लिए प्रसंगतः वियोगजन्य अनुभूतियों की मार्मिकता भी लक्षित होती है। पुत्र के वियोग मे कमलश्री अत्यन्त संतप्त है। उस का मन किसी भी काम में नही लगता है। वह पुत्र का स्मरण करती हुई कहती है कि मन, मेरा हृदय क्यो नही फूट जाता ? कमलश्री रात-दिन रोती है। उस की आँखो से टपकते हुए आँसू जलधारा की बत्तियाँ (वर्तिकाएँ) ही बन जाते हैं। भूखी-प्यासी और क्षीण शरीर वाली होने से अपने मैले शरीर पर ध्यान ही नही दे पाती।

ता भणइं किसोयरि कमलसिरि ण करमि कमल मुहुल्लउ।
पर सुमरंति हे सुउ होइ महु फुट्टु ण मण हियउल्लउ। (३,१६)
रोवइ धुवइ णयण चुव अंसुव जलधारहिं वत्तओ।
भुक्खइं खीण देह तण्हाइय ण मुणइं मलिण गत्तओ। (४,५)

जिस प्रकार महाकवि कालिदास ने पुष्पक विमान में लंका से लौटते समय रामचन्द्र के मुख से मार्ग मे मिलने वाले वन, पर्वत, आश्रम आदि का सीता को निर्दिष्ट कर उल्लेख किया है उसी प्रकार भविष्यदत्त भी विबुध श्रीधर के कथाकाव्य में दोहला युक्त भविष्यानुरूपा को मार्ग मे शिला, झरना, पर्वत, वृक्ष आदि का स्मरण कराता हुआ विमान से तिलकद्वीप पहुँचता है, जिस का कवि ने सटीक वर्णन किया है। (५,३) किन्तु एक-एक वस्तु का जैसा काव्यात्मक एवं यथार्थ चित्रण कवि धनपाल ने किया है वैसा विबुध श्रीधर के काव्य में नहीं मिलता। समूची कथा लोक शैली में वर्णित प्रतीत होती है। रूप-वर्णन का एक चित्र देखिए—

बालहरिणि चंचलयर णयणी पुण्णिम इंदविंवसम वयणी।
रायहंसगामिणि ललियंगी अवयवेहिं सव्वेहिवि चंगी॥

अर्थात् बाल हिरनी के समान स्वरूपा के नयन थे। पूनम के चंदा जैसा उस का मुख था। राजहंस के समान मन्द गति थी। ललित अंगों वाली थी। उस के सभी अंग निरवद्य थे। इसी प्रकार बाल भविष्यदत्त का वर्णन देखिए—

कालेण गलिय तहो पंचवरिस कोलंतहो वरि संजणिय हरिस।
सो कविल केस जड कलिय सीसु धूली उद्धूलिय तणु विहीसु।

करजुवल कडुल्ला सोहमाणु पायहिं णेउर रंखोलमाणु ।
बाहिर हो मावइ गेहु जाम वड्डइ जणणिहिं आणंदु ताम ।

अर्थात् जब बालक पाँच बरस का हो गया तब घर मे खेलता हुआ जननी को हर्ष बढ़ाने लगा । उस के सिर के बाल भूरे थे । शरीर को धूलि से धूसरित कर वह सोहने लगा । उस के दोनों हाथों में चूरा (कड़े) शोभायमान थे । पैरों में घुँघरू शब्दायमान थे । जिस समय वह बाहर से भीतर घर में आता था तब जननी उसे देख कर आनन्द से फूल उठती थी ।

इन वर्णनों को देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि काव्य कवित्व शक्ति से भरपूर है, पर कल्पनात्मक वैभव, बिम्बार्थ-योजना और अलंकरणता तथा सौन्दर्यानुभूति की जो झलक हमे धनपाल की भविष्यदत्तकथा में लक्षित होती है वह इस काव्य मे नही है ।

भाषा

भाषा की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण रचना है । सीधी-सादी एवं सरल भाषा में यह पूरा काव्य निबद्ध है । इस मे धनपाल के काव्य की भाँति लोक तथा शास्त्र एवं साहित्य की भाषा का मेल न हो कर जन-बोलीका रूप दिखाई पड़ता है । काव्य के वर्णनो से भी इस बात की पुष्टि होती है । यथा—

कहिंवि तूर वज्जंति णिब्भरं
कहिंवि लोय जोयहिं परोप्परं
जिणमन्दिरे घण्टा टणटणाले········ ।

लोकशैली मे वर्णित गीतो से भी यही धारणा बनती है । फिर, कवि की रागात्मिका बुद्धि घरेलू वातावरण को चित्रित करने मे जैसी रमी है, वैसी प्रकृति-वर्णन-रूप तथा अन्य घटनाओं की प्रभावान्विति एवं रस-व्यंजना मे उस का चमत्कार नही दिखाई पड़ता । फिर भी, कुल मिला कर रचना का प्रभाव ठीक ही है ।

विबुध श्रीधर के भविष्यदत्तकथा की भाषा चलती हुई और प्रसाद गुण युक्त है । तेरहवी शताब्दी की जनसामान्य मे प्रचलित भाषा के शब्द-रूप इस रचना में स्पष्टतः मिलते हैं । जैसे—जावहि (ज्यों ही), तावहि (त्यों ही), बारबार, णिरारिउ (निनारी, पद्मावत), फोफल (सुपारी), करीर, तिंदु, बिल्ल (बेल), करवंद (करोंदा), झत्ति (झट से), सपत्तउ (सपाटे से, भ्रमरवत् त्वरता), करंती, हरंती इत्यादि । भाषा भावों के अनुकूल और मधुर है । यथा—

पर एक्कु वि दीसइ णउ मणुउ एंतु जंतु सुहयारउ ।
पर दीसइ पट्टणु मणहरणु मढदेवलहिं पियारउ ॥

रचना मे कृदन्त शब्द-रूपों की प्रचुरता है । क्रिया मे लिंग भी इस मे स्पष्ट रूप मिलता है । उदाहरण के लिए —

गय मंदिरु सज्जणसुह जणणहो ।

जा परिवारें सहुं आचंतो णिय सहोहिं परियरिय रुवंति ।

इसी प्रकार एकल्ली, चंगी, भुक्खइं, संचल्ली आदि रूपों में स्त्रीलिंग का प्रयोग स्पष्ट है । कहा जा सकता है कि ऐसे प्रयोग कृदन्त क्रियाओं में देखे जाते हैं । यह सच है कि मुख्य रूप से कृदन्त क्रियाओं में स्त्रीलिंग का आभास होता है और वे शब्द-रूप स्पष्टतः समझ में आ जाते हैं । किन्तु नाम-रूपों में तथा वर्तमानकालिक क्रियाओं में भी क्रिया में लिंग दिखाई देता है । जैसे कि—

पर सुमरंति हे सुउ होइ महु फुट्टु ण मण हियउल्लउ ।

यहाँ पर 'सुमरंति' का अर्थ स्मरण करती है; न कि याद करती हुई । ऐसे कई प्रयोग इस काव्य में है । भाषा में मुहावरे और लोकोक्तियों तथा सूक्तियों का भी प्रयोग हुआ है । बोलचाल में प्रायः प्रयोग करते हैं कि ले-दे कर अर्थात् बड़ी कठिनाई से किसी प्रकार काम हुआ । उसी के लिए कवि ने "सो किंतु दिंतु तहिं दिण गमइं" का प्रयोग किया है जो जनसामान्य की बोली का स्मरण दिलाता है । इसी प्रकार सूक्तियाँ भी लोक सामान्य में प्रचलित मिलती हैं । यथा—

विणु उज्जमेण णउ किंपि होइ ।

अर्थात् बिना उद्यम के कोई काम नहीं बनता ।

जो पुण्णेण रहिउ सिरि वाहइ सो धणेण विणु सत्तु पसाहइ । (२,१९)

अर्थात् जो बिना पुण्य के लक्ष्मी की अभिलाषा करता है वह वैसे ही है जैसे कि बिना धन के शत्रु को प्रसन्न करना ।

जहिं रुच्चइ तहिं फिरि फिरि रमइं । (३,१६)

अर्थात् जहाँ अच्छा लगता है वहाँ मनुष्य बार-बार जाता है ।

इस प्रकार विबुध श्रीधर की भाषा को पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि भ० क० में प्रयुक्त भाषा बोलचाल की है । यथा—

अवसरु पावेवि मारइ णिच्छउ पइ एत्थुवि पुरवरि एहु अच्छउ ।

अहवा ठाइं ण केम वि वारिउ पइसिहं सरहसु जाइ णिरारिउ ।

अर्थात् सरूपा बन्धुदत्त को समझाती हुई कहती है कि तुम अवसर पा कर उस को (भविष्यदत्त को) निश्चय से मार डालना । किन्तु वहाँ पुर के लोग भी होंगे । वे यदि रोकें तो वेग से अलग कर देना ।

बहु दिवस काइं तुह पुत्त हुआ ।

पर एक्कु वि दीसइ णउ मणुउ एंतु जंतु सुहयारउ ।

पर दीसइ पट्टणु मणहरणु मढदेवलहिं पियारउ ॥

अर्थात् किन्तु उस पट्टन में एक भी आता-जाता मनुज सुखकारक नहीं दिखाई दिया । परन्तु मनोहर मठ और प्यारे देवालय दिखाई दिये ।

शैली

यह काव्य कडवकबद्ध शैली में रचित है । इस में कुल तीन सौ सैंतीस कड़वक हैं । कड़वक-रचना में कड़वक के आरम्भ में अधिकतर दुवई और अन्त में दुवई का प्रयोग मिलता है । कहीं-कहीं आरम्भ में दोहा या चौपाई और अन्त में दुवई तथा घत्ता-प्रयुक्त है । दुवई की भाँति घत्ता भी कड़वक के अन्त में अधिकतर जुड़ा हुआ दिखाई पड़ता है । इस में एक परिच्छेद में पन्द्रह से ले कर तैंतीस कड़वक तक प्रयुक्त हैं । एक कड़वक में दस पंक्तियों से ले कर तेरह पंक्तियों तक में पद्धडिया छन्द का प्रयोग हुआ है ।

छन्द की दृष्टि से यह कथाकाव्य पद्धड़िया शैली में लिखा गया है, जो अपभ्रंश के प्रबन्ध काव्य की प्रचलित शैली रही है । समूचा काव्य पद्धड़िया छन्द में मुख्य रूप से तथा कड़वकशैली में निबद्ध है । अपभ्रंश में घत्ता की सामान्य संज्ञा रही है, पर छन्द के रूप मे भी उस का प्रयोग देखा जाता है । कडवक के अन्त में जिस भिन्न छन्द को छोड़ कर कड़वक की समाप्ति की जाती है उसे घत्ता कहते हैं । किन्तु इस कड़वक-रचना के अन्त में घत्ता के रूप में प्रायः छन्द का प्रयोग देखा जाता है । सम्भवतः इसीलिए उस कड़वक का नाम घत्ता पड़ गया प्रतीत होता है ।

साहित्यिक रचना का विचार करते हुए यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आलोच्यमान काव्य की शैली प्रसाद एवं सरल होने पर भी सरस तथा माधुर्य गुणों से युक्त है । कवि की शैली संक्षिप्त तथा काव्य-सौष्ठव से भरित है । उदाहरण के लिए, निम्न-लिखित दो पंक्तियों में कमलश्री की वियोग-दशा का कितना सजीव चित्र अंकित कर दिया है—

रोवइ धुवइ णयण चुव अंसुव जलधाराहि वत्तओ ।
भुक्खइं खीण देह तण्हाहय ण मुणइं मलिण गत्तओ ॥ (४,५)

संक्षेप में, कवि की शैली भाव, भाषा तथा रचना के सर्वथा उपयुक्त एवं संक्षिप्त है ।

संवाद

प्रस्तुत काव्य में संवाद अत्यन्त मधुर एवं ललित हैं । विरुद्ध चरित्र वाले पात्रों के मुख से भी कवि ने मधुर शब्दों में बढ़िया वार्तालाप अभिव्यक्त किया है । उदाहरण के लिए, सरूपा भविष्यदत्त के सम्बन्ध में कहती हुई बन्धुदत्त से कहती है—

एहु पुत्तु जेट्ठउ घणसामिउ मह भत्तारहो गयवरगामिउ ।
जइ एयहो मिलंतिए वणिवर दविणवंत रूवें जिय रइवर ।

उक्त पंक्तियों में जहाँ सरूपा मनोमालिन्य एवं ईर्ष्या को प्रकट करती है वहीं नायक के चारित्रिक गुणों पर भी प्रकाश पड़ता है । आगे की पंक्तियों में और भी स्पष्ट है । इस प्रकार संवादों के माध्यम से कवि ने पात्रों की वैयक्तिक अनुभूतियो के साथ ही उन के चरित्रों पर भी प्रकाश डाला है ।

भाषा की दृष्टि से इस रचना के संवाद अत्यन्त स्पष्ट एवं सरल हैं। उन में स्वाभाविकता और बोल-चाल की भाषा का प्रयोग सर्वथा उचित तथा मधुर है। जैसे कि—

बहु दिवस काइं तुह पुत्त हुआ।
मइं वारिओसि णवणलिण मुहं जुत्तउ ण होइ फुडु गमणु तुहुं।

कमलश्री अभी प्रसूति से उठी है। पुर की वनिताएँ आ कर उस से पूछती है—क्यों बहुत दिनो मे तुम्हारे पुत्र हुआ ? मैं इस नये कमल-मुख पर बलिहारी हूँ। अब तुम्हें चलना-फिरना युक्त नही है।

इस प्रकार संवादों में माधुर्य छलकता हुआ लक्षित होता है। घरेलूपन तथा बोलचाल की स्वाभाविकता से संवादों मे सजीवता सर्वत्र दिखाई पड़ती है (४,५)।

प्रबन्ध-रचना

प्रबन्ध-रचना मे वर्ण्य विषय को स्वाभाविकता तथा काव्य-रूढियों का पालन प्रस्तुत काव्य मे भी देखा जाता है। किन्तु अपभ्रंश के अन्य प्रबन्धकाव्यों से इस में काव्य-रूढियाँ कम मिलती हैं। काव्य-रूढियों में ये बातें इस कथाकाव्य मे हैं—मगलाचरण, स्ववंश-कीर्तन, आत्मपरिचय और ग्रन्थ-रचना का प्रयोजन। यद्यपि कथा के स्वाभाविक विकास से तथा घटनाओं की गतिशीलता से प्रबन्ध-रचना स्वाभाविक बन पडी है, किन्तु अवान्तर कथाओं के उल्लेख से कहीं-कही कथानक दब-सा गया जान पडता है। कुल मिला कर रचना स्फीत एवं प्रेरक है।

अलंकार

काव्य मे साधर्म्य मूलक अलंकारों की ही मुख्यता है। भाषा के सामान्य व्यवहार में जिन अलंकारो का स्वाभाविक रूप से प्रयोग होता है लगभग वे हो अलंकार इस रचना में प्रयुक्त है। इस रचना को भलीभाँति देखने से स्पष्ट हो जाता है कि अपभ्रश के कवियो ने अधिकतर लोक भाषा, शैली, अलंकार और छन्दों का प्रयोग किया है। वे शास्त्रीयता से हट कर लोक-रचना-शैली में प्रवृत्त हुए है। यही उन की सब से बड़ी विशेषता है। अलंकारो मे भी यह प्रवृत्ति स्पष्ट लक्षित होती है। कुछ अलंकार इस प्रकार है—

तहि सिट्ठि सुरूवउ धणवइ हूवउ सयलकलालकरिय मणु।
जणवइ मण्णिज्जइ णिरु पुज्जिज्जउ णं अवयरिउ सिरिरमणु ॥१,७
(स्वरूपोत्प्रेक्षा)

एउ जाणेविणु सोउ ण किज्जइ मइं वइणा गरलुव वज्जिज्जइ।
(उपमा)

बालहरिणि चंचलयर णयणी पुण्णिम इंदबिंब सम वयणी। (उपमा)
जो पुण्णेण रहिउ सिरि चाहइ सो धणेण विणु सत्तु पसाहइ। (दृष्टान्त)
विणु उज्जमेण णउ किंपि होइ एहउ आहासइ परम जोइ। (लोकोक्ति)
तं देखेविणु सो संकियउ एरिसउ मग्गु एहु किं कियउ।
णउ एक्कु वि दीसइ एत्थु णउ विणु मणुयहिं भय संजाइउ। (विनोक्ति)

अन्य अलंकारों मे रूपक, अर्थान्तरन्यास तथा काव्यलिंग आदि इस काव्य में मिलते है, जो स्वाभाविक रूप में निहित हैं। बोलचाल के रूप में प्रयुक्त होने के कारण इन अलंकारो को ढूंढ निकालने मे कठिनाई का अनुभव होता है। क्योकि अलंकारों का प्रयोग चमत्कार के लिए न हो कर भाषागत प्रयोगों में हुआ है, जिन का हम रात-दिन प्रयोग करते रहते है और इसी लिए साहित्यिक भाषा और अलंकारो के प्रयोगों मे जो स्पष्ट भेद दिखाई पड़ता है उन का इनमे सरलता से पता नही लगता। वस्तुतः कवि की यह सब से बडी सिद्धि है कि वह जैसा अनुभव करता है और उस की अनुभूति में जो रस अनुस्यूत होता है उसे वह विविध कल्पनाओं एवं चित्रो के बिम्बार्थ के माध्यम से वैसी ही रस-सृष्टि कर अभिव्यंजित कर दे। हमारी दृष्टि में धनपाल और विबुध श्रीधर दोनों को इस में सफलता मिली है।

छन्द

इस कथाकाव्य में मुख्य रूप से पद्धडिया छन्द का प्रयोग हुआ है। कड़वक रूप में प्रयुक्त अन्य छन्द है—दुवई, चौपाई, घत्ता और दोहा। सस्कृत के प्रबन्धकाव्यो की भाँति सन्धि या परिच्छेद के अन्त मे छन्द परिवर्तन का नियम इस काव्य मे नहीं मिलता। सामान्यत. कडवक के अन्त में दुवई या उस की जाति के किसी छन्द का प्रयोग देखा जाता है, किन्तु इस में कडवक के आरम्भ में दुवई, मध्य मे पद्धडिया और अन्त में घत्ता या दुवई का प्रयोग मिलता है। दुवई, चौपाई और दोहा छन्दो में कोई नवीनता नही मिलती, पर घत्ता के कई रूप मिलते हैं। उदाहरण के लिए—

पर एक्कु वि दीसइ णउ मणुअ एंतु जंतु सुहयारउ।
पर दीसइ पट्टणु मणहरणु मढ देवउहि पियारउ॥

उक्त घत्ता छन्द मे १५,१२ के क्रम से एक पंक्ति में सत्ताईस और कुल चौवन मात्राएँ हैं। श्री वेलणकर ने घत्ता के नौ भेदों का सूची मे उल्लेख किया है।[1] किन्तु उन नौ भेदो से उपर्युक्त लक्षण भिन्न है। "छन्दोऽनुशासन" मे इस से मिलता-जुलता चन्द्रलेखिका छन्द है।[2] दूसरा उदाहरण है—

१. एच० डी० वेलणकर : छन्दोऽनुशासन, पृ० ३५४।
२. वही, पृ० ३५४। कविदर्पण के अनुसार—८,८,११ के क्रम से; पर उक्त छन्द में यह क्रम नहीं है। चन्द्रलेखिका छन्द का लक्षण है—
समे द्वादश ओजे पंचदश चन्द्रलेखिका।—छन्दोऽनुशासन, ६,२०,४४।

देक्खालइ णरणाहु तहुण इह अइ मुत्तउ तरवरु वुच्चइ।
एहु सिलाए णिज्झरण देक्खंतहो मणु कासु ण रुच्चइ ॥ (५,२)

इस की दोनों पंक्तियों में उनतीस-उनतीस मात्राएँ हैं। यह षड्पदी छन्द है। इस में १०,८,११ के क्रम से उनतीस मात्राएँ होती है।[1] इसी प्रकार १६-१६ प्रथम और तृतीय-चरण में तथा १२-१२ द्वितीय और चतुर्थ चरण के क्रम से अट्ठाईस मात्राओ का घत्ता भी मिलता है—

ता मणइं किसोयरि कमलसिरि, ण करमि कमल महुल्लउ।
पर सुमरंति हे सुउ होइ महु, फुट्टु ण मण हियउल्लउ ॥ (३,१६)

इसी प्रकार इकतीस और बत्तीस मात्राओ के पद वाले घत्ता छन्द भी इस काव्य मे प्रयुक्त है। इस प्रकार घत्ता के कई भेद अकेली इस रचना मे मिलते है।



१. वही, पृ० ३५४।

चतुर्थ अध्याय

अपभ्रंश के प्रमुख कथाकाव्य

विलासवईकहा

कवि का परिचय

विलासवईकहा के लेखक श्वेताम्बर जैन मुनि सिद्धसेनसूरि हैं, जिन का उपनाम साधारण है। कवि का गृहस्थ दशा का नाम साधारण है और मुनि अवस्था का सिद्धसेनसूरि।[1] साधारण सिद्धसेन का जन्म वाणिज्य नामक मूलकुल मे कौटिक गण की वज्र शाखा के अन्तर्गत चन्द्र वंश में हुआ था[2]। कवि का जन्मस्थान धंधुका नगर है, जो आज भी गुजरात में इसी नाम से प्रसिद्ध है। यह वही नगर है जिस मे सुपासनाहचरिअ के लेखक लक्ष्मणगणि और आ० हेमचन्द्र ने जन्म लिया था। कवि के गुरु का नाम यशोदेवसूरि था। गुरु-परम्परा का उल्लेख करते हुए कवि ने स्वयं कहा है कि मै जडमति मथुरा देश में यशोभद्रसूरि के गच्छ में उत्पन्न श्री बप्पभट्ट सूरि शिष्य के श्री शान्तिसूरि तथा उन के शिष्य यशोदेवसूरि का शिष्य हूँ।[3] आलोच्यमान ग्रन्थ की रचना गोपगिरि शिखर पर रहने वाले भिल्लमाल कुल के सर्वप्रधान लक्ष्मीधर शाह के कहने से हुई।[4] कवि के वंश मे परम्परा से साहित्यानुराग बना था। इस लिए उस ने अपने को कवियो की संतान कहा है।

जैन साहित्य में सिद्धसेन नाम के कई विद्वानों का उल्लेख मिलता है। पहले सिद्धसेन दिगम्बर आचार्य थे। उन का उपनाम दिवाकर था। सिद्धसेन दिवाकर का समय लगभग ५७५-६०० ई० कहा जाता है।[5] क्योकि आ० अकलंकदेव सिद्धसेन

---

१. साहारणो जि नाम सुपसिद्धो अत्थि पुव्वनामेण १,४।

२. ठाणिज्जे (वाणिज्जे) मूलकुले कोडिय गणि विउल वइरसाहाए।
विमलम्मिय चदकुले वंसम्मिय कव्वकन्नाण (सव्वकल्लाण) सताणे ॥ १,१ ॥

३ रायसहा सेहरि सिरि बप्पभट्टसूरिस्स।
जसभद्दसूरिगच्छे महुरादेशे सिरोहाए ॥ १,२ ॥
आसि सिरिसतसूरी तस्स पय आसि सूरिजसदेवो।
सिरि सिद्धसेणसूरी तस्स वि सीसो जडमई सो ॥ १,३ ॥

४. सिरि भिल्लमालकुलगयणचद गोवइरि सिहरनिलयस्स।
वयणेण साहुलच्छीहरस्स रइया कहा तेण ॥ १,५ ॥

५. डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन 'अकलंकदेव और उन का समय' जैनसन्देश, शोधांक २, १८ दिसम्बर, १९५८, पृ० ४८।

दिवाकर के सन्मतितर्क से भलीभाँति परिचित थे। और आठवीं शताब्दी के आ० हरिभद्रसूरि ने 'अकलंकन्याय' का स्पष्ट उल्लेख किया है। फिर, सन्मतितर्क के टीकाकार मल्लवादी का समय लगभग छठी शताब्दी कूता जाता है। अतएव दिवाकर का समय छठी शताब्दी के बाद का तो निश्चित रूप से नहीं है। वे पाँचवी-छठी शताब्दी के बीच किसी समय में हुए थे। सन्मतितर्क के अतिरिक्त कल्याण-मन्दिर स्तोत्र तथा शक्रस्तवन के रचयिता भी सिद्धसेन दिवाकर कहे जाते हैं।[1] इन के अतिरिक्त उन के लिखे हुए द्वात्रिंशद्त्रिंशिका तथा वेदवादद्वात्रिंशिका नामक ग्रन्थों का भी उल्लेख मिलता है।[2] जिनरत्नकोश में द्वात्रिंशद्त्रिंशिका के साथ ही द्वात्रिंशिकाएकविंशति के उपलब्ध होने का विवरण संकलित है।[3] इसी प्रकार 'बृहत्षड्दर्शनसमुच्चय' के लेखक सिद्धसेन दिवाकर माने जाते हैं। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही उन्हें अपना-अपना आचार्य मानते हैं।[4] इस से पता चलता है कि सिद्धसेन दिवाकर अपने युग के प्रसिद्ध आचार्य हुए, जिन्हें दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदाय के लोग मानते आ रहे हैं। उन की प्रसिद्धि का इस से बड़ा प्रमाण अन्य क्या मिल सकता है ?

सिद्धसेन नाम के विभिन्न विद्वान्

दिगम्बर सम्प्रदाय के आचार्यों एवं कवियों के उल्लेखों के आधार पर इस बात के कई प्रमाण मिलते हैं कि सिद्धसेन दिगम्बर आचार्य एवं एक कवि थे। किन्तु निश्चय रूप से यह कहना बहुत कठिन है कि उल्लिखित सिद्धसेन ही सिद्धसेन दिवाकर थे। फिर भी, प्राप्त प्रमाणों के अनुसार उन का दिगम्बर सम्प्रदाय का होना निर्विवाद सिद्ध है, जो इस प्रकार हैं—

प्रथम, भ० यशःकीर्ति ने दिगम्बर आचार्य कुन्दकुन्द, समन्तभद्र और देवनन्दी के साथ ही जिनसेन और सिद्धसेन का सादर उल्लेख किया है।[5] मुनि कनकामर ने भी अकलंकदेव, समन्तभद्र, जयदेव और स्वयम्भू के साथ पुष्पदन्त तथा सिद्धसेन का उल्लेख किया है।[6] इसी प्रकार धनपाल द्वितीय ने "बाहुबलिचरित" में और हरिषेण ने "धर्म-परीक्षा" में सिद्धसेन का सादर उल्लेख किया है।[7] वस्तुतः सिद्धसेन उन का नाम था और दिवाकर उपाधि। इसलिए उन का नाम सिद्धसेन ही लिखा मिलता है। दूसरे,

१. राजस्थान के जैन शास्त्र-भण्डारों की ग्रन्थ-सूची, तृतीय भाग, पृ० ३०१।

२. प० सुखलाल संघवी · 'प्रतिभा-मूर्ति सिद्धसेन दिवाकर', प्रेमी-अभिनन्दन-ग्रन्थ, पृ० ३७६, ३८४।

३. जिनरत्नकोश, प्रथम जिल्द, पृ० १८३।

४. जैन ग्रन्थावली, पृ० ६४।

५. जिणसेण सिद्धसेण वि भयंत, परवाइदप्प भंजण कयंत।—भ० यशःकीर्तिविरचित चन्द्रप्रभ-चरित प्रशस्ति।

६. करकण्डचरिउ, १. २. ८-६।

७. सिरसिद्धसेण पवयण विणोउ जिणसेणे विरइउआरि सेउ।—बाहुबलिचरित की प्रशस्ति। तो वि जिणिंद धम्मअणुराएँ बुहसिरिसिद्धसेण सुपसाएँ।—धर्मपरीक्षा, १. १. १०।

आ० कुन्दकुन्द के अनुसार ही सिद्धसेन दिवाकर ने गुण और पर्याय की अभेदता का प्रतिपादन किया है। इसी प्रकार षड्नयवाद की स्थापना दिगम्बर आम्नाय के अनुकूल है।[1] तीसरे, उन के सन्मतितर्क का प्रभाव आ० अकलंक और क्षमाश्रमण पर समान रूप से लक्षित होता है, पर न्यायावतार का कोई प्रभाव अकलंक स्वामी पर दृष्टिगत नहीं होता है। चौथे, दिवाकर ने क्षमाश्रमण की आगम विरुद्ध मान्यता का विरोध किया है।[2] अतएव निश्चय ही सिद्धसेन दिवाकर दिगम्बर सम्प्रदाय के आचार्य थे, जिन का उल्लेख अपभ्रंश-कवियों ने किया है। न्यायावतार के कर्ता उन से भिन्न परवर्ती आचार्य थे।

न्यायावतार नामक दर्शन ग्रन्थ के रचयिता आ० सिद्धसेन श्वेताम्बर विद्वान् थे। उन का समय लगभग आठवीं शताब्दी कहा जाता है। डॉ० जगदीशचन्द्र ने जीतकल्पसूत्र पर आ० सिद्धसेन की चूर्णिरचना का उल्लेख किया है।[3] किन्तु उन के समय का निश्चय न होने से उन के सम्बन्ध में कुछ कहना बहुत ही कठिन है। इसी प्रकार पं० महेन्द्रकुमार शास्त्री ने तत्त्वार्थभाष्य के टीकाकार सिद्धसेनगणि का उल्लेख किया है, जो आठवीं शताब्दी के विद्वान् थे।[4] मेरे विचार मे सिद्धसेनगणि और सिद्धसेन दोनों एक ही विद्वान् थे, जिन का उल्लेख प्रो० मालवणिया ने किया है।[5] पं० महेन्द्रकुमार जी के अनुसार उन्होने तत्त्वार्थभाष्य की टीका लिखी थी। प्रो० मालवणिया जी ने उन की लिखी हुई बृहत्काय वृत्तियो की रचना का उल्लेख किया है। इन के अतिरिक्त देवगुप्त के शिष्य सिद्धसूरि के द्वारा 'नमिऊणक्षेत्रसमास' की वृत्ति तथा 'सम्यक्त्वरहस्यस्तोत्र' लिखे जाने का उल्लेख मिलता है।[6]

उपलब्ध रचनाओं के आधार पर सिद्धसेनसूरि नामक तीन विद्वानो का पता चलता है। पहले आचार्य दसवी शताब्दी या उस के पूर्व के है। इन का उल्लेख वीरसूरि ने अपने चन्द्रप्रभचरित्र नामक प्राकृत काव्य में किया है, जिस का रचना-काल वि० सं० ११३८ है।[7] दूसरे विद्वान् आलोच्यमान काव्य के रचयिता साधारण सिद्धसेनसूरि है। स्वयं कवि ने स्तुतियों तथा स्तोत्रो को लिखने तथा उन की प्रसिद्धि का उल्लेख किया है।[8] अतएव नमस्कारमाहात्म्य के कर्ता सिद्धसेनाचार्य यही प्रतीत होते हैं।[9] तीसरे आचार्य सिद्धसेनसूरि देवभद्रसूरि के शिष्य है, जिन का समय बारहवी

---

१ पं० महेन्द्रकुमार शास्त्री . न्यायकुमुदचन्द्र की भूमिका, पृ० ७२।
२. वही, पृ० ७८।
३ डॉ० जगदीशचन्द्र जैन . प्राकृत-साहित्य का इतिहास, पृ० १६१।
४. न्यायकुमुदचन्द्र की भूमिका, पृ० ७८ तथा १०४।
५. श्री दलसुखभाई मालवणिया : जैन दार्शनिक साहित्य का सिहावलोकन, पृ० ८।
६. जैनग्रन्थावली, श्री जैन श्वेताम्बर कान्फ्रेन्स, बम्बई की ओर से प्रकाशित, पृ० १२०, १४६।
७. वेलणकर जिनरत्नकोश, खण्ड प्रथम, पृ० ११६।
८. थुइ थोत्ता बहुभेया जस्स पढिज्जंति वेसेसु। १,४
९. वेलणकर · केटलाग ऑव संस्कृत एण्ड प्राकृत मेन्युस्क्रिप्ट्स खण्ड तृतीय-चतुर्थ, पृ० ४६५।

शताब्दी है।[1] प्रवचनसारोद्धार के टीकाकार सिद्धसेनसूरि और देवभद्रसूरि के शिष्य सिद्धसेनसूरि दोनों एक ही विद्वान् हैं। क्योंकि इन सिद्धसेनसूरि का लिखा हुआ पद्मप्रभचरित्र नाम का काव्य भण्डारों में उपलब्ध है। इस का उल्लेख जिनरत्नकोश में भी है। कवि के द्वारा लिखी हुई प्रशस्ति से पता चलता है कि वे राजगच्छ के देवभद्रसूरि के शिष्य थे। उन का यह उल्लेख प्रवचनसारोद्धार की टीका मे मिलता है।[2] इस प्रकार निश्चित रूप से सिद्धसेनसूरि नाम के तीन विद्वान् हुए; जिन्होंने धार्मिक ग्रन्थों के अतिरिक्त काव्य भी रचे थे।

साधारण सिद्धसेन और बारहवी शताब्दी के सिद्धसेनसूरि दोनों भिन्न-भिन्न आचार्य थे। क्योंकि साधारण सिद्धसेन यशोदेवसूरि के शिष्य थे और सिद्धसेनसूरि देवभद्रसूरि के शिष्य। दोनो के गच्छ भी अलग-अलग थे। श्री देवभद्रसूरि का जन्म श्रीचन्द्र गच्छ मे हुआ था। उन्ही के शिष्य सिद्धसेनसूरि थे। सिद्धसेनसूरि के शिष्य मुनि चन्द्रसूरि हुए, जो उस समय के अत्यन्त प्रसिद्ध आचार्य थे।[3]

रचना-काल

विलासवईकहा अपभ्रंश के उपलब्ध प्रेमाख्यानक कथाकाव्यों मे सब से प्राचीन रचना है। प्राकृत के प्रेमाख्यानक काव्यों की भाँति यह प्रेमकथाकाव्य है, जिसमें जीवन की सफलता का रहस्य सच्चे प्रेम में प्रदर्शित है। इस कथाकाव्य का रचना-काल वि० सं० ११२३ है।[4] इस का रचना स्थान धंधुका नगर है। धन्धुका नगर गुजरात देश में अहमदाबाद के निकट है। पं० बेचरदास दोशी के विचार मे इस कथा के लेखक गुजरात प्रदेश के एक जैन साधु थे।[5]

रचनाएँ

कवि सिद्धसेनसूरि ने यद्यपि अपनी रचनाओं के सम्बन्ध में कुछ नही लिखा है, पर उन की इस अकेली रचना को देख कर यह सहज में अनुमान हो जाता है कि अन्य रचनाएँ भी उन्होने लिखी होंगी। इस बात का तो स्वयं कवि ने उल्लेख किया है कि उन के लिखे हुए स्तोत्र आदरपूर्वक पढे जाते थे। ये स्तोत्र संस्कृत और प्राकृत दोनों में लिखे गये थे। 'नमस्कारमाहात्म्य' के अतिरिक्त अन्य कई स्तोत्र और स्तुतियाँ भी

---

१. डॉ० जगदीशचन्द्र जैन · प्राकृत-साहित्य का इतिहास, पृ० ४८८

२ वेलणकर जिनरत्नकोश, प्रथम खण्ड, पृ० २३४

४. सिरिचंदगच्छगयणे जाओ सिरिदेवभद्दसूरिखी।
पयडिय पसत्थ सत्थो चित्तजंसो (१)।
तस्सिरि सिद्धसेणसूरि समुग्गुणगणग्घविओ।
मुणिचंदसूरि पवरो सीओ लोयम्मि विक्खाओ॥
—प्राकृत काव्य महीपालचरित्र की अन्तिम प्रशस्ति।

४. एक्कारसहिं सएहि गएहि तेवीस वरिसअहिगहि।
पोस चउद्दसि सामे सिद्रा धंधुक्कय पुरम्मि॥ १,७।

५ पं० बेचरदास दोशी 'विलासवती' भारतीय विद्या वर्ष ५, अंक ६, पृ० २२१।

सिद्धसेन के नाम से मिलती हैं, जो सम्भवतः साधारण सिद्धसेन की रचनाएँ कही जा सकती हैं। इन रचनाओं में शाश्वत्जिनस्तुति (प्राकृत में), वर्द्धमानद्वात्रिंशिका तथा अर्हत्स्तवन (संस्कृत गद्य) का उल्लेख मिलता है।[1] स्तोत्र रचयिताओं में सिद्धसेन दिवाकर और साधारण सिद्धसेनसूरि का नाम लिया जाता है। अतएव उक्त रचनाएँ दोनों मे से किसी एक विद्वान् की लिखी हुई होनी चाहिए। इस प्रकार स्तोत्र तथा स्तवन या स्तुतियों को छोड़ कर स्वतन्त्र रूप में कवि के द्वारा अन्य किसी बृहत् रचना का उल्लेख या संकेत नहीं मिलता।

कथा का आधार

विलासवती की कथा श्री हरिभद्रसूरि कृत 'समराइच्चकहा' से उद्धृत है। स्वयं कवि ने इस तथ्य को स्वीकार किया है[2]। समरादित्यकथा में राजा गुणसेन की नौ भवों की कथाओं का रोचक एवं सरस वर्णन है। उनके पाँचवें भव की कथा मे राजा सूरतेज और पट्टरानी लीलावती की मुख्य कथा के अन्तर्गत सनत्कुमार की उक्त कथा वर्णित है। कथा संवाद से आरम्भ होती है। स्वयं आचार्य सनत्कुमार मुनि दीक्षा लेने का कारण तथा अपने जीवन की प्रधान घटना का उल्लेख करते हुए काकन्दी नगरी के राजा सूरतेज और रानी लीलावती के पुत्र जयकुमार को यह कथा सुनाते हैं। वस्तु रूप में कथा स्वाभाविक हो कर भी रंगीन कल्पनाओ से तथा दैवी संयोगों से अनुरंजित है। इस प्रकार जयकुमार के पूछने पर आचार्य अपनी बीती कथा सुनाते हैं। अन्य कथाओ की अपेक्षा यह कथा शुद्ध लोककथा जान पडती है, जिन मे धार्मिक अंश बहुत कम है और बाद मे जोडा गया प्रतीत होता है।

परम्परा

प्राकृत-साहित्य मे 'समराइच्चकहा' प्रसिद्ध कथाकाव्य कोश है, जिस मे लोक-प्रचलित कथाओं का सरस वर्णन धार्मिक परिप्रेक्ष्य मे निहित है। आ० हरिभद्रसूरि ही इन कथाओं के काव्य रूप मे कदाचित् सब से पहले प्रयोक्ता थे। उन की समरादित्य कथा के आधार पर दसवी से उन्नीसवी शताब्दी तक प्राकृत, संस्कृत, गुजराती तथा अन्य भारतीय भाषाओं में समरादित्य तथा उसके अन्तर्गत अन्य उपकथाओ की रचना होती रही है। वस्तु रूप मे उन मे कोई विशेष अन्तर दृष्टिगोचर नही होता। इस प्रकार समराइच्च कहा वर्षों तक भारतीय साहित्य में उपजीव्य ग्रन्थ बनी रही है। प्राकृत मे मार्कण्डेय कृत विलासवती कथा का उल्लेख मिलता है, जो सतरहवी शताब्दी की रचना कही जाती है[3]। इसी प्रकार जिनहर्ष रचित वि० सं० १७२८ की लिखी हुई लीलावती

---

१. जैनग्रन्थावली, पृ० २९२, २८९ तथा २७३।

२. समराइच्चकहाउ उद्धरिया सुद्धसंधिबंधेण।
कोऊहलेण एसा पसन्नवयणा विलासवई॥ १, ६॥

३. डॉ० जगदीशचन्द्र जैन 'प्राकृत-साहित्य का इतिहास, पृ० ६३०।

रास नामक रचना उपलब्ध हुई है ।[1] इससे स्पष्ट है कि—कथाकाव्य के रूप में लिखी हुई काव्यविधा की दृष्टि से विलासवती के उपाख्यान के आधार पर यह पहली रचना है । जिनरत्नकोश में उल्लिखित लक्ष्मीधर महर्षि कृत—विलासवती कथा भी परवर्ती रचना जान पड़ती है[2] ।

कथावस्तु

इस भारतवर्ष में श्वेताम्बी नाम की नगरी में यशोवर्मा नाम का राजा राज्य करता था । उस के पुत्र का नाम सनत्कुमार था, जो अत्यन्त सुन्दर और गुणवान् था । एक दिन कोतवाल चोरों को बाँध कर राजमार्ग में लिये जा रहा था । चोरों ने कुमार को देख कर उन से प्रार्थना की । युवराज की आज्ञा से कोतवाल ने चोरों को बन्धन मुक्त कर दिया । किन्तु नागरिक जन राजा के पास गये और चोरों के उपद्रव का सम्पूर्ण वृत्तान्त तथा राजकुमार द्वारा उन को छुड़वा देने का वृत्त सुनाया । राजा ने क्रोधित हो उन चोरो को मृत्युदण्ड दे दिया । कुमार को जब इस घटना का पता चला तब वह अत्यन्त दुःखी हुआ । सनत्कुमार पिता से रूठ कर मित्र वसुभूति के साथ राज्य की सीमा से बाहर ताम्रलिप्ति नगरी में चला गया । उस समय वहाँ राजा ईशानचन्द्र राज्य कर रहे थे । अपने यहाँ सनत्कुमार के आगमन को बात सुन कर राजा ने उस का बड़ा सम्मान किया और राजकुमारोचित आवास की व्यवस्था कर दी । कुछ दिनों के बाद राजा ने कुमार को स्वतन्त्रतापूर्वक शासन का कार्य-भार सम्हालने को कहा, पर सनत्कुमार ने उसे स्वीकार नहीं किया । एक बार वसन्त के समय मे कुमार अपने मित्र के साथ वसन्तोत्सव मनाने के लिए राजमार्ग से उपवन की ओर जा रहा था कि राजा की कन्या ने अपने हाथों से बकौली (मौलसिरी) की गूँथी हुई माला राजकुमार के ऊपर खिड़की से फेंक दी । कुमार ने सिर ऊपर उठा कर देखा तो अनिन्द्य सुन्दरी को देख कर कामभाव से पीड़ित हो गया । उस के मित्र ने वह माला ठीक से कुमार के कण्ठ में पहना दी । उसी समय से कुमार के मन में उस राजकन्या विलासवती के प्रति अनुराग का अंकुर जग गया । वह सब कुछ भूल कर उस का ही ध्यान करने लगा । उस दिन उपवन में उस का मन उड़ा-उड़ा-सा रहा और रात में भी ठीक से नीद न आने से सिर में पीड़ा बनी रही । दूसरे दिन प्रातःकाल मित्र के साथ वह गृह-उद्यान मे गया । वहाँ वसुभूति ने मित्र को उदास देख कर उस का कारण पूछा । कुमार के न बताने पर स्वयं उस ने राजकुमारी के प्रेम-भाव को सूचित कर दिया । मित्र ने कुमार को समझाया कि सन्ताप नहीं करो, वह स्वयं तुम्हें चाहती है इस लिए समागम अवश्य होगा । मैं भी कोई उपाय सोचूँगा । वसुभूति ने विलासवती की सेविका धात्री-पुत्री अनंगसुन्दरी से सम्पर्क स्थापित किया ।

१. अगरचन्द नाहटा : 'उपाध्याय लाभवर्द्धन और उन की रचनाएँ', शोध-पत्रिका, वर्ष १२, अंक ४, पृ० २६ ।
२. जिनरत्नकोश, पृ० ३५८ ।

इस बीच कई दिन बीत गये। राजकुमार अत्यन्त व्यथित रहने लगा। उसे अपने मित्र की इस कार्यवाही का कुछ भी पता नहीं चला। एक दिन मित्र ने सब वृत्तान्त सुनाते हुए कहा कि मैं आज अनंगसुन्दरी के घर गया था। उसे उदास देख कर मैंने पूछा कि तुम मुरझा क्यों रही हो। उस ने बताया कि अपना दु:ख तुम्हारे आगे कहने से क्या लाभ। मैंने कहा कि मैं तुम्हारा मनोरथ पूर्ण कर सकूँगा। मेरे वचनों से आश्वस्त हो कर उस ने कहा—'हे महाराज, राजकुमारी विलासवती मुझे अपने से अलग नहीं मानती। इसलिए काम के संताप से पीडित उस ने मुझे अपनी स्थिति भली-भाँति बता दी है। वह आप के मित्र राजकुमार को वरना चाहती है। मैंने उन से मिलाने का वचन दे दिया है। किन्तु प्रथम दर्शन के बाद से आज तक वे कहीं दिखाई नहीं दिये। और इसी लिए कुमारी मेरे कार्य को संदिग्ध जान कर शय्या का त्याग कर एकान्त में कामाग्नि में झुलसी जा रही है। वह राजमार्ग की ओर टकटकी लगा कर घण्टों बैठी रहती है। उस ने मुझ से कहा है कि तुम मुझे उन से मिला दो। कुमारी उस समय सखियों की गोद में पड़ी हुई थी। मैंने पंखा डुलाया, चन्दन छिड़का तब कहीं चेतना लौटी। मैंने झूठ में ही उन के साथ समागम का वचन दे दिया है। इसी बीच माता के आ जाने से मैं कुमारी को छोड़ कर अपने घर आ गयी हूँ। यही मेरी चिन्ता का कारण है।' तब मैंने उस से कहा कि उस युवक को मैं जानता हूँ, इस लिए ऐसा उपाय करो जिस से तुम्हारी स्वामिनी सुखी हों। तब उस ने आप के सम्बन्ध में पूछा तो मैंने सब सच-सच बता दिया।

मित्र वसुभूति की इन बातों को सुन कर सनत्कुमार ने बिना उत्सव के उत्सव मनाया। मित्र को पुरस्कृत किया। तब वे दोनों बगीचे में गये। इतने में अनंगसुन्दरी आ पहुँची। उस की बात सुन कर वसुभूति ने कुमार से कहा कि—अपने को चन्दन-लतागृह में चलना चाहिए। वहाँ सखियों से परिवृत राजहंसी के समान विलासवती कुमार को दिखलाई दी। अनंगसुन्दरी ने कुमार को विलासवती के आसन पर बिठाया। बहुत सम्मान किया। इतने में ही कन्या एवं अन्तःपुर के रक्षक मित्रभूति ने आ कर निवेदन किया कि राजा विलासवती को वीणावादन के लिए स्मरण कर रहे हैं। कुमारी तिरछी दृष्टि से कुमार को देखती हुई मन्दगति से अपने भवन को लौट गयीं। मित्र के साथ राजकुमार भी बगीचे से निकल पड़े। वहीं द्वार पर राजपत्नी कुमार को देख कर उस पर रीझ गयी। वे दोनों अपने घर लौट गये। सन्ध्या के समय अनंगसुन्दरी ने विलासवती की भेजी हुई सामग्री (सिन्दुवार के फूलों से गूँथी हुई सुगन्धित माला और पान) कुमार को भेंट में दी। कुमार ने सामग्री सादर ग्रहण कर ली। बदले में अनंग-सुन्दरी को भुवनसार नामक कण्ठाभरण कुमार ने दिया। धीरे-धीरे दोनों में गाढ अनुराग हो गया।

किसी एक दिन राजकुल की दासी ने आ कर सनत्कुमार से कहा कि—रानी अनंगवती आप को बुला रही है। महाराज का विश्वासपात्र होने से तथा राजकुमारी

की माता की आज्ञा होने से कुमार उन के पास चला गया। कुमार को आया देख कर रानी ने काम प्रस्ताव रख दिया, जिसे कुमार ने अस्वीकार कर दिया। जब कुमार ने माता को उपदेश दिया तब रानी हँस कर कहने लगी कि यह तो लोकाचार ही है। मैंने तो विनोद किया था। कुमार भी उसे प्रणाम कर अपने घर लौट आया। कुछ समय बाद कोतवाल विनयन्धर सनत्कुमार के पास आ कर बोला कि राजा ने आप का वध करने के लिए मुझे आदेश दिया है। कारण यह है कि बाहर से राजा के आते ही रानी अनंगवती ने रोते हुए क्षत-विक्षत बदन से कुमार के कई दिनो से तंग करने तथा अस्वीकार करने पर यह दशा करने का आरोप लगाया है, जिस से राजा ने मुझे यह आज्ञा दी है। किन्तु मेरे ऊपर आप के पिता का अत्यन्त उपकार होने से मैं किंकर्तव्यविमूढ हो रहा हूँ। विनयन्धर ने फिर कहा—कि इस मे आप का दोष नही है और राजा से मैं निवेदन करूँगा, जिस से वे आप पर विश्वास कर सकेंगे। किन्तु कुमार ने कहा—नही, दुष्ट राजपत्नी की रक्षा होनी चाहिए। अन्य कोई उपाय सोचना चाहिए। कुमार विनयन्धर से कहता है कि मै मित्र वसुभूति के साथ देशान्तर मे जाना चाहता हूँ। वह कहता है—ठीक है। एक जहाज स्वर्णभूमि को आज ही रात को जाने वाला है। विनयन्धर ने सन्ध्या को ही उन दोनो को जहाज के स्वामी समुद्रदत्त को सौंप दिया।

दो महीने मे वे दोनो स्वर्णभूमि में पहुँच गये। जहाज से उतर कर कुमार अपने मित्र के साथ श्रीपुर नाम के नगर मे गया। वहाँ श्वेताम्बी के रहने वाले समृद्धिदत्त नामक सेठ-पुत्र से उस की भेंट हो गयी। वही बचपन के मित्र मनोरथदत्त से कुमार का समागम हुआ। मनोरथदत्त उन्हे अपने घर ले गया। दोनो का राजोचित सम्मान-भोजन-पान आदि का प्रबन्ध हो गया। राजकुमार ने अपने मामा के पास सिंहलद्वीप जाने की इच्छा प्रकट की। मनोरथदत्त ने अत्यन्त अनुरोध के पश्चात् दोनो को बिदाई दी। जाते समय उस ने सनत्कुमार को नयनमोहन नामक रत्नजड़ित चादर भेंट मे दी। इस चादर की यह विशेषता थी कि ओढ़ने वाला सब को देख सकता था, पर उसे कोई नही देख सकता था। उस सिद्धि की चादर को ले कर कुमार मित्र के साथ जहाज मे बैठ कर सिंहलद्वीप क लिए रवाना हुआ। मार्ग मे तूफान तथा ज्वारभाटा आने से जहाज छिन्न-भिन्न हो गया और जहाज के सभी प्राणी वियुक्त हो गये। बहते हुए कुमार को एक काष्ठफलक आ मिला। उस के सहारे वह तीन दिन और तीन रात बिता कर समुद्र तट पर जा लगा।

कुछ दूर जा कर कुमार जामुन के वृक्ष के पास बैठ गया। इसी समय सन्ध्या हो गयी। फलो को खा कर कुमार ने क्षुधा शान्त की। शिला की सेज तैयार की। इतने में ही थोडी दूर पर उसे एक तापस बाला दिखाई दी। वह कुमार को विलासवती ही जान पडी। कुमार के पूछने पर भी बिना उत्तर दिए वह चली गयी। रात को स्वप्न मे कुमार ने अपने ऊपर डाली गयी दिव्य कुसुममाला देखी जो कण्ठ मे धारण

कर ली गयी। सूर्योदय होने पर कुमार ने एक अधेड़ अवस्था वाली तापसी को देखा। वह विशेष रूप से कुमार को देख कर बोली—हे राजपुत्र, जुग-जुग जिओ। फिर, वह तापसी अपना वृत्तान्त सुनाने लगी। उस ने कहा कि हे कुमार, सुनो। इस भरतक्षेत्र में वैताढ्य नाम का पर्वत है। उस पर गन्धसमृद्ध नामक विद्याधर नगर है। वहाँ के राजा सहस्रबल और रानी सुप्रभा की मैं मदनमंजरी नाम की बेटी हूँ। विलासपुर के राजा विद्याधर नरेन्द्र के पुत्र पवनगति से मेरा विवाह हुआ था। बहुत दिनों तक विषय-सुखों को भोगने के बाद एक दिन हम दोनों विमान में बैठ कर नन्दन वन में गये। हम लोग क्रीड़ा करने में प्रवृत्त हो ही रहे थे कि सोने की शिला से गिर कर पवनगति का देहान्त हो गया। मैं बहुत विलाप करती रही। मेरी आकाशगामिनी विद्या मुझ से विस्मृत हो गयी। इसी समय तपस्वी देवानन्द नाम के विद्याधर आये। उन्होंने मुझे उपदेश दिया। विद्या भूलने का कारण सिद्धायतनकूट का उल्लंघन बताया। उन से व्रत ग्रहण कर मैं भी दीक्षित हो गयी। दूसरे दिन फूल तथा ईंधन लेने के लिए समुद्र के किनारे गयी। वहाँ काष्ठफलक पर लगी हुई सुन्दर कन्या को देखा। उसे मैं धीरज बँधा कर आश्रम में ले गयी। कुलपति ने बताया कि यह ताम्रलिप्ति के राजा ईशानचन्द्र की पुत्री विलासवती है। यशोवर्मा के पुत्र राजकुमार सनत्कुमार पर आसक्त हो जाने से, लोकमुख से यह सुन कर कि राजकुमार का वध हो गया विलासवती स्नेह से व्याकुल हो प्राणान्त करने के लिए आधी रात को श्मशान के लिए अकेली चल पड़ी। राजमार्ग में चोरों के हाथ पड़ गयी। उन्होंने आभूषण उतार कर सार्थवाह के हाथ इसे बेच दिया। मार्ग में पोत भग्न हो जाने से तीन रात समुद्र में तैर कर यहाँ किनारे आ लगी है। अब पति को पा कर यह भोगों को भोगेगी।

राजपुत्री के कहने से मैं यहाँ आयी हूँ। अतएव आप चलिए। वह मरणासन्न है। सनत्कुमार तापसी के साथ आश्रम में जाता है। दोनों का सानन्द विवाह सम्पन्न होता है। कुछ दिनों तक भोग-विलास करने के पश्चात् स्वदेश लौटने का विचार करते हैं। तापसी से पूछ कर वे दोनों वहाँ से चल पड़े। ध्वजाहीन पोत को चलने के लिए तैयार किया। इसी समय मल्लाह ने आ कर बताया कि महाराज, कटाहद्वीपवासी सानुदेव सार्थवाह ने मलय देश में स्थित ध्वजाहीन पोत को देख कर आप को लिवाने के लिए हमें भेजा है। पत्नी सहित आप चलिए। सार्थवाहपुत्र ने कुमार का बहुत सम्मान किया। सभी ने पोत में बैठ कर यात्रा की।

कुछ दिनों के बाद एक पहर रात रहते सनत्कुमार और सानुदेव निर्वृत होने के लिए एक साथ उठ बैठे। सार्थवाह पुत्र ने अवसर पा कर विलासवती के रूप के लोभ से कुमार को समुद्र के किनारे रुकने के लिए कह कर पीछे से धक्का दे दिया। सनत्कुमार समुद्र में गिर पड़ा। भाग्य से काष्ठफलक हाथ लग गया। पाँच दिनों में वह मलयकूल पहुँचा। वहाँ नारंगफलों का भोजन कर वह समुद्र के किनारे-किनारे एक मील दूर निकल गया। इतने में उसे काष्ठफलक के पास मरणासन्न विलासवती दृष्टि-

गत हुई। विलासवती ने पोत के भग्न होने तथा वहाँ तक आ पहुँचने का वृत्तान्त सुनाया। फिर, पीने के लिए पानी माँगा। कुमार उसे बड़ के पेड़ के पास बिठा कर नयनमोहन चादर दे कर पानी लाने के लिए चला गया। लौट कर आने पर जब कहीं विलासवती नहीं दिखाई दी तो कुमार अत्यन्त चिन्तित हुआ। वह उसे ढूँढ़ता हुआ घने वन मे निकल गया। वहाँ उस ने देखा कि काला अजगर नयनमोहन पट को लील रहा है। कुमार ने समझ लिया कि देवी का प्राणान्त हो गया है। अतएव मरण के लिए उद्यत हो कर वह भी अजगर के पास चला गया। किन्तु उसे देख कर अजगर ने शरीर सिकोड़ लिया। तब कुमार ने उस के माथे पर जोर से पैर दे मारा। तब भय से अजगर ने चादर उगल दी। उसे ले कर कुमार बड़ के पास सोयी हुई प्रियतमा के पास पहुँचा। वहाँ एक डाली पर फन्दा फाँद कर उस ने गला फँसाया ही था कि एक ऋषि ने आ कर इस अकार्य से उसे बचा लिया। उन्होंने बताया कि मलय पर्वत के मनोरथापूर्वक शिखर से योगपूर्वक गिरने से मनोरथ की पूर्ति हो जाती है। सनत्कुमार वहाँ गया। तीसरे दिन जैसे ही वह साँस साध कर गिरने लगा कि विद्याधर ने अधर मे ही उसे ग्रहण कर लिया। विलासवती का वृत्तान्त सुन कर उस ने बताया कि वह अभी मरी नहो है। क्योंकि यहाँ पर विद्याधरों के स्वामी चक्रसेन ने अप्रतिहत चक्र नाम की महाविद्या का साधन आरम्भ किया है। उन की साधना के प्रभाव से अड़तालोस योजन तक क्षेत्रशुद्धि हो जायेगी। और इस लिए अजगर ने तुम्हें देख कर कुण्डली लगा ली थी। विद्याधर की इन बातों से कुमार आश्वस्त हो गया।

दूसरे दिन चक्रसेन विद्याधर की विद्यासिद्धि का वृत्त ज्ञात कर कुमार उस विद्याधर के साथ चक्रसेन के पास मलयशिखर पर गया। विद्याधर स्वामी ने उसे धीरज बँधाया। इतने में दो विद्याधर विलासवती को साथ मे ले कर आ पहुँचे। उन्होने बताया कि अजगर के भय से चादर फेंक कर विलाप करती हुई इस सुन्दरी को मृत्यु के भय से यहाँ ले आये हैं। विद्याधर पति ने सनत्कुमार को अजितबला नाम की महाविद्या प्रदान की। इसी समय महाविद्या की सिद्धि की सूचना देते हुए की भाँति तापस का वेश धारण किये हुए मित्र वसुभूति आ पहुँचा। विलासवती और कुमार उस से मिल कर अत्यन्त प्रसन्न हुए। वसुभूति ने बताया कि किस प्रकार समुद्र में पोत के भग्न हो जाने से काष्ठफलक के सहारे पाँच दिनों तक रहने के उपरान्त यहाँ के तट पर आ लगा, और कुलपति के आश्रम मे आप का वृत्त जान कर ढूँढ़ता हुआ यहाँ आया हूँ।

सनत्कुमार ने विधिपूर्वक एक लाख मन्त्र का जप आरम्भ किया। कई प्रकार के विघ्न आये, पर वह विचलित नहो हुआ। अन्त मे उसे अजितबला विद्या सिद्ध हो गयी। इसी मलयशिखर की गुफा से अनंगरति नाम का विद्याधर विलासवती का अपहरण कर वैताढ्य पर्वत पर स्थित रथनूपुर चक्रवाल नाम के नगर में ले गया। विद्या के बल से सनत्कुमार ने पता लगाया। दूत को भेजा। किन्तु अनंगरति समर के लिए

उद्यत हो गया। अन्त में युद्ध हुआ। अनंगरति युद्ध में पराजित हो गया। सनत्कुमार का राज्याभिषेक हुआ। कुछ दिनों के बाद कुमार विलासवती और विद्याधरों के साथ माता-पिता से मिलने गया। वापस लौट कर आने पर बहुत समय के बाद उन दोनों के एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिस का नाम अजितबल रखा गया। अजितबल के युवक होने पर सनत्कुमार ने उसे युवराज पद पर अभिषिक्त कर दिया। इसी बीच विद्याधर श्रमण से पूर्व भवों का वृत्तान्त सुन कर सनत्कुमार को वैराग्य उत्पन्न हो गया। अन्त में घर-बार छोड कर दुर्धर तपस्या कर निर्वाण गमन होता है।

प्रबन्ध-रचना

विलासवतीकथा की वस्तु प्रकृतियों, सन्धियों तथा कार्यान्विति से युक्त है। नायिका की प्राप्ति के लिए मित्र वसुभूति द्वारा जो उपक्रम किया जाता है, वह प्रारम्भ के अन्तर्गत आता है। नायिका भी नायक से मिलने का प्रयत्न करती है। नायिका से वियुक्त हो जाने के बाद सनत्कुमार विलासवती की प्राप्ति की आशा में ही जीवित रहता है। स्वप्न में भी वह उसी की प्राप्ति का विचार करता है। किन्तु अभिलषित की प्राप्ति होने के पश्चात् फलागम मे तथा नियत के विद्यमान रहने मे कई प्रकार के संकट आते है, जिन्हे नायक साहस, धैर्य और शूर-वीरता के साथ पार कर वास्तविक रूप मे विलासवती को प्राप्त कर विद्याधरो का राजा बनता है। इस प्रकार कार्यावस्थाओ की सहायक प्रकृतियो तथा सन्धियो का भी पूर्ण सन्निवेश इस रचना मे लक्षित होता है।

प्रस्तुत काव्य की कथावस्तु अन्य कथाकाव्यों की भाँति वर्णनो मे न उलझकर एकाएक आरम्भ हो जाती है। नायक के जीवन मे बाह्य सघर्ष और आन्तरिक संघर्षों की मुख्यता होने से घटनाओ मे कई मोड़ दृष्टिगोचर होते है, जिनमे कथानक आकस्मिकता के साथ गतिशील दिखाई पड़ता है। घटनाओ के उठाव मे वातावरण तथा संयोग का अद्भुत सामंजस्य है। घटनाएँ धीरे-धीरे आगे बढती हुई उग्र होती जाती है, जिससे कथा में जहाँ औत्सुक्य और कौतूहल बना रहता है वही वे अन्त मे चरम अवस्था पर पहुँच जाती है। और विद्याधरो से युद्ध होने पर जय पराजय की स्थिति मे धीरे-धीरे उतार होने लगता है तथा कार्य की प्राप्ति हो जाने पर घटनाएँ सब शान्त हो जाती हैं। अतएव कथा को गति देने वाली घटनाओ का आरम्भ, विकास तथा समाहार भी क्रमशः नाटक, उपन्यास तथा कहानी की भाँति इस कथाकाव्य मे हुआ है।

इस कथाकाव्य में अन्य कथाओं की भाँति कथा धार्मिक वातावरण मे संचरण न कर शुद्ध लोक-जीवन मे प्रवेश करती हुई दिखाई पडती है। अतएव इस कथा पर धर्म या सम्प्रदाय-विशेष का आवरण न हो कर सामान्य कथा का चित्रण है। अन्त मे अवश्य साम्प्रदायिक मान्यताओ का समावेश हुआ है, जो अलग से या ऊपर से चिपकाई हुई-सी जान पड़ती है।

कथा का संगठन जटिल न हो कर सरल है। पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध के लिए घटनाओं तथा कथाओं की अलग से योजना न हो कर पूर्ववर्ती घटनाओं का ही उत्तरार्द्ध से पूर्ण लगाव है। इन घटनाओ को, जिन में एक के बाद एक कड़ी जुड़ती जाती है तथा आधिकारिक कथा के साथ वस्तु रूप मे जो बहुत दूर तक चलती हैं, दशरूपककार ने 'पताकाकथा' नाम अभिहित किया है।[१] विनयंधर तथा विद्याधरो की घटनाएँ ऐसी ही है, जो अन्त तक कथा के साथ चलती है। किन्तु वस्तुतः वह पताका न हो कर प्रकरी है।[२]

इस प्रकार कथानक में प्रवाह और गतिशीलता है। कही भी उखड़ापन लक्षित नही होता। और न घटनाएँ कथा की प्रगति में बाधक हैं। बीच-बीच में वर्णनो के उचित समावेश से जहाँ कथा में रोचकता आ गयी है, वहो काव्यात्मक सौन्दर्य भी निखर उठा है। अतएव प्रबन्ध-रचना मे अपभ्रंश के कथाकाव्यो में यह एक उत्कृष्ट रचना है।

अपभ्रंश के प्राय सभी प्रबन्ध काव्यो मे साहित्यिक रूढ़ियों का पालन देखा जाता है। किन्तु आलोच्यमान कथाकाव्य मे अन्य प्रबन्धो की अपेक्षा काव्य-रूढ़ियाँ कम है। ग्रन्थ के प्रारम्भ मे चौबीसी-वन्दना, पंच परमेष्ठियो को नमस्कार तथा सरस्वती की वन्दना है। फिर, सज्जन-दुर्जन-वर्णन के अनन्तर वस्तु का वर्णन आरम्भ हो जाता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि प्रबन्ध के अनुबन्ध मे ग्यारहवी शताब्दी तक अपभ्रंश के कुछ प्रबन्धों पर प्राकृत काव्यो का प्रभाव बना हुआ था। अतएव कवि ने न तो आत्म विनय ही प्रकाशित की है और न पूर्व कवियो का स्मरण किया है। गुरु-परम्परा का उल्लेख करते समय अवश्य लेखक ने अपने को जड़मति कहा है।

यह काव्य तीन हजार छह सौ बीस श्लोक प्रमाण है।[३] यह ग्यारह सन्धियों में निबद्ध है।[४] इस कथा की रचना भिल्लमाल कुल के सर्वश्रेष्ठ गोपगिरि शिखर पर रहने वाले लक्ष्मीधर शाह के अनुरोध से हुई है।[५] अपभ्रंश के कई काव्यो मे इस प्रकार किसी सेठ-साहुकार या अन्य धर्मप्रेमी सज्जन के कहने से ग्रन्थ-रचना का उल्लेख मिलता है। किसी-किसी काव्य मे उन के गुणो का उल्लेख एवं प्रशसा भी है। अतएव ये सभी कथाएँ सोद्देश्य नियोजित है, जिन्हे कवि ने धर्मकथा नाम दिया है। किन्तु बन्ध-रचना

१ सानुबन्धं पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक्। दूर मदनुवर्तते प्रासंगिकं सा पताका, सुग्रीवादि वृत्तान्तवत्।—दशरूपक, १, १३।

२ वही, १, १३।

३. एसा या गणिज्जती पाएणा णुट्ठभेण छंदेण।
संपुण्णाइं जाया छत्तीससयाइ वीसाइं॥—अन्तिम प्रशस्ति, ८।

४. समराइच्चकहाउ उद्धरिया सुद्धसंधिवधेण—वही, ६।

५. सिरि भिल्लमालकुलगयणचंद गोवइरि सिहरनिलयस्स।
वयणेण साहुलच्छीहरस्स रइया कहा तेण॥—वही, ५।

में ये कथाकाव्य स्पष्ट रूप से संस्कृत तथा प्राकृत के प्रबन्धकाव्यों के अनुरूप हैं और वस्तुरूप में लोककथाएँ हैं। प्रबन्धकाव्य की इस रचना में कार्य-कारण योजना, घटनाओं को मोड़ों के अनुकूल विस्तृत और संक्षिप्त बनाना तथा गतिशील बनाये रखना और रसाभिव्यंजना आदि से अन्त तक परिव्याप्त लक्षित होती है। वि० क० में प्रबन्ध-रचना के ये सभी तत्त्व एवं गुण निहित हैं।

वस्तु-वर्णन

आलोच्यमान कथाकाव्य में वस्तु-वर्णन के अन्तर्गत नगर-वर्णन, समुद्र यात्रा-वर्णन, उद्यान-वर्णन, शकुन-वर्णन, विद्यासिद्धि-वर्णन, मलयगिरि-वर्णन, सागर-वर्णन, बसन्त-वर्णन, गंगानदी का वर्णन, युद्धयात्रा तथा युद्ध का वर्णन और उत्सव-वर्णन आदि मुख्य हैं। ये वर्णन अलंकृत शैली में न हो कर लोकप्रचलित शैली में स्वानुभूति से प्रकाशित हैं। वर्णन प्रवाह पूर्ण तथा प्रसाद गुण से युक्त है। अतएव इन में उक्ति-वैचित्र्य का प्रदर्शन न हो कर वस्तु का यथातथ्य वर्णन स्फीत बिम्बों द्वारा अभिव्यंजित है। किन्तु शब्द-रचना काव्यांगों से समन्वित तथा माधुर्य पूर्ण है। कहीं-कहीं तो भाषा अत्यन्त सरल है।

नगर-वर्णन

इस भारतवर्ष में अत्यन्त सुन्दर श्वेताम्बी नाम की नगरी है। उस में धवल प्रासाद तथा देव-मन्दिरों की पंक्तियाँ लोगों का मन हरने वाली हैं। वहाँ के प्रमुख लोग वाणिज्य करते हैं जो चिर काल से परम्परागत है। उन के भवनों पर लगी हुई ध्वजापताकाएँ पवन से प्रकम्पित होती हुई ऐसी जान पड़ती हैं मानो देव-देवेन्द्रों को बुला रही हों। उस नगर का राजा यशोवर्मा अत्यन्त प्रसिद्ध है।

भरहवासि सुमणोभिराम   वरनयरि अत्थि सेयविय नाम।
स रयज्ज धवलपासाय सोह   देवउलपंति ता तोसिय जणोह।
पमुइय सउन्नज्जण सवणिज्ज   बहु दिवस सहस्सेहिं वन्न णिज्ज।
पवणुद्धय धयपंतिहिं विहाइ   हक्कारइ अमरसमूहु वाइ।
पडिवक्खरुक्खउक्खणिय कंदु   जसुवंमु नामु तहिं नरवरिंदु। (१,३)

उस रथनूपुर नाम के नगर में अनेक प्रकार के मणि और रत्नों की रचना स्फुरायमान हो रही थी। प्राकार सोने के बने हुए थे। जहाँ पर बड़े-बड़े भवन देवताओं के भवनों के समान उज्ज्वल रत्नों के बने हुए थे। सभी लोग धन-धान्य से समृद्ध थे। उस नगर के हाट-मार्ग चौड़े-चौड़े श्वेत-स्वच्छ तथा अत्यन्त मनोहर थे। वहाँ पर गगनचुम्बी देवमन्दिर थे। वहाँ के वन फल-फूलों से समृद्ध नन्दन-वन ही जान पड़ते थे। सरोवर, वापी, कुएँ तथा जलाशय आदि अत्यन्त मनोज्ञ थे। वहाँ के बाग-बगीचों में कामिनी स्त्रियाँ विलास करती थी।

जहिं णाणामणि रयणेहिं समेउ पायारु कणयनिम्मिउ सतेउ ।
जहिं उज्जलरयणविणिम्मियाइं सुरलोयसरिच्छइं हम्मियाइं ।
बहु भंड भरिय संपय सभग्गु रायंति मणोहर हट्टमग्गु ।
रम्मइ विसाल धवलुज्जलाइं गयणग्गविलग्गइं ।
फलकुसुमसमिद्धइं काणणाइं सोहंति नाइ नंदणवणाइं । (८,२६)

मलयगिरि-वर्णन

सनत्कुमार ने अनेक प्रकार के सुगन्धित तरुवरों से युक्त मलय नामक महान् पर्वत देखा। उस मलयगिरि पर इलायची, लौंग, हरफारेवड़ी (लवलीफल), कपूर, अगर, हरिचन्दन, कटहल और सुपारी आदि के पेड़ों में फल शोभायमान हो रहे थे। पल्लव दलों से उन की शोभा और भी अधिक बढ़ रही थी। उस के अन्तरंग में निरन्तर दिनकर का तेज स्फुरायमान हो रहा था। किन्नर जन सुमधुर गान कर रहे थे। मरकत मणि के बने हुए सघन नील तटों पर हरे-हरे विशेष दूर्वांकुर मन हर रहे थे। जल के भरे हुए झरने कलकल कोलाहल कर रहे थे। जड़े हुए शिलातल शोभा भर रहे थे। कहीं पर कपूरी रंग के मृग स्थित थे तो कहीं निर्भय हो कर चौकड़ी भर रहे थे।

अह मलयमहागिरि तेण दिट्ठु णाणाविहु तरुपरिमलविसिट्ठु ।
एलालवंगलवली वणेहिं कप्पूर-अयर-हरियंदणेहिं ।
विप्फुरिय फणस पोफलिफलेहिं उव्वेल्लि वेल्लि पल्लवदलेहिं ।
अंतरिय निरंतर तरणितेउ छलिय महुर किन्नर सुगेउ ।
घणकिरिणनील मरगयतडेसु अविभाविय हरियंकुर विसेसु ।
वज्जंति जत्थ निज्झर जलाइं फरिसेणय फलिह सिलायलाइं ।
कत्थवि थिय कप्पूरिय कुरंग उब्भड भमंति निब्भय सुयंग । (६,१)

सरोवर-वर्णन

नारी-समूह की भाँति जहाँ भौंरे परस्पर गीत गा रहे थे, निःशब्द सुअर क्षोभित हो रहे थे और मनोहर कमल-नाल शोभित हो रहे थे, गजेन्द्र के झुण्ड के झुण्ड डोल रहे थे तथा उन्मत्त रोहित मत्स्य चल रहे थे, सुन्दर सारस पक्षी शब्दायमान हो रहे थे और मगरमच्छ पानी के भीतर से उछल रहे थे, जहाँ विशाल नीले कछुए तथा नाके चंचलता से तिर रहे थे और चारु चक्रवाक स्फुरायमान हो रहे थे तथा झड़ते हुए केशर के पत्तों से व्याप्त था ऐसे उस महासरोवर को देखा।

भमररवे पारद्द गीययं मिलिउ नाइ नारी समूहयं ।
निव्वोल कोल खोहियं भमंत मत्त-रोहियं ।
रसंत कंतसारसं रमंत नीर माणुसं ।
सुउच्छलंत मच्छयं विसाल नील कच्छयं ।
विलोललोलनक्कयं फुरंत चारु चक्कयं ।
खुडंत पत्त केसरं पलोइयं महासरं । (५,१५)

विमान-यात्रा का वर्णन

मित्र वसुभूति तथा परिवार के लोगों के साथ सनत्कुमार विमान में बैठ कर विद्याबल से युक्त हो कर चल पड़ा। वह कंचन तथा मणि से निर्मित सिंहासन पर बैठा। ऊँचे स्वर में बन्दीजन शुभ गीत गा रहे थे। सोने के चमरदण्ड डुलाये जा रहे थे। कमलों की भाँति समस्त योद्धा प्रसन्न एवं विकसित थे। सुन्दर विद्याधर-विलासिनी स्त्रियाँ मधुर कण्ठ से गीत गा रही थीं। तूर्य की शब्द-ध्वनि आकाश मण्डल में व्याप्त हो रही थी। विद्याधरों की सकल सेना गगन-मार्ग में फैल रही थी। खबखब करते हुए घोड़े दौड़ रहे थे। गुलगुलाते हुए मदोन्मत्त हाथी चल रहे थे। विविध प्रकार से क्रीड़ाएँ करते हुए वीर आगे बढ़ रहे थे। अनुकूल पवन से प्रेरित हो कर विमान आकाश में चल रहे थे।

वसुभूइपमुह परिवारसारु आरुहिउ विमाणि सणकुमारु।
अज्जियवल विज्जसज्जिस विसिट्ठु कंचणमणिसीहासणि निविट्ठु।
उद्दंड सुपंडर पंडुरीउ उद्दामसद्द वंदिण सुगीउ।
चालिय चामीयर चमरदंडु वियसिय असेसु भडकमलसंडु।
विज्जाहर ललिय विलासिणीहिं गाइज्जमाणु कलभासिणीहिं।
तूररवबहिरिय गयणमग्गु अवकलिय विज्जाहरवलसमग्गु।
पसरंतु गयणमंडल विसाले चल्लिउ रहनेउर चक्कवाले।
धावंति तुरंगम खवखवंतु मयमत्तमहागय गुलगुलिंत।
विविहा करयरिय सरीर वच्चंति वलंत खलंत वीर।
अणुकूलय पवण परिपेल्लियाइं गयणेण विमाणइं चल्लियाइं। (८,२५)

राजमन्दिर का वर्णन

उस प्रमुख राजमन्दिर की विविध भूमियाँ सोने की बनी हुई थीं। अनेक रत्नों से वे प्रकाशमान हो रही थीं। ऊँचे-ऊँचे एक जैसे मन्दिर अत्यन्त शोभायमान थे। वे इतने ऊँचे थे कि कालागुरु का धुँआ मेघ से मिल कर ऐसा सोहता था मानो मोतियों के हार के रूप में सुन्दर तारे हों। वह ऐसा छा जाता था मानो विमल जल-धारा बरस रही हो। मधुर तथा सुखकारक बाजे बजते हुए ऐसे जान पड़ते थे मानो बाणों के संपतन से उत्पन्न हुआ निर्घोष हो।

तं कणयविणिम्मिउ बहुविहि भूमिउ।
णाणारयणुज्जोवियं उत्तुंगु सुसोहणु मंदिरसरिसु पलोइयउं।
(८,३२)

मिलिय बहलकालायरुधूमेण छाइउ मेहइ संदोहेण।
मोत्तिय हारु सरीहिं सुतारेहिं वरिसइ नाइ विमलजलधारेहिं।

वज्जिय मुक्क महुरनिग्घोसहिं गज्जइ नाइ जणियब्भिसिहि तोसेहिं ।
पंचवन्नमणिकिरणहिं नावइ सुरवइघणुय गयणे उट्ठावइ । (८,३३)

चमकती हुई स्वर्ण-पताकाएँ झिलमिलाती बिजली ही जान पड़ती थीं। पाँच रंगों की मणियों की किरणें आकाश में निकलते हुए इन्द्रधनुष की भाँति जान पड़ती थीं।

युद्धयात्रा-वर्णन

सनत्कुमार सुसज्जित विमान में वसुभूति तथा सेना के साथ चल पड़ा। अनेक प्रकार के बाजो के बजाये जाने से नभतल भर गया था। समस्त बाजों के एक साथ बजने से ऐसा जान पड़ता था मानो ब्रह्माण्ड ही फूट कर उछल पड़ा हो अथवा युद्ध देखने के लिए मानो देवताओं को ही बुलाया हो। अनुकूल पवन से प्रेरित उड़ती हुई ध्वजा-पताकाओं तथा गर्व से उन्नत उद्भट भटो से युक्त विमान आकाशमार्ग में चले जा रहे थे। विशेष रूप से विजय को सूचित करने वाले शुभ शकुन हो रहे थे। कुछ विद्याधर श्रेष्ठ तथा विशाल गजों पर आरूढ़ थे। कुछ चंचल घोड़ों पर सवार थे। अन्य सिंह और वानर की सवारी पर सवार थे। उत्तम देवों की भाँति समस्त सैनिक चले जा रहे थे। सभी आनन्दित थे। वे उत्कृष्ट सिंहनाद कर रहे थे। कुमार का जय-जयकार घोषित कर रहे थे। सुगन्धित पुष्पों की वृष्टि हो रही थी। सम्पूर्ण महीमण्डल को देखते हुए चले जा रहे थे।

आऊरइ नहयलु सरिमएम घनिवोण तहिं वंसहं इय वज्जइं बज्जियइं असेसहं ।
फुट्टउं नं वंभडु उच्छलियउ तूरारउ न रणदंसण कज्जाहूउ देवहं हक्कारउ ।
ता दिसि समुहुं दोलिर धयालइं उब्भिय उब्भड चिन्धयाइं ।
अणुकूल पवण परिपेल्लियाइं गयणेण विमाणइं चल्लियाइं ।
जयसूयग सउण महा विसेसु चल्लिउ विज्जाहर बलु असेसु ।
विज्जाहर केवि महागएहिं आरूढ केवि चंचल हएहिं ।
अन्ने पुण सीहहि वानरेहिं सत्थत्तु गयणु जिह सुरवरेहिं ।
सव्वहं सुहडहं आणंदु जाउ उक्कुट्ठि करहिं तह सीहनाउ ।
कुमरहु जयसद्दु सुरेहिं घुट्ठु सुसुयन्धहं कुसुमहं वरिस वुट्ठु ।
पेच्छंतउ महिमंडलु असेसु नयरावर पुरपट्टण निवेसु ।
(७,२१-२२)

सागर, सरिता, सरोवर, निर्झर, ग्राम, पर्वत, गोपुर और गोकुल आदि को छोड़ते हुए वे क्षण भर में सपरिवार विजयार्धपुर में पहुँच गये।

सायरसरिसोत्तइं सरजलाइं गामइं गिरिगोउर गोउलाइं ।
परिचत्तउ गमण परिस्समेण वेयड्ढे पहुत्तउ तक्खणेण ।
अह वेयड्ढतलंमि सपरिवारु आवासिउ खंधावार कमेण नियसिविरंपि नियेसउ । ७,२३

इसी बीच शत्रु-सेना भी आ पहुँची । कुमार की सेना में कोलाहल होने लगा । क्षण भर में भट सन्नद्ध हो गये । कुमार ने अपने हाथ में तलवार धारण कर ली ।

एत्थंतरि आइउ परबलंति कुमरहु बल सयलुव सलवलंति ।
भय समरभेरि सुगहिरसरेण संन्निहिय सुहड सव्वेवि खणेण ।
ता सुपउहर समेलउं परदूसओहु अंगें सहियउ ।
ताहु मुट्ठि मज्झि सुकलत्तु जिहु खग्गयणु कुमरि गहिउ । (७,२३) ।

युद्ध-वर्णन

तब क्रोधित हो शत्रु-सेनाएँ एक-दूसरे पर बरस पड़ी । निरन्तर शस्त्रास्त्रों को छोड़ने लगीं । प्रलयकालीन मेघ के समान सम्पूर्ण आकाश मण्डल में फैल गयी । कुछ योद्धा तलवारों से भिड़ गये । हाथी हाथी से और घोड़े घोड़े से युद्ध करते हुए सैनिक लोग एक-दूसरे को ललकारने लगे । एक-दूसरे को लक्ष्य कर सैनिक प्रहार करने लगे । कई भाले की अनी से देह विदारने लगे । जूझते हुए एक-दूसरे को कुछ भी नहीं समझने लगे । छुरी चलाने वाले छुरी धारण करने वालों से तथा पैदल पैदलों से भिड गये । सिर फूटने लगे और सुभट लहूलुहान हो गये । वे ऐसे जान पड़ रहे थे कि मानो वसन्त के टेसू (ढाक) कुसुमित हो गये हों । इस प्रकार आकाश में विद्याधरों का, अन्तराल में गिद्धों का और धरती पर श्रावक (गृहस्थ) मनुष्यों का युद्ध होने लगा । किसी का छटपटाता हुआ माथा फूट गया, किसी की भुजा और किसी का हाथ छिन्न हो कर गिर पड़ा । किसी के सब शस्त्र छिन्न-भिन्न हो गये, बाण चुक गये और छत्र टूट कर गिर गये । शस्त्रों की मार से शरीर छिन्न हो कर तितर-बितर हो गया । ध्वजा-चिह्न छेद डाले गये । और भी अनेक प्रकार से दारुण रण प्रकट हो गया मानो समुद्र का जल गंगा जल के मिलने से क्षुभित हो गया हो ।

ताव रिसवरिसए रिसु भणंति सरवरिसु निरंतरु भड मुयंति ।
पलयब्भघणेहि निरंतरेहिं संच्छाइउ अंबरतलु सरेहिं ।
खग्गप्पहरेमि वडंति केवि उप्पय कालमिग्घाय जेव ।
गयगयहि तुरंगतुरंगमेहिं सच्छाइउ अंबरतलु सरेहिं ।
खग्गप्पहार निवडंति केवि उप्पायकाले निग्घाय जेव ।
गयगयहिं तुरंगतुरंगमेहिं जुज्झंति सुहडसुहडेहिं समेहिं ।
तहि एक्कमेक्कु हक्कारयंति अवरोप्परु कुलु संभालयंति ।
पहरट्ठेय विज्जहर पडंति उट्ठेवि पुणेवि समावडंति ।
कुंतग्गेहिं केवि निभिन्न देह जुज्झंतिहिं तहेव अवगणिय बेह ।
अन्नोन्न केसकनणु करेवि गय पहरण छुरियहिं लग्ग केवि ।
अवहत्थेहिं हत्थेहिं भिडहिं ताव तुहहि सिरकमइं समइंजाव (७,२७)

प्रकृति-वर्णन

प्रकृति-वर्णन में सन्ध्या, रात्रि, वन, उद्यान, वसन्त ऋतु आदि का वर्णन इस काव्य में निबद्ध है। प्रकृति के आलम्बन रूप का ही विशेष रूप से चित्रण हुआ है। उद्दीपन रूप में रजनी का एवं वियोगिनी रूप में तथा हंसी का वियोग-वर्णन दृष्टिगोचर होता है। वस्तुतः हर्ष और विषाद में मनःस्थिति के अनुरूप भावों का चित्रण बिम्बार्थ-योजना द्वारा अभिव्यंजित हुआ है। अतएव यहाँ पर प्रकृति विरह का अंग न बन कर स्वतन्त्र रूप से वर्णित है, जिस में प्रकृति के विभिन्न चित्र शृंखलाबद्ध हैं। उदाहरण के लिए वर्णन है—सिन्दूर के समान रक्त वर्ण का सूर्य अस्तंगत हो गया। मानो आकाशरूपी वृक्ष का प्रणय रूपी फल ही पक गया हो। जब सूरज भलीभाँति डूब गया तब तिमिर-शत्रु की सेना ही मानो दौड़ कर फैल गयी। तमचर की भाँति सूरज अपने देश चला गया। अभी तक दिन रूपी शिखर के ऊपर जो लाली शोभायमान हो रही थी सन्ध्या की उस लालिमा को सूरज के कर-निकरों ने हटा ली थी। गोधूलि की वह वेला ऐसी जान पड़ रही थी मानो तिमिर रूपी विरलकेशों को छिटका कर रवि रूपी पति के विरह में रजनी शोकमग्न हो। आकाश-मण्डल में फैले हुए तारे टूट-टूट कर ऐसे गिर रहे थे मानो रजनी रूपी नायिका के हार के नग ही टूट कर गिर रहे हों। सरोवरों में मुकुलित कमल ऐसे शोभित हो रहे थे मानो मित्रता का निर्वाह कर रहे हों। चक्रवाक युगल विरह के ताप से नष्ट हो गये। अत्यन्त काली स्याही वाले अन्धकार को न सहते हुए दुग्ध के समान धवल चन्द्र का उदय हुआ।

सिंदूरारुणवण्णो दिणयरु अत्थमियउ ।
नहयलरुक्खह नाइ पक्कउ फलु पलियउ।

जाव सूरु अत्थमणु पाविउ ताव तिमिररिवु सेण्णु धाविउ ।
तमचरव्व गय सूर दंसिणा चलिय वासतरु सिरि सहंणिणा ।
सहइ संज्झया रत्तमं परं पहरय निय सूरस्स वंवरं ।
तिमिर केस विरलेवि जामिणी निय नाइ रवि विरहि कामिणी ।
वित्थरंति गयणंमि तारया तुट्ट नाइ निसिनारि हारया ।
सरवरेसु कमलेहिं मउलियं नाइ मित्त परिवण्णु पालियं ।
चक्कवाय जुयलंपि विहुवियं मरुय विरह तावेण विनडियं ।
ना सहयंतु अइकसणतममसी दुद्दधवलु अह उग्गउ ससी । (५,६-७)

उद्यान-वर्णन

उद्यान-वर्णन में प्रकृति का आलम्बन रूप तथा परिगणन-प्रणाली दोनों ही रूप मिलते हैं। प्रबन्ध काव्य में उद्यान के वर्णन में वनस्पति की नामावली देना चिर प्रचलित है। यद्यपि मलयगिरि के वर्णन में भी कुछ वृक्षों का नामांकन है, पर देश और स्थान के भेद से विशेष रूप से स्थानीय पेड़-पौधों की नामावली प्रस्तुत करना आवश्यक

जान पड़ता है। आलोच्यमान कथाकाव्य में इस बात का पूरा ध्यान रखा गया है कि देश, ऋतु और स्थान के अनुसार दृश्य तथा वातावरण का स्पष्ट चित्रण हो। अतएव सुन्दर वन के वर्णन मे दक्षिण भारत मे उत्पन्न होने वाली वृक्षावली का उल्लेख किया गया है। उस वन मे अशोक, आड़ू, आम, आमला, सेमल, केतकी, उदुम्बर, कसेरु, करंज, खजूर, जामुन, नारंगी, सुपारी, कंकोल, पीलु, ढाक, मौलश्री, मुचकुन्द, चन्दन, तेंदु, सलई, बहेड़ा, ताड़, अनार, शिरस, सीसम, शमी (छोंकर), तमाल, ताल, शाल, एरण्ड, पाटल आदि वनस्पतियाँ, फूल-फल तथा वृक्ष थे।

सुन्दरवणु नामेणं उज्जाणु रवन्नउं दिट्ठुं दाहिवि तेहिं आसम आसन्नउं।
जहिं अणेय पायवा नि सिइसूर आयवा।
असोयआरुआमला अंबाडासंबिसिवला।
कयवउं वउंवरा कसेरु किंपिकेसरा।
करंजखज्जखंजणा रिउंजमुंजअंजणा।
नग्गोहसिग्गगंगया नारंगपूगनागया।
कक्कोलकेइकचणा धवालिवाहधम्मणा।
पीयालपीलुपिप्पला पलासकवलिवंजुला।
मायंदकुंदचंदणा कयदुतिट्ठवदणा।
अंकोल्लविल्लिमल्लिया वहल्लसल्लईलया। इत्यादि, (५, ४)

इस वर्णन मे कुछ वृक्ष उत्तर भारत के भी जान पड़ते हैं। जैसे शाल और देवदारु वृक्ष विशेष रूप से हिमालय पर तथा उस के निकट उत्पन्न होते हैं। किन्तु मलय गिरि पर उत्पन्न होने वाले इलायची, लौंग, कपूर, अगर और हरिचन्दन आदि का वर्णन (६, १) दक्षिण भारत की ही उपज है। वस्तुत. प्रबन्धकाव्य मे प्रायः सभी प्रकार के फल-फूलो, वनस्पतियो तथा पेड़-पौधों का वन-वर्णन के अन्तर्गत नाम गिनाने की एक रूढ़ि ही चिर प्रचलित है। प्रकृति-वर्णन में सन्ध्या, सूर्योदय, चन्द्रोदय, प्रभात आदि के कई छोटे-छोटे स्थल इस काव्य मे दृष्टिगोचर होते हैं। इन में प्रकृति का आलम्बनात्मक रूप ही प्रकट हुआ है। उद्दीपन रूप मे प्रकृति वर्णन वि० क० मे ही नही स्वतन्त्र रूप से अपभ्रंश के कथाकाव्यो मे भी नही मिलता। यद्यपि कही-कही प्रकृति विरह का अंग बन गयी है, किन्तु उस मे वियोग की मादकता न हो कर वियोगावस्था का संकेत मात्र है। इस से ज्ञात होता है कि प्रकृति का उद्दीपन रूप मे संश्लिष्ट प्रकृति-वर्णन परवर्ती विकास है। प्रकृति-वर्णन मे प्रस्तुत वर्णन मुख्य हैं, जो कथाकाव्य मे विशिष्ट रूप से प्रयुक्त हैं—वसन्त-वर्णन, समुद्र-वर्णन, मलयगिरि-वर्णन और सरोवर-वर्णन तथा उद्यान एवं वन-वर्णन इत्यादि।

ऋतु-वर्णन

उद्यान के वर्णन मे छहो ऋतुओ की शोभा का वर्णन प्रस्तुत काव्य मे चित्रित है। यद्यपि महाकवि कालिदास के 'ऋतुसंहार' मे षड् ऋतुओं का स्वतन्त्र रूप से वर्णन

मिलता है, पर प्रबन्धकाव्य में यह प्रवृत्ति प्राकृत और अपभ्रंश कथाकाव्यों में मिलती है। हिन्दी के प्रबन्धकाव्यों में यह परम्परागत सामान्य प्रवृत्ति लक्षित होती है। सनत्कुमार मित्र वसुभूति के साथ गृह-उद्यान में गया। उन दोनों ने वहाँ भली प्रकार भ्रमण किया। वहाँ बड़ी चहल-पहल थी। सब पेड़-पौधे फूले हुए थे। भौरे सदा गूँजते रहते थे। वह बगीचा बहुत बड़ा तथा मनोहर था। रोमांचित तिलक और अशोक के वृक्ष तथा सिन्दुवार की मंजरियाँ वसन्त की शोभा को भर रही थीं। चमेली ग्रीष्मकालीन सुगन्धि को फैला रही थी। केतकी पावस के रूप में महक रही थी। मदहीन हाथी की भाँति मदजल की सुगन्धि के समान शरद् सप्तच्छद के साथ महक रहा था। पीली मालकांगनी से युक्त हेमन्त पीताभ को भरता हुआ दिखाई दे रहा था। श्वेत कुन्द पुष्पों के रूप में दिशाओं में धवलिमा फैलाता हुआ शिशिर शोभायमान हो रहा था। इस प्रकार अनेक प्रकार के फूलों के वेश में छहों ऋतुएँ शोभा भर रही थीं।

अह ते गय भवणुज्जाणे दोवि आढत्त भमेवि तहिं सव्वओवि।
तत्थ वेढि कलकय दोहलेहिं कुसुमिय असेस तरुमंडलेहिं।
छप्पेविउ निवसहिं सव्वकालु उज्जाणु मणोहर तं विसालु।
पढमंचिय तिलयासोय जंतु तरुय सिंदुवारु मंजरिय वसंतु।
गिण्हु वि मल्लिय परिमलु वहतुं पाउसु कयवासिय दियतुं।
पुणु गयमय गय गन्ध सरिच्छएहिं सरउ वि सहिउ सत्तच्छएहिं।
पिंजरपियंगु मंजरि विसिट्ठु वहु रोय गत्तु हेमंतु दिट्ठु।
उदाम कुंद धवलिय दिसोह सिसिरो विहु पीयण जणिय सोह।
आनवि नाणाविह कुसुमवेसु कुमरेण पलोइय तरु असेसु। (१,२१)।

गंगा नदी का वर्णन

पुरजनों के साथ वह क्रीडा के निमित्त गंगा नदी के किनारे पहुँचा। नदी में तरगें हिलोरें ले रही थीं। हंस और चकवों से युक्त वह अत्यन्त रमणीय जान पड रही थी। पति और पत्नी दोनों ही विलासपूर्वक हास-परिहास करते हुए वहाँ स्थित हो गये। उन दोनों ने उस नदी में हंस और हंसिनी के जोडे को देखा। हंस और हंसी आपस मे एक-दूसरे के मुँह को टकटकी लगा कर देख रहे थे।

नाणा उवगरणेहिं संगयाइं रमणीयतीरे गंगहे गयाइं।
हल्लंततरंगेहिं हंसरहंगइं तहिं रमणीय लयाहरइं।
दोण्णिवि सविलासइं वड्ढियहासइ ठियइं तुम्हे जिह मयणरइ।
मयणाहिगन्धु ससहरु पहक्कु नवघुसिण विलेवणु तुम्ह ढुक्कु।
अवरोप्पर हसिय रायणाइं मुहकमल निवेसिय लोयणाइं।
(११,१४-१५)

समुद्र-वर्णन

समुद्र का वर्णन दो स्थलों पर हुआ है। वर्णन में प्रवाह तथा भावावेग पूर्णतया लक्षित होता है। वस्तु-वर्णन लोक शैली में एवं अनुभूतिजन्य है। अतएव अलंकृति का चमत्कार न हो कर भावानुभूतियों का सटीक चित्रण ही इस की विशेषता है। वर्णन है—कहीं पर चंचल तरंगें नाच रही थी। कहीं पर मगर और घाघ प्रकाशित हो रहे थे। कहीं पर मच्छ पूँछें उछाल रहे थे और कहीं पर उन के उछलने से शोभा बढ़ रही थी। बडी-बडी लहरें कोलाहल कर रही थीं। कहीं पर हाथी सूँड़ो से पानी उडेल रहे थे। चित्र-विचित्र सीपियाँ मोतियों के रूप में स्फुट हो रही थी। कहीं पर मूँगे खण्डित हो रहे थे। कहीं पर चंचलता से बहने वाले शंख-कुलों का दलन हो रहा था और कहीं पर विषधर विष की फुंकारें छोड़ रहे थे।

....	कत्थवि तरलतरंगिहिं नच्चइ।
कत्थवि मयरघाय अप्फालिउ	कत्थवि मच्छपुच्छ उच्छालिउ।
कत्थवि उच्छल्लिउ उल्लिर्लिहिं	हल्लाविउ महल्ल कल्लोलिहिं।
कत्थवि जल करिदंत वि कत्तिउ	फुडिउ सिप्पि मुत्ताहल लित्तउ।
कत्थवि मुसुमूरंतु पवालइं	कहिंवि दलंतु लुलिय संखउलइं।
कत्थवि विसहरु विसवज्झारहिं	ओसारिउ सुदूरज्झंकारहिं। (३,१)

मुनिवर के समान सागर दिखाई दिया। बड़ी-बड़ी कल्लोल मालाओं से वह व्याप्त था। लहराते हुए शंख किनारे पर शोभायमान हो रहे थे। कहीं पर उठते हुए फेनों से तट धवल हो रहे थे तो कहीं पर हाथी जूझ रहे थे। कहीं पर जलमानुस मोती बीन रहे थे और कहीं पर अत्यन्त क्रोधित हो विषधर विष छोड रहे थे। कहीं पर बडे-बडे मच्छ उछल रहे थे और कहीं-कहीं मगर तथा घाघ प्रकाशमान हो रहे थे। कहीं पर बढ़िया मूँगे बिलकुल लाल दिखाई पड़ रहे थे और कहीं पर लहरियाँ तटवर्ती पेड़ों को चूम रही थी। कहीं पर भिन्न वर्ण वाले जल का संगम हो रहा था तो कहीं वडवानल प्रज्वलित हो रहा था और कहीं पर अनेक प्रकार के रत्नों की किरणों से जल रंजित हो रहा था।

....	मुणिवर सरिसउ सायरु दिट्ठउ।
तं च सुमहल्ल कल्लोलमालाउलं	विउल विलुलंत संखउल वेलाउलं।
कहिंवि उद्दरं डिंडीर पंडुर तडं	कहिंवि जुज्झंत संघडिय जलकरिघडं।
कहिंवि मुत्ताहलालुइ जलमाणुसं	कहिंवि गुरु रोस पमुक्क विसहरविसं।
कहिंवि परिहुच्छमच्छेहिं उच्छालियं	कहिंवि गुरुमयरकर घाय अप्फालियं।
कहिंवि आरत्त दीसंतए वर विद्दुमं	कहिंवि लहरीहिं लहल्लंत तीरद्दुमं।
कहिंवि उट्टंत जावत्त अह दुग्गमं	कहिंवि अन्नेन जलवन्ननह संगमं।
कहिंवि जालावली जलिय वडवानलं	कहिंवि बहुरयणकिरणेहिं रंजिय जलं।
एरिसं तीर परिसंठिया सायरं	गरुय अच्छरिया पेच्छमि रयणायरं।५,१।

वसन्त-वर्णन

भविसयत्तकहा की भाँति विलासवईकहा में भी वसन्त-वर्णन में लोक-जीवन की झाँकी ललित पदावली में चित्रित है। ऐसे वर्णनों में श्रुति, नाद तथा लय एवं यति का मधुर समन्वय अपभ्रंश-काव्यों की निजी विशेषता है। वसन्त का वर्णन है—इसी बीच वसन्त के आगमन से लोगों में विलासपूर्ण चेष्टाएँ उत्पन्न हो गयीं। अविवेकी जनों के लिए कामविकार आनन्दकारक हो गया। मानिनी स्त्रियों के मान का दलन करने वाला सुगन्धित मलय पवन बहने लगा। सकल वन-उपवन विकसित हो गये। पथिकों के मन अनुरंजित होने लगे। प्रत्येक घर के द्वार पर वन्दनवार शोभित हो गये। कामिनी स्त्रियाँ कलापूर्ण क्रीड़ाएँ करने लगी। विविध हाव-भावों से प्रेम का प्रसार करने लगी। हर्ष से भरे हुए युवक विचित्रतापूर्ण चाँचर खेलने लगे। सभी देवकुल के लोग पंचम राग में संगीत की तान छेड़ने लगे, गीत गाने लगे। केशर की बगियाँ खिल गयी। पाटल कुसुमों ने लोचन प्राप्त कर लिये। वन मे चारों ओर मदन-पति का साम्राज्य फैल गया। सरोवरों में कमल-कमलिनियाँ प्रफुल्लित हो गयीं। आम की डालियो पर लटकने वाली मंजरी तथा पिंगल पराग महकने लगा। फूले हुए फूलों से कुंज के कुंज उल्लसित हो गये। वन-उपवनों मे अशोक और बकौली (मौलश्री) फूल गये। मधुर ध्वनि में काहल नामक बाजा बजाया जाने लगा। कुसुमो के भार से तरुवर झुक गये। मदोन्मत्त मधुकर गुंजायमान होने लगे। रक्त वर्ण के रूप में फूलों ने उज्ज्वल वसन धारण कर लिये। किंशुक (टेसू) नये वर के समान दिखने लगे। सिंदुवार डालियों पर शोभायमान होने लगे। पाटलों से झिरता हुआ मकरन्द लोगों को मोहने लगा। माधवी-मण्डप महकने लगा और नीलकण्ठ मन्द ध्वनि मे बोलने लगा।

एत्थंतरि पसरिय बहु विलासु मणहरु संपत्तु बसंतु मासु।
अविवेयलोय आणंदयारु पायडिय विविह कामुयवियारु।
माणिणि जण माणुवि निद्दलंतु पसरिउ मलयानिलु महमहंतु।
वियसंति सयल काणणवणाइं फुड्डंति नाइं पहियमणाइं।
घरि घरि अंदोलय गाणिणीउ कीलंति कलालय कामिणीउ।
पेक्खंति जेत्थु विविहासवाइं पेम्मइं पसरंति पुणप्पदाइं।
दिक्खंति जेत्थु चच्चरि विचित्त खेल्लंति जुवाण पहिट्ठचित्त।
वर पंचमगेयह झुणि पयत्त कीरत्ति सयल देउलेहिं जत्त।
लय पुच्छ मणोहरु वियसिय केसरु पाडल कुसुम सलोयणउ।
महुमासवि मयवइ काणणेव वह गयवइ वह उव्वेवणउ।
जत्थ वियलदल कमल सालिणी सरवरेसु उल्लसिय कमलिणी। (१,७)

विवाह-वर्णन

विवाह का अत्यन्त विस्तृत विवरण इस काव्य में मिलता है। बारात के

प्रस्थान करते समय मंगलाचार किया जाता था। वर को मोतियों से पूरित चौक में बिठाया जाता था। सिंहासन के आगे जल से भरे हुए मंगलकलश रखे जाते थे। दही, चावल और अंकुरित दूब से मंगल पढा जाता था। वन्दीजन गान करते थे। द्वार-चार के समय महिलाएँ आगे रहती थी। वे वर के दोनों कन्धों से मूसल का मुँह छुलाती थीं। दधि, अक्षत और चन्दन से पूजा करती थीं। भाँवर दे कर आरती उतारती थीं। इस प्रकार सब मंगलाचार किये जाते थे। अभिलषित दान दिया जाता था। जलांजलि छोड़ी जाती थी। भीतर द्वार पर पहुँचते ही वर को स्त्रियाँ रोक कर खड़ी हो जाती थीं। वे नेग-चार करती थी। धोती का पल्ला अँगूठे से छुआ कर वे नेग माँगती थी। फिर, जहाँ कन्या बैठी होती थी वहाँ प्रवेश कराया जाता था। वहाँ मंगल-गान गाये जाते थे।

राउलदुवारि संपत्तु जांव महिलायणु अग्गइट्ठियउ ताव।
कियउ वारणइं निउंच्छणाइं जुय खंध मुसलमुह ताडणाइं।
दहिअक्खयचंदण वंदणइं आरत्तियलोणहं भामणइं।
आयारइं सव्वइं तहिं कियइं दाणइं दिन्नइं हियच्छियइं।
चलणेंहि जलण भरिय सुसरावहं संपुडमह दलंतउ।
लग्गउ अनिलवेय करिवहु वावास दुवार पत्तउ॥
अह तत्थ महिलाउ रुंधंति बहुलाउ,
वित्तइं पयविति अंचलेहिं खंचंति अंगुट्ठे लग्गंति नियदाणु मग्गंति।
अह देवि तं हिट्ठु भवणम्मि सुपविट्ठु—(१०,४)

इस प्रकार समूचा वर्णन लोक-जीवन से भरित तथा स्थानीय रूप-रंगों (लोकल कलर्स) से चित्रित है।

रूप-वर्णन

सनत्कुमार ने उस बाला को नयी कमलिनी के समान सुकुमार तथा स्तनो पर झूलते हुए हार से उल्लसित देखा। पूर्ण चन्द्र के समान उसका मुख था। कुवलय (नील कमल) के समान उस के नेत्र थे। अशोक से उन की तुलना की जा सकती है। उस के हाथ स्थल कमल की शोभा को हर रहे थे। उस के चरण अत्यन्त संश्लिष्ट थे। सिर पर लहराते हुए टेढे-मेढ़े घुँघराले बाल क्या थे मानो कमल से भौरे ही मिल रहे थे। इस प्रकार विलासवती-सर्वांग में उत्कृष्ट थी।

सो दिट्ठु तं बाल नवनलिणि सुकुमाल।
उट्ठंत थणहार उल्लसिय सियहार।
संपुन्न ससिवयण सन्निहियट्ठिय मयण।
परे पवक बिंबोट्ठ कंकणेहिं सुपओट्ठ। (१०,५)

स्पष्ट ही उक्त वर्णन मे रीतिशास्त्र का प्रभाव न होकर स्वतन्त्र रूप से छवियों का अंकन है, जिसमे वस्तु का यथार्थ संश्लिष्ट वर्णन है।

भाव-व्यंजना

आलोच्यमान कथाकाव्य में अनेक मार्मिक स्थल हैं, जिनमें विभिन्न स्थितियों में मनुष्य की मानसिक दशाओं का सटीक चित्रण हुआ है। जीवन में सुख की भाँति दुःख भी स्वाभाविक है। किन्तु कभी-कभी ऐसी अप्रत्याशित घटनाएँ घट जाती हैं, जिन की हम पहले कभी कल्पना भी नही करते। सनत्कुमार का पिता से रूठना तथा ताम्रलिप्ति पहुँच कर राजा ईशानचन्द्र का आतिथ्य ग्रहण करना, विलासवती का गोख से सनत्कुमार के कण्ठ में फूलमाल अर्पित करना, दोनों का उद्यान में परस्पर सम्मेलन होना तथा राजरानी से कलंकित हो कर रातोंरात ताम्रलिप्ति छोड़ कर सनत्कुमार का श्रीपुर पहुँचना और वहाँ से प्रस्थान कर सिंहलद्वीप की यात्रा करना, इत्यादि।

सिंहलद्वीप की यात्रा करते समय नौका के भग्न हो जाने पर सनत्कुमार की मनःस्थिति अत्यन्त आकुल-व्याकुल हो जाती है। वह किसी प्रकार काष्ठफलक से चिपक कर जब बहता हुआ समुद्र के किनारे पहुँचता है तो मित्र को न देख कर बहुत चिन्तित हो जाता है। नाना प्रकार के भाव उस के मन में उठने लगते हैं। एक के बाद एक संकटों का पहाड़ देख कर वह अपने कर्मों की गति का विचार करने लगता है। सनत्कुमार मन ही मन में कहता है—विधि का विलास एवं कर्मों की शक्ति अचिन्त्य है। कहाँ श्वेताम्बी नगरी छोड़ कर मैं ताम्रलिप्ति पहुँचा और कहाँ ताम्रलिप्ति से भाग कर इस अपार सागर को लाँघना पडा। कहाँ तो मैं सिंहलद्वीप जाने के लिए प्रवृत्त हुआ। और कहाँ बीच में पोत के फूट जाने से इस अवस्था को देख रहा हूँ। आश्चर्य तो यह है कि सब कुछ चला जाने पर भी मैं आज जीवित हूँ। मित्र वसुभूति के न रहने पर विविध क्लेशों को सहते हुए जीवित रहने से क्या लाभ? हाय सुमित्र, हाय गुणों के सागर, हे वसुभूति! तुम समुद्र में कैसे होगे? हाय, किस प्रकार जल के बीच में रहने का वर्णन करूँ? तुम्हारे बिना मैं शून्य मन से क्या करूँ?

एयइं ताइं जहित्था विहियइं　　विहि विलसियहं अचिंतिय रूवइं।
एह सा कम्महं सत्ति अचिंतिय　　कहिं सेयविय नयरि परिचत्तिय।
कहिं पुर तामलित्ति छड्डेविणु　　कहि अपारु सायरु लंघेविणु।
कहिं हउं सिंहलदीवि पयट्टउ　　अंतराले किहं पवहणु फुट्टउ।
किह अवत्थ एरिस पाविज्जइ　　तो अज्जवि जीविउ धारिज्जइ।
एगोयर सन्निहेण वा—　　कि अज्जवि जीविएण भो एरिस-
　विरहियस्सवसुभूइणा　　　विविह किलेसभाइणा।
हा सुमित्त हा गुणरयणायर　　भो वसुभूइ कत्थमह सायर।
हा किह जलहिहि मज्झवि वन्नउं　　तहं विणु किं करेमि हउं सुन्नउं।

(४,१३-१४)

इसी प्रकार विलासवती के लिए दोने में पानी भर कर लाने पर प्रिया को न देख कर सनत्कुमार के मन में विविध संकल्प-विकल्पों का संचार होने लगता है। पहले तो कुमार यह समझता है कि नयनमोहन पट से आवृत होने के कारण परिहास कर रही है, इसलिए कहता है—हे देवि, हँसी मत करो। किन्तु जब इतना कहने पर भी वह नहीं दिखाई देती तो कुमार का मन आशंकाओं से भर जाता है। अशुभ की सूचना देने वाली उस की बायीं आँख फड़कने लगती है। कुमार का मन दुःखी हो जाता है। घबड़ा कर उस के हाथ से दोना गिर पड़ता है। वह अत्यन्त विषण्ण मन हो कर 'हा देवि' कह कर प्रलाप करने लगता है। उस ने सभी ओर ढूँढ़ा, पर कहीं नहीं मिली। इतने में उसे काला, चिकना और भारी अजगर दिखाई दिया। उस के पास नयनमोहन पट देख कर वह सकपका गया। वह सोचने लगा कि मेरी प्रिया कहाँ चली गयी। उस ने दिन और रात एक कर डाला। बार-बार चिन्ता करने लगा कि आकाश में चली गयी अथवा धरती पर है? उसे गर्मी, सर्दी, दुःख-सुख सब बराबर हो गये। उस के लिए जीवन व्यर्थ हो गया। वह चेतन हो कर भी अचेतन हो गया। वह अकथनीय मूर्च्छावस्था को प्राप्त कर धरती पर गिर पड़ा।

तो जाव न दिट्ठिय तहिं वयणे आसंक पडिय कुमरस्स मणे।
तह फुरिय वामलोयण असुहं उप्पन्न कुमारह चित्ति दुहु।
अववत्तयत्तेणावि बरीयं तं नलिणपत्तु हत्थह पडियं।
पुणु सो अच्चंत विसम्नु मणे तहिं वुन्नवयणु तरलच्छु वणे।
हा देवि देवि देवित्ति गिरो आढत्तु गवेसिवि सो कुमारो।
नय सा कत्थवि लह तेहिं ससहरवयणी वालुय थलिहिं दिट्ठागुरु अयगरवहणी।
ता वेयमाण निवडिय हिमउ तीयवि अणुसारि चल्लियउ।
विट्ठोय तेण तरुयर गहणे अमवणू नाहं निवडिउ भुवणे।
अलिकुलकज्जलघणकसिणतणु विसजलेनितहा सुरवयणु।
सुहु गहिय नयणमोहण परिउ तस्सवि गसणं मियवावडउ।

(५, २४-२६)

इस के पूर्व स्वप्न-दर्शन के अनन्तर की मनःस्थिति इतनी बद्धमूल हो जाती है कि उसे केवल विलासवती ही लक्षित होती है। आलोच्यमान कथाकाव्य में ऐसे कई छोटे-बड़े मार्मिक स्थल हैं, जिन में मनुष्य की भावाभिव्यंजना भलीभाँति अभिव्यक्त हुई है। कथा का नायक सनत्कुमार होने से कवि ने अधिकतर भावों की अभिव्यंजना नायक द्वारा अभिव्यक्त की है। सनत्कुमार से संबन्धित मुख्य स्थल हैं—विलासवती को पाने के लिए चिन्तित होना, मित्र-वियोग, तापसी कन्या को देख कर विलासवती का स्मरण करना, विलासवती का वियोग, संयोग इत्यादि।

वियोग-वर्णन

प्रस्तुत काव्य में वियोग-वर्णन के चार स्थल हैं। पहले में सनत्कुमार मित्र वसुभूति के विरह में विकल हो कर अपने उद्गार व्यक्त करता है। दूसरे में विलासवती की स्वाभाविक मनोव्यथा निबद्ध है और तीसरे स्थल में माता अनंगवती विलासवती के लिए विलाप करती है। उस के उच्छ्वास भारतीय माता के सहज प्रसूत अश्रु-जल से सिक्त हैं, जिन में माँ की ममता अपना यथार्थ रूप सहेजे हुए है। उस के मन में विभिन्न प्रकार के संकल्प रह-रह कर उठते हैं। वह सोचती है कि हाय, मेरी बेटी कहीं नष्ट हो गयी अथवा किसी कुएं में गिर कर मर गयी या कोई दुष्ट ही उसे हर ले गया अथवा वह समुद्र पार कर गयी। हा हा! मेरी बेटी विलासवती, तेरी बुद्धि कैसे फिर गयी? पहरेदारों से संरक्षित होने पर भी तुम कैसे रात में भाग निकलीं? क्या किसी प्रकार चोर के हाथ में पड़ गयी? क्या कोई तुम्हें भगा कर ले गया? हाय! तुम सब शुभ लक्षणों से युक्त थीं। तेरी सुन्दर आँखें मन को सुखदायक थीं। तुम अत्यन्त विनीत और समस्त कलाओं से युक्त थी। हे मधुरवचनी, तुम कहाँ हो? मुझे उत्तर दो।

हाहा कहिं नट्ठिय मज्झ सुया — किं कत्थवि कूवे पडेवि मूया।
किं केणविदुट्ठें अवहरिया — किवा रयणायर उत्तरिया।
हा हा महधीए विलासवइ — किह एह बुद्धि तुहु संभवइ।
कंचुइ आरक्ख समाउलेहिं — किह रयणिहिं विवय राउलेहिं।
किं कत्थवि चोरहं पिडिपडिया — किं कत्थवि गत्थहि तुहुँ दडिया।
हा सव्वसुलक्खणे हा सुहए — विणयहनिहि सयलकलानिलए।
हा महुरवयणि केनाविलया — पडिवयणु देहि तुहु कत्थ गया। (९,२७)

चौथे स्थल पर माता पुत्र सनत्कुमार के लिए विलाप करती है। माँ पुत्र के गुणों का स्मरण करती हुई भाव-भीने स्वरों में फूट पड़ती है। वह कहती है—ताम्रलिप्ति में घटित तुम्हारे अशुभ वृत्त से सभी शोक-सागर में डूब गये। राजा और दोनों रानियाँ मूर्छित हो गयीं। हे मेरे सलोने होनहार पुत्र, हाय विचक्षण! मुझे अपना मुँह दिखलाओ। हाय! सुविनीत, देवगुरु वत्सल और सरल छलरहित तुम अभिमान के मेरु हो, पर गुणों के सागर हो। हाय पुत्र! तुम तो विवेक-रत्नाकर हो। तुम्हारा शरीर कोमल, सुन्दर भुजाएँ युद्ध में शत्रुओं से लोहा लेने वाली हैं। सकल महीतल पर गवेषणा करने पर भी तुम जैसा पुत्र नहीं दिखलाई पड़ता।

हा महुपुत्त सलक्खसलक्खण — हा दिक्खन्नय खाणि वियक्खण।
हा सुविणिय देवगुरुवच्छला — हा सोंडीरवच्छ वज्जियच्छला।
हा अहिमाणमेरु गुणसायर — हा पुत्तय विवेयरयणायर।
हा कोमलसरीर सुललिय भुय, — हा पडिवक्ख सूरयइ संजय।

हा हा मरउं पुत्त तुह नयणहं, आणंदिय सज्जणहं सलोणहं
तुह पडिच्छंदह पुत्त न दीसइ । पुहवी दुजइ सयलु गवीसइ
हा विहि किं तुहु मइं अवरद्दउ जेण पुत्तु देक्खणहं न लद्दउ । (१०,१५)

भविसयत्तकहा में चित्रित भविष्यानुरूपा की भाँति विलासवती भी अपने विरह मे मौन है। वह वियोगाग्नि में तप कर कुन्दन की भाँति निखर उठती है। अतएव उस में मुखरता न हो कर गम्भीरता और व्यथा-वेदना की यथार्थ विवृति हाव एवं अनुभावो मे लक्षित होती है। वियोगविधुरा भारतीय नारी का एक चित्र देखिए—

वह विलासवती कई विद्याधरियों से घिरी हुई थी। मुख-कमल को वह बाँयें हाथ की हथेली पर रखे हुई थी। मोतियों के समान बड़े-बड़े आँसुओं को बहा रही थी। भोजन-पान का त्याग कर दिया था। उत्तर मे सदा मौन रहती थी। विविध अस्त्र-शस्त्रों को धारण किये हुए अनेक विद्याधरो से वह रक्षित थी।

सा वेड्ढिय बहु विज्जाहरीहिं ।
मुहकमलु वाम करयले वहंति मुत्ताहल सम अंसुय मुयंति ।
परिचत्त पाणभोयण विहाण अच्छइ अदिन्न पडिवयण ताण ।
सन्नाह विविह आउह धरेहिं रक्खिज्जइ बहु विज्जाहरेहिं । (७, ९-)

हंसी का वियोग-वर्णन

आलोच्यमान कथाकाव्य में हंसी का वियोग-वर्णन अत्यन्त मार्मिक एवं अनुभूति पूर्ण है। अपभ्रंश के कथाकाव्यों मे इस वर्णन का निजी वैशिष्ट्य है। कवि की संवेदना मे यह चित्र अत्यन्त स्फीत एवं प्रेरक बन पड़ा है। वर्णन है—वह हंसी विरह की ज्वाला मे संतप्त हो कर छिन मे आकाश मे उड़ती, छिन मे पानी मे डूबती, छिन मे नदी के किनारे पहुँचने की चेष्टा करती, किन्तु रेतीले तट पर बहुत कम घूमती है। शब्द सुन कर मिलने दौड़ती है, पर चकवे को देख कर सोचती है कि भ्रम हो गया। बड़ा भारी शोक होने से वह मरने के लिए निश्चय से तैयार हो गयी। जब वह नदी मे डुबकी लगाती है तो उस के पंखो पर लगा हुआ कुंकुम सब धुल जाता है। कुंकुम का अंगराग धुल जाने से वे दोनो ही परस्पर एक-दूसरे को धवलकाय देख कर पहचान लेते है।

खणे गयणहं उड्डहिं, खणे जले वुड्डहिं विरहजलण संतावियइं ।
खणे तीरलयावणे संकमंति सुरसरिहि पुलिणे विरलइ भमंति ।
निसुणेवि सद्दु एक्कहिं मिलंति पुणु चक्कवाय संकए छलंति ।
तो गरुय सोय अभिभूययाइं हुय वेवि मरण कय निच्छयाइं ।
सुरसरिहि सुत्ति बुड्डंति जांम पक्खालिउ कुंकुमु सयलु ताम ।
पेक्खेवि परोप्परु धवल काउ तो दोण्हवि पचमिजाणु जाउ ।
(११, १५-१६)

इस प्रकार संभ्रम की स्थिति में दोनों (हंस और हंसी) विरह के वेग से करुण स्वर में कूकते हैं। उन का खाना-पीना छूट जाता है। और चिन्ता से विकल हो कर मृत्यु का आलिंगन करने के लिए वे तत्पर हो जाते हैं।

तो गरुयविरह वेयण वसेण कूवंति दोवि करुणइं सरेण ।
आहारु न इच्छहिं मरणह वंछहिं खणु अच्छहिं चितावियइं। (११, १९)

विलासवती कथा विप्रलम्भ प्रधान प्रेमकथा काव्य है। इस काव्य मे पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दोनो ही विप्रलम्भ शृंगार से युक्त है। ग्रन्थ का आधे से अधिक भाग वियोग के विभिन्न आवर्त-विवर्तों में आन्दोलित लक्षित होता है। काव्य के आरम्भ से ले कर अन्त तक की घटनाएँ नायक या नायिका की विछोह एवं करुणा से भरी लघु कथाएँ है, जिन मे प्रेमी और प्रेमिका का सच्चा प्रेम निबद्ध है। आलोच्यमान कथा का प्रारम्भ नायक के माता-पिता के वियोग से होता है। सनत्कुमार पिता से रुष्ट हो कर ताम्रलिप्ती नगरी मे चला जाता है। वहाँ उस का प्रेम राजकुमारी विलासवती से हो जाता है। किन्तु प्रेम-संबन्ध पक्का होने के पूर्व ही नायक को वहाँ से भागना पड़ता है और वह मित्र के साथ श्रीपुर पहुँचता है। वहाँ से सिंहल द्वीप के लिए प्रस्थान करता है। किन्तु पोत के समुद्र में भग्न हो जाने से मित्र वियोग का असह्य दु.ख झेलता है। किसी प्रकार दैव संयोग से उस वन में विलासवती का समागम हो जाने पर लौटते समय सार्थवाह के छल से नायक-नायिका पुन. वियुक्त हो जाते है। संयोग से फिर दोनों मिल जाते है। किन्तु नायक के पानी लेने जाने पर नायिका को अजगर लील जाता है और फिर उसे वियोग-व्यथा की अग्नि में तपना पडता है। इतना ही नहीं, विद्याधरो की सहायता से पत्नी को प्राप्त कर लेने पर भी वह अनंगरति से युद्ध करता है और उसे जीत कर विलासवती को प्राप्त करता है। इस प्रकार प्रस्तुत कथाकाव्य की मुख्य कथा विप्रलम्भमूलक शृंगार से ओतप्रोत है।

इस कथाकाव्य में सभी प्रमुख पात्रों को वियोगाग्नि मे तपना पडता है। नायक-नायिका को तो विरह में जलना ही पड़ता है, पर उन के माता-पिता भी वियोग मे आँसू बहाते हुए दिखाई पडते है। यही नही, सनत्कुमार के मुनि बन जाने पर पुरवासी उन के वियोग मे शोकाकुल दृष्टिगोचर होते है। कवि ने उन के भावों की मार्मिक अभिव्यंजना की है।

लोएहिं रुयतेहिं अंसु मुयंतेहि गुण सुमंरतेहिं परियरउ ।
पुरमज्झि विदूहिं जाव जाइं नायरियह दिट्ठिहिं ताव ठाइं ।
जंपन्ति परोप्पर दुक्खियाउ सोएँ नयणंसु फुसंतियाउ ।
हले कीस नराहिव दिक्खलेह कि एरिसु रज्जु न चिर करेइ ।
वेरग्गु कवणु हूयउ इमस्स मणइट्ठु सयलु संपडइ जस्स ।
(११, ३४)

अतएव फल की दृष्टि से विलासवती की प्राप्ति ही काव्य का साहित्यिक प्रयोजन है। किन्तु नायिका की प्राप्ति में विभिन्न संकट आते हैं। नायक संकटों में डूबता-उतराता किसी प्रकार लक्ष्य-साधन में सिद्ध हो पाता है। संकट-काल में नायक वियोग-व्यथा से पूर्णतया पीड़ित दिखाया गया है। इसलिए इस रचना में विप्रलंभ शृंगार मुख्य है।

अपभ्रंश काव्य की ही नहीं भारतीय प्रबन्धकाव्य की यह सामान्य प्रवृत्ति है कि रचना का अन्त सुख मे तथा शान्त रस में होता है। विलास कथा में भी समाप्ति शान्त रस में होती है। किन्तु इस में शान्त रस मुख्य नहीं है। आदि से अन्त तक विप्रलम्भ ही अविरुद्ध गति से संचरित लक्षित होता है।

शृंगार के दोनों पक्षों का उचित सन्निवेश काव्य मे हुआ है। संयोग-शृंगार में—उद्यान मे मिलन, परस्पर दर्शन, विवाह, काम-क्रीड़ा, विहार आदि बातें वर्णित हैं। अन्य रसों में वीर, रौद्र, बीभत्स और भयानक का उचित समावेश है। युद्ध-वर्णन में वीर रस का सुन्दर परिपाक हुआ है। युद्ध के समय तथा अन्य स्थलों पर रौद्र रस की अभिव्यंजना हुई है। इसी प्रकार श्मशान वर्णन में भयानक रस अभिव्यक्त हुआ है।

पत्ताय तत्थ भीसण मसाणे   बहु किलकिलंत वेयालट्ठाणे।
डज्झंति मडय वित्थयि गन्धे   घुरहुरिय घोर सावयवबन्धे। ३,७।

बीभत्स का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

तक्खणे समुक्खिन्न माणुस किवालेण पियमाणि रुहिरासव राहयर सएण।
गयणंपि अट्टट्टहासो नलोहेण   पज्जालयंतीय संजणिय खोहेण।
तिक्खइं दाढाइं बहु हड्ड गब्भाइं   कडयड चावंति डिंभाइं।

भयानक का उदाहरण है—

अइ कसिणदेह नव नाइ मेह   जमपासदीह चलजमलजीह।
गुंजट्ठ नयण विकराल वयण   अइ कुडिल चार सुंकार फार।
दाढा कराल विसमुक्क जाल   कुसिय तिमाय संजमिय बाय।

तथा—

भंभिबेवि भीसणाउ   पज्जलंत लोयणाउ।
दाढा काढि भासुरेहिं   लोलमाण जीहएहिं। (६,३०)

रौद्र रस की अभिव्यंजना दूत के वचनों को सुन कर विद्याधर राजा के मन में तुरन्त होने लगती है। विभावानुभावों से वह भावों को अभिव्यक्त करता हुआ लक्षित होता है। हाव-भावों में क्रोध स्थायी भाव तथा विविध संचारी भावों का सुन्दर समावेश हुआ है।

अप्फालिउ विय भुउ समरसेण हउंत गुरुरोस रज्जंत नयणेण ।
किय भिउडि अइ भीसण बाउगेण रिउ पहर विसमंति अइपरिमुसो तेण ।
उन्नमिउ वच्छत्थलं वाउ निमित्तेण कोपानलेणावि अच्चंत जलिएण ।
अन्धारियं नियमुहं चंड सोहेण उव्वेल्लियं वाहुजुयलं मुहंबारुअहियं । ७,१५ ।

चरित्र-चित्रण

आलोच्यमान कथाकाव्य में एक के बाद एक कई पात्र लक्षित होते हैं। किन्तु पात्रों की भीड़ मे मुख्य पात्र सनत्कुमार और विलासवती दिखाई पड़ते है। इन दोनो का चरित्र ही मुख्य रूप से इस काव्य में चित्रित है। सनत्कुमार कथा का नायक है और विलासवती नायिका। विलासवती की प्राप्ति ही इस कथा का फलागम है। अतएव सनत्कुमार के चरित्र मे नायकोचित गुणों का सन्निवेश हुआ है। नायक और नायिका केवल परस्पर अनुरक्त ही चित्रित नही हैं, अपितु उनमे सच्चे प्रेम की व्याप्ति भी प्रदर्शित है।

सनत्कुमार—सनत्कुमार का चरित्र मुख्यतया राजकुमार युवक का चरित्र है, जिसकी मसें यौवन से भीगी, नयन लाली से आपूरित तथा मन मधुर कल्पनाओं से अनुरंजित एवं प्रेम की प्यास से तृषित है। अतएव प्रथम दर्शन मे ही वह निक्षिप्त मौलसिरी की माला को देख कर स्नेहाकुर से रोमांचित हो जाता है। बार-बार उस का मन रस्सी तुड़ाये हुए घोडे की भाँति काम का अनुगमन करने लगता है। किन्तु वह मित्र के समझाने पर संयम के बांध को न तोड कर सामाजिक मर्यादाओ का पालन करता है। इतना ही नही, वह अपनी इच्छा से बिना विवाह किये समागम के लिए प्रवृत्त नही होता। हाँ, प्रेम को बढाने वाली औपचारिक बातो में वह पीछे नही रहता। और ऐसे ही समय पर उस की व्यवहार-चतुरता का पता लगता है। स्पष्ट ही नायक प्रेमी होने पर भी कामान्ध नही है। अतएव अनंगवती के बुलाने पर वह निर्विकल्प उस के पास जाता है और रानी के द्वारा काम-प्रस्ताव रखने पर वह उस का विरोध करता है। वह उसे समझाता है कि यह अनीति है और बडे लोगों को यह शोभा नही देती है। इसी प्रकार पोत के भग्न हो जाने पर जब वह आश्रम के निकट के वन मे पहुँचता है और वहाँ किसी तापसी सुन्दरी को देखता है तो उस का मन उस पर लुभाता नही है। किन्तु जब उस की छवि मन मे बस जाती है तब वह विचार करता है कि यह विलासवती ही होनी चाहिए। क्योकि मेरा मन उसे छोड़ कर अन्य किसी में नही बिंधा है। यही नही, स्वप्न सुन्दरी का दर्शन होने पर वह कहता है कि उसी विलासवती को छोड कर अन्य कन्या मैं नहीं चाहता और कोई मेरे मन में नहीं है। उस के इस कथन से जहाँ नायक का नायिका के प्रति गाढ़ प्रेम सूचित होता है, वहीं नायक के उदात्त चरित्र पर भी प्रकाश पड़ता है। फिर, अजगर के द्वारा विलासवती के लील

जाने पर सनत्कुमार गले में फन्दा डाल कर प्राणान्त करने के लिए तैयार हो जाता है, जिस से नायक का उत्कृष्ट प्रेम स्पष्ट निर्दिष्ट है।

नायक के चरित्र की दूसरी विशेषता है सहिष्णु तथा क्षमाशील होना। विनयंधर के समझाने पर भी सनत्कुमार रानी के आरोप का प्रतिकार करने के लिए राजसभा में नही जाता है और विनयंधर को राजा के आदेश के पालन की ही अनुमति देता है। वस्तुतः वह दूसरे के दोषों को ढँक कर अपने दोषों को प्रकाशित करने की नीति का पक्षपाती है।

मित्र की राय का तथा मित्र का वह यथोचित सम्मान करता है। मित्र के बिछुड़ने पर वह बहुत ही अधिक दुखी होता है। मिलने पर प्रत्येक कार्य में उसे अपने साथ रखता है तथा बराबरी का स्थान देता है।

सनत्कुमार साहसी तथा वीर है। विद्याधरों से युद्ध कर वह सच्ची वीरता का परिचय देता है। समुद्र में जहाज के फट जाने पर वह साहस नही छोड़ता है। किसी प्रकार काष्ठफलक के सहारे सागर तैर कर किनारे पर जा पहुँचता है। विद्या-सिद्धि करते समय उस के आत्मबल का सच्चा स्वरूप लक्षित होता है। वह सब प्रकार के उपसर्गों तथा विघ्न-बाधाओं को सहन करता है। प्रिया का ध्यान आने पर अपने मन को एकाग्र कर वह समाधि से विचलित नहीं होता।

संक्षेप में, सनत्कुमार धीर-वीर, साहसी, स्वाभिमानी, विवेकी, दूरदर्शी और दयालु है। चोरो को प्रार्थना से पसीज कर वह उन्हें मुक्त कर देता है। किन्तु पिता के द्वारा फांसी पर चढवा देने से वह रुष्ट हो नगर-त्याग कर देता है। इस प्रकार सनत्कुमार मे राजोचित जातीय तथा वैयक्तिक गुणों का अद्भुत समावेश लक्षित होता है।

विलासवती—नायिका विलासवती सनत्कुमार के प्रति सच्चे मन से आसक्त दिखाई पड़ती है। अपने प्रेम-व्यापार के उपक्रम के लिए वह अनंगसुन्दरी दासी को सहायक बना कर सनत्कुमार का पूरा परिचय प्राप्त करती है तथा उद्यान में नियत समय पर उस से भेंट करती है। इस के पश्चात् उस को सेवा में उपहार भेज कर प्रणय-निवेदन करती है। किन्तु सनत्कुमार के इन वचनों पर कि बिना विवाह किये रति-क्रीड़ा में प्रवृत्त नही होंगे, विलासवती भी नायक के वचनों का पालन करती है। वह काम-वेदना की व्यथा को भोग कर भी नायक को समागम के लिए बाध्य नहीं करती। इस से पता लगता है कि विलासवती कामान्ध नहीं थी। दूसरे, वह व्यवहारोचित मर्यादाओं का पूर्णतया पालन करती है। उद्यान में दासी के साथ अकेली न जा कर माता तथा अनेक सेवक-सेविकाओं के साथ जाती है। सनत्कुमार विषयक रति भाव को वह माता से गोपन कर मन ही मन नहीं रखती। भारतीय कन्या का यह विशेष रूप इस रचना में भलीभाँति प्रकाशित हुआ है।

विलासवती के सच्चे प्रेम की परीक्षा उस समय होती है जब यह बात ताम्रलिपी में सर्वविदित हो जाती है कि सनत्कुमार का वध हो गया है। विलासवती तब प्रेम की ज्वाला मे जल कर सती होने के लिए अर्द्धरात्रि के समय श्मसान की ओर अकेली चल पड़ती है। किन्तु तस्करों से लूटी जा कर वह किसी प्रवहण में समुद्र की लहरों पर चलती है और जहाज के फूट जाने पर काष्ठफलक के सहारे समुद्र पार करती है। यहाँ पर नायिका के साहस और त्याग का परिचय मिलता है।

स्वभाव से विलासवती सरल और लज्जालु है। इसीलिए तपोवन मे सनत्कुमार को देख लेने पर भी वह धृष्टता के साथ वार्तालाप न कर बड़ी-बूढ़ी तापसी को उस के पास भेजती है। उस से भी वह तुरन्त न कह कर दूसरे दिन कहती है। इस से उस की मनोवृत्ति तथा शालीनता सूचित होती है।

विलासवती का अन्य रूप पतिव्रता पत्नी का है। वह पतिभक्त तथा अनन्य सेविका के रूप मे चित्रित है। इसी लिए विलासवती सानुदेव सार्थवाह तथा विद्याधर राजा के घृणित प्रस्ताव को ठुकरा कर अपने सतीत्व का परिचय देती है। दो शब्दों में, विलासवती का चरित्र सती सीता या सावित्री के चरित्र के समान है तथा पति के प्रति भक्ति आत्मसमर्पणमूलक है।

अन्य चरित्र

अन्य चरित्र में मित्र वसुभूति, विनयंधर, अनंगसुन्दरी तथा अनंगवती आदि की कुछ चारित्रिक विशेषताएँ देखी जा सकती हैं। मित्र वसुभूति सनत्कुमार का अभिन्न मित्र तथा सहायक है। वह मित्र सनत्कुमार को उचित राय से ही पुरस्कृत नही करता, वरन् संकट काल मे विलासवती के हरे जाने पर वह उस का पता लगाता है और मित्र की भरपूर सहायता करता है। विनयंधर सनत्कुमार के वध से उपकृत हो कर कृतज्ञता ज्ञापित करता है तथा सिंहलद्वीप की यात्रा के लिए पूरी व्यवस्था करता है। इस प्रकार जीवन दान के बदले कुमार का जीवन रक्षित कर कृतज्ञता से उऋण होता है।

उक्त सभी चरित्रों में से अनंगवती का चरित्र कामुक तथा दुराचार से युक्त वर्णित है। अनंगवती के काम-प्रस्ताव का विरोध करने पर रानी हँस कर कह देती है कि मैं ने तुम्हारी परीक्षा के लिए ही यह कौतुक रचा है; वास्तव मे नहीं। इसी प्रकार जब पुत्री के भाग जाने का वृत्त उसे ज्ञात होता है तो वह विलाप करती है और अपने किये पर पश्चात्ताप करती है। वह राजा को भी सच्चा-सच्चा वृत्तान्त निवेदन करती है। यह एक अनुभव की बात है कि जब व्यक्ति किसी भूल पर पश्चात्ताप करता है तो समझना चाहिए कि उस के स्वभाव के प्रतिकूल ही वह घटित हुई है। फिर, सनत्कुमार से मिलने पर रानी उस से क्षमा माँगती है, जिस से उस का सारा दोष धुल जाता है।

अनंगरति का चरित्र अवश्य रावण का चरित्र है, जो बिना युद्ध किये किसी भी प्रकार विलासवती को अन्त तक लौटाने के लिए तैयार नही होता। अनंगसुन्दरी विलासवती की दासी होने पर भी अनन्य सखी और सेविका के रूप मे चित्रित है। वह प्रत्येक कार्य को विलासवती की रुचि के अनुसार तथा ईमानदारी से करती है। इस प्रकार वर्गगत चरित्रों मे सनत्कुमार, विलासवती, अनंगरति तथा अनंगवती के चरित्र हैं, जिनमे वैयक्तिक तथा जातीय गुणों का भी समावेश है, अन्य वैयक्तिक चरित्र ही है।

आदर्श प्रेम की व्यंजना

अपभ्रंश के कथाकाव्यों में तीन प्रकार के प्रेम-रूपो का वर्णन मिलता है। पहले प्रकार का प्रेम युवक नायक और नवयौवना नायिका के विवाह के अनन्तर स्फुरित देखा जाता है। भ० क० और सि० क० में इसी प्रेम का विकसित रूप लक्षित होता है। भविष्यदत्त वास्तविक प्रेम के कारण भविष्यानुरूपा को चतुरता से और सुमित्रा को युद्धपूर्वक प्राप्त करता है। किन्तु जि० क० मे जिनदत्त पुतली के रूप मे चित्रित किसी सुन्दरी के रूप को देख कर उस पर मोहित हो जाता है। उस के पिता चित्रकार को बुला कर सुन्दरी का नाम, पता पूछते है और उसे भेज कर विमलमती को पाने का प्रयत्न करते है। इस मे यद्यपि नायक-नायिका की प्राप्ति के लिए प्रयत्न नही करता है, पर उस की ओर से प्रयत्न होने के कारण पं० रामचन्द्र शुक्ल के द्वारा वर्णित प्रेम-रीतियो मे से चौथी प्रकार की कही जायेगी।[1]

विलासवईकहा मे वर्णित प्रेम-विवाह के पूर्व का प्रेम है, जो संयोग और वियोग के सागर मे उठने वाले विभिन्न आवर्तों से कल्लोलित तथा अन्त मे शीतल मन्द समीर से हिल्लोलित है। विलासवती मधुमास मे उद्यान की ओर जाते हुए मित्र के साथ सनत्कुमार के रूप-लावण्य को गोख में से निहार कर उन पर आसक्त हो जाती है और तुरन्त ही अपने हाथों से गूँथी हुई मौलसिरी की माला उन के ऊपर छोड़ देती है। वह माला सनत्कुमार के सिर के ऊपर जा कर गिरती है। मित्र वसुभूति उसे कण्ठ मे खिसका देता है। सनत्कुमार एक दृष्टि मे विलासवती को देख कर उस पर न्यौछावर हो जाता है। प्रेम की आग धीरे-धीरे दोनों के हृदय मे सुलगने लगती है। मित्र और दासी से दोनों का उद्यान मे साक्षात्कार होता है। एक-दूसरे के प्रति अनुराग प्रकट करते है। कुछ दिनों मे प्रेमोपहार आदि भेजने और स्वीकार करने से दोनो का प्रेम-सम्बन्ध दृढ़ हो जाता है। किन्तु नायक-नायिका के प्रेम-प्रणय को तब तक आत्मसात् नही करता जब तक विवाह नहीं हो जाता। विलासवती भी प्रेमी के वचनो का पालन करती है। इस प्रकार कवि ने विवाहपूर्वक समागम की बात कह कर प्रेम के शुद्ध

१ प० रामचन्द्र शुक्ल : जायसी-ग्रन्थावली, भूमिका, पृ० २६-२७।

रूप को यथार्थ रूप में अभिव्यक्त किया है, जिस से प्रेम में आवेग के साथ ही शुद्धता भी दिखाई पड़ने लगती है। यह कवि की अपनी कल्पना और अनुभूति का मेल है कि उस ने प्रेम के आवेग की तीव्रता को समुद्र की मर्यादा की भाँति लौकिक सीमा मे बाँध कर भी ऐकान्तिक प्रेम की गम्भीरता का परिचय दिया है। और इसीलिए नायक के वियोग मे विकल हो कर विलासवती का आधी रात मे सती होने के लिए श्मसान की ओर प्रस्थान करना, मार्ग में डाकुओं से लूटी जा कर किसी व्यापारी के हाथ लगना और समुद्र मे पोत के भग्न हो जाने पर आश्रम में पहुँचना आदि ऐसी दुर्घटनाएँ हैं; जिनमें नायिका संकट झेल कर भी नायक मे अपने सच्चे प्रेम को प्रकट करती है। नायक भी संकट मे पड कर कष्टों को भोगता हुआ उसी आश्रम के उपवन मे दैवयोग से जा पहुँचता है, पर निराश-सा हो कर अपनी मनःस्थिति को प्रकाशित करता हुआ कहता है—उस विलासवती को छोड़ कर मेरा मन अन्य किसी कन्या को अपनाने के लिए तैयार नही है (सा—य विलासवई वज्जेविणु अन्नहि कन्नहि न रमइ महु मणु) इस से नायक का नायिका के प्रति गाढ प्रेम सूचित होता है। इतना ही नहीं, अजगर के विलासवती को लील जाने पर सनत्कुमार फाँसी लगा कर प्राण-त्याग करने को उद्यत हो जाता है। मलय पर्वत के शिखर से प्रिया को पाने के लिए कूद पड़ता है। विलासवती के हरण हो जाने पर विद्याधरो से प्राणों का मोह छोड़ कर युद्ध करता है। ये सभी घटनाएँ नायिका और नायक के आदर्श और वास्तविक प्रेम को प्रकट करती हैं।

इस कथा के प्रेम-वर्णन मे नायक या नायिका के प्रेम को उग्रता न हो कर दोनो के प्रेम की अतिशय तीव्रता का मेल दिखाई पड़ता है। दोनो ही कई संकटों मे पड़ कर अपने प्रेम-पथ से विचलित नही होते है। एक-दूसरे को पाने का प्रयत्न तथा साक्षात्कार के बाद प्रेमोपहार का आदान-प्रदान एवं वियोग-काल मे काम-व्यथा दोनों मे कवि ने समान रूप से प्रदर्शित की है।

आदर्श प्रेम की इस व्यंजना में कवि ने जिस विशेष बात को चित्रित किया है वह गान्धर्व विवाहपूर्वक नायक-नायिका का समागम है। इस लिए सनत्कुमार का विद्याधरों से संग्राम प्रेमोन्माद के रूप मे न हो कर लोक-कर्तव्य तथा सामाजिक नियमों के अनुरूप हुआ है। रामचन्द्र की भाँति सनत्कुमार अनंगरति के पास अपना दूत भेजता है और पत्नी को वापिस लौटाने के लिए निवेदन करता है। इसी प्रकार युद्ध प्रारम्भ होने के पूर्व स्वयं सनत्कुमार प्रिय वचनो मे उस से निवेदन करता है और उस के उद्धत दर्प को अपनी शालीनता से जीत कर कर्तव्य-विधान का परिचय देता है।

इस प्रकार प्रेम की व्यावहारिकता और यथार्थता का मेल कर कवि ने जिस आदर्श प्रेम की सृष्टि की है वह मनोवैज्ञानिक भूमि पर प्रतिष्ठित हो कर लोक-प्रेम एवं आदर्श रूप से मण्डित है।

संवाद-संयोजना

प्रस्तुत काव्य में कई मधुर संवादों की संयोजना उत्कृष्ट बन पड़ी है। संवाद पात्र, देश, काल तथा वातावरण के अनुसार अनुस्यूत हैं। मुख्य संवाद हैं—वसुभूति-सनत्कुमार-संवाद, अनंगवती-सनत्कुमार-संवाद, विनयंधर-सनत्कुमार-संवाद, मनोरथदत्त-सनत्कुमार-संवाद, तापसी-सनत्कुमार-संवाद, तापस-सनत्कुमार-संवाद, तापस-ऋषि-सनत्कुमार-संवाद, विद्याधर-सनत्कुमार-संवाद, वसुभूति-सनत्कुमार-संवाद, अनंगरति-सनत्कुमार-संवाद, सनत्कुमार-मुनि-संवाद आदि।

इन संवादों में सरलता, स्वाभाविकता, सजीवता और कसावट निहित है, जो किसी भी अच्छे संवाद के विशेष गुण कहे जा सकते हैं। भाषा संवादों के अनुकूल तथा मधुर है। संवाद पढ़ने के साथ ही दृश्य तथा वातावरण से युक्त चित्र आँखों के सामने आ जाता है। यथा—

अंसुपवाहु मुएविणु पुच्छिय कुसलें तुम्ह सरीरि अच्छिय।
अवि अम्हहं पहुणो तुह तायह कुसलु कुमार किंव महरायह।
तात सुकुसलु कुमारि कहियउ मित्त सहिउ निय मंदिरे नीयउ।

संक्षिप्त और विस्तृत दोनों प्रकार के संवाद प्रसंगतः इस रचना में नियोजित हैं। तापसी और सनत्कुमार के संवाद में वह आश्रम में आने की अपनी तथा विलासवती की संक्षिप्त कहानी कहती है, जिस से संवाद बहुत लम्बा हो गया है। किन्तु समूचे काव्य में यही एक स्थल है जहाँ संवाद कथा बन गयी है। कई संवाद बहुत छोटे-छोटे तथा रुचिकर हैं। कहीं-कहीं संवादों के बीच संवाद है। जैसे कि—

"मइं पुच्छिय कवणें कारणेण सा भणइ मयणगह पीडणेण।
मह जंपिउ सुदरि वम्महस्स निज्जिय नीसेस सुरासुरस्स।"
मइं पुच्छिय सुंदरि कहहि मज्झु निव्वेयह कारणु कवणु तुज्झु।
अभणिउ तीए किं अक्खिएण दुक्खेण तस्स सहरिस मणेण।

इस प्रकार वसुभूति उस के और अनंगसुन्दरी के बीच में किये गये वार्तालाप को सनत्कुमार को सुनाता है। इसी प्रकार विनयन्धर राजा की बात को ज्यों का त्यों संवाद के रूप में नाटकीयता के साथ सनत्कुमार को सुनाता है और नैमित्तिक का उल्लेख करता है। कहीं-कहीं सवादों के बीच उपदेश की प्रवृत्ति भी लक्षित होती है। अनंगवती के द्वारा सनत्कुमार के सामने काम-प्रस्ताव के रखे जाने पर सनत्कुमार उसे उपदेश देता है। यथा—

ता मइं तुहु अप्पिउ निय मणेण तुम एव्विय वद्धउं गुणगणेण।
अणुराइं भरिउ सु निब्भरेण पज्जालिउ विरह महाजरेण।
इय चिंतिवि भणइ सणक्कुमारु संकप्पु अविवज्जहि असारु।

जा इह परलोयहिं वि विरुद्ध एरिसु न अंव अणुहरइ तुहु ।
आलोव्वहि निय कुलु अइ विसालु अप्पणउ पेक्खि तुहु सामिसालु ।
परिभावहि तुहु केवडडु नामु अणुचितहिं दारुणु विसयगामु ।

उक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि संवादों में कथनोपकथन की शैली सर्वथा व्यावहारिक तथा शिष्ट है । कवि के वाग्वैदग्ध्य का पता हमें अनंगवती के वचनों में मिलता है । जब वह समझ लेती है कि सनत्कुमार विलासवती का प्रेमी होने पर भी मुझे कर्तव्य की शिक्षा दे रहा है तो तुरन्त कहती है—

एत्थंतरि लक्खिय वयणियाए जंपिउ अणंगवइ राणियाए ।
तहं साहु साहु उल्लविउ एउ उचिउ कुमार तुम्हह विवेउ ।
तुहु रूवु वि सीलु वि अत्थि दोवि तइ सरिसु न दीसइ पुरिसु कोवि ।

इस प्रकार संवादपटुता तथा चरित्रों के अनुकूल संवादों का समावेश संपूर्ण रचना में दृष्टिगत होता है । इन संवादों के माध्यम से स्थान-स्थान पर पात्रों के चरित्रों पर भी प्रकाश पड़ता है । अनंगवती और सनत्कुमार के उक्त वचनालापों से दोनों का चरित्र स्पष्ट हो जाता है ।

इसी प्रकार छोटे-छोटे वाक्यों में मधुर संलाप देखे जाते हैं । संवादो में चुस्ती और भावो की स्पष्ट अभिव्यक्ति सभी स्थलों पर अभिव्यंजित है । इन संवादों को ध्यान से पढ़ने या सुनने पर कथा-कहानी-सा आनन्द मिलता है । उदाहरण के लिए—

तुम्ह निमित्तु अम्हे पट्ठाविय ।
ता अम्हहं पसाउ लहु किज्जइ नंगरियइ पवहणि जाइज्जइ ।
कुमरि जंपिय पाणपियारिय भद्दहो अत्थि दुहज्जिय भारिय ।
ते भणंति को दोसु भविस्सइ चलउ सावि किं भारु करिस्सइ ।

इस प्रकार संवादों में पात्रों की सजीवता स्पष्ट रूप से लक्षित होती है । प्रसंगानुकूल संवादों मे उतार-चढाव तथा भावों की मार्मिकता निहित है । युद्ध के समय भावों में यदि स्फूर्ति और उत्साह है तो विवाह के समय पुलक और आनन्द तथा मुनि-दीक्षा के समय निर्वेद एव वैराग्य । इन सभी प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति संवादों के माध्यम से ही अधिकतर हुई है । उदाहरण के लिए—

अण्णे पुण पभणइ मभण एउ संसार विरत्तउ अम्ह देउ ।
इह लोइ ताव किउ रज्जु सारु एवहिं पुणु इच्छइ भवहु पारु ।

संक्षेप मे, कही-कही संवादों के अधिक लम्बे हो जाने के अतिरिक्त लगभग सभी गुण उक्त संवादों में प्राप्त होते हैं, जिन्हे पढ़-सुन कर सहज ही पता चल जाता है कि संवाद संयोजना में रचनाकार को पर्याप्त सफलता मिली है ।

शैली

अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्य की प्रसिद्ध काव्य शैली कडवक बन्ध में इस कथाकाव्य की रचना हुई है। वस्तुत: कडवक शैली का सम्बन्ध छन्दोनुबन्ध से है। अपभ्रंश के प्राय: सभी प्रबन्ध काव्य सामान्यतः पद्धड़िया में निबद्ध हैं। पद्धड़िया के प्रत्येक चरण में सोलह मात्राएँ होती हैं। हिन्दी की चौपाई-दोहा शैली की भाँति पद्धडिया चौपाई जैसा एक छन्द है और इस के अन्त में भिन्न छन्द की योजना रहती है। इन दोनों की एक साथ रचना को ही सामान्य रूप से 'कडवक' कहते हैं। स्पष्ट ही संस्कृत के काव्यों की भाँति अपभ्रंश के काव्यों में श्लोक या दोहे न हो कर पद्धडियों की रचना देखी जाती है।

विलासवईकहा मे समूचा काव्य-कलेवर पद्धड़िया छन्द तथा कड़वक शैली में निबद्ध है। साधारणतया एक कडवक में छह पद्धड़िया छन्द अर्थात् बारह पंक्तियाँ प्रयुक्त दिखाई पडती हैं। किन्तु किसी-किसी कडवक मे आठ, दस और ग्यारह पंक्तियाँ भी मिलती हैं। इस प्रकार एक कडवक में छह पद्धडिया छन्द से ले कर बारह तक का प्रयोग इस काव्य मे हुआ है। कडवक के अन्त मे भिन्न छन्द का प्रयोग है। किसी-किसी कडवक मे आदि और अन्त मे भी भिन्न छन्द का प्रयोग दिखाई पड़ता है।

काव्य-रचना की दृष्टि से वि० क० की शैली रोचक तथा वैदर्भीवृत्ति से पुष्ट है। अतएव वर्णनो में, संवादों में तथा घटनाओ के उतार-चढाव में विशेष आनन्द एवं स्फूर्ति का अनुभव होता है। रचना-शैली की सब से बडी विशेषता यही है कि पाठक उत्तरोत्तर रस से आप्यायित हो रचना में डूबता जाता है और पढ़ते-पढते अपने आप को क्षण भर के लिए भूल जाता है। भ० क० और वि० क० दोनों ही कथाकाव्य शैली की दृष्टि से उत्तम रचनाएँ हैं।

वस्तुत: प्रस्तुत कथाकाव्य की शैली साहित्यिक है, जिस मे अलंकारो का सहज सन्निवेश, वाग्वैदग्ध्य और शब्द-योजना का सौष्ठव अन्तत गर्भित है। इसलिए भाषा-रचना मे सामासिक पदावली तथा अलंकरणता स्पष्टतया देखी जाती है। भावों को तीव्र बनाने के लिए तथा बिम्बार्थों को उभारने के लिए कहीं-कहीं भ० क० की भाँति मूर्तामूर्त तथा अप्रस्तुत-योजना भी लक्षित होती है। जि० क० भी इसी साहित्यिक शैली की कोटि में आती है।

संक्षेप मे, शैली की दृष्टि से वि० क० साहित्यिक रचना है, जिस मे संवादों की मधुरता, भाषा-सौष्ठव तथा अलंकरणता के बीच पर्याप्त रोचकता है। अतएव काव्य प्रभावाभिव्यंजक एवं माधुर्य गुण से ओतप्रोत है।

भाषा

इस कथाकाव्य मे प्रयुक्त भाषा शौरसेनी अपभ्रंश है। यद्यपि कवि गुजरात का निवासी था—पर उस की भाषा परवर्ती वैयाकरणों के द्वारा निर्दिष्ट भाषा सम्बन्धी

नियमों के अनुरूप है। आ० हेमचन्द्र के नियमों में तथा इस रचना के शब्द-रूपों में अत्यन्त साम्य है। वस्तुतः प्रस्तुत काव्य पर प्राकृत का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है। क्योंकि इसमें प्राकृत के प्रत्ययों तथा क्रियापदों का प्रयोग हुआ है। भाषा में देशीपन भी झलकता है, पर परवर्ती प्राकृत की वाक्य-रचना भी स्पष्ट है। उदाहरण के लिए कुछ शब्द-रूप इस प्रकार हैं—

गत्थु, पील, कुणइ, वहर, तत्ति, दूमिज्जइ, पत्ता, उक्काउ, पहरेमि, उक्कोस, गिण्ह, जंव, तंव, वज्जर, पज्जर, दुगुंछ, कुण, अप्पाह इत्यादि। यद्यपि अपभ्रंश-काव्यों में प्राकृतों की प्रायः सभी विशेषताएँ, शब्द-रूप तथा क्रियाएँ दृष्टिगोचर होती हैं, पर कहीं-कहीं अन्तर भी है। जैसे कि—प्राकृत में प्रायः संस्कृत की 'कथ्' धातु के बदले 'कुण' का प्रयोग होता है, पर अपभ्रंश में 'कह' का। किन्तु वि० क० में कुणइ, खंचइ, मुमुमूरइ, मुरइ आदि ऐसे ही ठेठ प्राकृत के प्रयोग हैं। ऐसे प्रयोगों में से कुछ संस्कृत के तत्सम या तद्भव प्रयोग भी हैं, जो इस प्रकार हैं—

चास (चाषक), पियाल (प्रियाल), सहयार (सहकार), पवहणु (प्रवहण), सन्निह (सन्निभ), निब्भय (निर्भय), एला, लवंग, फणस (पनस), पल्लव, वाण, कप्पूर (कर्पूर), विसिट्ठ (विशिष्ट), तेउ (तेज), काहल, तरल, खय (क्षय), मराल, रउद्द (रौद्र), विवाउ (विपाक), कराल, दाढ (दंष्ट्र), अलय (अलका), परोप्पर (परस्पर), सग्गु (स्वर्ग) और केय (केतु) आदि।

इसी प्रकार क्रिया-पदों पर भी संस्कृत की छाप लगी हुई दिखाई पड़ती है। कुछ क्रिया-रूप निम्नलिखित है—

हय (हत), फुरिय (स्फुरित), विमुक्क (मुक्त), विमुच्चमाण, ताडिज्जमाण, संठुविय (संस्थित), गिण्ह (गृहण), परिणवइ (परिणमते), जाणंति, परिहरहु, अभिभूययाइं, एसा (एषा), वयण (वदन), कप्पिय (कल्पित), जयइ (जयति) आदि।

ज्ञात होता है कि कवि साधारण प्राकृत के अच्छे विद्वान् थे। इस लिए उन की यह रचना प्रौढ तथा कसी हुई है। कहीं-कहीं वाक्य-रचना पर भी प्राकृत का प्रभाव लक्षित होता है। उदाहरण के लिए—

एसा य गणिज्जंती पाएणाणुट्ठभेण छंदेण।
संपुण्णाइं जाया छत्तीससयाइं वीसाइं॥ (प्रशस्ति अंत्य, ८)

रेखांकित प्रयोग स्पष्टतया प्राकृत के है। इसी तरह पूर्वकालिक क्रिया में जुड़ने वाला प्राकृत का पूर्वकालिककृदन्त 'ऊण' प्रत्यय भी कहीं-कहीं प्रस्तुत रचना में दृष्टिगोचर होता है। यथा—पढाविऊण, अवयारिऊण, गिण्हिऊण इत्यादि। उदाहरण है—

करेऊण तो देवया गुरु पणामं तुमलोकडं गिण्हिऊणं च वामं (३,१६)

यद्यपि अपभ्रंश कथाकाव्यों मे सन्धिबहुल तथा समस्त पदावली का बहुत कम प्रयोग मिलता है, पर प्रस्तुत काव्य मे विरल नहीं है। कई स्थलों पर साहित्यिक भाषा तथा समस्त प्रयोगों का उचित सन्निवेश दृष्टिगत होता है। समासबहुला पदावली के कुछ उदाहरण हैं—

लडियतडविडवनिवडंतसडियफला; कुरकारंबकलहंसकोलाहला; कुंचचक्कायसार-सियसदाउला; कुसुममालआमोहयमहुयर; उववणसुंदरकंदररवन्नु; गुरुसिहरनिरुंमियगय-समग्गु, सुमहल्लकल्लोलमालाउलविउलविलुलंतसंखउलवेलाउलं इत्यादि।

उक्त प्रकार की रचना को देख कर कहीं-कहीं बाणभट्ट की कादम्बरी का स्मरण हो आता है। किन्तु सन्धि-रचना मे संस्कृत की भाँति अपभ्रंश में जटिलता नही मिलती और इसी लिए कदाचित् सभी प्रकार की सन्धि-रचना दृष्टिगोचर नहीं होती। अतएव तवोवण, रयणायर, परोप्पर, हारप्पहा, अण्णाणु, कोवानल, सच्चिय आदि सामान्य रचना देखी जाती है। वस्तुतः मणोरह, विज्जासाहणु, हारप्पहा, छायव्व आदि शब्द-प्रयोग संस्कृत से तत्सम या तद्भव रूप में गृहीत हुए है। अपभ्रंश की ठेठ भाषा में उन का चलन नही है।

इस काव्य मे जहाँ प्राकृत तथा संस्कृत के शब्द-प्रयोगों तथा रूपो का समावेश मिलता है, वही सूक्तियों, लोकोक्तियों तथा देशज शब्द-रूपों की प्रचुरता दिखाई पडती है। वि० क० मे प्रयुक्त सूक्तियों मे से कुछ इस प्रकार हैं—

अमिलाण कुसुम समु जोव्वणंपि। (४,१४)
ता दुसहु पेम्मु विससमु विवाउ। (५,७)
उत्तम धम्म परगुरुयण सम्माणिय। (५,१२)
वच्छ लच्छि छायव्व चंचला वंधुमित्त जोगा न निच्चला। (६,१९)
कस्स व सयल मणोरह पूरिय। परिकम्म परिणइ अइरउद्द। (६,२०)

लोकोक्तियाँ—

एक्कहिं दिसि अच्छइ तडु विसालु अन्नहि वि वग्घु दाढा करालु। (२,१४)
—एक ओर नदी है और दूसरी ओर खाई।
जिह सप्पु न मरइ न लट्ठियावि। (२,२१)
साँप भी मरे और लाठी न टूटे।
अहवा खयकालि समुट्ठियाहं उट्ठंतिय पंख पिपीलियाहं। (७,१५)
मरते समय चीटियों के भी पंख निकल आते हैं।

इस प्रकार वि० क० की भाषा मधुर, प्रवाहपूर्ण तथा शब्द-विन्यास में वैदर्भी रीति से युक्त है। भ० क० की भाँति इस काव्य की भाषा प्राकृत से प्रभावापन्न तथा

शास्त्र और लोक के मेल की भाषा है। अतएव एक ओर शास्त्रीय परम्परा का निर्वाह है तो दूसरी ओर लोक में परिव्याप्त वातावरण, उक्तियों तथा देशज शब्दों का भी प्रयोग है। और इसी प्रकार अनुरणनात्मक शब्दों का भी प्रचुर प्रयोग दृष्टिगत होता है।

अलंकार-विधान

भ० क० की भाँति प्रस्तुत काव्य में साधर्म्यमूलक अलंकारों की मुख्यता है। अधिकतर उत्प्रेक्षा, उदाहरण और उपमा तथा लोकोक्ति आदि दृष्टिगोचर होते हैं। अंत्यानुप्रास तथा यमक तो अपभ्रंश-कविता में चित्रों के चौखटे की भाँति जड़े हुए हैं। अतएव प्रत्येक पंक्ति के अन्त में अनुप्रास-योजना या तुक का निर्वाह मिलता है। इसी प्रकार यमक भी देखा जाता है। अपभ्रंश में अन्त में ही नहीं आदि, मध्य और अन्त में तुक का प्रयोग मिलता है। यथा—

> अइ कसणदेह नव नाइ मेह जमपास दीह चल जमल जीह।
> नाही मलंगएहिं घणोहिं पलंबएहिं।
> तो दुम्मुहवलेण सरवरेण चंड सीहवलु न सायरनीर खुट्टिएण (७,२७)

इसी प्रकार भिन्न पंक्तियों के अन्त में तुक दृष्टिगोचर होता है। जैसे कि—

> आहारु न इच्छहिं मरणहं वंछहिं खणु अच्छहिं चिंतावियइं।
> खणे गयणहं उड्डहिं खणे जलि बुड्डहिं विरहजलेण संतावियइं। (११,१५)

कुछ अलंकारों के उदाहरण निम्नलिखित हैं—

> तडतडिय तरलविज्जुल सणेहि नं पलयकालु गज्जिउ घणेहि। (६,२४)
> (स्वरूपोत्प्रेक्षा)
>
> पेच्छवि सिरिजसधम्मु तुहु। किं सग्गु एहु किं असुरवासु
> किं अलय नयरि घणयह निवासु। (सन्देह)
> दिज्जइ न दोसु कस्सवि जणइ पुव्वउ किउ फलु परिणवइ।
> (अर्थान्तरन्यास)
> जिह कुपुरिसु कोवि कयाबराहु संकुडियउ अयगरु हुय सणाहु। (उदाहरण)
> दोण्णिवि किय घुसिण विलित्तयंग जाणंति परोप्पर जिह रहंग। (भ्रान्तिमान्)
> कस्स वि सयल मणोरह पूरिय।
> अहवा खयकालि समुट्ठियाहं उट्ठंतिय पंख पिपीलियाहं। (७,१५)
> (लोकोक्ति)

छन्द-योजना

आलोच्यमान कथाकाव्य में अपभ्रंश के अन्य प्रबन्ध तथा कथाकाव्यों की भाँति पद्धड़ियाबन्ध निहित है। समूचा काव्य पद्धड़िया छन्द में लिखा गया है। कड़वक के

रूप में पद्धड़िया छन्द से जुड़े हुए अन्य छन्द भी मिलते हैं, जो निम्नलिखित हैं—घत्ता, मरहट्टा, आवली, गन्धारी, ललिता, वदनक, विद्युत्, आभाणक, छड्डणिका, ललितक, नवकोकिल, चतुष्पदी, पद्मावती इत्यादि ।

छन्दों की दृष्टि से भी यह रचना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । इस में कई नये छन्द भी मिलते है । पद्धड़िया के अनन्तर घत्ता और चौपाई का प्रयोग ही अधिक हुआ है । चौपाई के कई भेद हैं । चौपाई के भेदों मे से लघु चौपाई, विषम चौपाई और अर्द्धसम चौपाई के भेदो को प्रस्तुत रचना में ढूंढ़ा जा सकता है । छन्दो के लक्षण और उदाहरण इस प्रकार हैं—

घत्ता—यह समद्विपदी छन्द है । इसमे दस, आठ और तेरह पर यति के क्रम से एक पद मे इकतीस और कुल बासठ मात्राएँ होती है[1] । यथा—

तं पउर पयाउलु हरिकमलाउलु रायहंस दियगण पउरु ।
सावएहिं पवन्नउं धरिय सुवन्नउं सरवरकाणण खसु नयरु ॥

तथा

वहु लोहिय सित्तो पहरण जुत्तो तले रणभूमि विहावइ ।
अव्विय विरकमलहिं तोडिय नालहिं जमघरु पंगणु नावइ ॥

मरहट्टा—यह भी समद्विपदी छन्द है । इसके प्रत्येक चरण में उनतीस मात्राएँ होती हैं । छह और बाद की मात्राओ पर चार-चार के क्रम से यति होती है । कुल अट्ठावन मात्राएँ कही जाती है[2] । जैसे—

को संसारि सया सुहउ कस्स वि सयल मणोरह पूरिय ।
वस्स न उप्पज्जइ खलिउ कस्स न आसा महादुम चूरिय ॥ (७,१५)

आवली : यह समचतुष्पदी छन्द है । इस के प्रत्येक चरण मे बीस मात्राएँ तथा कुल अस्सी होती है । इस मे कहीं-कहीं प्रथम छह मात्राओं पर तथा बाद में चार-चार मात्राओं पर यति देखी जाती है, पर नियम नही है ।[3] उदाहरण के लिए—

कइयवि दिवस गय एत्थंतरे आगय,
निज्जामय फुरि मलहु वेढिय संगय ।

गन्धारी : यह भी समचतुष्पदी छन्द है । इस के प्रत्येक पद मे १७, १८ या १९ मात्राएँ होती है ।[4] सभी पदो मे मात्राएँ समान होती है । निम्नलिखित उदाहरण में अठारह मात्राओ का गन्धारी छन्द है । यथा—

१. प्राकृतपैंगलम्, १,९९ ।
२ वही, १,२०८ ।
३. सान्ते दोनावली ।
सा हेला पादान्ते द्विमात्रोना आवली ।—छन्दोऽनुशासन, ४, ६८ ।
४. डॉ० वेलणकर द्वारा सम्पादित "छन्दोऽनुशासन", पृ० ३४३ ।

माणाविह समिहाउ कुमरिं गहियाउ,
मुइ भूमि सर्हिहि हव्वेहिं सहियाउ।

ललिता : यह छन्द समद्विपदी, समचतुष्पदी और विषमचतुष्पदी तीनों रूपों में मिलता है। यहाँ वह समचतुष्पदी के रूप में प्रयुक्त है। समचतुष्पदी में भी इस के दो रूप मिलते है—चौबीस मात्राओं का और बाईस मात्राओं का। विरहांकजातिसमुच्चय में यह बाईस मात्राओं का छन्द कहा गया है और जानाश्रयी में इसे ही गलितक कहा गया है।[1] उदाहरण है—

सिंदूरारुण वण्णो दिणयरु अत्थमियउ,
महुयरु रुक्खह नाइ पक्कउ फलु पनियउ।

वदनक : यह समचतुष्पदी छन्द है। इस के प्रत्येक चरण में सोलह मात्राएँ होती है। क्रमशः छठी, चौथी, चौथी और दूसरी मात्रा पर यति होती है।[2] यथा—

तं निसुणेवि भणइ विज्जाहरु, केत्तिय दूरि वित्तु एहु वइयरु।
कुमरेण कहिउ दस जोयणेहिं, एयहु उद्देसहु स महीएहिं॥ (६, ७)

विद्युत् : यह भी समचतुष्पदी छन्द है। इस के प्रत्येक पाद मे सतरह मात्राएँ होती है। क्रम से चौथी, पाँचवी, चौथी और चौथी मात्रा पर यति होती है।[3] जैसे कि–

लोहहु पंजरे घल्लिय कत्थवि,
सोह जे वा सीयंति समत्थवि।

आभाणक : यह चतुष्पदी छन्द है। इस के प्रत्येक चरण में इक्कीस मात्राएँ होती है। चार मात्राओं के क्रम से यति देखी जाती है। यथा—

जो जसु चिंतइ पासु परजणहु अपाव हु।
तं तसु बाल वि पडइ कलुसिय निय भावहु।

छड्डुणिका : यह विषम चतुष्पदी छन्द है। इस मे १२-१२ और १२-१३ के क्रम से मात्राओ का विधान है।[4] उदाहरण है—

फुट्टउं नं बंभंडु उच्छलियउ तूरारउ,
नं रणदंसण कज्जे हूउ देवहं हक्कारउ।

---

१. वही, पृ० ३४४।
२. षचचाद्दो वदनकम्। छन्दोऽनुशासन, ५, २८।
३. विरहांकजातिसमुच्चय, ३, ११।
४ छन्दकोश (रत्नशेखर सूरि), १७।
५. डॉ० वेलणकर द्वारा सम्पादित छन्दोऽनुशासन, पृ० ३५३।

ललितक : यह विषम चतुष्पदी छन्द है। इस मे १९-१९ और १९-२० मात्राएँ दोनों पदो मे होती है।[१] नीचे लिखे उदाहरण मे १९–२० मात्राओ का पद उद्धृत है—

देवह आएसेणहं पुहइ भमंतउ, देविहि सुहिकरं गिरि वेयड्ढे पहुत्तउ।

नवकोकिल : यह समचतुष्पदी छन्द है। इस के प्रत्येक चरण मे पाँच-पाँच मात्राओ के विराम से तीस मात्राएँ होती है। यथा—

सुरमिहुण मणोहरु गिरिवर सिहरु धरिय विविह वणगहणसिरि।
सुपविति सिलायलु सइ धरायलु दिट्ठु विसिट्ठउ विमलगिरि॥

चतुष्पदी : इस मे चार चरण होते है। दो चरणों को मिला कर तीस मात्राएँ तथा—कुल साठ मात्राएँ होती है[३]। जैसे कि—

एरिसु निसुणेविणु तो पणमेविणु तइं पुच्छिउ सो मुणि पवरु।
भयवं इह संजमु एरिसु दुग्गमु जो कोऊण न तरइ नरु॥

पद्मावती . यह समचतुष्पदी छन्द है। इस के प्रत्येक पद मे बत्तीस मात्राएँ रहती है। इस मे जगण का निषेध है।[४] यथा—

जेंविणु नवि लिज्जइ सो अणु णिज्जइ जइ अवराहइ सयइ करइ।
हुयवउ पज्जालियउ पुरु अइ वलियउ दहइ तो वि को न घरे धरइ॥

संकीर्ण स्कन्धक : यह विषम द्विपदो छन्द है। इस की प्रथम पंक्ति मे बत्तीस और द्वितीय पंक्ति मे तीस मात्राएँ होती है। यह गीति के सयोग से बनता है, इसलिए इसे संकोर्ण कहा जाता है।[५] उदाहरण है—

निय गुरु वित्तंगहु निहयाणं महा पणमवि सुंदरु पयकमलु।
मिच्छत्त विणासणु जिणवर सासणु दिण्हु जेण अम्हह विमलु॥

इस की प्रथम पक्ति में बत्तीस और द्वितीय में तीस मात्राएँ है। अतएव संकीर्ण-स्कन्धक है। प्रा० पै० में इसे सिंहिनी कहा गया है।

---

१. डॉ० वेलणकर द्वारा सम्पादित छन्दोऽनुशासन, पृ० ३५३।
२. षड्भिर्नवकोकिला।—छन्दोऽनुशासन, ४, ८३।
३. पइ पइ जिह होइ तीस धुवमत्तइ अक्खरडंबरजुत्तो।
चउकलध जुत्त ठवि ठाम धरहुक्कलु अंति निरुत्ता॥—प्राकृतछन्दकोश, ३६।
४. प्राकृतपैंगलम्, १, १४४।
५. चेऽष्टमे स्कन्धकम्।
गीतिरेवाष्टमस्य गुरो: स्थाने चगणे कृते स्कन्धकम्।—छन्दोऽनुशासन, ४, १३।

द्विपदी—यह समचतुष्पदी छन्द है। इस के प्रत्येक पद में अट्ठाईस-अट्ठाईस मात्राएँ होती है।[1] यथा—

जंपिउ अनिलवेउ एत्थंतरे एरिस देव जुज्जए।
पर पढयरु चंदलेहाए वि पाणिग्गहणु किज्जए।

अन्य मात्रिक छन्दों मे चित्ररेखा, विलासिनी और ललित आदि मिलते हैं। कुछ छन्द दो भिन्न छन्दों के मेल से बने हुए लक्षित होते हैं। जैसे कि—

मिउ सुरहि सुयंध मंदएणं आसासिउ सिसिरेण मारुएणं।
बहु दिवस परिस्समेणं सनिद्दावियत्त तखणेणं॥

इस छन्द की प्रथम पंक्ति के प्रथम चरण में पन्द्रह और द्वितीय में सतरह मात्राएँ हैं अतएव कुसुमलतागृह छन्द है।[2] दूसरी पंक्ति में पहले पाद मे तेरह और दूसरे मे पन्द्रह मात्राएँ है इस लिए सहकार कुसुम मंजरी नामक छन्द है।[3] ये दोनों ही छन्द मिल कर इस प्रकार किसी भिन्न छन्द की ही रचना मे प्रयुक्त है।

प्रस्तुत रचना मे द्विपदी, विषम द्विपदी, चतुष्पदी, अर्द्धसमचतुष्पदी, विषम चतुष्पदी और षट्पदी के कई छन्द मिलते हैं। इन मे अधिकतर मात्रिक छन्द प्रयुक्त हैं। कई छन्द ऐसे भी हैं जिन के लक्षण और नाम छन्द-ग्रन्थों मे नही मिलते। उदाहरण के लिए—

मरणावे समणु बहु चिंतंतउ निवतरुस्स तले सो जाव पहुत्तउ।

इस के प्रथम चरण में सतरह और द्वितीय चरण में बीस मात्राएँ हैं। अतएव यह अर्द्धसमचतुष्पदी का कोई भेद जान पडता है। छन्दशास्त्र मे इस के नाम-रूप का उल्लेख नही मिलता।

इन के अतिरिक्त मात्रिक छन्दो मे विच्छित्ति, उद्गीति आदि छन्द तो शास्त्र-सम्मत मिलते है, पर निम्नलिखित छन्द का न तो लक्षण ही मिलता है और न नाम ही। यथा—

चलिउ सणंकुमारु वेयड्ढहो छाडय गयण मंडलो।
वर सोन्न ण जेंव मंदिरसिरि देविहि सहुँ अखंडलो॥

गणों में भिन्नता होने के कारण यह निश्चय ही वर्णवृत्त नही है। मात्रिक वृत्त मे अर्द्धसमचतुष्पदी और विषम द्विपदी एवं विषम चतुष्पदी मे प्रथम पंक्ति में उनतीस

१. षश्चुगौ द्वितीय षष्ठौ जो लीर्वा द्विपदी।
एक षण्मात्र पंच चतुर्मात्रा' गुरुश्च। तथा द्वितीयषष्ठौ चगणौ जो लीर्वा द्विपदी।
—छन्दोऽनुशासन, ४, ६४।

२. ओजे पंचदश समे सप्तदश कुसुमलतागृहम्।—वही, ६, १६, ५४।

३. ओजे त्रयोदश समे पंचदश सहकारकुसुममंजरी।—वही, ६, १६, ४७।

और द्वितीय में छब्बीस, सत्ताईस या अट्ठाईस के भेद से कोई छन्द नहीं दिखाई पड़ता। स्पष्ट ही यह विषमद्विपदी का कोई भेद है।

घत्ता की भाँति इस काव्य में विच्छित्ति का भी प्रयोग बहुत हुआ है। विच्छित्ति समद्विपदी छन्द है। इस के पहले पद मे बाईस और दूसरे पद में बाईस तथा कुल मिला कर चवालीस मात्राएँ होती है।[1] इस का उदाहरण है—

तं पेच्छेविणु चिंता कुमरहु उप्पज्जइ
एहो वि दइय विउत्तो विहिणा विणडिज्जइ।

इस कथाकाव्य में मात्रिक वृत्त ही नहीं वर्णिक वृत्त भी मिलते हैं, पर बहुत कम। कुछ वृत्त तो मात्रिक और वर्णिक दोनों हो है तथा कुछ के लक्षण तथा नाम छन्दशास्त्र में नहीं मिलते। उदाहरण के लिए—

तो जीवंतएहिं किंचिवि तुज्झ कज्जयं
ता तत्थेव नेहि अप्पणि तुम्ह रज्जयं।

इस वृत्त में प्रत्येक पंक्ति में चौदह-चौदह वर्ण तथा 'मजभरलगा' लक्षण है, जो छन्दोऽनुशासन और भट्ट केदार के वृत्तरत्नाकर में भी नही है।

जिणयत्तकहा

परिचय

पं० लाखू विरचित 'जिनदत्तकथा' अपभ्रंश के कथाकाव्यों मे उत्तम रचना है। यह काव्य ग्यारह सन्धियों में निबद्ध है। इसमें काव्य और कथातत्त्व दोनों का सुन्दर मेल है। अपभ्रंश-साहित्य में लक्ष्मण नामक दो कवियो का निर्देश मिलता है। लक्ष्मण या लखमदेव का 'णेमिणाहचरिउ' चार सन्धियों की रचना है, जो निश्चय ही पं० लाखू से भिन्न कवि की रचना है। क्योंकि आलोच्य प्रति के अन्त में स्पष्टतः पं० लाखू लिखा मिलता है।[2] स्वयं कवि ने अपने लिए 'लक्खण' शब्द का प्रयोग किया है।[3] लक्ष्मण रत्नदेव के पुत्र तथा पुरवाडवंश में उत्पन्न हुए थे।[4] किन्तु लाखू का जन्म जायसवंश में हुआ था। फिर, दोनों की भाषा में भी अन्तर है। अतएव लक्ष्मण और लाखू दोनों भिन्न काल के भिन्न कवि है।

---

१ डॉ० वेलणकर द्वारा सम्पादित छन्दोऽनुशासन, पृ० ३३७।
२. पंडित लाखू विरचितं इति जिनदत्तशास्त्रं समाप्तं। —पुष्पिका का अन्तिम भाग
३. लाहु जि णंदणु लक्खणु सुलक्खु लक्खणु लक्खिउ सयदलदलक्खु। प्रशस्ति का अन्तिम भाग।
४. डॉ० हरिवंश कोछड़ : अपभ्रंश-साहित्य, पृ० २११।

कवि का वंश

कवि जायस या जैसवाल वंश में उत्पन्न हुआ था। क्योंकि दिगम्बर श्रावकों के बहत्तर भेदों में जैसवाल का ही उल्लेख है; जायस का नहीं। वस्तुतः पाल या वाल शब्द बाद में पीछे जोड़े जाने लगे। मूल में जायस ही रहा होगा। यह वंश उत्तर प्रदेश और राजस्थान में अत्यन्त समृद्ध रहा है। कवि के जिला एटा के बिलरामपुर में बसने से भी यही सूचित होता है कि लाखू सपरिवार भाग कर अपने सजातीय बन्धुओं से आ मिले। वहाँ आज भी जैसवालों की संख्या अधिक है। लाखू के प्रपितामह का नाम कोसवाल था, जो जायसवंश के प्रधान तथा अत्यन्त प्रसिद्ध नरनाथ थे।[1] वे जैनधर्म के परम भक्त थे। हरियाणा प्रदेश के किसी स्थान में रहते थे। किन्तु कवि ने उस का नाम त्रिभुवनगिरि कहा है[2]। त्रिभुवनगढ़ या तिहुनगढ़ हरियाना में न हो कर भरतपुर जिले में बयाना के निकट पन्द्रह मील पश्चिम-दक्षिण मे करौली राज्य का प्रसिद्ध किला 'ताहन गढ़' है, जो आज बिलकुल वीरान है। इस दुर्ग का निर्माण और नामकरण 'परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर त्रिभुवनपाल पदवी एवं उपनाम से विभूषित महाराज तवनपाल या तिहुणपाल ने किया था।[3] अतएव त्रिभुवनपाल के नाम से यह त्रिभुवनगिरि या तिहुनगढ़ प्रसिद्ध हुआ। इसका उल्लेख कवि बुलाकीचन्द के वचनकोश में मिलता है।[4] इस से यह भी पता लगता है कि वहाँ जैसवाल जाति के लोग जैसलमेर से आ कर बसे थे। कुतुबुद्दीन के आक्रमण करने पर लोग यहाँ से भाग कर इधर-उधर बस गये। बुलाकीचन्द के अनुसार कुछ लोग मथुरा में भी जा बसे थे।[5] कवि लाखू वहाँ से भाग कर बिलरामपुर में आ बसे थे।[6] बिलरामपुर जिला एटा में आज भी विद्यमान है। डॉ० जैन के अनुसार कवि का चन्द्रवाड तो फीरोजाबाद के निकट है ही, बिल्लराम भी एटा जिले की कासगंज तहसील का ही बिलूराम उपनाम 'फूटाशहर' प्रतीत होता है। इन स्थानों में जायसवालों की अब भी बस्ती है।[7] स्पष्ट ही यवनों के द्वारा त्रिभुवनगिरि के लूटे जाने

१. इह होंतउ आसि विमालबुद्धि पुज्जिय जिणवरु तिरयण बिसुद्धि।
जायसहो बंस उवयरणसिन्धु गुणगरुआमल माणिक्कसिन्धु।
जायव णरणाहहो कोसवालु जसरससुहिय दि (क्) चक्कवालु।

२. विलसिय विलासरस गलिय गव्व ते तिहुवणगिरि णिवसंति सव्व।

३. डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन : जैन-सन्देश शोधाङ्क, २,१८ दिसम्बर १९५८, पृ० ८१।

४ राजा कहे पड्यो फेर तो तुम त्यागो जैसलमेर।
जैसलवाल तहँ तैं जान जैसवाल कहत बात प्रमान।
चले चले आये सब तहाँ हुंती तिहुनगिरि नगरी जहाँ।

५. अगरचन्द नाहटा : कवि बुलाकीचन्द रचित वचनकोश और जैसवाल जाति, जैन-सन्देश, शोध विशेषांक २, १८ दिसम्बर, १९५८, पृ० ७०।

६. सो तिहुवणगिरि भग्गउ जवेण घित्तउ बलेण मिच्छाहिवेण।
लक्खणु सव्वाउ समाणु साउ विच्छोयउ विहिणा जणिय राउ।
सो इत्त तत्थ हिंडंतु पत्तु पुरे बिल्लरामे लक्खणु सुपत्तु।
प्रशस्ति का अन्तिम भाग।

७. डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन : शोधकण जैन-सन्देश, शोधाङ्क भाग २२ सं० ३६, पृ० २८।

पर जैसवाल जाति के लोग मथुरा पहुँचे होंगे और वहाँ से एटा, कासगंज, अलीगढ़ और मैनपुरी की ओर फैल गये होंगे। यह भी सम्भव है कि एक दल मथुरा की ओर चला गया होगा और दूसरा आगरे की ओर बढ़ गया होगा तथा तीसरा बुन्देलखण्ड की ओर चल पड़ा होगा। इस प्रकार जैसवाल जाति के लोग जैसलमेर से बढ़ते-बढ़ते चारों ओर फैल गये। इस जाति का यह संक्रमण यवनों के आक्रमण के फलस्वरूप हुआ। इतिहास से भी इस की पुष्टि होती है।

ऐतिहासिक प्रमाण

ऐतिहासिक प्रमाणों से पता लगता है कि प्राचीन श्रीपथ अथवा भरतपुर राज्य में, वर्तमान बयाना में यदुवंशी राजाओं का वर्षों तक राज्य रहा है। किन्तु डॉ० जैन के मत में करौली राज्य के मूल संस्थापक राजा विजयपाल थे, जिन्होंने १०४० ई० में विजयमन्दिरगढ़ नामक दुर्ग का निर्माण कराया था[1]। विजयपाल मथुरा के यदुवंशी राजा जयेन्द्रपाल या इन्द्रपाल (९६६-९२ ई०) के ग्यारह पुत्रों में से एक था[2]। इसी विजयपाल के अठारह पुत्रों में से एक अत्यन्त पराक्रमी तिहुणपाल नाम का राजा हुआ। त्रिभुवनगिरि या तहनगढ़ का निर्माता राजा तहणपाल था। परम्पराके अनुसार तहनगढ बयाना से दक्षिण में चौदह मील दूर कहा जाता है[3]। परन्तु वह पश्चिम-दक्षिण में बयाना से पन्द्रह मील की दूरी पर है। तजुल मशीर के अनुसार ११९६ ई० मुइजुद्दीन मुहम्मद गोरी ने तहनगढ के राजा को पराजित कर ताहनगढ़ बहाउद्दीन तुघरिल को सौंप दिया था[4]। उस समय तहनगढ़ का राजा कुंवरपाल था। डॉ० शरण और मजूमदार के विचारों के अनुसार ११९५ ई० मे मुइजुद्दीन उत्तरभारत की विजय करता हुआ तथा बयाना और ग्वालियर को अपने राज्य में मिला कर लौट आया था। बयाना के प्रमुख कुंवरपाल ने थोडे समय के घेरे के बाद ही राजधानी और तहनगढ़ सौंप दिया था।[5] यह राजा का आत्मसमर्पण था, थजिस की ओर कवि ने भी संकेत किया है[6]। सम्भवतः राजा साधनहीन रहा होगा अथवा यकायक आक्रमण हुआ होगा। यह दुर्ग वर्षों तक मुसलमानों के अधिकार में रहा। इस लिए आज तक फूटी दशा में पड़ा हुआ है। इस प्रकार त्रिभुवनगिरि का इतिहास करुणाजनक है, जिस मे भारतीय जीवन में बसे हुए छोटे-छोटे असंगठित तथा राग-रंग से रंजित राज्यों की व्यथा एवं आत्मपीडा छिपी हुई है।

---

१ डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन : शोधकण जैन-सन्देश शोधाङ्क, भा० २२, स० ३६ (२२-३६), पृ० ८१।

२ ब्रजभारती, फाल्गुन सं० २०११, पृ० २१-२२ (जैनसन्देश से उद्धृत)

३ द स्ट्रगल फार इम्पायर, प्रकाशित भारतीय विद्याभवन, प्रथम संस्करण खण्ड ५, पृ० ५५।

४. वही, पृ० ५६।

५. वही, पृ० १२०।

६. लक्खणु सव्वाउ समाणु साउ विच्छोयउ विहिणा जणिय राउ।
पं० लाखू रचित अन्तिम प्रशस्ति।

पं० लाखू की प्रशस्ति से यह अत्यन्त स्पष्ट है कि कोसवाल यादववंश के राजा थे और उन का यश चारों ओर फैला हुआ था[१]। कवि के पिता भी कहीं के राजा थे। श्रीधर के कवि के प्रति कथन से यही स्पष्ट संकेत मिलता है[२]। लाखू के पिता का नाम साहुल और माता का नाम जयता था[३]। अणुव्रतरत्नप्रदीप से भी यही पता चलता है।

रचना-काल

कवि का रचना-काल लगभग अर्द्ध शताब्दी तक रहा। उन का 'जिनदत्त-चरित' वि० सं० १२७५ की रचना है[४]। कवि को लिखने में कम से कम एक वर्ष का समय तो लगा ही होगा। अतएव काव्य-साधना इस के पूर्व प्रारम्भ हो चुकी होगी। क्योंकि लेखक सहसा ही साहित्य-व्यापार में प्रवृत्त नहीं हो जाता। उसे पहले अभ्यास करना पड़ता है। फिर, जिनदत्तकथा जैसी साहित्यिक रचना को देख कर यह सहज में ही अनुमान लगाया जा सकता है कि इस के पूर्व कवि कुछ लिख चुका था। लेखक की अन्तिम रचना अणुव्रतरत्नप्रदीप जान पड़ती है। इस का रचना-काल वि० सं० १३१३ है[५]। अतएव वि० सं० १२७०-१३१३ कवि का रचना-काल कहा जा सकता है।

रचनाएँ

यद्यपि अभी तक पं० लाखू या लक्खण की दो ही रचनाओं का पता लग सका है, किन्तु हमारे विचार में कवि की अन्य रचनाएँ भी संभावित हैं। लाखू विरचित 'चंदणछट्ठीकहा' प्रारम्भिक रचना है, जो वि० सं० १२७० की कृति जान पड़ती है। अपभ्रंश की व्रतकथाओं की भाँति यह भी इतिवृत्तात्मक लघुकाय रचना है। इस में चन्दन षष्ठी व्रत का माहात्म्य एवं फल वर्णित है। रचना के अन्त में 'लक्खणु' नाम लिखा मिलता है, जिस से निश्चय ही यह उक्त कवि की रचना है[६]।

---

१ जायसहोवंस उवयरणसिन्धु गुणगरुअमाल माणिक्कसिन्धु।
जायवणरणाहहो कोसवालु जयरसमुद्दिय दि (ग) चक्कवालु ॥ वही ॥

२. ता पभणइं सिरिहरु सव्वु सच्चु पइं लवियउ लक्खण णिप्पवंचु।
जइ एग्गिसु तोवि महाणुभाव मो साहुलसुअ जीमूअराव।

३. साहुलहो सुपियथम मणुज्ज णामें जयता कयचिलय कज्ज।
ताहं जि णंदणु लक्खणु सुलक्खु लक्खणु लक्खिउ सयदल दलक्खु ॥

४. वारहसय सत्तरयं पंचुत्तरयं विक्कम काल वि इत्तउ।
पढम पक्ख रविवारए छट्ठिसहारए पूसमासि संमत्तिउ ॥

५. तेरह सय तेरह उत्तराले परिगलिय विक्कमाइच्च काले।
डॉ० कोछड़ के अपभ्रंश-साहित्य से उद्धृत।

६. इय चंदणछट्ठिहिं जो पालइ बहु लक्खणु।
सो दिवि भुंजिवि सोक्खु मोक्खहु णाणे लक्खणु।

जन्म-काल और परिवार

यद्यपि कवि के जन्म-काल के सम्बन्ध में कुछ कहना बहुत कठिन है, परन्तु त्रिभुवनगिरि के बसाये जाने और विध्वंस किये जाने वाली घटनाओं तथा दूबकुण्ड के शिलालेख और मदनसागर (अहार क्षेत्र) में प्राप्त मूर्तिलेखों से यह निश्चय हो जाता है कि ग्यारहवीं शताब्दी में जैसवाल अपने मूल स्थान को छोड कर कई स्थानों में बस गये थे। सम्भवतः तभी कवि के पूर्वज त्रिभुवनगिरि में आ कर बसे थे और मुहज़ुद्दीन मुहम्मदगोरी के आक्रमण होने पर बिल्लरामपुर में जाकर बस गये थे। यह घटना सन् बारह सौ के लगभग की कही जाती है। उस समय तक कवि का जन्म नहीं हुआ था।

'अणुवयरयणपईउ' के अनुसार कवि यमुना नदी के तट पर स्थित 'रायवड्डिय' नाम की नगरी में रहता था। डॉ० हीरालाल जैन के विचार में वर्तमान रायभा नामक नगर ही प्राचीन रायभद्दी नगर रहा होगा, जो आज भी आगरा और बाँदीकुई के बीच में विद्यमान है[1]। इस से यह पता लगता है कि कवि रायभा में भी रहा है। किन्तु प्रश्न यह है कि तहनगढ़ में रहने के पहले कवि वहाँ रहता था या बाद मे बिल्लरामपुर में पहुँचा अथवा रायभा होता हुआ बिल्लरामपुर गया। क्योंकि कवि ने स्वयं कहा है कि त्रिभुवनगिरि के भग्न के हो जाने पर इधर-उधर घूमता हुआ बिल्लरामपुर में पहुँचा[2]। इस के दो उत्तर हैं—पहला तो यह कि कवि का जन्म कम से कम तहनगढ मे तो नही हुआ था। क्योंकि कवि का ग्रन्थ-रचना-काल सं० १२७० के लगभग से १३१३ है। और तीनों ही ग्रन्थ तहनगढ़ में नहीं रचे गये। यदि जिनदत्तकथा बिल्लरामपुर वासी जिनधर के पुत्र श्रीधर के अनुरोध और सुख-सुविधा प्रदान करने पर लिखी गई तो अणुव्रतरत्नप्रदीप आहवमल्ल के मन्त्री कृष्ण के आश्रय मे तथा उन्ही के अनुरोध से चन्द्रवाडनगर में रचा गया[3]। आहवमल्ल की वंश-परम्परा भी चन्द्रवाड नगर से बतलायी गयी है। इस से स्पष्ट है कि सं० १२७५ मे कवि सपरिवार बिल्लरामपुर में था और सं० १३१३ में चन्द्रवाडनगर फिरोजाबाद के पास मे। यदि हम कवि का जन्म तहनगढ़ मे भी मान लें तो फिर रायवड्डिय में वह कब रहा होगा। हमारे विचार में लाखू के बाबा रायवड्डिय के रहने वाले होंगे। किसी समय तहनगढ़ अत्यन्त समृद्ध नगर रहा होगा। इस लिए उस से आकर्षित हो वहाँ जाकर बस गये होंगे। किन्तु तहनगढ़ के भग्न हो जाने पर वे सपरिवार बिल्लरामपुर में पहुँच कर रहने लगे होंगे। सम्भवतः वहीं लाखू का जन्म हुआ होगा और श्रीधर से गाढी मित्रता कर सुख से समय बिताने लगे होंगे। परन्तु श्रीधर के देहावसान पर तथा राज्याश्रय के आकर्षण से चन्द्रवाडनगरी में बस गये होंगे।

---

१. डॉ० हरिवंश कोछड़ : अपभ्रंश-साहित्य, पृ० ३५७।
२. सो इत्त तत्थ हिंडतु पत्तु, पुरे बिल्लरामे लक्खणु सुपत्त।
३. डॉ० कोछड़ : अपभ्रंश-साहित्य, पृ० ३५७।

कवि का जन्म सम्भवतः तेरहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में हुआ होगा। क्योंकि 'अणुव्रतरत्नप्रदीप' कवि के अन्तिम समय की रचना जान पड़ती है, जिसमें पाँच अणुव्रतों का वर्णन है। वस्तुतः वृद्धावस्था में निर्वेद भाव और धार्मिकता विशेष रूप से जाग्रत हो जाती है। अतएव विद्वान् ऐसे समय में धर्म-प्रवचन करें तो स्वाभाविक ही है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि तहनगढ़ में प्राचीन काल से यदुवंशी राजाओं का राज्य रहा है। आलोच्यमान कथाकाव्य के रचयिता कवि लाखू उसी परिवार से सम्बद्ध हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से मथुरा के यदुवंशी राजा जयेन्द्रपाल से इस राज्यवंश का पूरा विवरण मिलने लगता है। बहुत कर पहले भरतपुर और मथुरा राज्य एक ही शासन के अन्तर्गत थे। जयेन्द्रपाल के पुत्र विजयपाल हुए, जिन्होंने विजयमन्दिर गढ़ बनवाया था। त्रिभुवनगिरि का निर्माण इन्हीं ने करवाया था। इन के उत्तराधिकारी धर्मपाल और धर्मपाल के उत्तराधिकारी अजयपाल हुए। महाबाण प्रशस्ति के अनुसार ११५० ई० मे उन का राज्य था[1]। उन के उत्तराधिकारी कुँवरपाल कहे जाते हैं। किन्तु वस्तुतः अजयपाल के उत्तराधिकारी हरपाल थे। परम्परा के अनुसार हरपाल अजयपाल के पुत्र और उत्तराधिकारी थे। महावन में ११७० ई० का हरिपाल का शिलालेख भी मिला है[2]। हरपाल के पुत्र कोशपाल थे, जो लाखू के पितामह के पिता थे। कोशपाल के पुत्र यशपाल थे। यशपाल के पुत्र लाहड थे, जिन के जिनमती नाम की भार्या थी। उन दोनो के अल्हण, गाहुल, साहुल, सोहण, रयण, मयण, और सतण नाम के सात पुत्र हुए। इन में से साहुल लाखू के पिता थे। महाबन के शिलालेख के अनुसार हरिपाल सोहपाल के उत्तराधिकारी थे। इसी प्रकार ११९२ ई० के सहणपालदेव के शिलालेख से पता लगता है कि उस समय उन का राज्य वर्तमान था। जो भी हो, उक्त अध्ययन से यही पता चलता है कि कवि लाखू के पूर्वज यदुवंशी राज्यघराने से सम्बन्धित थे, जिस के सम्बन्ध में अभी अन्य ऐतिहासिक अनुसन्धान की अपेक्षा की जाती है।

कथानक

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में मगध नामक अलंकृत एवं मनोहर प्रदेश मे वसन्तपुर नाम का सुन्दर नगर था। उस में चन्द्रशेखर नाम का राजा राज्य करता था। उस के मैनासुन्दरी नाम की रूपवती एवं गुणवती रानी थी। उसी नगरी मे श्रेष्ठी जीवदेव निवास करता था। उस की पत्नी जीवंजसा अत्यन्त सुन्दर थी। किन्तु उस के कोई सन्तान न होने से वह अत्यन्त दुखी थी। एक दिन चैत्यालय में स्थित मुनिदेव से उस ने करुण निवेदन किया। उन्होंने कहा—पुत्री दुःख न करो। कुछ ही दिनों में तुम कीर्तिशाली पुत्र प्राप्त करोगी। अल्प समय में ही जीवंजसा के गर्भ-चिह्न प्रकट हो

१. द स्ट्रगल फार इम्पायर, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, प्रथम संस्करण, पृ० ५५।
२. वही, पृ० ५५।

गये और सुन्दर पुत्र-रत्न प्राप्त हुआ। उस का नाम जिनदत्त रखा गया। आठवें बरस के लगते ही बालक को उपाध्याय के घर पढ़ने के लिए बिठला दिया गया। वहाँ सभी विद्याओं और कलाओं को सीख कर निपुणता प्राप्त करता है। परन्तु यौवन को देहली पर पैर रखते ही कुमार में नाना प्रकार के काम भाव प्रकट हो जाते है। एक दिन वह मित्रो के साथ सहस्रकूट जिन-मन्दिर की वन्दना के लिए जाता है। वहाँ उत्कीर्ण चित्रो मे वह किसी सुन्दरी के रूप को देख कर मोहित हो जाता है। उस पुतली के रूप-सौन्दर्य को देख कर उस के अंग-प्रत्यंगों में काम-व्यथा जग जाती है। रह-रह कर वह उसी का स्मरण करता है। काम की प्रायः सभी अवस्थाएँ एक-एक कर प्रकट होने लगती है। जीवदेव को चिन्ता होती है। तुरन्त ही चित्रकार को बुला कर वे सब वृत्तान्त पूछते है और लेख के साथ उसे चंपानगरी पठाते है। अंगदेश मे बसी चंपा नगरी में पहुँच कर वह श्रेष्ठी विमल से सब समाचार कहता है। वह चित्रकार के साथ वसन्तपुर जाता है। जिनदत्त के रूप को देख कर उस का मन भर जाता है। अतएव जिनदत्त का विवाह श्रेष्ठी विमल और उस की भार्या विमला से उत्पन्न कन्या विमलमती से धूम-धाम से होता है। कुछ दिनो तक ससुर के घर रहने के पश्चात् जिनदत्त विदा हो कर सपत्नीक वसन्तपुर लौट आता है। एक दिन वह धूर्तो के साथ जुआ खेलता हुआ ग्यारह कोटि स्वर्ण हार जाता है। सात कोटि तो वह चुका देता है, पर शेष के लिए भण्डारी से माँगने के लिए कह देता है। किन्तु भण्डारी जुआ के लिए द्रव्य देने से मना कर देता है। अन्त में पत्नी से लेकर चुकाता है। जब पिता को इस घटना का पता चलता है तब वे सप्त व्यसनों के कुपरिणाम पर प्रकाश डालते हुए जिनदत्त को समझाते हैं। कुमार धनोपार्जन के लिए द्वीपान्तर जाने की इच्छा व्यक्त करता है, परन्तु वे उसे समझा-बुझा कर रोक लेते है।

इस बीच भोग-विलास करते हुए जिनदत्त को आठ बरस बीत जाते है। पिता के रोकने पर वह ससुराल जाने की इच्छा प्रकट करता है, जिसे वे मान लेते है। जिनदत्त पत्नी के साथ चंपापुरी मे पहुँचता है। एक दिन वह वन मे किसो औषधि को पा कर पत्नी को उद्यान मे छोड कर अदृश्य हो जाता है। विमलमती तब करुण क्रन्दन करती है। अन्त में पति से मिलने की आशा में निकटस्थ चैत्यालय में अर्जिका (साध्वी) के पास धर्म का पालन करती हुई रहने लगती है। अर्जिका विमलमती को सम्बोधती है कि बेटी, खेद न करो तुम्हारा पति छह महीने मे लौट कर आ जायेगा। यह सुन कर वह वहाँ निश्चिन्त हो कर रहती है। जिनदत्त तीन दिन तक तो वही छिप कर रहता है। फिर, दशपुर (मन्दसौर) नगर मे पहुँचता है। वह नगर के बाहर उद्यान मे ठहर जाता है। वह सागरदत्त नामक सार्थवाह परिजनों के साथ आकर रुकता है। वह जिनदत्त के रूप को देख कर चमत्कृत होता है। किन्तु सब से बड़ा आश्चर्य उसे तब होता है जब उपवन के सूखे फल-फूलों को वह हरा-भरा कर देता है। सागरदत्त जिनदत्त को अपना लेता है। एक दिन दोनो जन नगर में जाते हैं।

जिनदत्त के रूप को देख कर स्त्रियाँ विमुग्ध हो जाती हैं। उसे स्मरण हो आता है कि बिना धन के जीवन व्यर्थ है। जिस के लिए मैं ने घर-बार छोड़ा उस का उपार्जन अवश्य करना चाहिए। अतएव जिनदत्त पोत लेकर सिंहलद्वीप जाने की इच्छा प्रकट करता है। सागरदत्त भी साथ चलने की तैयारी करता है। कई द्वीपों को देखते हुए वे सिंहलद्वीप में पहुँचते हैं। उस पुर के चैत्यालय की प्रशंसा सुन कर जिनदत्त हर्षित हुआ और वन्दना के लिए नगर में गया। वहाँ मालिन के करुण क्रन्दन को सुन कर वह उस बुढ़िया से उस का कारण पूछता है। वह कहती है—इस नगर के राजा घनवाहन और रानी विजया के श्रीमती नाम की बहुत ही सुन्दर कन्या है, जो किसी रोग से पीड़ित है। इस लिए पहर भर बीत जाने पर जो मनुष्य उस के पास जाता है वह सुबह मरा हुआ मिलता है। राजपुत्री विषलता की पत्ती की भाँति लोगों को खा जाती है। वह धवलगृह में रहती है। उसे बड़ा कष्ट है। बड़े-बड़े मन्त्रियों ने मिल कर लोगों को राय दी है कि कोई उस के पास अकेला न रहे। एक दिन राजा ने सब लोगों से कहा कि पूर्व जन्म के पापोदय से मेरे एक ही पुत्र है, जिस की रक्षा कठिन जान पड़ती है। क्योंकि वह बहिन के पास जाये बिना मानता नहीं। अतएव उसकी रक्षा के लिए किसी न किसी का रहना आवश्यक है। उस दिन से प्रति दिन कोई न कोई वहाँ भेजा जाने लगा। जो भी उस महल मे जाता उसे वह दुष्ट राक्षसी जीवित नहीं छोड़ती। बूढ़ी मालिन कहती है कि मेरे एक ही पुत्र है, जो अन्धे को लाठी के समान है। किन्तु आज उसे वहाँ जाना पडेगा। इस लिए मै रोती हूँ। जिनदत्त उत्तर मे कहता है—हे माता, जहाँ वह राजपुत्र है वहाँ मुझे भेज दो। मै वहाँ जाता हूँ। तुम पुत्र के साथ यही रहो। इतने में पुत्र को बुलाने के लिए हरकारा आ पहुँचा। जिनदत्त बोला—तुम अपने घर जाओ। मैं सायंकाल सुन्दरी के यहाँ जाकर बसूँगा। नहा-धोकर जिनवन्दना कर जिनदत्त ने प्रेम से बहुरससिक्त भोजन किया। फिर सहस्रकूट जिन-चैत्यालय की वन्दना कर बायें हाथ में खाँडा और दाहिने हाथ मे तलवार लेकर चल पड़ा। जिनदत्त कुमारी के यहाँ पहुँच जाता है। श्रीमती भी उस के अनुराग से उठ बैठती है और कुमार से आने का कारण पूछती है। वह पूरा वृत्तान्त सुनाता है। कुमारी कहती है कि जाओ, जाओ। मेरे पिता तुम पुरुषराज को देख कर महान् चिन्तासागर मे पड़ गये हैं। इतना कहते ही उस कुमारी को विष का वेग चढ़ जाता है। तब कुमार उसे एक कहानी सुनाता है। जिनदत्त से कहानी सुनती हुई वह गहरी नींद मे सो जाती है। सोती हुई वह बडे जोर से हुँकार भरती है। जिनदत्त सावधान हो कर देखता है कि उस के मुँह से धुएँ के रूप मे फैलता हुआ एक काला भुजंग निकलता है। वह उस विषधर को मार कर एक पिटारी मे रख देता है। अब कुमारी स्वस्थ हो जाती है। प्रातःकाल नागरिक जन यह वृत्त जान कर आश्चर्यचकित होते है। राजा को सूचना मिलती है। वह हाथी पर बैठ कर आता है और कुमारी के साथ जिनदत्त को लिवा जाता है। फिर, राजा उन दोनों का विवाह कर देता है।

सिंहलद्वीप में बहुत समय तक सुखोपभोग करने के पश्चात् एक दिन जिनदत्त राजा से घर भेजने के लिए निवेदन करता है। अन्त में राजा सम्मानपूर्वक बहुत कुछ दायजे में देकर जिनदत्त को श्रीमती तथा उन के साथियों के साथ विदा करता है। सागरदत्त श्रीमती के रूप-सौन्दर्य को देख कर काम-बाणों से पीडित हो जाता है। मन में यह विचार कर कि जिनदत्त को किसी प्रकार समुद्र में फेंक दूँ तो यह सुन्दरी मुझे चाहने लगेगी, छल रचता है। वह कंकड़-पत्थर कुछ डाल कर जिनदत्त को भ्रम में डाल कर परपुरुष को बचाने का ढोंग रचता है। जिनदत्त को किसी प्रकार समुद्र में गिरा कर सागरदत्त श्रीमती से काम-याचना करता है। अपने को अकेली जान कर वह उपाय सोचती है और मन ही मन चिन्तन करती है कि यदि मुझ में शील, संयम हो तो यह पोत डूब जाय। जहाज डूबने लगता है। सब लोग सुन्दरी से प्रार्थना करते हैं। जल-देवता प्रकट होते हैं और वे सब सुख से चम्पापुरी पहुँचते हैं। चम्पापुरी के उद्यान के बाहर ही चैत्यालय को देख कर श्रीमती वन्दना के लिए चल देती है और वहीं अर्जिका विमलमती के उपदेश से आश्वस्त हो रहने लगती है।

इधर जिनदत्त समुद्र में तैरता हुआ किसी सूखे काठ के पटिये को प्राप्त करता है। उसी का सहारा लेकर वह समुद्र पार करने लगता है। इतने में आकाश मार्ग से जाते हुए दो पुरुष रोष करते हुए उसे दिखाई देते हैं। कुमार उन विद्याधरों को नीचे आने के लिए ललकारता है। नवकार मन्त्र का स्मरण करता हुआ वीर जिनदत्त दशो दिशाओं में देखने लगता है। बहुत दूर उसे फहराती हुई ध्वजा दिखाई पड़ती है। वह आशा बाँध कर उसी ओर लम्बी भुजाओं से पानी धकेलता हुआ आगे बढ़ता है। अन्त में विद्याधर उसे विमान में बिठा कर विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी मे रथनूपुर नाम के नगर मे लिवा जाते हैं। उस पट्टन में अशोक नामक विद्याधरो का राजा राज्य करता है। उस के शृंगारमती नाम की अत्यन्त सुन्दर कन्या है। एक बार चारणमुनि का उस नगर में आगमन हुआ था। उन्होंने बताया था कि जो वीर अपनी भुजाओं से समुद्र को पार करेगा वह इस कन्या का पति होगा। मरुवेग विद्याधर इस प्रकार जिनदत्त को पूरा वृत्तान्त सुना कर तथा राजा को बता कर अपने साथी के साथ चला जाता है। राजा जिनदत्त के साथ शृंगारमती का पाणिग्रहण कराता है। बहुत समय तक वे दोनों भोग-विलास करते हैं। राजा उसे विविध प्रकार की विद्याएँ सिखाता है। एक दिन जिनदत्त पत्नी के साथ विमान में चढ़ कर भद्रसाल आदि अकृत्रिम चैत्यालयों की वन्दना के लिए गया। द्वीप-द्वीपान्तरों में तथा मानुषोत्तर आदि पर्वतों पर भ्रमण करते हुए वेग से वे अंगदेश में चम्पापुरी नगरी के बाहर उद्यान में रुक गये। पत्नी के बहुत आग्रह करने पर भी जिनदत्त ने उसे सुला दिया और स्वयं जागता रहा। सबेरा होने पर जब वह जागती है तब निर्जन स्थान में अपने को देख कर करुण विलाप करती है। उस गन्धर्वदत्ता का विलाप सुन कर विमलमती श्रीमती को उस के पास भेजती है। शृंगारमती उसे वृत्तान्त सुनाती है। वह उन दोनों के साथ प्रेम से रहने लगती है।

उधर जिनदत्त वामन का रूप धारण कर लेता है और चम्पा-नरेश को तरह-तरह के चमत्कार दिखाता है। एक दिन मदोन्मत्त हाथी के बिगड़ जाने से पूरा नगर बड़े भारी संकट में पड़ जाता है। जिनदत्त उसे विद्या के बल से शान्त कर देता है। राजा उस के साथ अपनी कन्या का विवाह करने के लिए तैयार हो जाता है, पर यह विचार कर कि वह ब्राह्मण है, हिचकता है। वह मन्त्रियों से राय लेता है। वे बताते हैं कि यह प्रच्छन्न विद्याधर है। जिस के यहाँ जिनदत्त ठहरा था, वह माली उस से सच-सच बताने को कहता है। जिनदत्त कहता है कि चलो राजसभा में सब कुछ बताऊँगा। अन्त में राजा की प्रार्थना पर जिनदत्त पूरा वृत्तान्त सुनाता है। वह कहता है कि मुझे घर छोड़े बारह बरस बीत चुके हैं। राजा विमल सेठ को सूचना देता है तथा जिनदत्त के साथ चैत्यालय में पहुँचता है। वहाँ उस की सभी पत्नियाँ उस के रूप को देख कर कहती हैं कि यह हमारा पति नहीं है। सब लोग समझाते हैं कि बहुत बरस बीत जाने से रूप में अन्तर आ गया है। किन्तु उनमें से कोई भी स्वीकार नहीं करती। तब जिनदत्त मुँह पर कपड़ा डाल कर रूप बदलता है। अब किसी को भी सन्देह नहीं रहता। राजा उन सब को साथ में लेकर नगर में आते हैं। मार्ग में विमल सेठ आता हुआ दिखाई देता है। वह राजा से प्रार्थना कर सब को अपने साथ ले जाता है और यथोचित सम्मान व सत्कार करता है।

दूसरे दिन राजा ने विलासमती को लग्न भेजी। धूम-धाम से जिनदत्त का विवाह हुआ। बहुत दिनों तक वहाँ रहने के बाद माता-पिता से मिलने के लिए आतुर हो कर कुमार वहाँ से चल पड़ा। सभी पत्नियों को तथा बहुत कुछ दायजे में ले कर सेना के साथ वे वसन्तपुर में पहुँचे। नगर के बाहर पड़ाव डाल दिया। जिनदत्त राजा के पास दूत भेजता है कि या तो सेठ जीवदेव को समर्पित करो अथवा नगर का राज्य छोड़ो। राजा ने दोनों ही बातों में अपनी असमर्थता प्रकट की। अन्त में राजा जीवंजसा को बुलाता है। वह विलाप करती है। किसी प्रकार वह जिनदत्त के पास पहुँचती है। कुमार माता को साष्टांग प्रणाम करता है। राजा भी यह जान कर कि जिनदत्त आया है, कच्छनरेश नहीं है तो हर्षित हो कर मिलने जाता है। नगर में हर्ष-उल्लास से वातावरण अत्यन्त मधुर एवं सुखद हो जाता है। गाजे-बाजे के साथ जिनदत्त सपत्नीक घर पहुँचता है। नगर में बहुत बड़ा उत्सव मनाया जाता है। कुमार सभी मित्रों से मिलता है। बहुएँ सासू के तथा फूफी के पैर पड़ती हैं। जिनदत्त दायजे में प्राप्त तथा सागरदत्त से वापिस लौटायी हुई धनराशि में से बहुत कुछ दान में बाँटता है तथा भेंट स्वरूप राजा के यहाँ लेकर जाता है। राजा भी बदले में उपकरण तथा अमूल्य पात्र भेंट में देता है। यही नहीं, वह उसे आधा राज्य भी देता है। कालान्तर में सुखोपभोग करता हुआ जिनदत्त वहीं रहता है। इसी बीच विमलमती से जयदत्त और सुदत्त तथा श्रीमती से गरुड़केतु, जयकेतु और सुकेतु नाम के पुत्र होते हैं। शृंगारमती से जयमित्र, वसुमित्र और सुमित्र पुत्र तथा चौथी पुत्री-रत्न उत्पन्न होते हैं। उन सभी के विवाह

होते हैं। इस प्रकार जिनदत्त नाती-पोतों के बीच सुख से समय बिताता है।

एक दिन वनमाली से समाचार मिलता है कि वन में सुसमाधिगुप्त नामक मुनिराज चार ज्ञान के धारक पधारे हैं। राजा सपरिवार उन की वन्दना के लिए जाता है। उन से पूर्व भवों की कथा सुन कर जिनदत्त को निर्वेद भाव उत्पन्न हो जाता है और वह जिन-दीक्षा ग्रहण कर लेता है। अन्त में घोर तपस्या कर स्वर्ग प्राप्त करता है।

प्रबन्ध-रचना

अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्यों की भाँति इस काव्य की रचना भी प्रबन्ध के अनुरूप है, जिस में संशिल्प-रचना के साथ ही साहित्यिक रूढ़ियों का पालन हुआ है। ग्रन्थ का प्रारम्भ चौबीस तीर्थंकरों की वन्दना से होता है। फिर, कवि स्ववंश का कीर्तन कर सज्जन-दुर्जन का वर्णन करता है। अनन्तर पूर्व कवियों का स्मरण करता है। पूर्ववर्ती कवियों में वह अकलंक, चतुर्मुख, कालिदास, श्रीहर्ष, व्यास, द्रोण, बाण, ईशान, पुष्पदन्त, स्वयम्भू और वाल्मीकि का स्मरण करता है।[1] तदनन्तर कवि आत्म-विनय का प्रदर्शन करता हुआ कहता है कि मै देशी भाषा के लक्षणों को नही जानता हूँ। मैं ने उन्हे अच्छी तरह नही देखा है।[2] इस से यह सूचित है कि कवि ने यह काव्य देशी भाषा में लिखा है। और कवि को यह स्वीकारोक्ति सच है कि वह सभी नियमो से पूर्ण परिचित नही है। क्योकि स्थान-स्थान पर वह संस्कृतनिष्ठ पदो का गुम्फन तथा शब्द-रचना को गढता हुआ लक्षित होता है। किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि लेखक इस भाषा को जानता हो नही था अथवा उस को कही सीखने जाना पड़ा था। यह तो कवि की विनय मात्र है, जिस से कुछ संकेत मिल जाता है। वस्तुतः शास्त्र और संस्कृत ग्रन्थों की साहित्यिकता के फेर में पड कर ही लाखू पण्डित ने सालंकार वर्णन और तदनुकूल शब्दावली का प्रयोग किया है।

कवि का कथन है कि मैं ने उक्त कवियों के ग्रन्थों को न तो देखा है और न धातु, लिंग, गुण, कारक, समास, सन्धि, छन्द, व्याकरण, भाषा और देशी भाषा के लक्षणों को गुना है।[3] गुरु से भी जो सीखा है उसका भी मनन नहीं किया। और न महाधवल, जयधवल आदि सिद्धान्त ग्रन्थों को देखा है। पुराणों को भी नही पढा है।[4]

१. णिक्कलकु अकलंकु चउमुहो कालियासु सिरिहरिसु कय सुहो।
वयविलासु कइवासु असरिसो दोणु बाणु ईसाणु सहरिसो।
पुप्फयतु सुसयभु भल्लउ वालम्मीउ सम्मइं रसिल्लउ। (१, ६)

२. देसभासलक्खणु ण तक्कउ। (१, ६)

३. इय कईउ भो मइं ण दिट्ठुया फुरइ केम महु मइ वरिट्ठुया।
धाउ लिंगु णउं गुणु ण कारउं कम्मु करणु ण समासु सारउं।
पयसमत्ति किरिया विसेसया संधिछंदुवायरण भासया। (१, ६)

४. देसभासलक्खणु ण तक्कउ मुणमि णेव आयहि गुरुक्कउ।
महाधबलु जयधवलु दिट्ठउ णउर वप्प पयमिह वरिट्ठउ।
तह ण दिट्ठु सिद्धंतु पायउ णउ पुराणु अइहासु गइउ। (१, ६)

यह सब कुछ नहीं जानता हुआ लाखू इस काव्यकथा को क्यों कहता है, इस को लिखने का क्या प्रयोजन है ? इस के उत्तर में स्वयं कवि कहता है—यदि ऐरावत (इन्द्र का हाथी) अपनी प्रभा से लाख योजन प्रमाण धरती को प्रकाशित करता है तो क्या अन्य हाथी अपने तेज और बल को प्रकट नहीं करते ? यदि चन्द्रमा अमृत स्फुरायमान करता है तो क्या अपने प्यारे को अन्य ओषधि* नहीं देते ?[1] जो सूर्य तीनों लोकों में घूमता है क्या वह अपनी कान्ति से शोभायमान नहीं होता ? अर्थात् होता ही है । जो सूर्य की भाँति अनन्त प्रकाश से युक्त आत्मा वाले हैं, पर अपने आप को नहीं पहचानते हैं उन के लिए मैं तुम्हारे सामने यह कथा कहता हूँ ।[2]

पं० लाखू ने कई स्थानों पर अपनी इस काव्य-रचना को 'कहा' लिखा है ।[3] जिनदत्त की कथा कहना ही कवि का उद्देश्य है । क्योंकि कथा ही अपने आप में इतनी सोद्देश्य, भावपूर्ण, रसयुक्त और गौरव-गरिमा से मण्डित है कि उस के वर्णन से ही कवि-व्यापार एवं उस का जीवन सफल हो जाता है । कवि के शब्दों में जिनदत्त की कथा के प्रसाद से मेरा जीवन सफल हो गया है ।[4] कवि ने यह कथा पुरवाडवंश के दिनमणि विल्हण के नाती तथा जिनधर के पुत्र श्रीधर के अनुरोध से लिखी थी । श्रीधर बिल्लराम पुर (एटा) में रहते थे । उन्होंने कवि की बडी सहायता की थी । क्योंकि लाखू का परिवार त्रिभुवनगिरि के उजड़ जाने पर बिल्लरामपुर में आ कर बसा था । संभवतः कवि की आर्थिक स्थिति उन दिनों ठीक न होगी और साहु श्रीधर ने अर्थ-सहायता दी होगी । जो भी हो, लेखक ने उस का उपकार माना है और उस के शील-स्वभाव की बडी प्रशंसा की है । कवि ने इस कथा को कवित्वपूर्ण, रसयुक्त तथा विविध भावों से अनुरंजित कर अभिव्यंजित किया है । अतएव यह कथाकाव्य की कोटि का प्रबन्ध है । कथा को कवित्वपूर्ण कहने के बाद ही कवि ने रूपक के सहारे पूरी कथा के सम्बन्ध में परिचय देते हुए सांगरूपक प्रस्तुत किया है (१, ४) ।

कथा-योजना और उस का स्रोत

यद्यपि प्रायः सभी जैन-कथाओं का निर्गम तीर्थंकर महावीर की वाणी से हुआ मानते है । पर कई कथाएँ ऐसी हैं जो लोक मे बरसों तक प्रचलित रही हैं और आज भी

* चन्द्रमा को ओषधिनाथ और ओषधिपति कहते है । इसलिए कवि ने ऐसा लिखा ।

१. इदहरिथ जइ तित्थ भासए   लक्खु जोयणो महि पयासए ।
   इयरु दंति कि णउ सातयउ   पयडु करइ णियवल समेयउ ।
   चंदु देइ जइ अमिय फारउ   ओसही ण किं णिय पयारउ । (१, ६)

२. जइ दिणिदु तइ लोउ वोहए   कि पयगु णियरुइ ण सोहए ।
   जइ ण मुणमि णियमणि गुणव्वहा   तइंवि कहमि तुव पुरउ सक्कहा । (१, ६)

३. सप्पयसरकलहसहो हियकलहसहो   कलहंसहो सेयंसवहो ।
   भणमि भुवणकलहसहो रयकलहसहो   णविवि जिणहो जिणयत्तकहा ।
   णिसुणेवि कहा जिणहरहो पुत्तु   सलहइ लक्खणहो सुबुद्धि जुत्तु । (१, १)

४ ते सुप्पसाए महु सहलु जम्मु   लहु हवइ वप्प णिहणिय कुकम्मु । (१, ३)

५. पुणु पभणइं सिरिहरु णिसुणि लल्ल   पायडिय सत्तु रसमइ महल्ल । (१, ३)

अनुश्रुतियों में उससे मिलती-जुलती विविध कहानियाँ विभिन्न प्रदेशों में सुनने को मिल सकती हैं। अतएव इन कथाओं को लेखक लोक से ग्रहण करता रहा हो तो स्वाभाविक ही है। संभव है उन का महत्त्व एवं प्रभाव दर्शाने के लिए उन के पीछे धार्मिक उद्देश्य जोड़ दिया गया हो। भ० क० ऐसी ही रचना है। उस में श्रुतपंचमी व्रत का माहात्म्य दर्शाने के लिए लोककथा पर धर्म का आवरण चढ़ा दिया गया है। किन्तु जि० क० में वस्तु किसी उद्देश्य विशेष से पूर्व योजित नहीं है। इस मे मित्र श्रीधर के अनुरोध से कवि ने वणिक् अर्हद्दत्त से जैसी कथा सुनी थी वैसी ही काव्यात्मक रूप मे वर्णित है।[1] इस से स्पष्ट है कि यह कथा श्रुति के रूप में बहुत पहले से चली आ रही थी। कवि के कथन से यह भी स्पष्ट है कि उस ने किसी पुराण या काव्य से इसे ग्रहण नहीं किया है। परन्तु आ० सुमतिसूर रचित "जिनदत्ताख्यान" आलोच्यमान रचना से पूर्व ही रचा जा चुका था। इस के लेखक आचार्य पाडिच्छगच्छीय आ० सर्वदेवसूरि के शिष्य एवं दशवैकालिक सूत्र की टीका के रचयिता थे। उन का समय अभी तक प्रकाश मे नहीं आ सका है, पर यह निश्चित है कि वे पं० लाखू के पूर्व के है। यह ग्रन्थ प्राकृत भाषा में गद्य-पद्य मे लिखा हुआ मिलता है। इस की प्रतिलिपि सं० १२४६ की है। इस के साथ ही एक और जिनदत्ताख्यान प्रकाशित हुआ है, जिस की प्रतिलिपि सं० ११८६ की है।[2] लाखू की रचना तेरहवी शताब्दी की है। अतएव निश्चित है कि उन के पूर्व ही जिनदत्त विषयक कथाएँ प्रकाश मे आ चुकी थी, किन्तु कवि ने उन्हें देखा नहीं था; केवल लोक-परम्परा से सुना था। संभवत. अर्हद्दत्त ने उसे किसी आचार्य से सुना हो और उसी को कवि ने निबद्ध किया हो। जो भी हो, कवि ने उसे लोककथा कहा है और उसी रूप मे लोकयुगीन वस्तु-वर्णन भी हुआ है। फिर, काव्य लिखने का प्रयोजन जन्म सफल बनाना कहा गया है, जो स्वान्तःसुखाय की भाँति अपने आप में महत् आदर्श है।[3]

कथा-योजना मे घटनाओं का स्वाभाविक विकास करना अपभ्रंश के कथाकाव्यो की अपनी विशेषता है। जहाँ कहीं अस्वाभाविकता प्रतीत होती है वहाँ लेखक कोई न कोई हेतु कथा या कथाभिप्रायों की योजना कर उसे गतिशील और रोचक बना देता है। जिनदत्त की इस कथा में पाठक को तब बड़ी निराशा एवं झुंझलाहट होती है जब नायक एक के बाद एक विवाह करता हुआ किसी न किसी व्याज से क्रमशः उन सभी पत्नियों को छोड़ता जाता है। कवि के ध्यान में यह घटना-तत्त्व ओझल नहीं था, इस लिए वह चंपापुरी के राजा के मुख से इस बात को कहलाता है कि जो कुमार कई विवाह कर चुका है और सभी विवाहिताओं को छोड़ चुका है उस के साथ अपनी कन्या

---

१. पुणु पभणइ सिरिहरु णिसुणि लक्ख
पायडिय सत्तु रसमइ महल्ल।
वणि अरुहदत्त कह कहहि तेम
अहिणव विरइवि महु पुरउ जेम। (१, ३)।

२. पं० अमृतलाल मोहनलाल भोजक ' जिनदत्ताख्यानद्वय, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, सं० २००६।

३. ते सुप्पसाए महु सहलु जम्मु लहु हवइ बप्प णिहणिय कुकम्मु। (१, ३)

का विवाह करना कहाँ तक उचित है ? किन्तु जब उसे वास्तविकता का पता लगता है तब तैयार हो जाता है। और इस प्रकार कथा में अस्वाभाविकता आने से बच जाती है। इस का एक कारण यह भी प्रतीत होता है कि जिनदत्त का विवाह चंपापुर की राजकुमारी से बतलाना कवि को अभीष्ट था, किन्तु उस का कारण-निर्दिष्ट न होने से नायक को स्वाभाविक मनोवृत्ति का परिचय दे कर ही कथा को आगे बढ़ाया जा सकता था। क्योंकि जिनदत्त पहली बार विमलमती को बिना कुछ कहे छोड़ चुका था। और उस ने छोड़ा इसलिए था कि परदेश तथा द्वीप-द्वीपान्तरों में जा कर उसे द्रव्यार्जन करना था। इस की चर्चा वह पहले ही कर चुका था। अतएव यह विचार कर कि मैं किसी से कहूँगा तो कोई भी मुझे घर से बाहर कमाने के लिए जाने नहीं देगा और पत्नी तो किसी भी प्रकार तैयार न होगी, उस ने नहीं कहा। इस लिए पाठक अनुमान से समझ लेता है कि उस में उक्त कारण रहा होगा। परन्तु शृंगारमती को यकायक नगर के बाहर उद्यान में छोड़ देने में अस्वाभाविकता-सी लगती है। और कथा में अस्वाभाविकता होना उस का सब से बड़ा दोष है। इस का हेतु कवि ने आगे चल कर बताया है कि जिनदत्त पहले ही अपनी दोनों पत्नियों को—वहाँ के चैत्यालय मे देख चुका था, जो कि उद्यान के निकट ही था। इस प्रकार की अस्वाभाविकता तथा चमत्कारों से जहाँ कथा में उत्सुकता, क्षिप्रता और नाटकीयता एवं कुतूहल का समावेश हो गया है वहीं पढ़ते-पढ़ते उपन्यास जैसा आनन्द मिलने लगता है। कहीं-कहो अनावश्यक धार्मिक उपदेश खटकता है, जिस से कथानक के प्रवाह मे अन्तर आ जाता है और पाठक का भी मन ऊबने लगता है। फिर भी कुल मिला कर कथा का प्रभाव मन पर अच्छा ही पड़ता है। अपने शुद्ध रूप में यह एक प्रेमकथा है, जिस में विभिन्न लौकिक पक्षों का समाहार है। जिनदत्त का प्रथम विवाह विमलमती के चित्र-दर्शन को प्रेरणा से होता है, जो रूप-लोभ का उत्तम निदर्शन है। रूप का लोभ मनुष्य में स्वाभाविक और प्रेम की प्रथम वृत्ति का परिचायक है। अतएव नायक के जीवन में एवं कथा में उस की संयोजना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी थी। प्रेम के यथार्थ रूप को दर्शाने के लिए वियोग को चित्रित करना आवश्यक है। क्योंकि वियोग सच्चे प्रेम की प्रथम अनिवार्य भूमिका है। वियोग में प्रेम कंचन की भाँति चिन्तानल में तप कर खरा बन जाता है। इसी लिए नायक ने वियोगाग्नि में जल कर भी वियोग को निभाया और माना। तीसरे, कवि के लिए विप्रलम्भ शृंगार का वर्णन करने और जीवन के दोनों पक्षों को उतारने का यह अवसर परम उपयुक्त था। क्योंकि जिनदत्त की परीक्षा तो सभी स्थानों पर हो चुकी थी, पर उस ने किसी भी पत्नी की परीक्षा नहीं ली थी। अतएव यहाँ पर सभी की परीक्षा हो जाती है। और इसी कारण से जिनदत्त वामन का रूप तब तक नहीं बदलता है जब तक सभी पत्नियों को अच्छी तरह नहीं परख लेता। इस प्रकार यह निश्चित प्रतीत होता है कि कवि ने कई बातों को ध्यान में रख कर कथा की इस रूप मे योजना की है कि वह अस्वाभाविक-सी जान पड़ती है; किन्तु है नहीं। आगे चल कर कथा में हो

उस के स्पष्ट संकेत मिलते हैं, जिस से जान पड़ता है कि लेखक उन घटनाओं तथा तथ्यों से उदासीन नहो था।

जिनदत्താख्यान और जिनदत्तकथा

कुछ नामों को छोड़ कर *जिनदत्ताख्यान और जिनदत्तकथा* मे साम्य लक्षित होता है। उदाहरण के लिए सिंहलद्वीप का राजा पृथ्वीशेखर, विद्याधरों के राजा अशोक की पुत्री अंगारवती, चम्पापुर के राजा को कुमारो रतिसुन्दरी आदि नामों में अन्तर मिलता है। घटनाओं में भी कहीं-कहीं कुछ अन्तर दिखाई देता है। जैसे कि दधिपुर नगर के बाहर जिनदत्त को सार्थवाह से भेंट होना, सिंहलद्वीप से श्रीमती का पाणिग्रहण कर लौटते समय रात को जिनदत्त को समुद्र मे इस लिए डोरा या रस्सी बाँध कर उतारना कि कोई मनुष्य किसी वस्तु को लेने के लिए समुद्र में गिर पड़ा है। फिर भी जिनदत्त उतरने के लिए तैयार नही हुआ तो उसे रस्सी बाँध कर उतारा। जब वह उतर गया तो सार्थवाह ने डोरी को कँपा कर उसी में छोड़ दिया। श्रीमती अपने को रजस्वला बता कर शील की रक्षा करती है और छह महीने की अवधि माँगती है। चम्पापुर के पास आती हुई साध्वियों को देख कर वह वही उतर जाती है और उन के साथ हो लेती है। इसी प्रकार जिनदत्त रथनूपुर के चक्रवर्ती राजा अशोक की कन्या अंगारवती का परिणय कर किसी दिन जन्मभूमि का स्मरण कर दक्षिण समुद्र मे क्रीड़ा करने के बहाने से अगारवती को ले कर विमान मे दधिपुर के लिए चल पड़ता है। मार्ग मे चम्पापुर के उद्यान मे साध्वी के पास दोनों पत्नियों को देख कर प्रसन्न होता है और अंगारवती को उस के निकट ही छोड़ देता है। इस प्रकार कुछ भिन्नता होने पर भी दोनों बहुत कुछ समान है।

जिनदत्तविषयक अन्य कथाएँ

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि लाखू कवि के पूर्व ही जिनदत्तकथा को विषय बना कर कथाकाव्यों को या काव्यों की रचना प्राकृत मे हो चुकी थी, पर कवि उन से अनभिज्ञ था। प्राकृत में ही नही, संस्कृत में भी आ० गुणभद्र 'जिनदत्तचरित्र' की रचना कर चुके थे। यह रचना प्रकाशित भी हो चुकी है। इस की एक हस्त-लिखित प्रति जयपुर के पाटोदी मन्दिर मे स्थित शास्त्र भण्डार में उपलब्ध है। पं० नाथूराम प्रेमी ने गुणभद्राचार्य के उत्तरपुराण के अतिरिक्त आत्मानुशासन और जिनदत्त-चरित्र का भी उल्लेख किया है।[1] उन का समय श० सं० ७४० से ८४० के बीच कहा जाता है। क्योंकि गुणभद्राचार्य अकालवर्ष के शासन-काल मे हुए, जिस का समय लगभग श० सं० ७९७-८३३ है।[2] अतएव आचार्य की जिनदत्तचरित्र की रचना प्राकृत से भी

१. पं० नाथूराम प्रेमी . जैनसाहित्य और इतिहास, प्रथम संस्करण, पृ० ५११।
२. वही, पृ० ५१६।

पहले की जान पड़ती है। उक्त रचनाओं के अतिरिक्त 'जिनरत्नकोश' में तीन अन्य रचनाओं का उल्लेख मिलता है—जिनदत्तकथा (संस्कृत गद्य) रचना काल सं० १४७४; जिनदत्तचरित्र (अप०)—रयधू कृत तथा जिनदत्ताख्यान (प्राकृत गद्य)। हिन्दी भाषा में लिखी हुई कई 'जिनदत्तचरित्र' नाम की रचनाओं का पता चलता है। उन में से कुछ निम्नलिखित हैं :—

१. जिनदत्तचरित्र—कवि कमलनयन-पद्यानुवाद (भाषा), र० का० सं० १८७१।[1]
२. ,, —पं० बखतावरमल्ल-भाषा, र० का० सं० १९०९।[2]
३. ,, —मुनि विश्वभूषण-भाषा (चौपई बन्ध), र० का० सं० १७३८।
४. ,, —पन्नालाल चौधरी भाषा; र० का० सं० १९३६।
५. ,, —पं० श्रीलाल काव्यतीर्थ-हिन्दी अनुवाद।

कन्नड भाषा मे पद्मनाभ कृत 'जिनदत्तचरित्र' का पता मिलता है। इसी प्रकार सम्भव है कि अन्य भारतीय भाषाओं में भी जिनदत्तकथा का आधार ले कर साहित्यिक रचनाएँ लिखी गयी हो। क्योंकि जैन साहित्य में एक ही विषय तथा वस्तु पर विभिन्न आचार्यों द्वारा विविध रचनाएँ प्रत्येक युग मे लिखी जाती रही है।

वस्तुवर्णन

यद्यपि जिनदत्तकथा में कुछ वर्णन परम्पराभुक्त एवं प्राचीनता के द्योतक है, पर कुछ नवीनता लिये हुए भी है, जिन में लोक-समाज तथा रीति-पद्धतियों का सटीक वर्णन है। वस्तुत कुछ वर्णन प्रबन्धात्मकता के लिए आवश्यक ही नही अनिवार्य भी होते है। ऐसे वर्णनों में नगर-वर्णन, रूप-वर्णन, प्रकृति-वर्णन, बाल-वर्णन, संयोग-वियोग-वर्णन, विवाह-वर्णन, यात्रा-वर्णन तथा नायक के साहसिक कार्यों आदि का वर्णन कहा जाता है। अतएव वस्तुवर्णन मे प्राचीन वर्णनों का होना या न होना महत्त्वपूर्ण नही है, वरन् वर्णन की शैली में पुराना या नयापन होने से उस का महत्त्व है। पं० लाखू की शैली की यह विशेषता है कि वे अलकृत शैली मे वर्णन करते हुए भी लोकशैली का आनन्द प्रदान करते है। बहुत कम स्थल ऐसे है जहाँ चमत्कार से भरित होने के कारण अर्थ दब-सा गया है। इस का मुख्य कारण कवि की साहित्यिकता है, जो शास्त्रीयता मे बँध कर चलती है।

नगर-वर्णन

आलोच्यमान कथाकाव्य में चार स्थलों पर नगर-वर्णन मिलता है। चारों ही वर्णन एक-दूसरे से भिन्न हैं। कवि ने सिंहलद्वीप का वर्णन नही किया। इस के दो ही

१. कामताप्रसाद जैन . हिन्दी जैन साहित्य, प्रथम संस्करण, पृ० २१४।
२. वही, पृ० २२०।

कारण जान पडते हैं—एक तो यह कि जिनदत्त को तथा पाठकों को सिंहल के राजा और उस की राजकुमारी का विवरण मालिम से मिलता है। वह प्रसंगत: जितना परिचय दे सकती थी उतना दिया। दूसरे, सम्भव है कि सिंहलद्वीप के सम्बन्ध में कवि को विशेष जानकारी न हो। वसन्तपुर का कवि ने बहुत विस्तृत वर्णन किया है। प्रथम सन्धि के नवम कडवक से ले कर तेरहवें तक वसन्तपुर का अलंकृत वर्णन है। विविध छन्दों में काव्यात्मक वर्णन करना कवि की विशेष प्रवृत्ति है। किन्तु चम्पापुरी का वर्णन दो ही कड़वकों में सीधा-सादा वर्णित है। दधिपुर (दशपुर) का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि वहाँ के गोपुर स्वर्णनिर्मित हैं। वे इतने ऊँचे हैं कि आकाश को छूते हैं। परिखाएँ लबालब जल से पूर्ण है। सभी जाति के लोग उस पुर में रहते हैं। सभी अपने धर्म का पालन करते हैं। उस पुर के भवन चन्द्र और सूर्यकान्त मणि के बने हुए प्रकाशमान हैं। सभी पाप-कर्मों से रहित पवित्र हैं। वहाँ किसान लोग धान्य के आश्रित हैं वहाँ के लोगों में प्रेम प्रदीप के समान निर्मल है। उस पुर में उत्पन्न होने वाले फल सभी की इच्छाओं को पूरा करने वाले हैं। वहाँ निरन्तर शीतल, सरस झरने कलकल करते हुए बहते रहते हैं। वृक्ष वहाँ छाया देने वाले हैं। समस्त सुखों से वह पुर भरपूर है। इस प्रकार वहाँ किसी बात की कमी नहीं है। (३,१४) इसी प्रकार दो कड़वकों में समस्त पदावली तथा सालंकार भाषा में कवि ने रयनूपुर का वर्णन किया है। लगता है कि बाणभट्ट ही कादम्बरी मे किसी नगरी का वर्णन कर रहे हों।

तुहिणगिरिसरिस पिउ परिह परियरियउ   रयणघणकणकणयसुवणजण भरियउ।
तरणियररयणयरपउरपरितवियउ   रयणियरमणिकिरणगलियजलघवियउ।
अरुणमणिफुरणसुपसरण अरुणियणहो   कसणसिरिरयणकरफुरणकसणियपहो।
इत्यादि (५, ४)

कवि की यह अलंकृत शैली प्रायः सभी वर्णनो मे दिखाई देती है। वस्तुतः यह संस्कृत-साहित्य के अध्ययन का निदर्शन है। स्पष्ट ही कवि संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश का अच्छा विद्वान् एवं पण्डित था।

बरात का वर्णन

बरात का वर्णन यथार्थ रूप में किया गया है। शैली प्रसाद गुण युक्त तथा मधुर है। वर के हाथों मे कंकण पहना कर स्त्री-पुरुष विवाह के लिए प्रस्थान करते हैं। साथ मे भाँति-भाँति के बाजे बजते हैं। महिलाएँ मंगल-गीत गाती हैं। कुमार के दोनो ओर चमर के साथ युवतियाँ चलती है। सुन्दर और सुवासित वस्त्रों से युक्त तथा कम-नीय ललनाएँ पूनम के चन्द्रमा की भाँति शोभायमान हो रही थीं। सुन्दरियाँ स्त्री जनों के बीच नाच रही थी। इस प्रकार जय-जय शब्द करते हुए पुर में सभी पैदल चल रहे थे। साथ मे एक करोड़ बैल शोभायमान थे। उन के सींग मण्डित थे। गले में घण्टियाँ

टमटमा रही थीं। लोग कांठे भर-भर कर उन बैलों पर चले जा रहे थे।

कंकणकलियहत्यहय हेलए मंदलमहुर घोसया
ढक्कफुडुक्कबुक्कमुक्कारव वज्जिरणंदि घोसया।
मंगलचारसार वरणारिउ महुररवाउ संगया
उभयवक्खु वरहो जुवईउचालिर चमर संगया।
सरसोहंसचारुबच्चियवउ वरु वरवासरे मंडिउ
हुइ सयलु पुण्णिमाइंदुव तणु दित्तिए अहंडिउ।
सियरिसमूहत्थवियंवरु णिहिल सुहोणभूसिउ
हयहिंसारवेण भेसियदिसु मणियरु तिमिरु सेसिउ।
णिरु णच्चंतु चारु णारीयणु पयलिय सेयबिंदओ
वरयत्तियभारणभारियघरकंपियकुयलि कंदओ।
छत्तावलि णिरंतर तरिय तरणि करणियरकंतउ
पुरउ चरंतु चारुचारणउलु जयसद्दोच्चरंतउ।
गलि घंटा टणंत सवलावय धवल करोड
सोहणा परमपिसंडिवद्धसिंग गारुणलुलियंबरघणा। २,१०।

और उन के साथ इतने घोड़े थे कि खुरों से उठी हुई धूलि उन लोगों की आँखों में भर रही थी। इस प्रकार आमोद-प्रमोद से भरे हुए अनगिनत लोग काम-विलास को उत्पन्न करते हुए उस बारात में चले जा रहे थे।

चलियागणिय वुज्झदुगिज्झहु कलकट्ठाल भारिया
कावडिकलियकंधयिरपक्कल चलिया हिल कहारिया।
हयखुरखयकुरेणुलुंपिय वरयत्तिणराण लोयणा
सामोयमण सयल संचलिय कामविलासकोयणा।
इसी प्रकार विवाह का भी सजीव वर्णन हुआ है।

विवाह-वर्णन

विवाह-वर्णन में कवि ने सभी मुख्य बातों का वर्णन किया है। विवाह के लिए वर ससुर के द्वार पर पहुँचता है। चारो ओर गीत तथा वाद्य-ध्वनि से दिशा-मण्डल भर जाते हैं। कल-कल कोलाहल और वन्दी जनो के स्तुति-पाठों से सब कुछ व्याप्त हो जाता है। उसी समय कन्या का शृंगार किया जाता है। महिलाएँ मिल कर मंगल गीत गाती हैं। वर के सम्मुख कन्या को बैठाया जाता है। परस्पर एक-दूसरे को देखने से काम-भाव तथा मदन-विलास उत्पन्न हो जाता है। दोनों ही एक दूसरे की ओर अभिमुख होते हैं। गोत्राचार होने के बाद पाणिग्रहण का कार्य आरम्भ होता है। उस समय जिनदत्त कटाक्षपात करता है। बार-बार बाँकी दृष्टि से विमलमती को देखता

है। वह लज्जा (व्रीडा) वश पैर के अँगूठे से धरती को खुरचती है। उस के चंचल नेत्र काम को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार एक दूसरे को देखते हुए वे दोनों वहाँ बैठे रहे। ब्राह्मण ने पूजा-विधि संपन्न कर बन्धुओं के द्वारा वर-वधू की अँगुलियों को एक दूसरे में पिरो दिया, मानो प्रथम स्नेह के रस से बीजांकुर ही उत्पन्न हो गया हो।

सो तहिं कालि णववरो णं रईवरो पत्तु मामदारे।
विलया गेयसंकुले कलकलावले वंदिवंदसारे॥
ताम पसाहियावि सा बालिया वत्थाहरणभूसिया
मंगलसद्द मिलिवि वरकामिणिवर-सम्मुहं णिवेसिया।
अण्णोण्णावलोयणुप्पण्णइं णवरविलासकयदिहो
अहिणवपणयपउरपसरणभरभारियवल्लहामही।
तहो दंसणजलेण अहिसित्तउ मणदलरइरसड्ढिउ
गुणसुच्छाउ ताहे परिमिल्लउ पणयावणिउ वड्ढिउ।
जहं जहं सरलतरलणयणावलि वल्लहवयणवणरुहे
खिवइ पसण्णवाल तहं तहं वरु उल्लसियंतु कयसुहे।
....

....

वरवंधवेहिं कुम्वरीहिं करे अंगुलीए अंगुत्थलउ।
पोयउ णं पढमसणेहरस रेहइ बीयंकुर वलउ॥ (२, १२)

विवाह-वर्णन की भाँति काम-क्रीडाओं का भी सजीव और विस्तृत वर्णन हुआ है। नायक-नायिका के हाव-भाव, अनुभाव और विभावों का अच्छा चित्रण संप्रेष्य बिम्बों के माध्यम से हुआ है। इसी प्रकार कामज्वर से पीडित जिनदत्त का वर्णन भी सूक्ष्म, विस्तृत और हृदयग्राही हुआ है।

हाट-वर्णन

हाट का स्वतन्त्र वर्णन इस काव्य में नहीं है। नगर-वासियों के सम्बन्ध में वर्णन करते हुए कवि ने प्रसंगतः निर्देश किया है। उस रत्नपुर मे मनोहर वेश्याएँ चित्त को चुरा लेने वाले मणिमय हारों को पहने हुए द्वार-द्वार पर स्थित थीं। रात हो जाने से जुआरी फणों को छोड़ कर अपने घर जा रहे थे। रस से भरित वेश्याएँ विटों से घिरी हुई बैठी थी। तमोली मोल-तोल कर रहे थे। माली फूलों की मालाएँ दे रहे थे।

मणहरणिरारमणे हार मणिमयहार उरे घुलिय ठिय दारे दारे जि णियहार।
परिहरेवि टिंटाइ जूयार घरे जंति रसविड्ढवि विडणिविड वेसोय बहिठंति।
तंमोलिया मोल्लंत मोल्ल अप्पंति मालिय पसूणोह माला समप्पंति। ५,१३।

इस प्रकार वेश्याओं का वर्णन ही कवि ने मुख्य रूप से किया है।

सिंहलद्वीप-यात्रा-वर्णन

सिंहलद्वीप की यात्रा में लेखक ने कई द्वीपों के नामों का उल्लेख किया है, जो या तो मार्ग पर थे अथवा जो एक ओर छूट गये थे। घर से यात्रा के लिए प्रस्थान करने का भी पूरा वर्णन हुआ है। समुद्र-तट पर आकर ठहरने, रसोई-भोजन करने आदि का भी वर्णन आलोच्यमान काव्य में है। समुद्र के तट की शोभा, प्रकृति के विविध परिवर्तनों के बीच उस की श्री तथा समुद्र का वर्णन करने के अनन्तर कवि जहाज को ठेलने, उस को सजाने आदि का वर्णन करता है। पोत में बैठ कर सब जा रहे हैं। समुद्र गरज रहा है। पोत बहा चला जा रहा है। वेणा तट को छोड़ कर वह हिम द्वीप पहुँचता है। वहाँ से भंभापट्टन होता हुआ कुंडलद्वीप पहुँच जाता है। मार्ग में मैनाग द्वीप एक ओर रह जाता है। इस के पश्चात् वे तिलक द्वीप की ओर बढ़ते हैं। किन्तु उसे छोड़ कर सहजावइद्वीप की ओर मुड़ते हैं। वहाँ से छोहारद्वीप का मार्ग पकड़ते है। फिर मेच्छ, पावाल (प्रबाल) द्वीप मे विश्राम करते हुए वे वडवानल से बच कर आगे बढते हैं, जहाँ वैदूर्यमणि की एक खान मिलती है। वहाँ पर क्रय-विक्रय कर लाभ लेकर रत्नद्वीप में पहुँचे। फिर, हीरा की खान को छोड़ कर रत्नों को अंगोर कर सेतु-बन्ध पहुँचे। वहाँ से नीलमणि द्वीप मे गये। उस नीलमणि द्वीप मे पाँच सौ धनुष ऊँची जिनप्रतिमा स्थित है। वहाँ ऋषभनाथ की वन्दना कर पोत में बैठ कर सब आगे बढ़े। अन्त में जहाँ बीस सौ धनुष ऊँची जिनप्रतिमा विराजमान है, ऐसे उस सिंहलद्वीप में आ पहुँचे। पोत के तट पर लगते ही सब भार उतार कर नीचे रखा गया। सभी आनन्द से नीचे उतर गये।

समुद्र-वर्णन

समुद्र का वर्णन जिनदत्त कथा मे अत्यन्त सजीव है। पढने के साथ समुद्र का चित्र आँखों के सामने उतर आता है। अनेक गाँव, पट्टन, प्रदेशों को पार करते हुए सार्थवाह के साथ सभी लोग सानन्द समुद्र के तट पर बहुत दिनों के बाद पहुँचते हैं। वह समुद्र जल से लबालब भरा हुआ तथा अनेक रत्नों से प्रकाशमान ऐसा जान पड़ता था मानो इन्द्र ही हो। निरन्तर किलोलें करने वाली लहरें उस मे स्फुरायमान हो रही थी। श्वेत चन्द्र के समान उज्ज्वल फेन-राशि शोभायमान हो रही थी। जल में स्नान करते हुए चिंघाड़ते हाथी सज रहे थे। भयानक मगर विचरते हुए तीर पर दिखाई दे रहे थे। किनारे पर मछलियाँ समुद्र के हार जैसी शोभित हो रही थी। बार-बार नाके आदि समुद्र के जलजीव चमक जाते थे। अत्यन्त धवल शंखों की माला सुखदायक थी। कहीं-कहीं तिमिमत्स्य चंचलता से चमकते शोभायमान हो रहे थे।

दिणवहुव सो सत्थवाहो बहंतो   सहरिसु अकूवारतीरे पहुत्तो।
जलबहलु ता तेण दिट्ठो णईसो   बहुरयणभासिल्लउ णं सईसो॥
अणवरय कल्लोल घोलंत फारो   सियससिव डिंडीरपिंडोह तारो।

जलकरडि मज्जंत गज्जेहि सज्जो जलणरविरुधंत गत्ते मणुज्जो ।
मयर वियरंताण तीरे दुहिल्लो सरलयर हारुल्लिओ कंठतुल्लो ।
महफुरियणवकंकियो णं मुहुल्लो अइधवलसंखावलीए सुहिल्लो ।
परिफुडिय सुत्तीउडे संकडिल्लो तिमितरल झंपंति एवं कुडिल्लो ।३,२२।

इन के अतिरिक्त राजा चन्द्रशेखर, धनवाहन, अशोक तथा जिनदत्त आदि का अच्छा वर्णन हुआ है । जिनदत्त का वर्णन दो स्थलों पर मुख्य रूप से बहुत ही उत्तम बन पड़ा है । सागरदत्त जब पहली बार जिनदत्त को देखता है तो उस के रूप-सौन्दर्य का उत्कृष्ट वर्णन कवि ने किया है । दूसरी बार सिंहलद्वीप से लौटते समय समुद्र और जिनदत्त के वैभव की बहुत ही सुन्दर तुलना अलंकृत शैली में की है । इन वर्णनों को पढ़ कर बाण की कादम्बरी का स्मरण हो आता है । किन्तु वस्तु और शैली में अन्तर होने से पं० लाखू का व्यक्तित्व अलग ही स्थान रखता है ।

बाल-वर्णन

बालक जिनदत्त के वर्णन में भी कवि का वैशिष्ट्य लक्षित होता है । कुछ बड़े हो जाने पर बालजिनदत्त स्वर्ण के बने हुए उस मन्दिर में घुटरुन चलते हैं । आँगन में विचरते हुए क्रीडाएँ करते हैं । हाथों के बल धीरे-धीरे खिसकते हैं । उन की क्रीडाओं को देख कर लोग हर्ष से भर कर उन्हें उछालते हैं, कपोलों को चूमते हैं । सोने की घुँघरुओं से मण्डित उन के पगों को तथा मुग्ध वेश को देख कर साहु जीवदेव आनन्द-दायक बाल को अपनी गोद में बिठा लेते हैं । बालक के सहजात कुटिल केश तथा धूलिधूसरित वस्त्र अत्यन्त शोभायमान होते हैं ।

वियरइ पंगणे कीलाविसेसु तणुतेओहामिय वासरेसु ।
करे करे संचरइ सुवण्णधामु बालुवि जायउपायडिय णामु ।
हल्लर हल्लर हल्लर सरेहिं णरणाहि विलासिणि सायरेहिं ।
उच्चाइलिति गुणमणिवरिट्ठु चुंबंति तुंडु गंडुवि विसिट्ठु ।
कणयमय घुघ्घरावलि विसेस मंडिय पयाइं गय मुल्लवेस ।
पेच्छेवि ससूणु वणिजीवदेउ उच्छंगि लेइ आणंदहेउ ।
सहजाय कुडिल कुंतल जडिल्लु धूलिधूसरियावयकडिल्लु । (१,२३) ।

रूप-वर्णन

नगर-वर्णन की भाँति रूप-वर्णन भी आलोच्यमान कथाकाव्य में चार स्थलों पर हुआ है । रूप-वर्णन में कवि ने केवल बाह्य सौन्दर्य को ही बिम्बों में मूर्तिमान् नहीं किया है, अपितु आन्तरिक सौन्दर्य का चित्र भी संप्रेक्ष्य बनाया है । वर्णन सभी एक से एक सुन्दर तथा सजीव है । उदाहरण के लिए शिल्पी विमलमती का वर्णन करता हुआ कहता है कि कमनीय कुण्डलों के बीच उस कन्या के सुन्दर कान झलमलाते हैं । उद्दीप्त एवं तपाये हुए सोने की भाँति वे अनुरंजित हैं । उन को देखते ही स्नेह से जन-मन मोहित हो जाते

है। लम्बी वेणी अलकों से अलंकृत उस की पीठ पर झूलती रहती है। साड़ी का सुन्दर पल्ला और हार उस के तन पर बहुत शोभा पाते हैं। कपोलों पर प्रस्वेदजल की बूँदें शोभित होती हैं। सोने से गढ़ी गयी प्रतिमा की भाँति वह बाला सोहती है। यही नहीं, बहुत-सी गीत-कलाओं में भी वह कुशल है, जो मुनियों के मन के समान मोह लेती है। वह बहुत गुणों से भरपूर कोयल के समान मधुर बोलने वाली है। हे वणिक्वर! क्या एक जिह्वा से उस का वर्णन हो सकता है?

वह दुहिय दुहरहिय विमलामइ कण्ण कमणीयकुंडलझलक्कंत वरकण्ण।
उवित्त संतविय सोवण्ण सुपहाल पिच्छंत जणमोहणासहिब णेहाल।
लंबंत वेणीलयालंकरिय पिट्ठि वेलंचलाचार चलहारलय सिट्ठि।
सेलिधपरिमल मिलंतालिसंदोह वियलंत गंडाउ सेयंबु विंदोह।
कंचणह घडियव्व बडिमेव सोहंति बहुगेयकलकुसल मुणिमणुव मोहंति।
बहुगुणहं अहिययरि परपुट्ठिसम वाय कि एक्कजीहाए वण्णियइ वणिराय। (२,७)

उक्त पंक्तियों में कवि ने नारी-सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कुण्डल की कमनीयता के साथ ही आन्तरिक कोमलता, मधुरता और तपाये हुए सोने की भाँति निर्मलता का बिम्ब चित्रित किया है। अतएव मुनि के मन की उपमा देकर उस सादृश्य को अभिव्यंजित किया गया है। अलंकारों के प्रयोग तथा वर्णन की सादृश्यता में यहाँ पर महाकवि धनपाल का स्मरण हो आता है। सम्भव है धनपाल ने इस काव्य-रचना को पढ़ा या सुना हो।

रूप-वर्णन में कवि-समय के अनुसार दिव्य पात्रों का वर्णन चरण-नख से शिख तक किया जाता है और मानवीय पात्रों का वर्णन इस के विपरीत शिख से नख तक होता है। किन्तु पं० लाखू ने नायिका का रूप-सौन्दर्य दोनों रूपों में चित्रित किया है। यद्यपि यह वर्णन (नख-शिख) पात्रगत (मालिन के द्वारा) है, और इस में भी पहले नेत्रों का और फिर कोमल करतल-चरण का वर्णन है, पर क्रमशः वह पयोधर, हीरावलि के समान दशन, लोचन, बिम्बाधर, ग्रीवा और ससिचूड से युक्त है। प्रयुक्त उपमान प्रायः सभी पुराने हैं। उन मे विशेष चमत्कार नही है। वर्णन अलंकृत तथा परम्परित है। शिख से ले कर नख तक के वर्णन में अवश्य कुछ नवीनता झलकती है।

तहिं जोव्वणवणलावण्णलील णं सरवाहहो पारद्धि कील।
कुंतलकलाव अलिणीलभास णं मयणहो वग्गुर गरुय पास।
कुरलावलिकलियकवोलभित्ति णं मयणहो तोणा जुयल जुत्ति।
छणछणयायरदलभालपट्टु णं झसकेयहो जयविजयपट्टु।
वंकुज्जलु भूजुवलउ सुचाउ णं सरेण चडाइउ चप्पिचाउ।
भूमज्झु जं जि रइरस अगाहु तं घणुह मज्झि णं मुट्ठिगाहु।
कलयंठिकंठ कल झुणि सहाउ णं तद्धणगुण टंकारराउ।
जगु मोहइ णासावंससीह जयभेरि सरहो णं जयिय सोह। (५,८)

शृंगारमती का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि वह यौवन रूपी वन में लावण्यलीला ही कर रही थी। उस के केश-कलाप काले-काले भौंरों जैसे जान पड़ रहे थे मानो मदन की डोरी का बना हुआ भारी पाश हो। अलकें कपोलों पर लटकती हुई ऐसी जान पड़ रही थी मानो कामदेव के धनुष और बाण हों। पूनम के चन्द्रमा के समान उस का माथा था मानो काम का विजयपट्ट हो। उस की दोनों भुजाएँ चढ़ाये हुए धनुष की भाँति प्रतीत हो रही थीं। संसार में जो भी अगाध रति का रस था वह उस की भौंहों में समाया हुआ था। उस के सुन्दर कण्ठ से जो ध्वनि निकलती थी वह मानो धनुष की टंकार ही होती थी। उस की नासा जग को मोहने वाली जय भेरी के समान थी। उस के अधर बिम्बाफल के समान थे। निर्मल कुछ-कुछ दिखलाई देती हुई दाँतों की पंक्ति ऐसी शोभायमान हो रही थी मानो सरोवर में सीपियों के बीच मोती सोहते हों। कमल जैसा प्रफुल्ल मुख काम के छत्र की भाँति सुशोभित था। सुन्दर बाहु युगल काम की कुसुममाला ही जान पड़ रही थी। कढ़े हुए दोनों उरोज कामदेव के स्नान करने के दो कलश ही प्रतीत होते थे। गहरी नाभि सरोवर और त्रिवली उस में क्रीडा करने वाली तरंगें जान पड़ती थी। उस का दुबला-पतला उदर रस का प्रसार करने वाला मानो साक्षात् कामदेव ही था। विस्तृत कटि अत्यन्त रसयुक्त थी, मानो रतिपति का ही रूप हो। इस प्रकार उस का कटि-प्रदेश बहुत बाँका, तरल, चंचल और विशिष्ट अंगों से शोभित था, जिस मे तीनो लोको के जन-मन रूपी तुरंग भ्रमित होते थे, चक्कर खाते थे। उस के गुह्य स्थान की जय हो मानो वह काम को ध्वजा-पताका ही थी। उस की जाँघें इतनी कोमल तथा सुडौल थी कि कलभ (गजशावक) को भी तिरस्कृत कर दिया था, वे मानो कामदेव की शरण मे आने वालो के लिए आलानस्तम्भ थे। उस के शरीर के संधि-बन्धन इतने घने और दृढ़ थे कि मानो जन-मन को मारने के लिए काम की ही शक्ति हो। मसृण जंघाएँ ऐसी शोभित हो रही थी मानो जन-मन के विचरण के लिए काम का ही मार्ग हो। निर्मल नखो की प्रभा क्या स्फुरायमान हो रही थी मानो दर्पण ही हो। लालकमल के समान उस के तलवे (पदतल) क्या थे मानो काम की विजय प्राप्ति के ही सूचक हों।

इस प्रकार समूचा रूप-वर्णन अलंकृत शैली मे वर्णित शास्त्रीय परम्परा मे विहित है। कहीं-कहीं उपमानों की नवीनता और उक्ति-चमत्कार भी लक्षित होता है। किन्तु अधिकतर वर्णन परम्पराभुक्त एवं रीतिग्रस्त है। यह संस्कृत का स्पष्ट प्रभाव है। लगता है कि कवि ने संस्कृत का काव्यत्व ही शास्त्रीय निपुणता के साथ यहाँ रस से अभिषिक्त कर उड़ेल दिया है। इस में जो कुछ नवीनता दिखाई देती है, वह बहुत कम है— वह कवि की प्रतिभा का चमत्कार है। संक्षेप में, रूप-वर्णन कवि की वाणी मे प्रभावोत्पादक रूप से तथा पात्रों के मुख से स्वाभाविक और प्रभावोत्पादक दोनो ही रूपों में हुआ है। अधिकतर वर्णन शास्त्रीय एवं अलंकृत शैली मे है। अलौकिक रूप मे वर्णन बिलकुल नहीं है।

प्रकृति-वर्णन

प्रकृति-वर्णन में वन, सन्ध्या, रजनी, वसन्त आदि का श्लिष्ट वर्णन आलोच्य-मान कथाकाव्य में मिलता है। मुख्यतः आलम्बन रूप में प्रकृति-चित्रण हुआ है, पर उस का उद्दीपन रूप भी अभिव्यंजित है। प्रकृति-वर्णन की लगभग सभी विधाएँ जि० क० में लक्षित होती हैं। वन-वर्णन में आलम्बन, प्रभावात्मक, परिगणनात्मक तथा उद्दीपन रूप में विविध रंगीनी चित्र दिखाई देते हैं; जिन में कवि की रुचि तथा सूक्ष्म अध्ययन का पता लगता है। प्रत्येक चित्र बिम्बों में सजीव और भाषा में सटीक यथा-र्थता से मण्डित है। भाव और भाषा के सम प्रवाह में शब्द-चित्र को उतारने में कवि अत्यन्त कुशल है। लय और ताल उस के पदों के पीछे अनुकरण करते-से जान पड़ते है। उदाहरण के लिए—

पहुल्लफुल्ल झुल्लमाण अल्लसप्फलं पिहुप्पिहु—दुदुमेसुदेमि दोहलं जलं।

इसी प्रकार वन का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

सकोरवा पहूव चूवपायवा णिरंतरे चलंतचारुकोकिला लवंत सा णिरंतरे।
पहुल्लफुल्लगंधलुद्ध णिद्ध भिंगभिंगिया झुणंति सस्सुरं सुसोहणा णहग्गमग्गलग्गिया।

इन उदाहरणों में शब्द-नाद, पद-योजना, ताल, लय, गीति और छन्द तथा संगीत का कितना सुन्दर मेल है।

सन्ध्या का वर्णन है—संझा होते ही चारों ओर लाली फैल जाती है। समुद्र का रंग भी लाल कमल के समान हो जाता है, मानो स्निग्ध घने मूँगे के रूप मे काम ने ही अपना रंग डाल दिया हो। फूले हुए टेसू ऐसे जान पड़ते थे मानो गहरे लाल सिंदूर ने ही रूप धारण कर लिया हो। राग को धारण किये हुए सन्ध्या रूपी नायिका लज्जा से दिनकर की सेज पर पहुँची। उस समय वह समस्त लोकों की सुन्दरता को धारण कर रही थी। रवि भी अच्छी तरह विचार कर वहाँ गया। बडे-बड़े लोग शालीनता से दिन के कार्यों को समाप्त कर भोजन करने लगे। फिर, रजनी की बात सुन कर कि सन्ध्या से रमण करना युक्त नही है चारो ओर तम का राज्य फैल गया। इस में क्या अचरज है कि संझा (सन्ध्या) झीनी हो गयी और तम रूपी मोह का प्रभाव छा गया।

विहावरि वासर अंतरि जाय समुज्जल संझ वरारुण छाय।
सिणिद्ध घणामल विद्दुमरंग सरीसरत्तुप्पल णं समरंग।
पलासपसूण पहुल्लिय सोह सुरत्तसिंदूर णिरूविय देह।
वहंति सकंतहो राउ सलज्ज गया लहुसावि दिणंदहो सिज्ज।
लहेवि असेसहो लोयहो चारु गओ रवि संझसमो सुवियारु।
महंत जि माणवलोए सलज्ज समत्ति सकज्जे पभुंजहिं भज्ज।
सुणेवि तमारिहि केरी वत्त ण वासरि णारि रमिज्जहो जुत्तु।
संकततमोमहराय विसुद्ध अहो कह भंति ज आइ ण मुद्ध। (३,२३)

यहाँ पर संध्या का वेग से लज्जा पूर्वक दिनकर की सेज पर जाने और दिनकर का विचार पूर्वक उस के पार्श्व मे शोभायमान होने को कल्पना कितनी सुन्दर है। उक्त पंक्तियों मे सन्ध्या, दिनकर, रजनी एवं तम का मानवीयकरण हुआ है। भारतीय साहित्य में मानवीयकरण कोई नई वस्तु नही है। महाकवि कालिदास से ले कर संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश-साहित्य में प्रकृति-वर्णन का चित्रण मानवीयकरण तथा अलंकृत रूप में कहीं न कही होता रहा है। अलंकृत शैली में वर्णित प्रकृति का उदाहरण है—

कसण कज्जल अलसिकुसुमयलि अलिसिमिर मसि सम सरिस।
वणतमालदल पडल वण्णउ दहदिसिवह पसरियउ।

परन्तु लोकशैली में प्रचलित टेक और धुनों के आधार पर वस्तु एवं विषय का वर्णन करना अपभ्रंश-कवियो की विशेषता है। ऐसे वर्णनों में बिम्बार्थ स्फीत हो कर चित्र को बिलकुल स्पष्ट कर देता है तथा भावों के साथ ही उस की क्रिया प्रेरक एवं वेगवती लक्षित होने लगती है। रात्रि के वर्णन का एक दृश्य देखिए—

णं णिसा णिसायरीहिं फुल्लसोह णं रईहिं।
गेहि गेहि दिज्जयंति दीव जे तमोह हंति।
ताव वंदिया समेउ चंद उग्गउ सतेउ।
लोयणाण तें असोहु भंजि घल्लिउ तमोहु।

इसी प्रकार चन्द्रोदय का प्रभावकारी चित्र देखिए—

भूरुहाउ ता सकुंत उड्डिया चुमुच्चुमंत।
उग्गउ तमारि ताम्ब भासमाणु देसगाम।
अंधयार चालयंतु चक्किचक्क मेलयंतु।
कंजपुंज तोसयंतु धम्ममग्ग पोसयंतु।
ताम्ब ओसहीसधामु णट्ठहो विसिट्ठकामु।

पढ़ने के साथ लगता है कि उगते हुए चन्द्रमा को प्रत्यक्ष देख रहे हो और वह सचमुच कोई दिव्य प्रभावशाली हो, जिस से सब कुछ भासमान हो रहा हो तथा उसी में इतना सत्व है कि अन्धकार को भगाने में समर्थ है, दूसरे में यह गुण कहाँ है जो धर्म मार्ग का पोषण करता हो अर्थात् शान्ति प्रदान करता हो और तिमिर जैसे शत्रु को भी भग्न कर देता हो। इस प्रकार गीति शैली मे श्लिष्ट बिम्बार्थ-योजना कर कवि ने समूचा चित्र ही स्पष्ट कर दिया है। काव्य मे ऐसे अनेक स्थल है, जो इस काव्य-सत्त्व को सहज रूप मे सहेजे हुए है।

वस्तु-परिगणनात्मक रूप मे वन मे स्थित अनेक वृक्षों और फूलों की नामावली मिलती है। पूरे कड़वक मे वृक्षों और फूलों के नाम भर ही है (५,१९)। लगता है कि इतने अधिक वृक्ष और फूल चम्पापुरी के बाहर वन मे रहे भी होंगे या नहीं? यथार्थ में प्रबन्ध-परम्परा में इस प्रकार नामों को गिनाने की पद्धति बहुत पहले ही प्रचलित हो

प्रचलित हो गयी थी। वाल्मीकिरामायण स्वयम्भू के पउमचरिउ, बाणभट्ट की कादम्बरी, तथा सन्देशरासक में इसी परम्परा का निर्वाह मिलता है।

प्रकृति-वर्णन में कहीं-कही कवि ने क्रियापदों के द्वारा प्रकृति के व्यापारों को अभिव्यंजित किया है। ये गीतशैली और छन्द दोनों में अभिव्यक्त हुए हैं। किन्तु ये मुख्यतः गेय हैं और एक-एक पद में एक-एक चित्र से संवलित हैं। उदाहरण के लिए अमरपुरसुन्दरी नामक छन्द में वर्णित निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

पमुइया सम्मणे बहुतरूणं वणे
विहविहयाउले गुंजिरालीउले
कोवि लालावरे किण्णरी कोलिरे
फुल्ल पफुल्लरे वल्लरी हल्लिरे
दक्खरसरिल्लिरे मयण सोहिल्लिरे
पवणपडिपिल्लिरे पत्तदर चल्लिरे
सरसफलभरसहे णमिय वसुहारुहे। (३,९)

भावाभिव्यंजना

आलोच्यमान कृति मे मार्मिकता से ओतप्रोत कई मार्मिक स्थल हैं, जिन में मनुष्य जीवन के विविध मार्मिक प्रसंगों की सुन्दर योजना हुई है। बेटी की भावभीनी बिदाई, माता का नयी बहू का स्वागत करना, बेटे की आरती उतारना, जिनदत्त का समुद्र मे उतरना, समुद्र-संतरण, वनिताओं का करुण विलाप आदि सरस स्थल है, जहाँ मानवीय संवेदनाओं की अनुभूति से हमारा हृदय द्रवित एवं दीप्त हो जाता है। विभाव पक्ष मे जहाँ हमें वस्तु रूप में वर्णन मिलता है वहीं अलंकार के रूप में भी दृष्टिगोचर होता है। और भावपक्ष मे मानसिक दशाओं का अनुभूतिपूर्ण चित्रण अलंकृत शैली में तो है, पर सामान्यतः लोकपक्ष से समन्वित है। रीतिकालीन कवियों की भाँति कवि का वर्ण्य क्षेत्र संकुचित नही है वह वस्तुतः सामाजिक जीवन में ही प्रस्फुटित होता है। सुख-दु.ख, राग-विराग, सहानुभूति, करुणा आदि शाश्वत भाव हैं, जो प्रत्येक के जीवन में कभी न कभी अपना स्वाभाविक विलास करते हुए देखे जाते हैं। इन का ही यथार्थ चित्रण जब कवि विभिन्न परिस्थितियों की संयोजनाओं में एवं घटनाओं में योजित करता है तभी उस की मार्मिकता का पता हमें लगता है। जिस प्रकार रस-दशा की पूर्णता को पाये बिना भाव प्रभावहीन एवं सदोष समझा जाता है उसी प्रकार मार्मिक प्रसंग भी दोषयुक्त एवं प्रभावहीन माना जा सकता है। किन्तु इस काव्य में भावों की रसमय दशा का पूर्ण संचार लक्षित होता है।

जि० क० में रतिभाव की प्रधानता है। उस में लज्जा, औत्सुक्य, मोह, विबोध, आवेग, अलसता, स्मृति, चिन्ता, वितर्क, धृति, चपलता, विषाद, उग्रता, दैन्य और जडता आदि अनेक संचारी भावों को छोड़ कर सभी विभिन्न प्रसंगों पर अभिव्यंजित हुए हैं।

संयोग और वियोग में, नायक तथा नायिकाओं की मानसिक दशाओं में रतिभाव की करुण अभिव्यक्ति हुई है। बीभत्स में आलम्बन स्वरूप भय तथा वात्सल्य में हर्ष-पुलक का ही समावेश मिलता है। शोक में प्रिय के अभाव से उत्पन्न विषाद की अभिव्यंजना ही वर्णित है। विलाप में जिनदत्त की पत्नियों का विषाद ही मुख्य है। इन के अतिरिक्त शील एवं सतीत्व पर गर्व तथा आत्मविश्वास की मधुर अभिव्यक्ति श्रीमती के पोत पर पतिवियुक्त होने पर हुई है। इसी प्रकार जिनदत्त के वामन-रूप को देख कर वे कहती हैं कि यह मेरा पति नहो है। वे तो बहुत ही सुन्दर थे। अपने पति की सुन्दरता की सराहना करना भारतीय नारी का विशिष्ट गुण है, जो रूप पर नही रति भाव पर अवलम्बित है। इस प्रकार पातिव्रत की जो शाख हमें विविध भावों में अनुरंजित मिलती है वह भारतीयता का पूर्ण प्रतिनिधित्व करती है।

संयोग-वर्णन

संयोग-वर्णन में विविध काम-क्रीडाओं तथा प्रेम का यथार्थ चित्रण हुआ है। पूर्व राग से ले कर चित्र-दर्शन, विवाह, हेला व्रीडा, हाव-भाव, सात्विक भावो तथा रसिकता की पूर्ण अभिव्यंजना इस काव्य में हुई है। नायक-नायिका के प्रथम दर्शन के अवसर पर अंगचेष्टाओं द्वारा भावों का प्रदर्शन तथा प्रेमाभिव्यक्ति का एक चित्र देखिए—

> खिवइ सदिट्ठि दिट्ठु भूभाएं बहु मुहुं दर णियंतउ।
> वोलावस णिमहि अंगुट्ठहिं महियलु रेहयंतउ।
> सा सालस विलाससरलामल चल दर कामकोयणा।
> वल्लहवयणवसुह मज्झंतरि खवियावलिय लोयणा।

अर्थात् जिनदत्त बार-बार धरती पर बैठी हुई विमलमती पर दृष्टिपात करता हुआ कटाक्ष करता है। वह भी लज्जावश पैर के अँगूठे से धरती खुरचती है। अपने विलासपूर्ण चचल नेत्रों से वह काम-भाव जाग्रत कर देती है। अपनी आँखों को फेंकती हुई वह अवगुण्ठन के भीतर से पति को निहारती है।

इसी प्रकार काम-क्रीड़ाओं के वर्णन मे लज्जा, संकोच, जड़ता और चपलता आदि मानसिक भावों का मूर्ति-विधान लक्षित होता है। रति के उद्रेक मे कवि ने अपने आप को मानवीय सौन्दर्य तक ही सीमित नहीं रखा है, अपितु प्रकृति तथा अमूर्त वस्तुओं में भी रस का संचार दिखाया है। दाम्पत्य, वात्सल्य और भगवद्विषयक रति के तीनों रूप जि० क० में मिलते हैं। बाल-लीला के वर्णन में, बेटे के लिए माता की मनौतियों तथा मांगलिक क्रियाओं में, स्नेह और मिलन में वात्सल्य तथा अन्त में निर्वेद में तथा बीच-बीच में जिनपूजा एवं तद्विषयक अनुराग में भगवद्भक्ति देखी जा सकती है।

लाखू के प्रेम में रूप-लिप्सा एवं मानवीय सौन्दर्य का बोध है। आन्तरिक गुणों का पता हमें बाद में मिलता है, पहले तो रूप-दर्शन एवं उस की लिप्सा ही आकर्षण के मूल में होती है। अतएव प्रेम-पद्धति में चित्र-दर्शन, गुणश्रवण और प्रत्यक्षदर्शन ही मुख्य रूप से निर्दिष्ट है। क्योंकि विवाह के पूर्व कवि ने सभी सुन्दरियों के रूप का वर्णन किया है। किन्तु पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा अभिहित चार प्रकार की प्रेम-पद्धतियों में से यह दूसरे प्रकार की कही जा सकती है[1]। संक्षेप में, अन्तःपुर के प्रेम को छोड़ कर तीनों प्रकार की प्रेम-पद्धतियाँ प्रस्तुत रचना में वर्णित हैं।

वियोग-वर्णन

मानवीय प्रेम की पूर्णता के लिए वियोग एक आवश्यक भूमिका मानी गयी है। अतएव वाल्मीकि से ले कर कालिदास और भवभूति तक संस्कृत में, विमलसूरि से ले कर जिनहर्षगणि तक प्राकृत में और स्वयम्भू से ले कर भगवतीदास तक अपभ्रंश में वियोग-वर्णन की परम्परा अविरत रूप से प्रवाहित रही है। आलोच्यमान रचना में विरह-वर्णन तीन स्थलो पर हुआ है, चौथे स्थान पर वियोग में कामदशाओं का सूक्ष्म चित्रण हुआ है। विरह-वर्णन में वियोगजन्य स्वाभाविक अनुभूतियों की अभिव्यंजना के साथ ही मानवीय भावानुभावों का उत्तम प्रेमजन्य चित्रण बन पड़ा है। विप्रलम्भ के पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण भेदों में से मान को छोड़ कर तीनो भेद मिलते हैं। जिनदत्त के छोड़ कर चले जाने पर उस की सभी पत्नियाँ प्रवसित नायिका की भाँति वियोग में दिन काटती हैं। किन्तु उन दिनो का वियोगकालीन जीवन चित्रित न करने से रीतिमूलक प्रवृत्तियों से ग्रस्त होने से रचना बच गयी है। फिर भी उन का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। कामदशाओं के वर्णन में प्रेम की जो तीव्र अभिव्यंजना हुई है तथा काम की जो अतिशयता दर्शायी गयी है वह परवर्ती संस्कृत-साहित्य का रीतिकालीन प्रभाव है, जो दरबारी संस्कृति की देन है। विरह-वर्णन में कवि ने वातावरण, नाटकीयता, प्रभाव और दृश्यों की योजना कर अत्यन्त मार्मिक अभिव्यंजना की है। जैसे कि, विमल-मती को वन में अकेले छोड़ जाने पर वह पहले तो इधर-उधर स्वामी को ढूँढती है, फिर पुकारती है और फिर आँसुओं को ढालने लगती है। अपने हृदय को थाम कर वह प्रिय-प्रिय पुकारती है और विरह के वेग को न सह कर अपने आप को ही प्रकट कर देती है। वह कहती है कि स्वामी के साथ ही मेरे सामने यह हृदय फूट क्यों नहीं जाता ?

पुक्करंती सामि सामित्ति विहलंघलचलणयण ।
ढलिय अंसु ढलहलरुयंतिय विरहाउर उरु सयरि ।
आहुणंति पिम पिय लवंती सहहु ण तीरउं तव विरहु ।
अप्पउ पयडहि ताम सामिय सहु सा मम पुरउ ।
हियउ ण फुट्टइ जाम । (३,११) ।

---

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल : जायसी-ग्रन्थावली की भूमिका, तृतीय संस्करण, पृ० २६ ।

वियोग की स्थिति में श्रीमती का हाहाकार अपने यथार्थ रूप में वर्णित है। वह अपने अभाव मे असन्तुष्ट हो कर मानो अवशता और दयनीयता को स्पष्ट खोल कर रख देती है। उस मे जहाँ आत्मविलाप है वहाँ अंगचेष्टाओं का सहज प्रदर्शन और भावों की वास्तविक अभिव्यक्ति का भी योग है। अतएव वह अपने शरीर को कोसती है, हृदय में लज्जित होती है। वह नहीं चाहती कि क्षण भर के लिए भी मैं पति का वियोग सहन करूँ। वस्तुतः श्रीमती का विलाप कवि की अन्तर्भावनाओं में डूब कर समस्त हाहाकारों के साथ हाव-भावों में फूट पड़ा है। कवि के ही शब्दों में—

तें तुव भमउ समउं रइरससुहु सेवंताहं वट्टए।
कुच्छिण मे सरीरि लज्जाहउ हियउ तडत्ति फुट्टए। (४, २९)

हा हा करंति कंवहो भरंति वप्फं जलोल अविरलकवोल
गंडंतराल कुंडलकराल खालिय करेहिं कंकण परेहिं
उरयलु हणंति हा हा भणंति कयकंतिमीसु विहुणंति सीसु
विरहग्गि भुत्त उत्तत्तगत्त कढकढकढंत कयरसत्रढंत
सासइ मुवंति दहदिहि णियंति कयदिट्ठिकट्ठ सुन्दरि बरिट्ठ
लोयण चलंति कयमुक्कलंति कुंतलकलाव पयणिय पलाव। (४, २२)

शृंगारमती विरह मे बार-बार पति के रूप का स्मरण करती है। हृदय के संताप से आँसुओ को बहाती हुई उस कृशांगी की दशा ओटते हुए क्वाथ (काढ़ा) की भाँति हो रही थी। निर्विण्ण तथा विमनस्क होने से वह करुण प्रलाप करती है और क्षण मे चेतन तथा क्षण मे निश्चेतन हो जाती है मानो सन्निपात ही हो गया हो।

पइ विरहताव संतविय संति वप्फल कमढ कढकढकढंति।
दुम्मियमण घणक्षीणी णिरु विद्दाणी करुणपलाव कुणंती।
खणे उप्पज्जइ चेयण खणि णिच्चेयण सण्णिवाय णं भुत्ती (४, २१)

उस के भावों मे बड़ी कसमसाहट और व्याकुलता है कि मेरे पति मुझे यों ही छोड़ कर किस स्थान पर चले गये। वह कहती है कि स्वामिन् हँसी मत करो। तुम्हारी यह हँसी मेरे लिए दुःसाध्य है। पाठक इसी से अनुमान लगा सकते हैं कि उस के मन में कितनी गहरी वेदना है। वह जीने में बिलकुल समर्थ नहीं है। इसलिए कहती है कि जब यह हृदय इस व्यथा को सह नहीं सकता है तब यह समूचा तड़क कर फूट ही जायगा।

दे देहि दइय दरिसाउ ताम सहसक्करु इहु हियवउ ण जाम।
फुट्टइ तडत्ति तह जह वि सयलु चुंवयउ वलाहउ लोहणिहलु।
पइं रहिय ण जीवमि कय महत्थ करिमरि ते होहमि रत्तहत्थ। (४, २२)

भावों में कितनी तड़पन और व्यामोह है, जिसे भुक्तभोगी ही जान सकता है।

कामावस्थाओं का वर्णन

जि० क० में काम की दसों अवस्थाओं का सटीक वर्णन है। स्वयम्भू के पउम-चरिउ.में भी इतना सजीव वर्णन नहीं है। जिनदत्त कामज्वर से पीड़ित हो कर अत्यन्त व्याकुल हो जाता है। बढ़िया कमल के नये-नये पत्तों से अत्यन्त सुन्दर बिछौना उस के लिए रचा जाता है। शीतलता तथा सुखदायक वस्तुएँ उस पर रखी जाती हैं। किन्तु ऐसी सेज के विषम प्रतीत होने पर उस का मन निर्भिन्न नहीं होता और परिणामतः दश अशुभ अवस्थाएँ अपना रूप धारण कर जिनदत्त के प्राणों को सुखाने लगती हैं। पहली अवस्था चिन्ता है, जो मन को बिखरा देती है। दूसरी बार-बार दर्शन का स्मरण करना है। इस अवस्था में कुमार निःश्वास तथा दीर्घ उच्छ्वासों को छोड़ने लगा। तीसरी अवस्था में रह-रह कर संताप-ज्वाला जलाने लगी। चौथी अवस्था के वश में हो कर वह आक्रन्दन करने लगा। पाँचवी अवस्था मे उस का भोजन-पान छूट गया। अमृत रस से युक्त भोजन भी उसे अरुचिकर हो गया। छठी अवस्था मे वह अपने आप में नहीं रह गया। क्षण भर के लिए भी वह स्थिर नहीं रह सकता। उस का मन उस के हाथों से निकल गया। सातवी अवस्था मे दाह बुरी तरह से शरीर को जलाने लगी। और बात के अधिक बढ़ जाने से विमनस्क हो कर अपने आप को भूल गया। आठवी और नौवीं में शरीर का भान ही नहीं रह गया तथा वह बिलकुल दुर्बल हो गया। यदि दसवी अवस्था संभव हो तो फिर जीव देहान्तर मे जा कर ही स्थित हो। ऐसी दशा मे जिनदत्त की नींद चली गयी और वह शरीर रहित हो गया। बाणों की शंका से वह मकरध्वज से पकड़ लिया गया। बार-बार वह दोनों भुजाएँ फैलाने लगा, किन्तु आलिंगन शून्य हो गया। कपूर आदि शीतल पदार्थों का लेप किया गया, किन्तु विरह की ज्वाला मे वह सब सूख गया। चन्दन से समूचा शरीर गीला कर दिया गया। सारे शरीर पर लेप चढ़ा दिया गया। परन्तु अभागा सब सूख गया। चटक गया और उचटने लगा। सिला के समान जिनदत्त धरती पर गिर गया। बार-बार मूर्च्छित होने लगा। वह चेतनाहत हो गया। बोल बंद हो गया। बल और मान से क्षीण हो गया। ऋषि की भाँति वह ध्यान में लीन हो गया। निरंग के रंग मे रँग गया। प्रमोह भाव भंग हो गया। अज्ञानता में बड़बड़ाने लगा। सारा शरीर कँपने लगा। हिताहित का विचार नहीं रह गया। अच्छे रस को मानने से मना करने लगा। दाँतों को तिरछा करने लगा। अपने ही अधरों को डसने लगा। जम्हाई लेने लगा। अँगुलियों को मोड़ने लगा। हिम के समान शीतल तथा मनोहर चन्द्रमा की किरणें खरे तेज से जलाने वाली जान पड़ने लगीं। बार-बार वह चौंक कर चमकने लगा। सुखदायक ताजे फूलों की माला अग्नि के समान दाहक हो गयी। भूत-प्रेत से ग्रस्त की भाँति प्रलाप करने लगा। मूर्च्छित होने लगा। सिर और शरीर काँपने लगा। मानो सन्निपातज्वर ने ग्रस लिया हो (२, २)।

काम की इन दशाओं का इतना विस्तृत तथा अनुभूतिपूर्ण मार्मिक वर्णन अन्यत्र कम मिलता है। वस्तुतः कवि का यह वर्णन गीति शैली में अत्यन्त सजीव और

प्रभावोत्पादक बन पड़ा है। इस प्रकार मरणावस्था को छोड़ कर सभी दशाओं की स्थिति यहाँ वर्णित है। वर्णन उक्तिमूलक न हो कर प्रभावात्मक रूप में अलंकृत शैली में चित्रित है, जिस में भावानुभावों का उत्तम पुट-परिपाक है। फिर, इस वर्णन की एक विशेषता यह भी है कि सामान्यतः नायिका में कामातिरेक तथा कामदशाओं का चित्रण किया जाता है, किन्तु यहाँ पर नायक में कामदशाओं का स्फुरण दर्शाया गया है, जो सूफी प्रभाव न हो कर सामन्तीय जीवन का यथार्थ रूप है। यथार्थ में वियोग के अतिरेक में इस प्रकार की अवस्थाओं का होना स्वाभाविक है, क्योंकि जब मन पर मनुष्य का नियंत्रण नहीं रह जाता तब उस की जो भी स्थिति संभव हो सकती है घट सकती है। काम की उक्त अवस्थाएँ शास्त्रविहित हैं, जिन के नाम हैं—अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुण-कथन, उद्वेग, सप्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मरण।[1]

रस-निर्णय

"जिनदत्तकथा" अपभ्रंश-साहित्य का मधुर कथाकाव्य है, जिस में रतिभाव की प्रधानता है। प्रथम सन्धि से ले कर छठी सन्धि तक सम्भोग या विप्रलम्भ शृंगार अतिशयता से वर्णित है। काम की विविध दशाएँ, सम्भोग एवं रति-क्रीड़ा, वन-विहार, चार कन्याओं का पाणिग्रहण, तीन पत्नियों का वियोग में संतप्त होना और माता का विरह तथा भोग-विलास के वर्णन से स्पष्ट है कि इस काव्य में शृंगार की मुख्यता है। शृंगार के दोनों पक्षों का विविध भावानुभावों एवं संचारी भावों से संवलित विशद वर्णन हुआ है। किन्तु सातवीं और आठवीं सन्धि में तीनों लोकों का वर्णन तथा नवीं सन्धि में पूर्व भव का वर्णन है। दसवीं और ग्यारहवीं में धर्मोपदेश तथा तपश्चरण का वर्णन है। अतएव ग्रन्थ का पर्यवसान शान्तरस में ही हुआ है।

शृंगार और शान्त के अतिरिक्त बीभत्स, भयानक, अद्भुत, रौद्र और वात्सल्य तथा करुण विप्रलम्भ की सप्रसंग योजना हुई है। वीर रस अवश्य इस काव्य में नहीं मिलता। यदि मानना ही पड़े तो हाथी को वश में करने तथा साँप को मारने आदि के जिनदत्त के साहसिक कार्यों को वीर रस में गिन सकते हैं, जिन में स्थायी भाव उत्साह और अनुभाव पुलक रूप में लक्षित होता है। इस प्रकार इस रचना में प्रायः सभी प्रकार के भावानुभावों तथा रसों का समावेश हुआ है।

बीभत्स का उदाहरण—

घोरधार दियवउ असुहावणे करयरंत कायउल अमणहरे सलवलंत पलदल-
चल दुहयरे।
दियदियउवरं तावलि लुलियए सिमिसिमत किमिकुल चलवलियए।
भूममंत भेरुंड भयंकरे सडिय मांस गंधें असुहंकरे।

---

१. अभिलाषाश्चिन्तास्मृतिगुणकथनोद्वेगसप्रलापाश्च।
उन्मादोऽथ व्याधिर्जडता मृतिरिति दशात्र कामदशाः॥ साहित्यदर्पण, ३, १६०।

फिक्करंत जरसिव कयणीसणे दर वुक्कंत मसणा भरभीसणे ।
पलगिलंत गोमाउ भिडंतए रत्तणित्त वेयाल नडंतए ।

रौद्र का उदाहरण—

रे रे णिग्घण असच्चसंघ अपयड णिकोड अड वीड खंघ ।
किल्लिल्लकलंककिलित्तगत्त बहुणा विहुणा विणडिउ कुवत्त ।
जेणेहु तरहि रेव वारिरासि अम्हारउ तें ते कहउ आसि ।
सक्कुवि असक्कु इहु सिघुणीरे जलकील करहु संकइ गहीरे ।
अहवा एवहि तुहुं विहिवसेण दिट्ठउ उद्दिट्ठए अह रिसेण ।

यहाँ पर जिनदत्त का उग्र वचनों में ललकारना, हाथ-पैरों का फेंकना तथा विद्याधर का रोष दिलाना आदि भावानुभावों से रौद्र रस की अभिव्यक्ति हो रही है ।

अद्भुत का उदाहरण—

पलोइऊण तं कुमारु किं सुरो किमेहु किण्णरो हि किण्णरो वरो ।
कि भंगवंतु कामदेउ भव्वहो कि रायउत्तु दिव्ववत्तु सव्वहो ।
कि सूलपाणि दिव्वबाणि भासओ कि भंगु वंगु धम्मसंगु सासओ ।
कि खेयरिंदु दित्ति कंदु सुन्दरो किमेहु पत्तु सोहए पुरंदरो ।

उक्त पंक्तियों में जिनदत्त को देख कर सार्थवाह के विस्मय एवं आश्चर्यचकित होने का वर्णन है । उस के कान्त रूप को देख कर वह इतना स्तम्भित हो गया है कि ठीक से समझ ही नहीं पा रहा है कि यह मानव है या विद्याधर, किन्नर या अन्य कोई । इसी प्रकार जिनदत्त के कौतुकों को देख कर जहाँ चम्पा नगरी के सभा-जनों को अचंभा और विस्मय होता है वहाँ भी अद्भुत रस का संचार हो जाता है ।

भयानक का उदाहरण—

उण्णयकुंभत्थलु सुघिरणयणु सिक्कार वारिलव भरिय गयणु ।
अविहडहाडय वेयडिय दंतु दुद्दरिसणु भीसणु णं कयंतु ।
पायडिय णिविड अविहड मडप्पु पयचय चप्पिय फणिफण कडप्पु ।
णिट्ठविय सयण णिट्ठुर सहाउ गयमत्तगुगु णं जसु समाउ ।
कंपाविय पाणीयणु भयपाणीयणु सुहडुप्पाइय खोहउ ।
विसरिस वइवसलीलउ मारणसीलउ लुट्ठाविय मणु वोहउ ॥

इन पंक्तियों में हाथी के बिगड़ने का वर्णन है । कवि ने उस का विकराल एवं भयंकर चित्र अभिव्यंजित करते हुए कहा है कि दृढ़ सोने की साँकलों से बँधा होने पर भी वह ऐसा चिंघाड़ रहा था तथा सीत्कार कर रहा था कि पानी की बूँदों से गगनतल भर गया था । यहाँ कंप, स्तम्भ, रोमांच तथा संत्रास आदि भावानुभावों से भयानक रस परिपुष्ट एवं अभिव्यक्त है ।

वात्सल्य का उदाहरण—

पेच्छेवि ससूणु वणिजीवदेउ उच्छंगि लेइ आणंदहेउ।
सहजाय कुडिलकुंतल जडिल्लु धूलीधूसरियावयकडिल्लु।
का एवि तोसाविउ वियसियासु काएवि बोल्लाविउ गुणणिवासु।
कवि चामीयरमउ कीरु मोरु अप्पइ बालहो जणचित्तचोरु।
सोवंतहो तहो णिरु कावि राम ठिय पासे चमरकर कय सणाम।
णियपयहत्थंगुट्ठउ दुहरसणट्ठउ अवलेहइ जीहाए सिसु।
बालु वि अतुलिय बलु कणयसमुज्जलु जसरसपसरण भरिय दिसु॥

यहाँ पर बालक की स्वाभाविक चेष्टाओं में तथा माता-पिता के हृदय मे बच्चे के प्रति स्नेहानुराग मे जिन भाव-विभावों की योजना हुई है उन से स्पष्ट हो वात्सल्य की प्रतीति होती है।

इस काव्य में विभिन्न रसों की योजना होने पर भी मुख्य रूप से शृंगार और शान्त दो ही रसों की अभिव्यंजना हुई है। यद्यपि रचना का प्रारम्भ जिन-वन्दना से हुआ है और बीच-बीच मे शान्तरस को उद्बुद्ध करने वाली घटनाओं की संयोजना हुई है, किन्तु प्रधान रस शृंगार है। सामान्यतः यह कहा जाता है कि काव्य का जिस रस में पर्यवसान हो वही मानना चाहिये। और फिर यह भी विचारणीय है कि बीच-बीच में कवि उसे अभिव्यक्त करता रहा है या नही ? वास्तव में ये दोनों ही बातें रस का निर्णायक तत्त्व नही कही जा सकती। क्योकि कभी-कभी घटनाएँ अप्रत्याशित रूप से ऐसी घटित होती है कि वे हमारे मन पर अमिट प्रभाव छोड़ जाती है। भले ही कालांतर में हम उस घटना को भूल जायें, पर उस का प्रभावकारी चित्र स्थायी रूप से अपनी छाप बनाये रखता है। क्यो कि सारी घटना का दृश्य उस एक चित्र से लिपटा रहता है। इसी प्रकार रस की अभिव्यक्ति सामाजिको के मन मे होती है और उन के जिन-वासनात्मक भावों को उद्दीप्त करने में जो रचना प्रेरक होगी तथा जिस स्थायी भाव के अनुगत उद्दीप्त भावानुभाव होंगे उस रचना में प्रभावाभिव्यंजना के रूप में वही रस मुख्य होगा। उदाहरण के लिए, जि० क० मे जिनदत्त के यौवन की देहली पर पैर रखते ही कवि निर्वेद भाव को प्रदर्शित करता है, जो वस्तुतः मनोविज्ञान की दृष्टि से काम भाव का ही सूचक है। नही तो जो बालक किशोर वेश्याओं के हाव-भावों से मुग्ध नही होता। वह चित्र में देखी हुई कन्या पर कैसे मुग्ध हो सकता है ? और फिर इतना ही नहीं, काम की सभी अवस्थाओं को उसे पार करना पड़ता है। अतएव कवि ने रति भाव को ही इस रचना मे प्रधानता दी है। शृंगार के दोनो पक्षों के चित्रण में कवि की रागात्मिका वृत्ति अतिशयता से रमी है। शान्त रस को व्यक्त करने वाली घटनाओं को चलता हुआ व्यक्त किया है। वियोग का जितना वर्णन है उतना साध्वी का उपदेश नहीं है। वहाँ केवल आँसू ही पोंछे गये हैं। कलेवर की दृष्टि से भी दो-तिहाई रचना संयोग-वियोग के आवर्तों में झूलती हुई दिखाई देती है। समूची रचना को पढ़ने पर राग का

ही लेप मन पर भलीभाँति चढ़ जाता है। और तब यही लगता है कि धार्मिक भावना से काव्य का अन्तिम अंश ऊपर से जोड़ दिया गया है। मूल रूप में तो यह एक प्रेमकथा के रूप में ढली हुई है। भले ही कवि ने उस मे अपनी शिष्ट एवं संस्कृत रुचि से कुछ हेर-फेर कर दिया हो। अतएव काव्य को पढ़ने पर पाठक के मन में रचना के जिन गंभीर संस्कारों से रस की स्थायी दीप्ति होती है वह शृंगार है, रतिभाव है और इस लिए इसे शृंगार प्रधान कथाकाव्य माना जा सकता है।

चरित्रचित्रण

जि० क० में जिनदत्त का चरित्र ही मुख्य है। यद्यपि वह श्रेष्ठीपुत्र है, पर उस का चरित्र राजकुमार का है। बचपन से ही कुमार विचक्षण और कलाकोविद् दिखाई पड़ता है। उसका लोक-जीवन कामरस से भरित तथा काम का प्रसार करने में विलक्षण निपुणता से युक्त है। किन्तु इस के साथ ही वह विनयी और सदाचारी भी है। माता-पिता और देव तथा गुरु में उस की भक्ति है। शिष्टाचार के पालन में वह सावधान है। पिता के समझाने पर वह मान जाता है और उपदेश का पालन करता है। मुख्य रूप से कवि ने जिनदत्त को साहसी, धीर-वीर और संयमी के रूप में चित्रित किया है। कथानुबन्ध से विदित है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों की व्याप्ति का यथार्थ रहस्य जि० क० मे लेखक ने अभिव्यक्त किया है। जीवन को सुखी बनाने के लिए नायक अर्थोपार्जन के लिए परदेश जाता है। वहाँ विभिन्न संकटों को झेलता है। पूर्व जन्म का पुण्य होने से विपत्तियाँ उसे वरदान देती हैं। वह जहाँ भी जाता है सिद्धि उस के हाथ लगती है। लक्ष्मी और सपत्ति दोनो ही वह प्राप्त करता है। किन्तु अच्छी तरह सुखोपभोग कर लेने पर अन्तिम अवस्था में गृह का त्याग कर कामोपभोग की भाँति घोर तपस्या कर स्वर्ग-श्री को वरण करता है। इस प्रकार जीवन के दोनों पक्षों का यथार्थ रूप प्रदर्शित कर कवि ने भारतीय जीवन के चरम लक्ष्य की ओर संकेत किया है।

स्त्री-चरित्रों में सब से अधिक हमें श्रीमती प्रभावित करती है। यद्यपि सभी स्त्री पात्र सदाचारी, विनयी, संयमी और शिष्टाचार का पालन करने वाले हैं, किन्तु सब का व्यक्तित्व भिन्न-भिन्न है। जिनदत्त की माता जहाँ शान्त और सीधे स्वभाव की है वहीं विमलमती गम्भीर और लावण्ययुक्त है। वह स्वभाव से मधुर और कोमल है। परन्तु श्रीमती स्वभाव की खरी और असहिष्णुता से युक्त है। लेकिन वह असंयत तथा स्वच्छन्द नही है। उस की बुद्धि विवेक के अंकुश से अनुशासित है। अतएव उसमें समय के अनुकूल गम्भीरता भी लक्षित होती है। यद्यपि शृंगारमती सभी पत्नियों में अधिक विदुषी और विद्यानिधान है, पर उस का व्यक्तित्व उतना प्रभावशाली नहीं है जितना कि श्रीमती का है। वह जिनदत्त को भी भली-भाँति नहीं पहचान पाती। इस का कारण यही प्रतीत होता है कि वह उसके गुणों से परिचित नहीं थी। केवल उस के

रूप पर ही वह रीझ सकी थी। किन्तु श्रीमती उस के गुणों से भी प्रभावित थी। यही नहीं, जिनदत्त ने उसे जो कुछ बताया था, समझाया और सिखाया था उसे उस ने अच्छी तरह गाँठ मे बाँध कर रख लिया था। संकट काल में उस के मर्म को वह अच्छी तरह गुनती है। यही उस के व्यक्तित्व का वैशिष्ट्य है।

धनपाल की भविष्या और लाखू की श्रीमती की तुलना

भ० क० में वर्णित भविष्यानुरूपा और जि० क० में उल्लिखित श्रीमती समान परिस्थितियों को तथा संकट को झेलती हुई दिखाई देती हैं। दोनों ही परम सुन्दरी और द्वीप की निवासिनी है। यदि भविष्यानुरूपा तिलक द्वीप की रहने वाली है तो श्रीमती सिंहलद्वीप की। दोनों ही किसी न किसी आधि-व्याधि से पीड़ित होकर एकान्त में वहाँ रहती हैं। कुमार भविष्यदत्त तिलक द्वीप में और जिनदत्त सिंहल द्वीप में पहुँच कर उन्हें आधि या व्याधि से मुक्त करते हैं। उन के पुरुषार्थ के पुरस्कारस्वरूप उन कुमारों में से भविष्यदत्त की भविष्यानुरूपा से और जिनदत्त की श्रीमती से गाँठ बँध जाती है, धूम-धाम से विवाह हो जाता है। दोनों ही कुमारियों के लिए भारतवर्ष नया था। वे अपने पतियों के साथ समुद्र में पोत मे बैठ कर नये देश को देखने की लालसा से आगे बढती हैं। भविष्यानुरूपा यह जानने की अभिलाषा प्रकट करती है कि मेरे सास-ससुर कहाँ रहते हैं? उस के इस कथन से माता-पिता की स्मृतियाँ कुमार के मन में सजल हो आती हैं। वह घर चलने का प्रस्ताव रखता है। जिनदत्त भी ससुर और पत्नी के समक्ष भावभीना निवेदन प्रकट करता है। दोनों ही नायक प्रतिनायक की धूर्तता से छले जाते है। छले जाने का मुख्य कारण विवाहिता सुन्दरी का रूप-सौन्दर्य होता है। भविष्यदत्त यदि भाई के छल से समुद्र तट पर छोड़ दिया जाता है तो जिनदत्त को धर्म-पिता सागरदत्त समुद्र मे किसी प्रकार उतार देता है। ऐसी स्थिति में दोनों सुन्दरियो के सामने प्रतिनायकों के लुभावने प्रस्ताव रखे जाते हैं। वे अत्यन्त धर्म संकट मे पड जाती है। किन्तु विवेक से संयमित हो अपने शील को रक्षा करने में समर्थ होती है। पहले तो दोनों ही प्रतिनायक को उपदेश देती हैं, पर बाद मे यह विचार कर कि मैं यहाँ अकेली हूँ और पतिदेव तो अब कदाचित् हो मिलें—हाव-भाव दिखा कर भविष्यानुरूपा एक महीने की और श्रीमती छह महीने की अवधि माँगती है। दोनों के ही शील के प्रभाव से जलदेवता प्रत्यक्ष होते हैं। इस प्रकार परिस्थितियों और घटनाओं में समानता होने पर भी दोनों के व्यक्तित्व मे स्पष्ट अन्तर दिखाई देता है।

भविष्यानुरूपा जहाँ अपने विरह में मौन रहती है वहाँ श्रीमती मुखर है। उस मे संकल्प-विकल्पों के विविध आवर्तों के मध्य नारीसुलभ निपुणता और मधुरता का सुन्दर योग है। वह भविष्यानुरूपा की भाँति विरह में डूब नहीं जाती है, वरन् अपने विचारों से कर्तव्य बुद्धि को जाग्रत बनाये रखती है। श्रीमती मे जहाँ तर्क-वितर्क है

वहाँ भविष्या संवेदनशील है। वह अपने विचारों में खो जाती है, भोजन-पान तज देती है। किन्तु ऐसी स्थिति में भी श्रीमती प्रत्येक बात का विचार करती है। वह मन ही मन कहती है कि अभिनव यौवन के कारण मुझे कलंक लग हो गया। मैं क्यों न इस से यह कह कर अपनी रक्षा करूँ कि छह महीने तक जब तक पतिदेव को मृत्यु की क्रिया-विधि संपन्न नहीं हो जाती तब तक मैं विलास नहीं करूँगी। ऐसा ही कह कर वह सागरदत्त के प्रति हाव-भाव प्रकट करती है। वह उस की कुमति का विचार कर बार-बार मन में संतप्त होती है। किन्तु अपनी परिस्थिति और विवशताओं में अवशता को भली-भाँति जानती है और इसी लिए सागरदत्त के चंपापुरी के राजा को भेंट देने के लिए चले जाने पर वह चैत्यालय की ओर चल देती है।

श्रीमती मे तर्क-वितर्क अधिक है। जब वह सागरदत्त को उपदेश देती है और रावण का उदाहरण देती है तब वह कहता है कि पांचाली ने पाँचों पाण्डवों को कैसे पति बनाया था। किन्तु उस के इस तर्क से वह हारती नहीं है, वरन् तुरन्त प्रत्युत्तर में कहती है कि तुम जैसे दुराचारी का क्या विश्वास? कोई भी बुद्धिमती स्त्री पर पुरुष का विश्वास नहीं करती। उस के इन तर्कों को सुन कर सागरदत्त बिलकुल नम्र बन जाता है और असमर्थता एवं काम-व्यथा को प्रकट करने लगता है।

इस प्रकार दोनों के स्वरूप में बहुत बड़ा अन्तर लक्षित होता है। दोनो कवियों की वर्णन-शैली मे भी अन्तर है। धनपाल की शैली जहाँ समासप्रधान है वहाँ लाखू की व्यासमूलक। अतएव जि० क० में प्रत्येक वर्णन विस्तार के साथ मिलता है, किन्तु भ० क० में संक्षिप्त है। परन्तु गम्भीरता दोनों में है। लगता है कि श्रीमती में कहीं-कहीं कुछ चापल्य है, पर उस मे स्वैरता न होकर भावों की स्पष्ट अभिव्यक्ति है। और अपने इस व्यक्तित्व तथा स्पष्टवादिता के कारण वह सपत्नियों में सब से अधिक प्रभावशालिनी है।

संवाद-योजना

जि० क० में नियोजित कई मधुर संवादों की मालाएँ एक के बाद एक शोभायमान लक्षित होती हैं। इन संवादों में मुख्य हैं—सार्थवाह-जिनदत्त-संवाद, मालिन-जिनदत्त-संवाद, श्रीमती-जिनदत्त-संवाद, राजा घनवाहन-जिनदत्त-संवाद, खेचर-जिनदत्त-संवाद, राजा-जिनदत्त-संवाद इत्यादि। ये सभी संवाद साहित्यिकता से ओतप्रोत शिष्टता लिये हुए हैं। भाषा ललित तथा सानुप्रासिक है। इसलिए इन को बार-बार पढ़ने को मन करता है। उदाहरण के लिए—

कुलमंडण रिउखंडण को तुहुं कहि कुलि जायउ।
भो कुच्छर णिम्मच्छर कहहि कहो इह आयउ॥
सुणेवि बोल्लिउ सत्थवाहस्स, आहासइ कुम्वरगुरु सुणु वणीस।
हउं इत्थ पत्तउ भो वप्प कोऊहलेण, जत्थ तत्थ महियलि भमंतउ।

इसी प्रकार कहीं-कहो संवाद सरल और मधुर हैं। यथा—

तिणि पुच्छिय जणणिए सच्चुव कहि।
किं कंदहि को तुहु मज्झु भणु, ता जंपइ थेरि विसंतु सुणु।

इस काव्य में संवादों के बीच में वर्णन भी चलते दृष्टिगोचर होते हैं, जो वातावरण तथा चित्र को अंकित करते चलते हैं। जैसे कि—

विणिवरी सा थेरी रोवंती विभलमुह अइ दीणी।
विद्दाणी तणु झीणो तज्जिय सुहा॥

तथा—

एत्रमेव कंपए ताव थेरि जंपए
पुत्त वामु दाहिणो भिण्णुनेव लोयणो
जाम्व मेरुसायरो जाणहे दिवायरो
जा विहावरीयरो जा धराधराघरो।

इस प्रकार अधिकतर संवाद अलंकृत है। उक्त उदाहरण मे संवाद गीतिशैली में तथा वर्णन के मध्य निहित है। वस्तुतः इन संवादों मे कवि की वैयक्तिकता की छाप लगी हुई मिलती है और इसीलिए कहीं-कहो संवाद वर्णन के अन्तर्गत मिलते है। ये संवाद दो जनो के वार्त्तालाप से आरम्भ हो कर वर्णन के अंग बन जाते है और बीच-बीच मे तथा अन्त मे संवादों के साथ पूर्ण होते दिखाई पडते हैं। कहो-कहीं संवादो के बीच घटित घटनाओ को संक्षेप मे आवृत्ति हुई है। उदाहरण के लिए, सिंहलद्वीप में तथा चम्पापुरी मे राजा के परिचय चाहने पर जिनदत्त पूरी कहानी कहता है। इसी प्रकार मालिन सिंहलद्वीप के राजा राजकुमारी का वृत्तान्त सुनाती है। कहीं-कहीं संवाद अत्यन्त मधुर तथा सरस है। यथा—

वरु पिक्खिवि सुंदरि लवइ एम्व।

हे सुहय कामु सुउ केण जाउ हो भणइ वीरु परएस आउ।
सायरु लंघेवि इह दीउ पत्त ता दिट्ठु एक्क थेरिय रुयंति।
पुच्छिय अक्खि त तिणि एक्कु पुत्तु सो भवखेसइ पट्ठसुय णिरुत्तु।
तहो दीणत्तणु णिसुणेवि चित्तु कंपिउ सजीवयव्वहो विरत्तु।
तहे दिण्ण वाय तुहं सूण ठाए जाएव्वउ मइं मा रुयहि माए।
ता सुंदरि जंपइ णियमणि कंपइ वयहि वयहि परएसि णर।

वस्तुतः सवादो में कथा की आवृत्ति लगभग सभी कथाकाव्यों में मिलती है, जो लोककथा की विशेषता है। लोग कहानी कह चलते हैं और सुनने वाला सुनता हुआ हूँका भर चलता है या बीच-बीच मे पूछता हुआ संवादों का आनन्द प्राप्त करने लगता है। अतएव इन संवादों मे कथा का सा आनन्द मिलता है। संवाद अलंकृत होने पर भी नीरस नहीं हैं। उन में भाव-धारा एवं रस ओतप्रोत है। यथा—

तं णिसुणेवि पडिजंपियउ जिणयत्तें कण्णहि पियउ ।
ते वयणाउवि णीसरिउ मइं अवलोइवि संचरिउ ।
हउं ण मुणमि मणिमंडियए सालंकार करंडियए ।

तथा—

सोऊण सोवि दोहरुवसास मोत्तूण भणइं संजणिय तास ।
छम्मासे मेर परक्खरासि बहु दियहावहि कय महुरमासि ।

इसी प्रकार—

तो वणीसु पहसिय सुवत्तउ ।
भणइं भद्दि भीमाउ मेल्लही मह समेउ सहसत्ति बोल्लही ।
सुणेवि रायउतोइ उत्तउ वज्जसंख लीवमु पवत्तउ ।
अत्थि वाय बंधणु जयंतरे माम कहउ ते दुह णिरंतरे ।
आसि मज्झु पुरउ णिरुत्तउ ते तणूरुहेणे हु उत्तउ ।
सुसुरु होइ ते सत्थ पुंगमो सत्थवाहु सुह सहरसो हमो ।

संक्षेप में, प्रसगत. संवाद अलंकृत, सरस तथा वचन-चातुरी से युक्त हैं। ऐसे स्थल क्लिष्ट होने पर भी नीरस नही है ।

भाषा और शैली

जि० क० की भाषा साहित्यिक तथा संस्कृत से प्रभावापन्न है। कवि की शब्द-योजना तथा बन्ध गुण, रीति और रस के अनुकूल है। कहीं-कहीं तो ऐसा लगता है कि सस्कृत की किसी अलंकृत रचना को पढ रहे हों। विशेष कर वर्णनों में कवि ने सालंकार तथा संस्कृतनिष्ठ भाषा का प्रयोग किया है। इस का कारण यही जान पड़ता है कि तेरहवी शताब्दी के पूर्व ही संस्कृत ने साहित्य में आदर्श मान स्थापित कर लिया था। अतएव जो भी उत्कृष्ट काव्यात्मक रचना प्रसूत करना चाहता था उसे संस्कृत भाषा तथा साहित्य मे कुछ न कुछ अवश्य विचार करना पडता था। पं० लाखू की रचना में दो बातें मुख्य हैं—समासप्रधान शब्दावली का प्रयोग तथा अलंकृत भाषा की रचना। उदाहरण के लिए—

कलकलामलकिसरकलियगे सुच्छंदमयरंदमए भद्दसद्दसद्दलदलालए ।
पयपसर पफुल्लियए सिरिसमाससुविसालणालए । १०,१ ।

स्वयं कवि ने स्वीकार किया है कि कथाकाव्यकमल में समास रूपी विशाल नाल शोभायमान हैं। (१०,१) किन्तु जहाँ कवि ने पाण्डित्य प्रदर्शन किया है वहीं मधुर एवं ललित रचना की है, जिसे पढ़ कर छोड़ने को मन नही चाहता। यथा—

कय मणहर महुरसर पियालउ चंदणतिलय बहुल अलयालउ ।
मणहरु हरिय सयल बिलयासउ विसयसुक्ख संपत्ति पयासउ ।

परयण तावहारि सुविसालउ पयडिय अविरलच्छाउ विसालउ ।
णवघणसारपवक्ख उवलक्खिउ अभयायरस मिल्लु पोमक्खउ । ६,२० ।

यहाँ पर कवि ने श्लिष्ट प्रकृति-वर्णन किया है। अतएव कई शब्द द्वयर्थक हैं। जैसे कि—पियालउ–प्यारा, कोयलों को प्रिय, चौक (चौराहा) से युक्त (कोकिलाप्रिय-चतुष्कयुक्तः), अलयालउ–केशों से युक्त, चारो ओर से लताओं से घिरा हुआ–स्थान (आ समन्तात् लतास्थानं), विसयसुक्ख–विषयसुख, सुखदायक सैकड़ों पक्षी (पक्षिशत-सुखप्रकाशकं, वि–पक्षी); सुविसालउ–विशाल धर्मस्थान, लक्ष्मी के घर; णवघणसार – कपूर, कपूर के वृक्ष; अभया–भयरहित, हरड़; पोमक्खउ–कमल जैसी आँख वाली कमलककडी;[1] इत्यादि ।

वस्तुतः आलोच्यमान काव्य में संस्कृतनिष्ठ, प्रभावापन्न, संस्कृतभ्रष्ट, देशी, प्राकृत तथा लोकबोलियों के भी नाम-रूप मिलते हैं। विषय के अनुकूल भाषा, छन्द, रस, रीति, गुण तथा अलंकारों का प्रयोग कवि की विशेषता है। भ० क० की भाषा से इस में बहुत अन्तर मिलता है। कुछ शब्दों को देख कर तो यह भ्रम होने लगता है कि कवि ने जानबूझ कर संस्कृत के शब्दों को तोड-मरोड कर अपभ्रंश बनाया है। जैसे – कि – फग्गु – सं० फल्गु (व्यर्थ), दीहियइ – दीर्घिका, छम – छद्म, विडोउ विडौजा (इन्द्र), सारय – शारद, मेट्ठ – मेण्ठक, दच्छा – दक्ष, वहूव – बभूव, उवायण – उपायन, संभंत – संभ्रान्त, अव्वुवा – अब्रुवाणा आदि ।

कई ऐसे अप्रसिद्ध शब्द हैं, जिन का आज की संस्कृत मे व्यवहार ही नही होता, पर वे किसी न किसी रूप मे इस रचना मे समाविष्ट हैं। दूसरी ओर देशज शब्दों की भी कमी नही है। कुछ शब्द हैं – तलवाय – तलवा (पदतल), वोरी – बेर, खडिय – सड़ा हुआ, घास, खलुव्व – खलिहान, दाइज्जउ – दायजा, वोडी – पान का बीडा, सेहरु – सेहरा, आरत्तिउ – आरती, माम – पिता (ससुर), कोसाल – भाण्डागार, छाउ – छाछ, वद्धावय – बधावा, कमढ – क्वाथ, तच्छेर – आश्चर्यकारी इत्यादि। रचना मे अनुकरणात्मक शब्दो की भी प्रचुरता है। यथा – करयरंत, सलवलंत, सिमिसिमंत, कढकढकढंत, कडकडंत, किलिल, विलिल आदि ।

तेहिं पिहु पिहु जि पच्चारि संगामिओ पय मलिउ दलिउ पडिखलिउ दिब्भामओ ।
खिल्लिपिल्लिउ भल्लि सरसल्लिउ अइकरालोल कीलालखालुल्लिउ ।
खुडेवि संमोडिउ तोडिउ जोडिउ फाडिउ थाडिउ पाडिउ चवडिउ ।
वंचिउ खंचिउ खुंचिउ कुंचिउ तलियउ गलियउ गालिउ लुंचिउ ।
पिट्टिउ बट्टिउ खुंटिउ लुटिउ हुणियउ वणियउ खणियउ घुणियउ ।
अयणु जुत्तीए कत्तीए उक्कत्तिउ णिसियधाराए करवत्तकरवत्तिउ ।
थंभिउ रंभिउ खंभिउ सुंभिउ थंभिउ गंभिउ मारिउ रंभिउ । (१०,७)

१. पद्मबीजे तु पद्माक्ष, पद्मकर्कटिकेत्यपि । अभिधानचिन्तामणि, २२१६ ।

एक स्थान पर कई क्रियापदों का एक साथ प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। जैसे कि – दलिउ, पिल्लिउ, खुडउ, संमोडिउ, तोडिउ, जोडिउ, फाडिउ, षाडिउ, पाडिउ, चयडिउ, दंचिउ, खंचिउ, लु'चिउ, कुंचिउ, तलियउ, गलियउ, गालिउ, लुंचिउ, पिट्टिउ, वट्टिउ, खुंटिउ, लुंटिउ, हुणियउ, वणियउ, खणियउ, घुणियउ, वंधिउ, रुंधिउ, खंधिउ, सुंभिउ, थंभिउ, गंभिउ, रुंभिउ, मारिउ इत्यादि। अपभ्रंशरचना में प्रायः सन्धि-निर्वाह बहुत कम देखा जाता है। किन्तु प्रस्तुत रचना में सन्धियों की बहुलता है। उदाहरण के लिए – सिग्घिट्ठियउ, सत्थेसहो, उक्कुक्कुरिय, वालुव्विव, दीहरालि, णिच्चमेव, सिज्जासण्णु, परस्सासुमंचे, दीवच्छवि, गयणंगण, एक्कुवि, दीहत्तोहय, भिण्णावयास, घरच्छवयाण आदि। इसी प्रकार समास-रचना की अतिशयता इस काव्य में दिखाई देती है। समूचा काव्य विविध छन्दो मे अनुबद्ध होने पर भी बन्ध की दृष्टि से पद्धड़िया में निबद्ध है। कवि ने स्वयं कहा है कि इसे मैं ने पद्धड़िया में प्रकट किया है।[1] स्पष्ट ही यह ग्रन्थ अपभ्रंश की ख्यात प्रबन्ध शैली मे वर्णित है। यह काव्य चार हजार श्लोक-प्रमाण है।[2] शैली और भाषा पूर्णतया भावों के अनुकूल है। रौद्र रस में कवि ने विकट-बन्ध तथा शृगार में प्रसाद एवं मधुर की योजना की है। यथा—'

मरुधुव धुव्विर धयधवल चल खणखण खणंत किंकिणि जुवहिं।

एक ही पंक्ति में विवाह के अवसर पर मागलिक कार्यों मे व्यस्त युवतियों का बिम्ब आँखो के सामने घूम जाता है। पवन से कंपित चंचल ध्वजा-पताकाएँ भी शब्दो मे काँपती हुई-सी लक्षित होती हैं। कवि की भाषा और शैली का ही यह चमत्कार है कि दृश्य के दृश्य चंचल चित्रों की भाँति अपना अमिट प्रभाव पाठकों के मन पर छोड़ देते हैं। इस प्रकार भाषा और शैली की दृष्टि से यह उत्कृष्ट कोटि की रचना है। इस मे लोकोक्तियाँ, सूक्तियाँ, अप्रस्तुत-विधान, शब्द-चित्र आदि बहुत कुछ मिलता है। भाषा की लक्षणा और व्यंजना शक्ति से भी यह सम्पन्न है। कहीं-कहीं प्रतीकों का प्रयोग भी हुआ है। अतएव सभी दृष्टियों से रचना बढ़िया है।

अलंकार-योजना

अलंकार-विधान में कवि का पाण्डित्य स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। अलंकारों के चमत्कार से तथा छन्दो की विविधता से समूचा काव्य भरा पड़ा है। शब्दों की संश्लिष्ट-रचना तथा उक्ति-वैचित्र्य में कवि का वैभव पंक्ति-पंक्ति मे फूट पड़ा है। अपभ्रंश के कथाकाव्यों मे इतनी प्रौढ़ कृति दूसरी नही मिलती। काव्य का प्रारम्भ ही यमक-रचना से होता है। अनुप्रास तो पद-पद पर मिलता है। यमक और अनुप्रास के प्रायः सभी

---

१. पद्धडियाबंधें पायडत्थु आइहिं जाणेज्जमु सुणयसत्थु।
सयलइं पद्धडियइं एइ हुंति सत्तरिणवजुदसयदुण्णि सति। अन्तिम पुष्पिका, ३

२. एयहो गंथहो सहसइ चयारि परिमाणु मुणहु अक्खरनियारि।
हउं मुक्खु णिरक्खरु खलियलज्जु णवि जाणमि हेयाहेया कज्जु। वहीं।

भेद एवं प्रकार इस काव्य में दिखाई देते हैं। यद्यपि आलोच्यमान रचना में वाक्य-न्यायमूलक, लोकोक्तिमूलक, विरोधमूलक तथा औपम्यमूलक आदि अलंकारों के विविध रूप दृष्टिगोचर होते हैं, पर मुख्यता सादृश्यमूलक अलंकारों की है। सादृश्य में गुण, धर्म, रूप, क्रिया तथा बिम्ब का साम्य लक्षित होता है। अतएव भावों के चित्र-विधान में उस का योग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। अधिकतर सादृश्यमूलक अलंकार ही प्रबन्ध-रचना में सहज विधान में अनुस्यूत देखे जाते हैं। जि० क० में निम्नलिखित अलंकार मुख्य हैं :—

भूहरधारोवि ण परमसेसु पइपेसिणुवि ण तियरइ विसेसु।
बहु खित्तंकिउवि ण जंबुदीउ जडमाणसवंतुवि पर ण णीउ। (विशेषोक्ति)

यहाँ पर अचिन्त्यनिमित्ता विशेषोक्ति है। क्योंकि कारण के रहते हुए भी कार्य का अभाव है और वह कार्य अचिन्त्य है। कारण है कि राजा चन्द्रशेखर भूधर यानी पृथ्वी को धारण करने वाला होने पर भी शेषनाग नहीं था। पतियों का पोषण करने पर भी स्त्री की रतिविशेष से हीन था। अनेक क्षेत्रों वाला होने पर भी जम्बूद्वीप नहीं था। मूर्खजनों का शत्रु होने पर भी नीच नहीं था। इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर द्रष्टव्य है—

जणसंतावहरुवि पर ण मेहु पालिय संजमु वि ण मुक्क गेहु।
विमलोहयपक्खु वि पर ण हंसु सयलकलालउ वि ण सीयरंसु। (विशेषोक्ति)

छंदवंती सुलक्खणगुणो धारिणी सक्कई कव्ववित्तीव मणहारिणी।
रायहंसाणपतीव थिरगामिणो लोयनंतोसयारिणिय णं सामिणी॥ (उपमा)

कि रायहंसु पंडुरंसु भासुरो कि सामिणीसु सोहए हयासुरो।
कि सुखपंथु दिव्वगंथु संवरो कि पंत्तइल्लु कप्पवित्थु धीवरो।
कुवेरु एहु कि सुमेहु घणओ कि पुण्णिमो सुहीसु तेयपुण्णओ।
कि णिप्पपंचि कि विरंचि कुच्छरो कि रामएउ कंतउ णिमच्छरो। (सन्देह)

जिनदत्त को देख कर यहाँ सार्थवाह सागरदत्त को शंका हो रही है कि यह राजपुत्र है अथवा किन्नर, विद्याधर या अन्य कोई। अतएव भेदोक्ति सन्देह है।

विद्दुम विवारुण अहरसोह णं कामे दाइय ररसोह। (स्वरूपोत्प्रेक्षा)

विणु धणेण किरिया ण वट्टए विणु धणेण धम्मु ण पयट्टए।
विणु धणेण मित्तहं ण भावए विणु धणेण सोहा ण पावए। (विनोक्ति)

सिसु पाडल भंतिए लंपडउ कायहो ण वियारइ घूयडउ।
जोण्हाजले ण जग खालियउ सीययरहिं सुहियणु लालियउ। २,१६
(भ्रान्तिमान्)

अर्थात् चाँदनी से जग का प्रक्षाल हो जाने पर शीतलता से क्षालित सज्जन शान्ति का अनुभव करने लगे। किन्तु शिशु पढ़ने वाले प्रतिबिम्ब को पाटल समझ कर लपकने को दौड़े। उलूक कौओं को हंस समझ कर विदारने नहीं लगे।

मे हरि एक्क तणुउ सुव गुणणिहि अंधहि जट्ठि धारओ। (लोकोक्ति)

इस में अन्धे को लाठी का सहारा नामक कहावत प्रयुक्त है।

दुण्णयणय चक्कासणि सचक्क पणवेवि चक्केसरि णयणिचक्क। (यमक)

करे करे संचरइ सुवण्णधामु बालुवि जायउ पायडिय णामु।
हल्लर हल्लर हल्लर सरेंहिं णरणाहविलासिणि सायरेंहिं।
(स्वभावोक्ति)

इन के अतिरिक्त दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, समुच्चय, उदात्त आदि अलंकार जि० क० में मिलते हैं। कहीं-कहीं पउमचरिउ और महापुराण की भाँति अलंकारों की झड़ी दिखाई पड़ती है। पहली ही सन्धि में उत्प्रेक्षा (१,१७) और उपमाओं की लड़ी की लड़ी मिलती है (१,१५)। वस्तुतः श्लेष, यमक, रूपक, उपमा और उत्प्रेक्षा अलंकारों से समूची रचना भरी पड़ी है। आदि, मध्य, श्रुति, वृत्ति, छेक तथा अन्त्यानुप्रासों से यह अत्यन्त समृद्ध है। यमक में भी आदि, मध्य और अन्त पादगत अनेकों उदाहरण मिलते हैं। यथार्थ में अन्त्यानुप्रास और यमक अपभ्रंश-कविता की अपनी निजी विशेषता है, जिस का उसे गौरव है। इस का सब से बढ़िया उदाहरण प्रस्तुत काव्य कहा जा सकता है।

छन्दोयोजना

छन्दों की दृष्टि से जि० क० का अत्यन्त महत्त्व है। अपभ्रंश के कथाकाव्यों में इतने अधिक छन्दों का किसी एक रचना में प्रयोग नहीं मिलता है। उपलब्ध अपभ्रंश-साहित्य में सब से अधिक छन्दों का प्रयोग 'सकलविधिविधान काव्य' में देखा जाता है। अपभ्रंश के कवियों ने अधिकतर मात्रिक छन्दों का प्रयोग किया है। ये छन्द नाद, श्रुति, ताल, लय एवं देशी धुनों से समन्वित होते हैं। कहीं-कहीं तो लोक प्रचलित रागों में ही मात्राओं को घटा-बढ़ा कर छन्द का ढाँचा दिया हुआ प्रतीत होता है। कुछ छन्द जन-जीवन में विभिन्न उत्सवों पर गाये जाने वाले गीतों पर आधारित हैं। उन के नाम भी ज्यों के त्यों हैं। वसन्तचच्चर वसन्त के दिनों में तथा फाग के समय चर्चरी पर गाये जानेवाले गीत या उस की शैली पर बने हुए छन्द का नाम है। इस छन्द को पढ़ने से यही लगता है जैसे कि आपस में बात कर रहे हों।

कि सीरपाणि कंजजोणि किं इमो
कि कित्तिवासु दिव्ववासु णित्तमो

कि रायहंसु पंडुरंसु भासुरो
कि सामिणीसु सोहए छ्यासुरो । जि० क०, ३, १५ ।

आलोच्यमान कथाकाव्य में ऐसे कई छन्द मिलते हैं, जिन का अध्ययन एक स्वतन्त्र ग्रन्थ का विषय है। जि० क० में प्रयुक्त छन्द अधिकतर मात्रिक हैं। वे शास्त्रीय न हो कर लोकशैली में ढले हुए मिलते है। अमरपुर सुन्दरी, जंभेट्टिया और आवली ऐसे हो छन्द जान पड़ते हैं। श्री वेलणकर के अनुसार फुल्लडक, झम्बटक, धवल और मंगल लोक-जीवन के उत्सवों तथा मांगलिक कार्यों से सम्बन्धित छन्द हैं।[1] आ० हेमचन्द्र ने स्वयं उन का निर्देश किया है।[2] इस से पता लगता है कि प्राकृत-युग में ही विभिन्न मांगलिक कार्यों में प्रयुक्त होने वाले गीतों का सम्बन्ध विविध छन्दों से स्थापित हो गया था। अपभ्रंश के कवियों ने उसी परम्परा का निर्वाह कर सामाजिक विधान के अनुरूप नये छन्दों तथा गीतों का प्रयोग कर लोक जीवन का वास्तविक परिचय दिया है।

जिनदत्तकथा में विलासिनी, पिंगल, मौक्तिकदाम, मनोहरदाम, आरनाल, भुजंग-प्रयात, गाथा, वस्तु, सोमराजि, नलिना, ललिता, सिग्गिणी, अमरपुरसुन्दरी, पोमिनी, मदनावतार, विचित्रमनोहर, पमाणिया, वसन्तचच्चर, पंचचामर, नाराच, दुवई, तोणया तिभंगिया, रमणीलता, समाणिया, चित्तिया, भमरपयाणाम, मोणय, खण्डय, जंभेट्टिया और आवली छन्द मिलते हैं। ग्यारह सन्धियों में तीस छन्दों का प्रयोग करना कुशल कवि का ही व्यापार है। आश्चर्य तो यह है कि केवल आवली को छोड कर अन्य सभी छन्द पाँच सन्धियों में ही प्रयुक्त हैं। आगे की छह सन्धियों में कवि ने पिछले छन्दों में से ही कई छन्दों का प्रयोग किया है। किन्तु मुख्य रूप से घत्ता और दुवई का योग दिखाई देता है। छन्दों के लक्षण और उदाहरण इस प्रकार है—

विलासिनी

यह समचतुष्पदी छन्द है। इस के प्रत्येक पद मे पन्द्रह मात्राएँ होती हैं। कुल मिला कर साठ मात्राएँ कही गयी है[3]। यथा—

परहरे गए सोहचारिणी,
विसयसुक्खसंपत्तिकारिणी।
सामिणी सया दुक्खवज्जिया,
जेहि सभुवविक्कमेण अज्जिया ॥

१ छन्दोऽनुशासन की भूमिका, पृ० ४६।
२. उत्साहादिना येनैव धवलमंगलभाषागाने तन्नामाद्यं धवलमंगले। छन्दोऽनुशासन, ५, ४०।
देवगानं फुल्लडकम्। वहीं, ५,४१।
गाने चिदौ झम्बटकम्। वहीं, ५,४२।
३. तौ चस्तौ विलासिनी।
द्वौ त्रिमात्रौ एकश्चतुर्मात्र: पुनर्द्वौ त्रिमात्रौ विलासिनी। वहीं, ४, ६०।

कहीं-कहीं मात्राओं में भेद लक्षित होता है। किन्तु जान पड़ता है कि अपभ्रंश की कविता उच्चारण की विधि पर अधिक निर्भर है। क्योंकि उच्चारों (utterance) के अनुसार ही अपभ्रंश के छन्दों का विकास हुआ है। अतएव लोक-शैली में ढले हुए छन्दों में अथवा कवि के स्वातन्त्र्य से मात्राओं में घटा-बढ़ी मिलती है। यथा—

मत्तकोइलमहुरभासिणी
हसइ किं पि सा जइ विलासिणी।
दोण्हि हुंति सोहग्गलण्हिआ
मल्लिआ तह य चंदजोण्हिआ॥[1]

यहाँ पर उक्त पंक्तियों में पहली में सोलह मात्राएँ हैं, दूसरी-तीसरी में पन्द्रह और चौथी में सोलह हैं। पहली पंक्ति में 'मत्तकोइला' पाठ है। यदि 'मत्तकोइल' मान लिया जाय तो पन्द्रह मात्राएँ होती हैं। किन्तु अन्तिम पंक्ति में स्पष्ट रूप से सोलह मात्राएँ है। यदि 'चंद' मे दो मात्राएँ मानें तो 'हुति' में दो ही गिननी पड़ेंगी और परिणामतः तीसरी पंक्ति में चौदह मात्राएँ होगी। इस प्रकार जब आ० हेमचन्द्र को निर्दोष उदाहरण नही मिल सका तो फिर इस में किसी का क्या दोष ? किन्तु आगे की पंक्तियों में मात्राएँ यथोचित है। उदाहरण है—

विणु घणेण गयमाणु दीसए, विणु घणेण जगि अबुहु सीसए।
विणु घणेण काउरि सु भण्णिए विणु घणेण लोएहि ण मांण्णए।

प्रत्येक पंक्ति मे पन्द्रह मात्राएँ ही है, घट-बढ़ नही। वस्तुतः वृत्तजातिसमुच्चय में यह मिश्रित वृत्त के रूप मे उल्लिखित है। विरहांक ने दो स्थानों पर इस का विवरण दिया है। एक के अनुसार यह मात्रिक वृत्त है और दूसरे के अनुसार दो बार पाँच मात्राओं के प्रयोग एवं अन्त्य गुरु के अनन्तर एक जगण का प्रयोग होता है।[2] इस से यह पता लगता है कि समय-समय पर प्राकृत के छन्द संस्कृत के साँचे में ढाले जाते रहे हैं। क्योंकि प्राकृत और अपभ्रंश में वे मात्रिक रूप में ही प्रयुक्त हैं। अतएव उन में स्वातन्त्र्य और लोकशैली के अनुरूप प्रयोग करने की क्षमता तथा प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है।

मौक्तिकदाम

कवि ने इसे मुत्तीदाम या मोत्तिया कहा है। यह सम द्विपदी छन्द है। इस के प्रत्येक पद मे बत्तीस मात्राएँ होती हैं। कुल मात्राएँ चौसठ कही गयी हैं। स्कन्धक के समान इस में बारहवीं और आठवीं मात्राओं पर क्रमशः यति होती है।[3] यथा—

---

१. छन्दोऽनुशासन से उद्धृत, ४,६०-१।
२, श्री ह० द० वेलणकर छन्दोऽनुशासन, पृ० ३४३-३४७।
३. तद् मौक्तिकदाम ठजै। छन्दोऽनुशासन, ७,११।
ठजैरिति द्वादशभिरष्टभिश्च यतिश्चेत्तदा तदेव स्कन्धकासमं मौक्तिकदाम।

सिणा जिणवसु समप्पिउ ताहं हिरी गउरत्तु मणाउ ण जाहं ।
णिरंतर गुज्झ णिवेइय वत्त तहावि करेहु समिच्छइ कंत ।

किन्तु इस उदाहरण में यति के नियमों का पालन नहीं हुआ है। वस्तुतः यह दृष्टान्त मात्रिक वृत्त का न हो कर वर्णवृत्त का है। कालान्तर में संस्कृत के साहित्यिक प्रभाव से आपन्न हो कर विभिन्न छन्द वर्णवृत्तों के साँचे में ढलने लगे थे। प्राकृतपैंगलम् में वर्णित वर्णवृत्त के अनुसार ही इस की रचना हुई है, जिस में चार जगण और प्रत्येक चरण में सोलह मात्राएँ होती हैं।[1]

मनोहरदाम

कवि ने इसे 'विचित्तमणोहरा' कहा है। यह समचतुष्पदी छन्द है। इस के प्रत्येक चरण में बीस मात्राएँ होती हैं। कुल मात्राएँ अस्सी होती हैं। इस का उदाहरण है—

मज्जंति सो जाव पुणु चिंतए ताव
तणु कंति लायण्ण सोहग्गसंपुण्ण
वररूव तण्णंगि का मार रइसंगि
पच्चक्ख इह च्छंदि कय जाहि पडिच्छंदि ।

यह गीति शैली का छन्द जान पड़ता है। भावों का आवेग गेय पद्धति पर ताल और लयानुकूल है। इस का लक्षण प्राकृतपैंगलम्, छन्दोऽनुशासन और प्राकृतछन्दकोश में नहीं मिलता है।

दूसरा उदाहरण है—

कलिकलुसमलरहिय संथविय णियदुहिय ।
ता भणिउ ताएण गुणगरुवराएण । ३,१२

इस के प्रत्येक चरण में दस और कुल बीस मात्राएँ हैं। दोनों ही पंक्तियाँ स्वतन्त्र हैं। अतएव यह सम द्विपदी छन्द है। आ० हेमचन्द्र के चारु और विचित्रमनोहरा में कोई अन्तर नहीं जान पड़ता है।[2] हाँ, मनोहरा और विचित्रमनोहरा में बहुत अन्तर है।[3] संभव है इस के दोनों नाम प्रचलित रहे हों अथवा साहित्य में उसे चारु कहते रहे हों और लोक में मणोहरा या मनोहरा प्रचलन में रहा हो।

---

१. पओहर चारि पसिद्धह ताम, ति तेरह मत्तह मोत्तिअदाम।
ण पुव्वहि हारु ण दिज्जइ अंत, बिहुसअ अग्गल छप्पण मत्त ॥ प्राकृतपैंगलम्, २,१३३।
उक्त उदाहरण में भी आदि और अन्त में हार (गुरु) नहीं है।

२ पौ चारु'। छन्दोऽनुशासन, ७,७१।
द्वौ पंचमात्रौ चारु'। यथा—चारुचंपयकई, उअ सोहइ जुअई।

३. समे दश ओजे पंचदश मनोहरा। वहीं, ६. २०-३२।

आरनाल

यह समचतुष्पदी छन्द है। इस के प्रत्येक पद में तीस और कुल मिला कर एक सौ बीस मात्राएँ होती हैं। छठी, चौथी और पाँचवीं मात्राओं पर क्रमशः यति होती है। यथा—

जा पालिय गुणवालें णिवेण गुणमंजरि पियउक्खय करेण।
णिवणीइ वियक्खण गुणरएण परिरक्खय सुहृपय जहं पिएण।

यहाँ पर यह समद्विपदी है। कहीं-कहीं पर चतुष्पदी भी है। जैसे कि—

हिमगिरिसरिसम परिहा वरिया वयसासचक्क मणोहरिया।
चउदिसु दरसिय गोउर सणरा मुणिपय चुव पंसु पवित्तवरा।
गिव्वाणविमाणसमाणघरा भूसिय मणिकिरण तमोहहरा।
वरचारणउल कोलाहलिया कय जणवयदाण वसें मिलिया।

सोमराजी

इस के प्रत्येक पद में दो यगण होते हैं[1]। प्राकृतपैंगलम् में यह शंखनारी कहा गया है, क्योंकि लक्षण दोनो में समान हैं। जयकीर्ति ने इसे द्रुत कहा है[2]। संभव है कि इस के और भी अन्य नाम हों। उदाहरण है—

कुमारस्सगेहं पयंपंति णेहं अहो णाह भव्वं ण सो देइ दव्वं।

इस प्रकार यह समचतुष्पदी वर्णवृत्त है। संभवतः यह संस्कृत, प्राकृत से अपभ्रंश मे गृहीत हुआ है। क्योंकि शंखनारी भी वर्णवृत्त है और द्रुत भी।

ललिता

यह समद्विपदी छन्द है। आ० हेमचन्द्र ने इसे गीति का एक भेद कहा है। गीति छन्द का भारतीय साहित्य में अत्यन्त प्रचार रहा है। लोकसाहित्य तो गीति की ही विभिन्न धुनों मे लिखा गया है। इस के हजारो और लाखों भेद जन-जीवन में प्रच-लित रहे हैं। इस छन्द मे इकतीस मात्राएँ होती हैं, तेरहवी मात्रा पर यति होती है। किन्तु हेमचन्द्र के द्वारा कहे गये लक्षण का पालन इस में नहीं है[3]। यथा—

कुव मढ उववण दीहिय हियवण, विविह करावहिं सुह संपावहिं।

यहाँ पर बत्तीस मात्राओं का छन्द है। फिर, तेरहवी पर यति भी नही है। पूरा कड़वक ऐसा ही है। अतएव सदोष भी नही मान सकते। दूसरा उदाहरण है—

१. यौ सोमराजी। वहीं, २. ३८।
२. वहीं, पृ० २८७।
३. तृतीये ललिता। ४, १०।
गीतिरेन तृतीये पे ललिता। वहीं।

रूवेणत्थर रंखिय सत्थर कुलभरधुरधर केसरिकंधर।

वस्तुतः इस के कई भेद थे, जिन का उल्लेख संभव भी नहीं है। आ० हेमचन्द्र ने उन का संकेत भर किया है[1]। अतएव उन में से ही किसी का प्रयोग हुआ है।

अमरपुर सुन्दरी

यह सम द्विपदी छन्द है। इस के प्रत्येक पाद में दस मात्राएँ होती हैं। क्रमशः सातवीं, दूसरी और फिर पहली पर यति होती है[2]। यथा—

कोविलालावरे किण्णरी कीलिरे।

मदनावतार

यह समचतुष्पदी छन्द है। इस के प्रत्येक चरण में बीस मात्राएँ होती हैं[3]। स्वयम्भू ने इसे चन्द्रानन कहा है[4]। यथा—

दिक्खवहि महपुरउ ससरीरु दिवसयरु,
णासेहि महचित्त भंतोए तमपयरु।
ते विरहसिहि तवियतणु जाइ णउ जाम,
पज्जलिवि वयणंबु देदेहि पिय ताम।

पद्मिनी

कवि ने इसे पोमिणी कहा है। इस में प्रत्येक पाद में पन्द्रह मात्राएँ होती है। यह समचतुष्पदी छन्द है। उदाहरण है—

विरेहमाणु सुन्दरावणो जिणायमेव सोह पावणो।
वराणणुव्व णित्त भूसिओ जिणुत्त सुद्धवाणि पोसिओ।

पंचचामर

नाराच के कई भेद हैं। छन्दोऽनुशासन में नाराचक, सोमकान्त और पंचचामर का उल्लेख मिलता है। किन्तु तीनों के लक्षणों से प्रस्तुत उदाहरण मेल नहीं खाता। उदाहरण है—

---

१ अत्र तृतीय पगणस्य षड् विकल्पत्वे प्रागवत्तावन्त एव भेदा'। वहीं।
तथा—
ततस्तैषां शेषगणविकल्पानां चान्योऽन्यताडनायां पूर्वार्धे जाता एकोनविंशति' सहस्राणि द्वे शते। तावद्भिरेवोत्तरार्धविकल्पैर्घाते जाता षट्त्रिंशत्कोट्य षडशीतिर्लक्षाश्चत्वारिंशत्-सहस्राणि। वहीं, ४, ६, १।

२. सप्त कला दलौ चामरपुरसुन्दरी। वहीं, ७, ६६।

३ तत्र चतुर्भिः पञ्चमात्रैर्मदनावतार। वहीं, ४, ८३।

४. श्री वेलणकर द्वारा सम्पादित "छन्दोऽनुशासन", पृ० ३४३।

सुणेह तं जिणाइदत्तिणा पयंपिउ
अहो वणीस कित्तिमीस सारु सप्पिओ ।
सुरिंदणंदणेव तुज्झु णंदणं
तुरं कुणेमि साहिसाह सोहणं वणं ॥

इस प्रकार इसमें कुल अस्सी मात्राएँ हैं । संस्कृत में इसे नगस्वरूपिणी कहते हैं । इस के अन्य नाम हैं—बालगर्भिणी, मत्तचेष्टित, प्रमाणीणिका और स्थिर[1] । वस्तुतः उक्त उदाहरण संस्कृत के नगस्वरूपिणी से मिलता-जुलता है । अतएव संभव है कि वर्णवृत्त को मात्रिक में ढाल लिया गया हो ।

पमाणिया

इस का संस्कृत रूपान्तर प्रमाणिका है । यह वर्णवृत्त है । इस मे कुल बत्तीस अक्षर होते हैं । इस का दुगुना प्रमाण नाराच में कहा गया है । इस में एक लघु के बाद क्रमशः एक गुरु होता है[2] । यथा—

असेसु देसु मिल्लिए सुणिच्च पंथि चल्लए ।
तडाग कूव कंदरं गिरी सरीउ सुंदरं ।

नाराच

यह चतुष्पदी छन्द है । प्रयुक्त नाराच सोमकान्त है । इस के प्रत्येक चरण में चौबीस मात्राएँ होती हैं[3] । उदाहरण है—

असोय साहि सेहरच्छ मोरचारुपिच्छयं विचंचुलंछिया वडेंति चूवपिक्कगुच्छयं ।
धराविय धराहरुग्गे सण्णिसण्णखेयरं लयाहरंत कीलमाण खेयरी सुखेयरं ।

इस में कुल मात्राएँ छियानवे है ।

तोणया

इस का संस्कृत नाम तूणक है । यह वर्णवृत्त है । इस में पन्द्रह अक्षर तथा रगण, जगण, रगण, जगण और रगण का क्रम रहता है[4] । इस के अन्य नामों में उत्सव, महोत्सव और चामर का उल्लेख मिलता है । उदाहरण है—

रत्तपोमपत्त छायपाय गंधवासिया उज्जलाणहावली णियंविणी हियासिया ।
मुक्कपाव सुद्धभाव रायहंसगामिणी सव्विलासदिव्ववास हासकेलिगोमिणी ।

---

१. श्री वेलणकर : छन्दोऽनुशासन, पृ० २८८ ।

२ लहू गुरु निरन्तरा पमाणिआ अठक्खरा ।
पमाणि दूण किज्जिए णराअ सो भणिज्जए ॥ प्रा० पै०, २, ६८ ।

३. णरायपाय बीह मत्त चारिमत्त अग्गला ठविज्जयंति षोडसाइ अक्खराइं णिम्मला ।
लहूय अट्ठदीह अट्ठ एरिसो पसिद्धओ नरायनाम सोमकंत कोसलेहि दिट्ठऊ ।
प्राकृतछन्दकोश, १४ ।

४. रजर्जरास्तूणकम् । छन्दोऽनुशासन, २, २५४ ।

भ्रमरपद

इस का प्राकृत नाम भमरपया है। यह समद्विपदी छन्द है। इस के प्रत्येक चरण में बाईस मात्राएँ होती हैं। छन्दोऽनुशासन में उल्लिखित भ्रमरपद से इस में अन्तर है। यथा—

हीरावलि ते उज्जल दरदरसिय दसणा वालुम्बियकुरंगिव लोयणसियकसणा।
गहिरणाहि खामोयरि सुपिहुलकडिरमणा रत्तुप्पलकोमलकर कुंजरगइगमणा।

त्रिभंगिका

इस का प्राकृत नाम तिभंगिया है। यह कई छन्दों के मेल से बनता है। अतएव इस के कई भेद हैं। प्रा० पैं० के लक्षण से प्रस्तुत उदाहरण मेल नहीं खाता है। यह स्वतन्त्र ही है। यथा—

पिम्मंबुरसुल्लिउ देहु णिमुल्लिउ पियहु लहु कवि भणइं महिल्ली।
कामवसिल्ली गुणभरिउ सूहउ गमदारें मणिपायारें अंतरिउ।

जंभेट्टिया

इसे जम्भेट्टिका भी कहते हैं। यह समद्विपदी छन्द है। इस के प्रत्येक पाद में नौ मात्राएँ होती हैं[१]। यथा—

ता रिउवंतओ बहुत्तउ कंतओ।
जाय सरंगओ णिरुवम चंगओ॥

इन छन्दों के अतिरिक्त गाथा, वस्तु, भुजंगप्रयात, दुवई और खण्डक के उदाहरण लक्षणों के अनुसार इस काव्य में मिलते हैं। किन्तु जि० क० में कुछ अभिनव छन्दों का भी प्रयोग दिखाई देता है, जिन के नाम हैं—पिंगल, विचित्तमणोहरा, वसंतचच्चर, समाणिया, चित्तिया आदि। इन में से पिंगल और विचित्रमनोहर के तो लक्षण ही नहीं मिलते। वसन्तचर्चर छन्द वसन्तोत्सव और वसन्तलेखा दोनों से ही भिन्न है। चित्तिया भी चित्रा से सर्वथा भिन्न है। समाणिया अवश्य संस्कृत का समानिका वर्णवृत्त से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। किन्तु णलिण संस्कृत नलिन से भिन्न है।

समानिका

इस के कई नाम हैं उष्णिह्, कामिनी, खेटक, गोभिनी, रत्तक, रत्ता, शिखा आदि। इस में क्रमशः एक रगण, जगण और एक गुरु होता है[२]। किन्तु निम्नलिखित उदाहरण में सर्वत्र गुरु के बाद एक ह्रस्व भी प्रयुक्त है। यथा—

ताम्व ओसहीसधाम णट्ठओ विसिट्ठकाम।
इत्थ अंतरम्मि सूर चक्कवाण आसपूर।

---

१. चपौ जम्भेट्टिका। चतुर्मात्रपंचमात्रौ जम्भेट्टिका। वहीं, ७, ६७।
२. रजौ ग उष्णिक्। रगणजगणौ गुरुश्च। वहीं, २, ५३।

आवली

यह समचतुष्पदी छन्द है। इस के प्रत्येक चरण में बीस मात्राएँ होती हैं[1]।
यथा—

छुट्टइ कहव कहव तत्तो पमज्जए   पुणरवि धाइ तेंहिं सहसा गहिज्जए।
तारिसु बहुपयारु दुक्खहु किज्जए   अम्हारिसिहिं केम वण्णहुं तरिज्जए।

जि० क० में समाज और संस्कृति

साहित्यिक रचना होने पर भी जि० क० में समाज और संस्कृति के स्पष्ट दर्शन होते हैं। भ० क० की भाँति इस काव्य पर भी सामन्तकालीन संस्कृति और समाज की बढ़िया छाप लगी हुई मिलती है। भले ही धार्मिक आवरण में वह कहीं-कहीं स्पष्ट रूप से न उभर सकी हो, पर लोकजीवन का पूरा तत्त्व उस में समाया हुआ है। जिनदत्त के जन्म लेने पर छठे दिन छट्ठी का उत्सव मनाना[2], दसवें दिन नामकरण संस्कार करना[3], देव-पूजन करना आदि ऐसे लोकाचार हैं, जिन्हें भारतीय अपने जीवन में समाज से भुला नहीं सकता। विवाह के समय समाज में विभिन्न मांगलिक कार्य होते थे। स्त्रियाँ मंगलगीतों को गाती हुईं, स्त्री-समूह में नृत्य-गान करती हुईं उल्लास को प्रकट करती थीं। मन्दल, ढक्क, फुड्डक्क, बुक्क, मुक्कार, नन्दिघोष, भंभाभेरी, वीणा, तालकंसाल और तूर आदि वाद्यों के वादन से समूचा सामाजिक वातावरण हर्षोत्फुल्ल हो जाता था। बरात में स्त्रियाँ भी जाती थीं। बरात बैलगाड़ी पर जाती थी। बैलों के सींगों को सुनहले कपडो से लपेट कर सजाया जाता था। जिनदत्त की बरात में एक करोड़ बैल थे। बोझा ढोने वाले अनगिनत थे। घोड़े टापों से धूलि उड़ाते जाते थे। बरात के स्वागत में पान का अत्यधिक प्रचार था। बरात को नगर के बाहर ठहराने की प्रथा थी। लोग मस्ती के साथ हाथ में हाथ डाले विहार करते थे।[4] वर को बढ़िया से बढ़िया वस्त्रों तथा आभूषणों से सजाया जाता था। जिनदत्त ने हाथों में कंकण, सीस पर सेहरा, गले में श्वेत पुष्पों की माला, कानों में कुण्डल और गले में हार धारण किया था। वर के नगर में पहुँचने पर घर-घर मे दीपावली सजायी जाती थी। चौक मोतियों की रंगावली से पूरा जाता था। मंडप कई रंगों के वस्त्रों से तथा रत्नों से सजाया जाता था। वर की सवारी हाथी पर निकलती थी। विवाह मे नाच-गान की प्रथा थी।[5] लोग सपत्नीक पीढ़ों पर बैठ कर वेश्याओं के नृत्य-रम का आनन्द लेते थे।[6] गीत और विनोद

१. वहीं, ४, ५८।
२ छट्ठए दिणि णिसिजायरण विहि   पमुहच्छव कय बहु सुह पवित्ति। १,२३
३. दसमए वासरि जिणयत्तु णामु   मुणिणा तहो कउ सुविसालधामु।
४. करे करु मेलंतु वसुट्ठमसु   तंबोल बोलि रंजिय वयणु। २,११।
५. पिच्छइ अवलायण णट्टरसु   वाइय मंदलरव भरिय दिसु। २,१४।
६ ता तहि मंडवायले मिलिय जणवसे   रयणकिरणपीढे।
उवविट्ठउ मणुज्जउ वरु समज्जउ   सुपडि पिहियपीढे। २,१४।

में ही सारा समय बीतता था। वर ससुर के घर पर कई दिनों तक राग-रंग में मस्त रहता था। बढ़िया भोजन तथा तरुण स्त्रियों का सत्संग, यही उस के दो मुख्य कार्य होते थे। दोपहर के भोजन के बाद ही नवयुवतियों का नृत्य आरंभ हो जाता था। नाच-गाना ही नहीं, द्राक्षा का बना हुआ मधुर आसव और पानक भी चलता था।[1] काव्य की भाँति वह अत्यन्त महकता था। फिर, नयी बहू के साथ जिनदत्त सुगन्धित तथा कोमल भोजन करता था। इस से स्पष्ट है कि उस युग में सामन्तीप्रथा का बड़ा प्रभाव था। माता बेटी को बिदा करते समय वर-वधू के सिर पर दूर्वांकुर तथा सिद्धि के लिए जौ डालती थी। सभी नगर के बाहर उद्यान तक दोनों को पहुँचाने जाते थे। माता ससुराल में भलीभाँति रहने के लिए तथा गुरुजनों की विनय करने के लिए पुत्री को उपदेश देती थी। बहू के साथ पुत्र के विवाह से लौटने पर माता पुत्र का सिर चूमती थी, आरती उतारती थी। बेटे-बहू की नजर उतारती थी। न्योछावर कर दान देती थी। कपूर के दिये जला कर आनन्द मनाया जाता था। विवाह में दायजा (दहेज) देने की प्रथा थी।[2] वेश्याओं का समाज में सम्मान था। जिनदत्त का मन विषयों की ओर उन्मुख करने के लिए सेठ जीवदेव ने उन्हें अपने घर बुलाया था।[3] जुआ का प्रचार था। विभिन्न द्वीपों में जा कर वाणिज्य द्वारा रत्नों को कमा लाने में ही वणिक् जीवन सफल समझा जाता था। सार्थवाह सहस्रों की संख्या में व्यापार के लिए जहाजों में बैठ कर जाते थे। अतएव धनवान् की कसौटी कंचन न होकर रत्न, हीरा, माणिक तथा मोतियों में मानी जाती थी। बहु-विवाह की प्रथा थी। विद्याधरों के राजा अशोक के अन्तःपुर में लगभग बीस देशों की रानियाँ थीं। (५,७) मारण, मोहन, उच्चाटन तथा तरह-तरह की विद्याओं का प्रचार था। मगध में कई छोटे-छोटे राजा थे। कदाचित् यही गुजरात तथा कच्छ की स्थिति थी। इसीलिए वसन्तपुर में सेना के साथ जब जिनदत्त पहुँचा तो राजा घबड़ा गया। क्योंकि राजा लोग अपने छोटे से राज्य में भोग-विलास में डूबे रहना चाहते थे।

---

१. दुप्पहरे भु जइ भोयणु सुकुमारयरु — सुविसुट्ठु सबंधउ सवहु णिरु।
णवणट्टारंभुव रसवहलु — तरुणीजोव्वणुव सलवणहलु।
रहवरुव ससूउ जणिय हरिसु — महकइ कव्वुव दक्खवियरसु।
अइमहुरउ परमपियासणुव — सीरग्गलु पामरणरवरुव। २, १७।
२. पुणु दिज्जइ दाइज्जउ परइ — अइ उच्च मंच दिव्वंवरइं।
उच्छाणमहिस हय गोहणइं — दासीउ दास मणमोहणइं।
३. कुदेंदुज्जलदंतिउ दरपहसंतिउ — आणहु सघरि विलासिणिउ।
कारणे णिग्गयपसूवहो गुणसंभूवहो — अकुसुमभाव पणासणिउ। १, २७।

जिनदत्तचउपई

कवि रल्ह कृत 'जिनदत्तचउपई' लगभग छह सौ चौपाइयों में निबद्ध काव्य-रचना है। यद्यपि यह सन्धियों में विभक्त नहीं है, पर इस की रचना कथाकाव्य की शैली पर हुई है। वस्तुबन्ध तथा वर्णन अधिकतर पं० लाखू के 'जिनदत्तचरित' पर आधारित है। समग्र रचना पाँच सौ तेतालीस चौपाइयों में रचित है।

गय सत्तावन छप्पसय माहि पुन्नवंत को छापइ छाहि।
तवकु पुराणु सुणिउ नउ सत्थु भणइ रल्हु हउ ण मुणउ अत्थु।५४८।

किन्तु इस के आगे के पद में कवि ने पाँच सौ चवालीस चउपई रचने की बात कही है। वस्तुतः कुल छन्द पाँच सौ उनचास है, जिन में अन्त के पाँच या छह ग्रन्थ के माहात्म्य के सूचक है। यदि हम उन को अलग से मानें तो पाँच सौ तेतालीस या चवालीस होते हैं। इस सम्बन्ध में विशेष रूप से आगे विचार किया जायेगा।

बीच-बीच मे नाराच या वस्तु छन्द भी दृष्टिगत होते हैं। जिनदत्त की यह कथा किसी उद्देश्य-विशेष से नियोजित न हो कर विबुध जनो के चित्त के अनुरंजन के लिए रची गयी है।

हीणबुधि किम करउ कवित्तु रंजिण सकउ बिबुहअणचित्त।
धम्मकथा पयडंतह दोसु दुज्जणसयण करहि जिणु रोसु।२०।

अतएव कवि की मौलिकता एवं कल्पना को अधिक अवसर था; पर रल्ह की रागात्मिका वृत्ति कथा-वर्णन मे ही अधिक लक्षित होती है। वस्तु-वर्णन कथा की अपेक्षा कम है। पं० लाखू में वर्णन की अतिशयता और अलंकारों के बीच कथा की गतिशीलता दोनो ही समान रूप से मिलती है। इस से जहाँ यह स्पष्ट है कि लाखू की शैली व्यासमूलक है वहाँ रल्ह की समासमूलक है। परन्तु यथार्थ में तथ्य यह है कि वर्णन की जो समासशैली हमें धनपाल में मिलती है वह रल्ह में नहीं है। भविष्यदत्त-कथा की समीक्षा मे यह कहा जा चुका है कि शैली संक्षिप्त, मधुर तथा गम्भीर है। जिनदत्तचउपई मे यह बात नही है। कथा ही इस में मुख्य है। अतएव अनुभूति की सघनता कम है।

अपभ्रंश के कथाकाव्यो की भाँति जिनदत्तचउपई मे चौबीसी-वन्दना, आत्म-विनय-प्रदर्शन, सज्जन-दुर्जन-कथन, आत्माभिव्यक्ति, स्ववंशकीर्तन आदि साहित्यिक रूढ़ियों का पालन दृष्टिगोचर होता है। कवि ने तीन चौबीसी की वन्दना के साथ चौबीस यक्ष-यक्षिणियों, नवग्रहों तथा सरस्वती की भी वन्दना की है। माता-सरस्वती के प्रति कवि ने अत्यन्त अनुराग एवं भक्ति-भावना प्रकट की है। इस से पता लगता है कि जिन-सरस्वती विशेष रूप से कवि की इष्ट देवी रही होगी। इसी लिए कवि ने बार-बार प्रणाम कर स्तुति की है।

पुणु पुणु पणवउ माता पाइ जेइ हउं पालिउ करुणा भाइ ।
मउ बयारणु हुइ सउ उरणु हा हा माइ मुझु जिणसरणु ।२८।

अन्य देवियों में चक्रेश्वरी, रोहिणी, ज्वालामालिनी, अम्बिका और देवताओं में क्षेत्रपाल की वन्दना कवि ने की है ।

कवि-परिचय

कवि के सम्बन्ध मे विशेष जानकारी तो मिलती नहीं है । स्वयं कवि ने अपने विषय मे आलोच्यमान काव्य में जो कुछ कहा है उस से पता चलता है कि उन का जन्म प्रसिद्ध जैसवाल कुल मे हुआ था ।

जइसवालकुलि उत्तम जाति बाईसह पाडल उतपाति ।
पंचऊलीया आते कउ पूतु कवइ रल्हु जिणदत्तचरितु ।२६।

रल्ह के पिता का नाम अभय (अभइ) और माता का नाम आते (?) था । सम्भवतः रल्ह का सम्बन्ध लाखू के कुल तथा राजघराने से था । सम्भव है कवि भी कही का छोटा-मोटा राजा हो । क्योकि जिनदत्तचउपई में कई स्थानों पर कवि ने अपने को 'राइसिहु' उपनाम या पदवी से सूचित किया है ।

धर सिरु लाइ राइसिहु कवइ बहु फलु बीरणाहु जो णवइ ।८।
जिणदत्त पूरी भई चउपही छप्पन हीण वि छहसय कही ।
सहसु सलोक विन्निसय रहिय गंथापमाणु राइसिहु कहिय ।५५६।
हनि ते नारिलिगु गय सग्गि तुट्ठ रायसिह लंजि मिय लग्गि ।५५०।

हो न हो, कवि एटा के आसपास कही का रहने वाला था । इस काव्य की अभी तक एक ही प्रतिलिपि प्राप्त हो सकी है, जो वि० सं० १७५२ की लिखी हुई है । इस के लेखक महानन्द पालम्ब निवासी पुष्करमल के आत्मज थे । जिनदत्तचरित्र के पद्यानुवाद के रचयिता कमलनयन मैनपुरी के निवासी थे ।[1] इस से भी सम्भावना यही की जा सकती है कि कवि रल्ह उत्तर भारत के निवासी थे । और बहुत कर वि० सं० १३२० से १३८० के बीच कवि का रचना-काल रहा होगा ।

रचना-काल

जिनदत्तचउपई की रचना वि० सं० १३५४ मे भादो सुदी पंचमी गुरुवार के दिन प्रारम्भ हुई थी ।

संवत् तेरहसै चउवण्णे भादवसुदि पंचम गुरु दिण्णे ।
स्वाति नखत्तु चंदु तुल हुती कवइ रल्हु पणवइ सरसुती । २९ ।

---

१. कामताप्रसाद जैन हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ० २१४ ।

साधारणतया इस रचना को लिखने में छह महीने का समय लगा होगा। क्योंकि रचना अधिक बड़ी नहीं है। लेखक ने इस रचना को संक्षेप में लिखा है, नहीं तो यह अधिक से अधिक दुगने आकार की अवश्य हो सकती थी।

कथावस्तु का आधार

कवि रल्हू कृत 'जिनदत्तचउपई' का आधार लाखू रचित जि० क० है। वस्तु दोनों मे समान है, पर वर्णन और शैली में दोनों में अन्तर है। मुख्य रूप से दो बातों में असमानता तथा भेद मिलता है। पहली तो यह कि जि० चउ० मे कथानक संक्षिप्त विधि से वर्णित है और जि० क० मे विस्तार है। अतएव जि० चउ० में कवि वर्णनों में न रम कर मुख्य बातें कहता चलता है। किन्तु जि० क० में वर्णन की अतिशयता है। जि० चउ० में घरेलूपन है, पर लाखू की रचना साहित्यिक है। दूसरी यह जि० क० अलंकृत रचना है, पर यह सीधे-सादे ढंग से वर्णित है। इसी लिए पाँच सौ चवालीस चौपाइयो मे समूची कथा अथ से इति तक समाहित हो गयी है।

जिणदत्त पूरी भई चउपही छप्पन होणवि छहसय कही।

जि० चउ०, ५५६।

विषय-वस्तु में जिनदत्तकथा से रल्हू कवि की यह रचना निम्न-लिखित बातों में भिन्न है—

(१) जि० चउ० मे चन्द्रशेखर राजा की रानी मैनासुन्दरी का नामोल्लेख नहीं है। जि० क० मे सेठानी जीवंजसा सुन्दर स्वप्न देखती है, पर रल्हू ने उस का वर्णन नहीं किया। कवि ने 'हाथु देखि मुनि बोलइ' कह कर ज्योतिष की जानकारी का परिचय दिया है। किन्तु जि० क० मे यह नहीं है। इसी प्रकार जि० चउ० के अनुसार जिनदत्त पाँच बरस की अवस्था में विद्या पढ़ने जाता है, पर जि० क० (१,२४) मे आठ बरस मे पढ़ने का लिखा है।

बरस दिवस बाढ़इ जेतडउ दिन दिन विरख करइ तेतडउ।
बरस पंच दस (?) को सो उछाइ विज्जा पढण उझाघरि जाइ। वहीं, ६३

अन्य बातें कुमार का लजालु होना, विषयों में मन न लगना, सेठ का चिन्तित हो कर जुआरियों की संगति मे जिनदत्त को लगाना; पर कुमार का काम से बिंधना, इत्यादि बातें समान हैं।

(२) जिनदत्तकथा मे कुमार पत्नी तथा माता-पिता की सम्मति एवं आज्ञा से ससुराल जाता है और साथ मे पत्नी को भी ले जाता है। मुनि विश्वभूषण कृत जि० च० में भी यही लिखा मिलता है। किन्तु जि० च० में जिनदत्त ससुर को झूठा लेख लिख कर बुलाता है और उन से कहता है कि तुम समधी (धी)से कहो कि मैं जिनदत्त को लेने आया हूँ।

झूठउ लेखि ससुर कहु लिखइ फुणि बुलाइ जण ए कह कहइ ।
कहिउ सेठिस्यो आइवि तेण हों जिणदत्तहं आयउ लेण । (१४६)

इस से जिनदत्त के चरित्र पर अच्छा प्रकाश नही पड़ता है । जान पड़ता है कि वह बड़ा दन्द-फन्द करने वाला था ।

(३) जि० च० में वर्णित है कि जब सागरदत्त (उभयदत्त) जहाज पर चढ़ने लगा तभी पाप बुद्धि से उस ने कंकड़ों की पोटली बाँध कर रख ली थी । समदी से उसे चौदह रत्नाभरण मिले थे और जिनदत्त को बहुत मिले थे । अतः वह कंकड़ों की पोटली को समुद्र में डाल कर रोता है, जिस से जिनदत्त को विश्वास हो जाता है कि रत्नों की पोटली ही गिर गयी है ।

तीरिदर बुलइ पोहणु चडइ उवहिदत्तु पाप जु मनि धरइ ।
पापी पाप बुधि जबु चडी काकार बाधि पोटली धरी । २४१ ।
सो घालिर समद महि रालि कहो वीर रयणण की मालि ।
एहाही धरी रयणपोटली सो देखि पुत्त समद महि परी । २४२ ।

वह धर्म-पिता को ओग्ज बँधा कर समुद्र में कूद पड़ता है । किन्तु जि० क० में यह सब नही है । वह किसी व्यवसाय से जिनदत्त को समुद्र मे प्रविष्ट करा देता है, इतना ही वर्णित है । किन्तु जिनदत्ताख्यान मे कहा गया है कि रात्रि के समय सागरदत्त ऐसी शब्द-ध्वनि करता है कि कोई मनुष्य समुद्र में गिर गया हो और वह वस्तु लेकर नही चढ़ पा रहा हो, इस लिए जिनदत्त को तैयार कर रस्सी से बाँध कर समुद्र मे उतारता है तथा हाथ की रस्सी कँपा कर उसे छोड़ देता है । मुनि विश्वभूषण के जिनदत्तचरित्र में जिनदत्त के समुद्र में उतरने का कारण भंडागार बताया गया है कि सागरदत्त उसे समुद्र में डाल कर जिनदत्त से अनुरोध करता है और वह उसे निकालने के लिए कूद पड़ता है । इस प्रकार सभी मे यह कारण भिन्न-भिन्न कहा गया है ।

(४) जि० च० में जिनदत्त के समुद्र में कूदने के बाद की श्रीमती की पूरी कथा का वर्णन नही है । केवल इतना ही कथन है कि उभयदत्त श्रीमती से कहता है कि तुम शोक न करो, मेरे साथ राज भोगना । तब उस के सतीत्व के प्रभाव से जलदेवी प्रकट होती है । पोत डगमगाने लगता है । सभी बनजारे श्रीमती के पैर पड़ते हैं । अन्त में भलीभाँति बिलावल द्वीप में पहुँच जाते हैं । किन्तु श्रीमती विमलमती के पास तक कैसे पहुँचती है – इस का विवरण कवि ने नही दिया है । यह भी नहीं कहा गया है कि वह अपनी शील-रक्षा के लिए सागरदत्त से छह माह की अवधि माँगती है । जिनदत्तचरित्र भाषा मे कहा गया है कि श्रीमती सागरदत्त के साथ उस के घर दधिपुर में पहुँचती है । वहाँ उस का मन न लगने से सागरदत्त उसे चम्पापुर के वन में अर्जिका विमलमती के पास छोड़ आता है । जिनदत्ताख्यान में वर्णित है कि वह चम्पापुरी के पास साध्वियों को आती हुई देख कर उन के साथ हो लेती है । जि० क० में भी यह

वर्णन है कि श्रीमती सागरदत्त से कहती है कि जब तक पति का क्रियाकाण्ड न कर लिया जाये तब तक छह मास से भी कुछ "अधिक समय तक मेरा स्पर्श न करो। फिर, जलदेवता प्रत्यक्ष होता है। अन्त मे सकट दूर होता है। श्रीमती सब के साथ चम्पापुरी के बाहर उद्यान मे पहुँचती है। वहाँ पर कुछ समय तक भूपट्ट पर बैठने के बाद वह चैत्यालय की ओर दृष्टि डालती है। विशाल चैत्यालय देख कर दर्शनो के लिए वहाँ जाती है और अर्जिका विमलमती के पास रह जाती है।

इस प्रकार कुछ न कुछ अन्तर सभी कथाओ मे मिलता है। इस का कारण यही प्रतीत होता है कि ये लोकप्रचलित कथाएँ रही है, पर समय-समय पर धार्मिक महत्त्व दर्शाने के लिए उन्हे काव्यात्मक रूप दिया जाता रहा है। अतएव उन में वैविध्य और वर्णन चमत्कार तो लक्षित ही होता है, पर कथाभिप्राय भी सयोजित मिलते हैं। कथा के अभिप्राया मे भेद नही दिखाई देता हैं। अन्तर या तो नामो मे है अथवा घटनाओ के विकास में या मोड में। यह परिवर्तन कवि की रुचि और भावनाओ पर निर्भर है कि वह उसे किन रूप-रगो मे चित्रित करना चाहता है। क्योकि समूची कथा मे नायक का चरित्र ही मुख्य होता है। इस लिए कवि उसे जिस रूप में देखना चाहेगा उसे वही रूप प्रदान करेगा। जि० क० और जि० च० में यही बडा अन्तर है। कवि रल्ह न बालक जिनदत्त का चरित्र जुआरी, कामी, चोर तथा लपट के रूप में तो नही, पर सामान्य चरित्र चित्रित किया है, किन्तु जि० क० मे वह विवेकी, सयमी और धीर-वीर प्रदर्शित है। इस के मूल मे कवि का दृष्टिकोण यही हो सकता है कि किस प्रकार अन्यायी और अवगुणो से युक्त जिनदत्त का विकास होता है और वह राजपदवी को प्राप्त करता है। सामान्यत कथाकाव्यो म मनुष्य के जीवन-क्रम का विकास दर्शाना ही कवि का लक्ष्य होता है। किन्तु उन की अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियो, घटनाओ तथा सगति का भी प्रभाव पूर्णतया मनोरुचि के अनुकूल वर्णित रहता है। यही मनोविज्ञान की दूरबीन लगा कर यह देखना पडता है कि किन पात्रो का विकास स्वाभाविक रूप से हुआ है अथवा नही ? जि० क० में जिनदत्त का विकास प्रारम्भ से ही धीर धीर बताया गया है। क्योकि मनुष्य अपनी टेव तथा स्वभाव किसी के कहने से यकायक नही छोड दता या उस मे किसी प्रकार का परिवर्तन ही करता है। मनुष्य मे परिवतन क्रमश होता है।

कथावस्तु

जिनदत्तचउपई की कथावस्तु का आधार प० लाखू रचित जिनदत्त कथा ही है। स्वय कवि ने इस तथ्य को स्वीकार किया है।

मइ जोयउ जिणदत्तपुराणु लाखू विरयउ अइ सुपमाणु।
देखिवि सूरु(?) रयउ फुडु एहु हत्थालंबणु बुह पणवहु। ५५३।

कथा में दोनों रचनाओं में सामान्यतः कोई अन्तर नहीं है। वस्तु-वर्णन, बन्ध-रचना और शैली में अवश्य भेद है। संक्षेप में कथावस्तु इस प्रकार है :

मगध देश में वसन्तपुरी नाम की नगरी में राजा चन्द्रशेखर राज्य करता था। वहाँ के प्रायः सभी लोग जैनधर्म का पालन करते थे। उसी नगरी में जीवदेव नामक राजसेठ निवास करता था। उस की भार्या का नाम जीवंजसा था। उन दोनों के कोई पुत्र न होने से वे दोनों बहुत चिन्तित थे। एक दिन सेठानी मुनिवर के पास जा कर बिलखने लगी। हाथ देख कर उन्होंने बताया कि बत्तीस लक्षणों तथा कलाओं से युक्त तुम्हें पुत्र-रत्न की प्राप्ति होगी। कुछ महीनों के बाद गर्भ रह गया और कुमार जिनदत्त उत्पन्न हुआ। पाँचवें बरस में वह पढ़ने के लिए बैठा दिया गया। सभी कलाओं में निपुणता प्राप्त कर कुमार युवक हो चला। किन्तु उस का मन विषयों की ओर तनिक भी न देख कर सेठ को बड़ी चिन्ता हुई। उस ने परद्रव्य और परस्त्री को चाहने वाले जुआरियों को बुलाया और कहा कि ऐसा उपाय करो जिस से मेरा कुल न डूबे। यदि जिनदत्त का मन विषयों की ओर फेर दो तो लाख दाम दूँगा। वे जिनदत्त को साथ में लेकर अत्यन्त सुन्दर नवयुवती को तथा वेश्या को दिखाते हैं, पर जिनदत्त का मन नहीं बिंधता। इसी बीच कुछ समय निकल गया। एक दिन नन्दन वन के चैत्यालय के दर्शनों के लिए जिनदत्त को लेकर गये। वहाँ एक पुतली को देख कर जिनदत्त कामासक्त हो गया। शिल्पी को बुला कर सेठ ने उस के सम्बन्ध में पता लगा कर उसे वहाँ भेजा। वह चम्पानगरी के सेठ विमल के यहाँ गया और विमलामती का विवाह जिनदत्त से करने के लिए कहा। वह तैयार हो गया। दोनों का धूम-धाम से विवाह हो गया। एक दिन जुआरियों के चंगुल में फँसकर जिनदत्त ग्यारह कोटि द्रव्य हार गये। भण्डारी के मना कर देने पर पत्नी की रत्नजडित अंगिया को देकर कुमार ने पीछा छुड़ाया। इस से कुमार का मन बहुत व्यथित हुआ। वह देशान्तर जा कर अर्थोपार्जन का निश्चय करता है। उसे सोच में पड़ा हुआ देख कर सेठ सब बातें पूछता है। वह कुमार को समझाता है। पर वह किसी प्रकार घर छोड़ने का उपाय कर ससुर को झूठा पत्र लिख कर बुला लेता है और उन से कहता है कि घर में यही कहिए कि मैं जिनदत्त को लेने आया हूँ। तब घर से बिदा हो कर जिनदत्त पत्नी के साथ ससुराल चला गया।

चम्पानगरी में दो-चार दिन रह कर उस ने चलने का उपाय किया। एक दिन नन्दन वन में विमलामती को अकेला छोड़ कर अंजनमूल जड़ी के प्रभाव से अदृश्य हो गया। विमलामती निकटस्थ चैत्यालय में चली गयी। जिनदत्त दशपुर (मन्दसौर) गया। वहाँ के उद्यान में पहुँच कर कुमार नींद लग जाने से सो गया। तभी सागरदत्त आ पहुँचा। उस ने जिनदत्त से पूछा—तुम क्यों सो रहे हो? वह कहता है मैं तो परदेश में निकला हूँ, पर आप कैसे आये? सागरदत्त कहता है कि मैं यहाँ वाड़ी देखने आया हूँ, पर सब न जाने क्यों सूख रही है? तब जिनदत्त सूखने का कारण बतलाता है और गन्धोदक से सींच कर हरी-भरी कर देता है। उभयदत्त (सागरदत्त) उसे

अपने घर ले आता है और वचनानुसार धर्मपुत्र बना कर सब कुछ सौंप देता है। जिनदत्त वाणिज्य के लिए द्वीपान्तर में जाने के लिए कहता है। सागरदत्त के साथ अनेक सयाने और चतुर पन्द्रह सौ बनजारे मिल कर बारह हजार बैलों पर सामान लाद कर चले। वे सब विलावल पहुँचे। वहाँ बैलों और भैंसाओं को छोड़ कर सब वस्तुएँ पोत में लाद कर आगे बढे। कई द्वीपों को पार कर वे सिंहलद्वीप में पहुँच गये। बनजारे क्रय-विक्रय करते हुए समुद्र-तट पर ठहर गये, पर जिनदत्त फूल बिसाने के लिए मालिन के घर गया। उसे रोते देख कर कारण पूछा। उस ने बताया कि यहाँ के राजा धनवाहन और रानी विजया देवी की कन्या श्रीमती किसी व्याधि से पीडित है, इसलिए जो भी रात को उस के पास रहता है वह सबेरे मरा मिलता है। मन्त्रियों की राय से राजा ने ओसरी से एक-एक दिन सब के नियत कर दिये हैं। आज मेरे बेटे की पारी है, इसलिए रोती हूँ। तब जिनदत्त उसे आश्वासन देकर स्वयं उस के महल में जाता है। वहाँ वह पहरा देता है। जब रात को कुमारी के मुख से भुजंग निकलता है तब वह तलवार के वार से उसे वहीं धरती पर सुला देता है। सुबह कुमार को जीवित देख कर डोम को अचरज होता है। वह राजा को सूचना देता है। कुमार भुजंग को राज-कुमारी के मुख से निकला हुआ बतलाता है और सब को दिखाता है। राजा उन दोनों का विवाह कर देता है। राजा दायजे(दहेज) में जिनदत्त को अनेक रत्न देता है। उभय-दत्त के मन मे उन दोनों को देख कर पाप आ जाता है और वह कंकडों की पोटली बाँध कर रख लेता है। उस पोटली को रत्नों की पोटली कह कर वह समुद्र में खिसका देता है और रोता है। उसे लेने के लिए जिनदत्त साँकल के सहारे समुद्र मे कूद पडता है। लेकिन वह पापी उसे काट देता है। उभयदत्त के प्रेम-प्रस्ताव के वचनो को सुन कर श्रीमती मुँह पर हाथ रख लेती है। उस के शील के प्रभाव से जल देवी प्रकट होती है और जहाज डगमगाने लगता है। वह अनशन करती है। चम्पापुरी में पहुँच कर वह विमलमती के पास पहुँच जाती है और उसी के साथ चैत्यालय मे रहने लगती है।

सागर मे तैरते हुए जिनदत्त को सूखे सेमल के पेड़ का एक टुकडा मिल जाता है। वह उस के सहारे तिरता है। इतने मे ही मारुवेग नामक विद्याधर बड़े वेग से दौडता है। उसे अपनी ओर आता हुआ देख कर जिनदत्त खरी-खोटी सुनाता है। वह उसे बलवान् समझ कर विमान मे बिठाल कर रथनूपुर ले जाता है। वहाँ का राजा अशोक अपनी पुत्री श्रृंगारमती का पाणिग्रहण जिनदत्त के साथ कर देता है। वहाँ कुमार सोलह विद्याओं को प्राप्त करता है। एक दिन जिनदत्त पत्नी के साथ अकृत्रिम चैत्यालयों की वन्दना के लिए जाता है। वहाँ से लौट कर वह चम्पापुरी में पहुँचता है। पति के बहुत आग्रह करने पर श्रृंगारमती विमान मे सो जाती है और जिनदत्त पहरा देता है। प्रात:काल जब वह विमान नही देखती है तो विलाप करती है। विमलमती प्रिय का नाम सुन कर उसे अपने पास ले जाती है। जिनदत्त वामन का रूप धारण कर राजा को कौतुक दर्शाता है। मदोन्मत्त हाथी को वश में कर जिनदत्त अपना वास्तविक

परिचय देता है। तीन दिन में हाथी ने नगर को तहस-नहस कर डाला था। उस के इस कर्तव्य से राजा प्रसन्न होता है। वह जिनदत्त से वास्तविक जानकारी चाहता है। जिनदत्त सब बीती बातें सुनाता है। किन्तु उस के वामन रूप को देख कर तीनो पत्नियाँ उसे अस्वीकार करती है। अन्त मे वह रूप बदलता है। तीनों उस के अंगों से लगती हैं। उस के वास्तविक रूप को देख कर सब प्रसन्न होते हैं। विमल सेठ राजा के पास जा कर पैरों पर पड़ता है। राजा अपनी पुत्री विलासमती जिनदत्त को परिणाता है। कुमार उभयदत्त से मिलने जाता है। उस की नाक गल गयी थी, पैर सड़ गये थे। कुष्ठ रोग से अंग-प्रत्यंगो से दुर्गन्ध निकल रही थी। कुमार उस से सब द्रव्य ले कर अपने घर जाने की तैयारी करता है। उभयदत्त मर कर नरक में जाता है। सभी पत्नियों तथा सेना के साथ वह वसन्तपुर मे पहुँचता है। नगर को घिरा हुआ देख कर राजा मन्त्री को उपहार देकर भेजता है। जिनदत्त दूत को राजा के पास भेजता है। वह कहता है कि सेठ जीवदेव को मुझे सौंप दो। राजा दूत को फटकारता है। वह सेठ को बुलवाता है। सभी नागरिक जन डरते-डरते पहुँचते है। सेठानी बिलखती है। जिनदत्त माता के पास जा कर उस के चरणों में अष्टाग प्रणाम करता है। घर-घर आनन्द मनाया जाता है। चन्द्रशेखर और जिनदत्त दोनों वसन्तपुर मे राज्य करते हैं। विमलमती के विमल औऱ श्रीमती के सुदत्त, जयदत्त तथा सुप्रभ नाम के पुत्र और मेहा पुत्री उत्पन्न हुई। शृंगारमती के सुकेतु, जयकेतु, सुगरुडकेतु और विलासमती के गुणमित्र, जयमित्र तथा द्रविणमित्र नाम के पुत्र उत्पन्न हुए।

एक दिन समाधिगुप्त नाम के मुनिवर नगर मे आते है। जिनदत्त उन से जैनधर्म का स्वरूप जान कर, पूर्व भवान्तरों को पूछ कर, सुदत्त को राज्य देकर जिन-दीक्षा धारण कर लेता है। अन्त मे घोर तपस्या कर जिनदत्त स्वर्ग को प्राप्त करता है।

इस प्रकार लाखू और रल्ह की रची हुई कथा मे बहुत कम अन्तर दिखाई देता है। घटनाओ और नाम में तो कोई अन्तर ही नही है और वर्णन मे भी कही-कहीं समानता लक्षित होती है। बहुत कुछ रचना जि० क० पर पूर्णतया आधारित है।

वस्तुवर्णन

प्रस्तुत काव्य में वर्णन कम हैं। वस्तु-वर्णन मे नगर-वर्णन, समुद्र-वर्णन, उद्यान-वर्णन, विवाह-यात्रा तथा प्रकृति-वर्णन ही मुख्य है। ये सभी वर्णन संक्षिप्त और साधारण है। इन में कोई नवीनता लक्षित नही होती। भावो की स्वाभाविक अभिव्यक्ति तथा लोकवातावरण का चित्रण ही इन की विशेषता कही जा सकती है। वस्तु अलंकृत रूप में वर्णित नही मिलती। कवि का लक्ष्य कथा कहना ही है और इस लिए विवरण के बीच कहीं-कही वर्णन हैं, जो वस्तु रूप में ही वर्णित हैं। पं० लाखू की जि० क० की भाँति वर्णनों के बीच कथा इस में चलती हुई नहीं दिखाई देती। एक तो वर्णन ही इस मे कम हैं और दूसरे कवि की रागात्मिका वृत्ति उन में नहीं रमी है। स्पष्ट ही

वस्तु की दृष्टि से यह एक शुद्ध कथा है जो पद्यबद्ध है, और रचना की दृष्टि से इस की संघटना प्रबन्ध से मिलती-जुलती है। अतएव इसे कथा-काव्य ही माना जा सकता है।

नगर-वर्णन

नगर-वर्णन में लोक-जीवन की पूरी झलक मिलती है। समूचे काव्य में यही एक विस्तृत वर्णन है। इस मे नगर में रहने वालों के सम्बन्ध में तथा वहाँ की समृद्धि के सम्बन्ध में संक्षिप्त वर्णन है। यथा—

णिसुणहु देसु तण्यो व्योहार घरि घरि सफल अंब साहार।
करहि राजु सकुटंबउ लोइ पर तह दुखी न दीसइ कोइ। ३१
णिसुणहु देसु तण्यो व्योहार पहिया पंथ न भूखे जाहि।
केला दाख छुहारा खाहि ....।
गामि गामि छे ते सतकार पहियह कूरु देहि अनिवार।
गामि गामि वाड़ी अंबराइ जइसे पाटण तैसे ठाइ।
धम्मु विषे णरु भोयणु देहि दामु विसाहि ण कोई लेहि।
णा करु कूडदंड तहि चरइ अपुणइ सुख परजा व्यवहरइ।
चोरु न चरउ आखि देखिये अरु परणारि जणणि पेखिये। ३५

बारात का वर्णन

तबहि सेठि घरि उछउ कियउ सहु परियणु न्योते आइयो।
पंच सवद बाजेबि तुरंतु बहु परियणु चाले सु बरात।
एकति जाहि सुखासण चढे एकतु वाखर भीडे तुरे।
एकनु साजि तसि गरी घरी एकणु साजि पलाणी वरी।
एकति डाडो डोला जाहि एकति हस्त चढे विगसाहि।
एकति जाहि विवाहणु बइठ सबु मिलि चंपापुरिहि पइठ। १२२।

इन वर्णनों मे वर्ण्य विषय की स्वाभाविकता ही विशेष है।

उद्यान-वर्णन

उद्यान-वर्णन में प्रकृति का परिगणनात्मक रूप चित्रित है। वृक्षो और पुष्पों की नामावली ही मुख्य है, पर वह विशेष लम्बी नही है। यथा—

जे नारियल कोपु करि ठिए तिन्हइं हार पदोले किए।
जे छे झुकि रहे सहकार तिन्हु अंकवाल दिखाए बाल।
नारिंग जंबु छुहारी दाख पिडखजूर फोफिलो असंख।
जातीफल इलाइची लवंग करणाभरण कीए नव रंग।

काथु कपित्थ बेर पीपली हूरड बहेड खिरी आविली ।
सिरीखंड अगर गलीदी धूप णरहि नारि तहि ठाइ सरूप ।
जाई जूही वेलशेवती दवणो मरुवउ अरु मालती ।
चंपउ राइचंपउ मचकुंद कूजउ वउलसिरी जासउदु ।
वालउ नेवालउ मंदारु सिंदुवार सुरही मन्दार ।
पाडल कठपाडल घणहूल सरवर कमल बहुत कहूल । १७३ ।

समुद्र-वर्णन

उक्त वर्णनों की भाँति समुद्र के वर्णन मे भी कोई चमत्कार नही है। यह वर्णन विवरणमूलक है । इस मे एक ही चित्र वर्णित है । यथा—

दुद्धर मगर मछ घडियार पाणिउ अगम न सूझइ पार ।
जलुमय कंपइ सयल शरीर लहरि पडय झकोलइ नीर ।।
घडहडाइ गाजइ जु समुद्दु सउ जोयण गहिरउ ज रउद्द ।
बूडिन करहि रह समुह कोलि जाणइ मछ तु घालइ लीलि ।।

समुद्र-यात्रा का वर्णन जि० क० मे वर्णित वस्तु के आधार पर वर्णित है । जि० क० मे विस्तृत वर्णन है और इस में संक्षिप्त । नयापन कुछ भी नही है। इस प्रकार वस्तु-वर्णन मे यह रचना प्रभावपूर्ण नही है । वस्तु का यथार्थ तथा संक्षिप्त वर्णन करना ही कवि का लक्ष्य है । भाषा, शैली और संवाद अवश्य रोचक तथा प्रभावपूर्ण हैं । वस्तुतः रचना का महत्त्व इन्ही इनी-गिनी बातो में विशेष है । प्रकृति-वर्णन में आलम्बन रूप का ही चित्रण है, जो महत्त्वपूर्ण नही है। प्रकृति का स्वतन्त्र वर्णन यथार्थ मे इस काव्य मे हुआ ही नही है । सन्ध्या, रजनी, प्रभात आदि के वर्णन भी नही हैं। उन का उल्लेख तक नही है । अतएव इतिवृत्तात्मकता की प्रचुरता हो गयी है और रसात्मकता उस का अंग बन कर रह गयी है । यद्यपि रचना पर धार्मिकता की छाप कम से कम है, पर कथा विवरण प्रधान होने से महत्त्वपूर्ण नही बन सकी है ।

नखशिख-वर्णन

आलोच्यमान काव्य मे नखशिख-वर्णन कवि के शब्दो मे स्वतन्त्र रूप से वर्णित न हो कर पात्र के मुख से अभिव्यंजित हुआ है । यद्यपि उपमानो मे कोई नवीनता लक्षित नही होती, पर शैली एवं अभिव्यक्ति में चारुता तथा स्वच्छता है । कही-कहीं लोकगत वर्णन की सरसता तथा मधुरता इस वर्णन में दिखाई पडती है । अतएव वर्णन मे मौलिकता और नवलता स्वाभाविक रूप में लक्षित होती है । इस वर्णन की दूसरी विशेषता यह है कि चरण-नख से लेकर शिख तक के प्रायः सभी अंगों का वर्णन हुआ है । यहाँ तक कि काँख (बगल) का वर्णन भी मधुर बन पड़ा है । वर्णन इस प्रकार है—

मुंदडिय सहु कसु सोहइ पाउ चालत हंस देइ तसु माइ ।
जाणू थाणु वहि तहि घणे तहि ऊपरि नेउर बाजणे । (नख, चरण)
सवइ वण्णु सोहइ पिंडरी जणु छहि ते कुंथू पिंडरी ।
जंघ जुअल कदली ऊपरइ तासु लोक मूठिहि माइयइ ।
(पिंडरी, जंघा)

जणु हुइ छति अणंगहु तणी सहइ जु रंगरेह तहि घणी ।
नीले चिहुर सउज्जल काख अवरु सुहाइ दीसहि काख ।
(त्रिवली, काँख)

चंपावण्णी सोहइ देह गलकंद लह तिण्णि जसु रेह ।
पीणत्थण जोव्वण मयसार उरपोटी कडियल वित्थार । (कटि,स्तन)

हाथि सरिस मोहहि आंगुली णहसुत दिपहि कुंद की कली ।
भुववल जंतु काटि जणु ठाणें वण्णि सुरेख कविन्ह ते कहे ।
(अंगुली, भुजा)

इ लोणी अरु माठी लीव हरु सु पट्टिया सोहय गीव ।
काणि कुंडल इक सोवनु मणी नाक थाणु जणु सूवा तणी ।
(ग्रीवा, कर्ण, नासिका)

मुहमंडलु जोवइ ससिवयणी दीह चखु नावइ मियणयणि ।
जहि बेहो वप चाले किरण जणु रि दसणी होरामणिहिरण ।
(मुख, नेत्र, दाँत)

भउह मयणधणु खचिय धरी दिपइ लिलाट तिलक कंचुरी ।
सिरह माग मोत्तिय भरि चलइ अवरु पीठ तलि बेणी रुलइ ।
(भौं, ललाट, मांग, बेणी)

इस प्रकार समूचा नखशिख-वर्णन यथोचित क्रम से तथा प्रसिद्ध उपमानो मे वर्णित है । प्रसिद्ध बातें ही अधिकतर इस मे मिलती हैं ।

उक्त वर्णन में नारी के बाह्य सौन्दर्य का ही वर्णन है । उस के आन्तरिक सौन्दर्य को कवि ने किसी भी स्थल पर अभिव्यंजित नहीं किया । पं० लाखू ने सभी नायिकाओ का रूप-वर्णन किया है, पर प्रस्तुत काव्य मे उक्त स्थल हो मिलता है । जि० क० की भाँति इस मे जिनदत्त की कामावस्थाओं का वर्णन नही है । केवल मोहित होना कह कर कथा को आगे बढा दिया है । वस्तुतः कथा और काव्य का इस में मधुर संयोग है । इसलिए कही कथा की मुख्यता है तो कहीं काव्य की । कुल मिला कर इतिवृत्तात्मकता अधिक है और रसात्मकता कम । वियोग-वर्णन को ही पढ़ने से इस की स्पष्ट प्रतीति हो जाती है ।

वियोग-वर्णन

संयोग और वियोग दोनो ही शृंगार के पक्षों का यथार्थचित्रण इस काव्य में हुआ है। संयोग में मिलन तथा सुखद चेष्टाओं का वर्णन है और वियोग में चित्रगत रूप-दर्शन, पति-वियोग, पुत्र-वियोग आदि की मधुर तथा करुण अभिव्यंजना है। वियोग का एक करुण चित्र देखिए—

हंसागवणी चंदावइणी करइ पलाव
मोही आगइ देखत पेखत कत गयउ नाह।
आयउ मरणू णाही सरणू कहा करायउ
कंठी रोहणु वालि हुवासणु झंपा देइ मराउ।
काठउ कोयउ कैसे जीवउ पिय विणु तेहि
हाइ वाइ गुसइ सहि छाडि कति गयउ कंत मोहि।
चौदिसि जोवइ धाहहि रोवइ कहा कियौ करतार
वेलि चडंती पडित्थडंती गउ सामी अंतराल ॥१५४,१५५

इस के अतिरिक्त दो अन्य स्थानो पर भी वियोग-वर्णन मिलता है, जिस में नारी भावनाओ की यथार्थ अभिव्यक्ति है। यथा—

कियौ मोहि वज्ज को हियउ, कि दइवि पाहण णिम्मवियउ।
सून विमाण देखि विलिखाइ, किन फाटहि हियडा चरडाइ।

तथा—

अति गहु करि सामियउ लागियउ, मइ पापिणी नीदमणि कीयउ।
लोग कहनउ साचौ भयौ, जागत चोरनु कुइ मुसि गयउ ॥३१३

किन्तु इन वर्णनों में चमत्कार नही है। वस्तु रूप मे ही इन वर्णनो का महत्त्व है; अलंकृत रूप में नही। प्रभावाभिव्यंजना की दृष्टि से तो ये प्रभावपूर्ण नहीं कहे जा सकते। यदि मानना ही पडे तो कही-कही क्षणिक प्रभाव अवश्य मन पर पडता है। अतएव काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से तथा प्रभाव की दृष्टि से यह सामान्य रचना ही ठहरती है।

इस लघुकाय प्रबन्ध मे कई रसो की सुन्दर योजना हुई है। शृंगार तो आदि से लेकर अन्त तक व्याप्त है। पूर्व भवो का वृत्तान्त इस मे बिलकुल नही है। हाँ, जिनदत्त के मुनि बनने की घटना सब के अन्त मे अवश्य वर्णित है। किन्तु वहाँ भी हास्य अंगी रूप में लक्षित होता है। उदाहरण के लिए—

मुत्ति लच्छि जइ होसइ दासि तापहि छूटहिहू मुनिरु भासि।
पज्जोवहि विन्निवि जसु कंति मुणिवरु तिसु के तोडइ दंतु ॥५४५॥

"तिसु के तोडइ दन्तु" कह कर कवि ने हास्य को उन्मुक्त कर दिया है। फिर जि० क० के रस-निर्णय के प्रसंग में जो कहा गया है वही आलोच्यमान कथाकाव्य के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है। अतएव इस में प्रधान रस शृंगार ही है। क्योंकि कथा का आरम्भ जिनदत्त के विवाह से आरम्भ हो कर गतिशील होता है और अन्त में माता-पिता से मिलन तथा भोग-विलास में अन्त होते-होते मोक्ष-लक्ष्मी से उस का सम्बन्ध जुड़ जाता है।

अन्य रसों में रौद्र, भयानक, हास्य और अद्भुत एवं वात्सल्य रसों की मधुर अभिव्यंजना हुई है। रौद्र का उदाहरण है—

कहइ जिणदत्त छुरी करि तोल आवहु अज्ज न मारउ बोलु।
तौ न मुणसु जौ ऐसौ करउ मारि छुरी दहदिह वित्थरउ॥

यहाँ पर उग्र वचनों में जिनदत्त अपने क्रोध को प्रकट कर रहा है।

एत्तहि ताला गरलह झाला मुहं महं ते नीसरइं
कालउ दारुण विसहरु वारुणु तहि फौ करइं।
हिंडइ चउपासहि दीह सहासहि कालु भमंतु
कहिगउ सो पहिरउ जसु होवइरिउ खूटउ जसु कउ अंतु।

इन पंक्तियों को पढते ही रोमाच तथा स्तम्भ हो जाता है।

घाली जाइ देव जिउ आल गादह गले रयण की माल।
आपु···हीउ कहियइ काइ छेली मुहकि अलियरु माइ॥

यहाँ हास्यरस है।

तब सो सिला हसइ हहडाइ सभा लोगु मोहउ तिह ठाइ।
तूठहि राजा कर तहि भाउ मागि मागि वावणे पसाउ॥

यहाँ अचम्भा होने से अद्भुत रस का संचार है।

सेठिणि गहवरि आयउ हियउ पुणु आपणउ उछंगह लियउ।
जायो पूतु आजु सुपियार खीर पवाह बहे थणहार॥

उक्त पंक्तियों मे मातृजनित प्रीति की अभिव्यंजना होने से यहाँ वात्सल्य रस है। इस प्रकार थोड़े मे रसों का मधुर परिपाक है। भले ही भावानुभावों की व्यापकता तथा अनुकृति की चेष्टाओं, हाव-भावों का विस्तृत विधान न हुआ हो, पर विषय एवं वस्तु के अनुरूप रसों की संयोजना मधुर है।

संवाद-योजना

जि० च० में नियोजित संवादों को देखने से पता लगता है कि संवादों में बोल-चाल के प्रयोग स्पष्टतया निहित हैं। अतएव संवादों में सजीवता और प्रवाह बराबर

लक्षित होता है। कथानक के विकास में भी इन संवादों का महत्त्वपूर्ण योग है। किन्तु उन में विस्तार या भावों की मनोवैज्ञानिकता का समावेश न हो कर लोक-जीवन की सहज अभिव्यक्ति हुई है। जैसे कि—

तंखिण वीर पहूते तहाँ नियं मंदिर सेठि हौ जहाँ।
कुवरहु लछण परखि किन लेहु हमकहु सेठि वधाउ देहु ॥

इस कथाकाव्य में निम्नलिखित संवाद मुख्य हैं—चित्रकार-सेठ-संवाद, सागरदत्त-जिनदत्त-संवाद, बूढी मालिन और जिनदत्त का वार्तालाप, जिनदत्त-विद्याधर-संवाद, चम्पापुरी के राजा और जिनदत्त का संवाद इत्यादि।

इन संवादों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने संक्षिप्त रूप में इन का समावेश किया है। इस से जहाँ भावों के उतार-चढाव का पता नही लग पाता, वहीं कहीं-कहीं अधूरापन-सा लगता है। उदाहरण के लिए—जिनदत्त के जुआ खेलने पर सेठ जीवदेव उसे अपने पास बुला कर कहता है—

तउ जिणदत्तह लेइ हकारि पूछइ मंतु सेठि बइसारि।
जइ यह पूत तत इसउ कीज नातरु घर पठइ जणु दीज।
तौ जिणदत्त भणइ कर जोडि हमकहु तात देहु जिण खोडि।
आपु मतै हौं कैसे चलौ जो तुम पिता कहहु सो करौ ॥

यहाँ पर पाठक के मन मे यह जिज्ञासा बनी ही रहती है कि सेठ ने जिनदत्त को किन शब्दों में क्या कह कर समझाया? इस प्रकार संक्षिप्तता के कारण कही-कही भावों की पूर्ण अभिव्यक्ति संवादो के माध्यम से नहीं हो सकी है। फिर भी, कही-कही संवादों में नाटकीयता, क्षिप्रता, मधुरता और स्थानीय रंगीन परुषता लक्षित होती है। यथा—

कउण काज थेरी आरडहि काहे कारणि पलावे करहि।
किसि कारणि दुख धरहि सरीरु वेगि कहेहि इउ जंपइ वीरु ॥
रुदनु करइ जंपइ वयणु आसू बहुत न थाकइ नयणु।
कहउ तासु जो दुखु अवहरइ हीणहं कहे कहा सुख सरइ ॥
पुणु जिणदत्त पयंपय ताहि भली बुरी कहियइ सबु काहि।
मालिन वातु कहइ मनु सोइ मत दुख तुम्हहि निवारइ कोइ ॥
....

हा हा कारु करइ जिणदत्तु मालिणि स्यो बोलइ विहसंत।
रहु रहु माइ म रोवहि खरी काइं कुढावहि महु डोकरी ॥

उक्त उदाहरणों में पर्याप्त विस्तार तथा संवादों में प्राप्त होने वाले विभिन्न गुणों का समावेश स्पष्ट है। प्रसंगतः संवादों में चुस्ती तथा स्वाभाविकता बराबर मिलती है। पढ़ने के साथ ही कहानी का-सा आनन्द मिलने लगता है। उक्त मुख्य संवादों की यह प्रमुख विशेषता है।

अलंकार-विधान

यद्यपि अलंकरण की ओर कवि की प्रवृत्ति नहीं है, पर कई अलंकार यथास्थान काव्य मे नियोजित हैं। ये अलंकार बोलचाल की भाषा तथा शैली के अधिक निकट हैं। इन पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि कवि रल्ह लोक-साहित्य की परम्परा से अधिक प्रभावित हैं। इसीलिए लोकशैली मे भाव, भाषा, रचना और अलंकार आदि की तदनुरूप योजना हुई है। आलोच्यमान काव्य में साधर्म्यमूलक अलंकारों की ही अधिकता है। इन में स्वाभाविकता विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती है। यही इन का वैशिष्ट्य है। मुख्य अलंकार इस प्रकार हैं—

उत्तमु लोक बसहि सामरी जणु कइलास इन्द्र की पुरी (स्वरूपोत्प्रेक्षा)
हंसगमणि सी पदमणि जाणि सरवर दिठी सखी सिहु न्हाति। (उपमा)
किं यहु ब्रह्मा किं चउवयणु किं यहु संकरु किमइ महणु।
किं यहु रूव मयणु की खानि किसु की कला व (?) रोतइ आणि।
(सन्देह)

विमलमती पडु दीठउ जाम गय विहलंघल सघर पडिताम।
हार डोर जसु सोहहि अंग चंदन सिंचि लई उछंग॥ (दृष्टान्त)
माल्हती विलास गइ चलइ दरसन देखि कुमुणि वरु ढलइ। (प्रतीप)
कइ तणु फुग्इ विवुह जण पेखि पाय पसारउ आचल देखि।

यहाँ पर "तेते पाँव पसारिये जेतो लाँबी सोर" कहावत का भाव ही रेखांकित पंक्तियों मे है। अतएव लोकोक्ति अलंकार है।

षोडशु कला पुणु ससि मा आहि सबइ अमिउ सोयलक सब काहि।
तासु किरण तिहुवण जइ दिपइ आप पमाणि जोग णा तपइ।

यहाँ निषेधात्मक क्रियापद से साधर्म्य का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास है। इसी प्रकार अन्य अलंकार भी ढूँढे जा सकते हैं, पर उन में कोई बौद्धिक चमत्कार नहीं है। जहाँ जैसे जो अभिव्यक्ति का साधन बन गया वैसे ही समाहित हो गया है, अलग से अलंकरणशैली का निदर्शन नही मिलता।

छन्द

यद्यपि जिनदत्तचउपई में मुख्य छन्द चौपाई है, पर नाराच छन्द भी कई स्थानों पर प्रयुक्त है। इस में नाराच सोमकान्त ही अधिकतर मिलता है, जिस के प्रत्येक चरण मे चौबीस मात्राएँ होती है। यथा—

ता पहुरइ बैठिउ नारी दिठउ वीर भुजंगु
बोलइ कुद्धी सो वि विरुद्धी मोडति अंगु।
कहहि कहानी को जाणी निद सुखु जिमु होइ
कह बाता सो जि तुरंता तथ (?) मइ घण सोइ।

इस में द्वितीय पंक्ति सदोष है। सम्भव है कि यह प्रतिगत दोष हो। क्योंकि यह अत्यन्त अशुद्ध प्रति है, जिस में कई स्थल छूटे हुए हैं।

इस काव्य में नाराच के कई भेद मिलते हैं। किसी-किसी में छब्बीस और अट्ठाईस तथा किसी-किसी में मिश्रित अट्ठाईस-चौबीस या छब्बीस के उदाहरण मिलते हैं। वस्तुतः कोई भी छन्द समान मात्रा वाला नहीं है। केवल सोमकान्त नाराच के उदाहरण ठीक दिखाई देते हैं। उदाहरण के लिए—

मयभिभलु गय अकुस मोडी खंभु उपाडि दंतु
साकल तोडि करि चकचूरि गयउ महावतु घरको पूतु।
गयउ महावतु णयरी जित्थ गज मूडउ भउ अखइ तित्थु
हुउ उवरियउ जु न लूवउ कालु तउ सूडिउ तोडतु नालु बसुवंध।

उक्त पंक्तियों में न तो प्रत्येक में मात्राएँ समान हैं और न वर्ण ही। अतएव निर्णय करना बहुत ही कठिन है। संस्कृत के नगस्वरूपिणी में 'जरलग' होता है और नाराच में 'तरलग' तथा पंचचामर में 'जरजरजग' तीनों में से यहाँ एक भी नहीं है। क्योंकि प्रत्येक पंक्ति का आरम्भिक शब्द भिन्न गण वाला है। अतएव मात्रिक छन्द है, इतना तो निश्चित है।

चौपाई

इस के प्रत्येक पद में तीस मात्राएँ होती हैं। इस में चार पद तथा एक सौ बीस मात्राएँ होती हैं। किन्तु यह चार छन्दों में सोलह चरणों के योग से चार सौ अस्सी मात्राओं का छन्द कहा गया है, जिसे पण्डित ही जानते हैं।

चउपइया छंदा भणइ फणिंदा चउमत्ता गण सत्ता।
पाएहि सगुरु करि तीस मत्त धरि चउ सअ असिअ णिरुत्ता॥
चउ छंद लविज्जइ एक्कु ण किज्जइ को जाणइ एहु भेऊ।
कइ पिंगल भासइ छंद पआसइ मिअणअणि अमिअ एहू॥
प्रा० पैं०, १,९७।

उदाहरणार्थ—

पुणि झुलाइ तहि तलि सिर करइ गरव छांडि विसहर घर पडइ।
विकल भुयंग देखि मनु धरइ जीउ मारि को नर यहं पडइ॥

यहाँ ऊपर और नीचे दोनों पंक्तियों में तीस-तीस मात्राएँ हैं। कहीं-कहीं इन दोनों पंक्तियों के साथ अन्य छन्द भी जुडा मिलता है। यथा—

तुम नारि निकिठी तिन्निउ झूठो झूठउ यहु परिवारू,
महु मेल्लिवि···लिवि अवरुवि कवणु वि कहऊ भत्तारू।
अरि लंपट लाइ जाइ वि लाए फीटउ होहि—
रे विभू पायर पिरखी कोए नाही कोई अम्ह पिय के रूप॥

इसी प्रकार नाराच में प्रथम दो पंक्तियों में अट्ठाईस-अट्ठाईस और बाद की दो पंक्तियों में छब्बीस-छब्बीस मात्राएँ दृष्टिगत होती हैं। उदाहरण है—

सो धण चंगी वोलण लागी वावण पूछइ तोही
देखिवि सूतो निन्दा भूतो छाडि गयउ कत मोही।
तो तहि वाली छह निरवाली ठालउ अछइ कोइ
इव (?) घरि हुउ जइ हुउ काल्हि सु कहिहुउ जहा गयउ सोइ।

इस प्रकार छन्दों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि आलोच्यमान कथाकाव्य में नाराच के कई भेद मिलते हैं, जिन के लक्षण आज हमें नही मिल रहे हैं और रचना की एक ही प्रति उपलब्ध होने से तद्विषयक सम्यक् विवेचन असम्भव नहीं तो बहुत ही कठिन है। मुख्य रूप से चौपाई छन्द ही इस में है, जिस मे कोई भेद नही मिलता। आदि से अन्त तक समूचा काव्य चौपाई छन्द में निबद्ध है। इसी लिए इस का नाम ही 'जिनदत्तचउपई' है।

भाषा और शैली

भाषा की दृष्टि से इस रचना का अत्यन्त महत्त्व है। अपभ्रंश और हिन्दी की मध्यवर्ती कड़ी को जोड़ने में इस का विशेष स्थान है। यद्यपि भाषा पर राजस्थानी का प्रभाव स्पष्ट है, पर शब्द-रूपों तथा सर्वनामों एवं क्रियापदो को देखने से पता लगता है कि अपभ्रंश बोली चौदहवीं शताब्दी में किस प्रकार हिन्दी के ढाँचे मे ढल चुकी थी। वाक्य-रचना और पदों पर हमें स्पष्ट रूप से उस की छाप लगी हुई मिलती है। उदाहरण के लिए—

भूख मरत देव हउ केहा करउ तइ हउ पाणु भयउ विवहउ।
जबहि गुसाई मुडो चुडी तबहि पणाठी कुलु अरु कुली॥
पेट अरथ देवसेवा कीज पेट अरथ देसंतर लीज।
कतहु सा अन्नु पान सिहु भेट पाणु भयउ हो कारण पेट॥

अपभ्रंश में स्पष्टतः मरइ, करइ, जाइ आदि क्रियापदों का प्रयोग दिखाई देता है, किन्तु इस रचना में 'इ' प्रत्यय के स्थान मे 'त' प्रत्यय वाले रूप भी मिलते हैं, जो भाषा का परवर्ती विकास है।

जिनदत्तचउपई की भाषा में अपभ्रंश के अन्य कथाकाव्यों की भाँति कृदन्त रूपों की बहुलता है। लुप्त विभक्तियों की प्रचुरता है। नाम-रूपों का ढलाव हिन्दी की ओर है। यथा—

दिन दोइ चारि तिहां ठहरइ पुणु उवाउ चलिवे को करइ।
सो जिणदत्तु विमलमति कंतु नंदणवणु चल्लिउ वियसंतु॥

चले, मिले, कियउ, देखत, देइ, असीस, कैसे, बहुत, कैइ, कहिउ, अउर, आयो, मो सम, जाहु, तुरन्तु, भण्डारी, यह, बात, सुनौ, दाउ, दोनो, जीति, करउ, हम, उठि गयउ, चडे, भेट, भई, पूरा, हुवा, हारिउ, तौ, तुम्ह, कहो, विधिविधि, घडो, लइ गयउ, पडिउ सन्ताप, बाडी, तेरउ दास, भलो, बुरी, आगि इत्यादि शब्द-रूप हिन्दी से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। कहीं-कहीं मारवाडी बोली की छाप अवश्य दिखाई देती है। उदाहरण के लिए—घणी, अंजणी, न्हवणु, आमडी, आणि, कवण-कवणु, भणइ, रायणु, रूवडी, आगली, अरडहि, तारडियउ, विसाहण, घालो, नीकउ आदि। किन्तु हिन्दी की स्पष्टता भी द्रष्टव्य है। यथा—

आइ कुमारी बोलियो बोलु   अहो जिनदत्त इकु खेलहि खेलु।
रोवइ बूढी हियइ बिलखाइ   तबहि वीरु पूछइ वियसाइ।

विभक्तियों में विनिमय तथा परसर्गों का प्रयोग भी आलोच्यमान रचना में मिलता है। "को" परसर्ग का स्वतन्त्र प्रयोग हुआ है, यथा—

देखित वासुपूज को भवणु   पंचमि ताहि करायो न्हवणु।

इसी प्रकार हिन्दी की भाँति जिस के हाथ के लिए 'जहि कै हाथ', जाह परक्कम अइसा लहउ, तह को पौरुष केत्तउ कहउ, जहि कै हाथ अंजणी चडइ, तथा—गादह गलै रयण की माल आदि प्रयोग मिलते हैं। कहीं-कहीं षष्ठी विभक्ति के स्वतन्त्र चिह्न का परसर्ग के बदले "कौ" भी दिखाई देता है। जैसे कि—

तासु वीर कौ कैसे हियउ   तहि कौ पौरुष कहियइ काहि।

इसी तरह श्लिष्ट विभक्तियों के प्रयोग भी भलीभाँति मिलते हैं।

शैली की दृष्टि से यह चौपाई बन्ध रचना है। आरम्भ से अन्त तक एक रूप या बन्ध का निर्वाह दृष्टिगोचर होता है। इस से यह भी पता चलता है कि परवर्ती काल में अपभ्रंश-साहित्य में बन्ध की दृष्टि से इस नयी विधा का जन्म हो गया था। सम्भवत: अन्य रचनाएँ भी इसी शैली में इस युग में लिखी गयी होंगी। क्योंकि इस के पूर्व चौपाई कडवक-रचनाओं में ही मिलती है; स्वतन्त्र रूप में नहीं। और स्पष्ट है कि हिन्दी में, आदिकाल में इसे सुरुचि के साथ अपनाया गया। दोहा और चौपाई का चलन ही हिन्दी में पहले पहल अतिशयता से हुआ, जो अपभ्रंश के परवर्ती साहित्य का अनुसरण एवं अनुगमन करता लक्षित होता है।

सिरिपालकहा

परिचय

पं० रइधू विरचित 'सिद्धचक्ककहा' या 'सिरिपालकहा' दस सन्धियों की रचना है। इस में सिद्धचक्रविधान का माहात्म्य तथा फलवर्णन रूप मैनासुन्दरी और श्रीपाल की कथा का वर्णन है। अन्य कथाकाव्यों की भाँति इस की कथावस्तु भी सोद्देश्य नियोजित है, पर साहित्यिक रूढ़ियों का पालन नहीं है ग्रन्थ के प्रारम्भ में अत्यन्त संक्षिप्त सिद्ध-वन्दना करने के साथ सिद्धचक्र के माहात्म्य को कवि निर्दिष्ट करता है[1]। बाद में वाटू साहु और उस के पुत्र धुरन्धर तथा करमसिंह और सोहरसिंह साहु की भक्ति की प्रशंसा करता है, जिस के निमित्त कवि ने यह सिद्धचक्र कथा कही है। तदनन्तर पौराणिक विधि से राजा श्रेणिक के नगर में ससंघ तीर्थंकर महावीर का आगमन होना, राजा श्रेणिक का वन्दना करने जाना और गौतम गणधर से इस कथा-विधान का माहात्म्य सुनना वर्णित है।

कवि का जन्म-स्थान और समय

रइधू तोमरवंशी राजा डूँगरसिंह और उन के पुत्र कीर्तिसिंह के राज्यकाल में ग्वालियर में रहते थे। उन की अधिकांश रचनाएँ ग्वालियर की लिखी हुई मिलती हैं। अपभ्रंश-साहित्य में सब से अधिक साहित्य-सृजन करने वालों में पं० रइधू साहित्यकार हुए। यद्यपि कवि ने अपने जीवन तथा समय के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा है, पर प्राप्त विवरणों से पता लगता है कि वि० सं० १४६० के लगभग कवि का जन्म हुआ होगा। क्योंकि कदाचित् रइधू ने पहली रचना 'सम्मत्तगुणणिहाण' वि० सं० १४९२ में लिखी थी[2]। पं० रइधू भट्टारक यशःकीर्ति के समकालिक थे। 'मेघेश्वरचरित' में कवि ने उन्हें अपना गुरु कह कर स्मरण किया है[3]। भ० यशःकीर्ति काष्ठासंघस्थित भ० गुणकीर्ति के पट्टशिष्य थे। भ० गुणकीर्ति का समय वि० सं० १४६८ के पूर्व से १५०२ तक कहा जाता है। भ० यशःकीर्ति का पट्टधर-समय वि० सं० १४८६ से १५०२ कहा जा सकता है। वि० सं० १५०२ में इन के पट्टधर मलयकीर्ति थे, जिन के मूर्तिलेख

१ सिद्धहं सुपसिद्धहं बसुगुणरिद्धहं
अक्खमि पुणु सारउ सुहसययारउ
२. चउदहसय वाणव उत्तरालि
वक्खेयस्तु जि जिणवय समक्खिव
पुण्णमिदिणि कुजवारे समोइं
तिहुमासयरति पुण्णहूउ
३. मेहेसरचरिउ, १३.६-१०।

हिययकमलि धारेवि णिरु।
सिद्धचक्कमाहप्पवरु ॥ १.१।
वरिसइ गय विक्कमरायकालि।
भद्दव मासम्मि ससेयपक्खि ॥
सुहयारें सुहणामें जणेइं।
सम्मत्तगुणाहिणिहाण हूउ ॥

आहारजी में मिलते हैं। अतएव वि० सं० १४९२ के पूर्व ही कवि भ० यशःकीर्ति के शिष्य बन चुके होंगे। क्योंकि 'सम्मइजिणचरिउ' में उल्लिखित रचनाएँ सं० १४९४ की जान पड़ती हैं। सुकौशलचरित्र सं० १४९६ की रचना है। पं० परमानन्द शास्त्री ने भी सं० १४९६ के पूर्व उन के रचे जाने का उल्लेख किया है[1]। कवि प्रतिष्ठाचार्य भी थे। उन्होंने अनेक मूर्तियों की प्रतिष्ठा की थी। वि० सं० १५२५ के मूर्तिलेख से पता लगता है कि कवि तब तक जीवित थे[2]। अनुमानतः कवि का समय वि० सं० १४६० से १५४० कहा जा सकता है।

ऐतिहासिक प्रमाण

मध्यकालीन इतिहास में ग्वालियर के तोमरवंशी राजाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन के समय में ग्वालियर राज्य वैभव सम्पन्न तथा सुख-समृद्धि से भरपूर था। संस्कृति और साहित्य का अच्छा प्रचार इस राज्य में था। प्राप्त लेखों के आधार पर इस वंश के पाँच प्रसिद्ध राजा हुए—वीरमदेव, गणपतिसिंह, डूँगरसिंह, कीर्तिसिंह और मानसिंह। पन्द्रहवी और सोलहवी शताब्दी में इन राजाओं का शासन ग्वालियर में रहा है। ग्वालियर का प्राचीन नाम गोपाचल, गोपाद्रि या गोपगिरि लिखा हुआ मिलता है। वि० सं० १४९४ की अपभ्रंश भाषा में हस्तलिखित कवि धनपाल की 'भविसयत्तकहा' से पता लगता है कि उस समय राजा डूँगरसिंह ग्वालियर के राजा थे[3]। वे तोमरवंश के राजाओं में से चतुर्थ गणपतिसिंह के पुत्र थे। उन्हें कलिकाल चक्रवर्ती कहा गया है। स्पष्ट ही डूँगरसिंह एक प्रतापी राजा थे, जिन का शासन अत्यन्त व्यवस्थित एवं विस्तृत था। उन के समय में जैनधर्म का अच्छा चलन एवं प्रभाव था। उस समय माथुरगच्छ के भट्टारकों का ग्वालियर में बड़ा प्रभाव था। राजा भी उन का यथोचित सम्मान करता था। विशेषतः माथुरगच्छ के भट्टारकों ने वहाँ पर मूर्ति-प्रतिष्ठा, शास्त्र-रचना आदि प्रभावना के कार्य किये हैं। इस प्रकार राजा डूँगरसिंह के शासन-काल में साहित्य और कला की बहुत उन्नति हुई, जिस के प्रमाण आज भी विद्यमान हैं। महाराजा वीरमदेव से ले कर मानसिंह तक बराबर यह राज्य उन्नतिशील रहा है। किन्तु जैनग्रन्थों के लेखों में डूँगरसिंह का विशेष रूप से गुणानुवाद लिखा मिलता है। विबुध श्रीधर कृत भविष्यदत्तकथा की पुष्पिका से पता चलता है कि वि० सं० १४८६

---

१ पं० परमानन्द जैन शास्त्री 'महाकवि रइधू' अनेकान्त, वर्ष ११, किरण ६, पृ० ३२४॥

२. वही, पृ० ३२५।

३. संवत् १४६४ वर्षे ज्येष्ठ वदि ॥ ० आषाढ वदि २ सोमवासरे श्रीगोपाचले अत्र तुंमर राज्ये कथंभूते राज्ये च हमीरे पै राज्ये जनवार्द्ध के दर्शनानि प्राप्तानि तुवरे दानमानत.। वंदीकृतं द्विशतपंच-समा शकेन्द्रे. राजन् समुद्धरण गोपगिरेन्द्र दुर्ग। श्रीवीरसिंहभवने यदि न स्वदीयं स्याज्जन्म कोपि न विमुचयितु (समर्थ)। तस्मिन् वंशे नरेन्द्र चूडामणौ श्री गणेश्वर पुत्र कलिकालचक्रवर्ती राजा श्रीडुंगरे(न्द्र) कथंभूते। इत्यादि। पुष्पिका का अन्तिम भाग।

में डोंगरसिंह राज्यगद्दी पर आसीन थे[१]। पं० रइधू के सुकौशलचरित की पुष्पिका से ज्ञात होता है कि वि० सं० १४९६ में राजा डूँगरसिंह ग्वालियर राज्य के शासक थे[२]। इसी प्रकार समयसार की एक हस्तलिखित प्रति की प्रशस्ति के अनुसार सं० १५१० में राजा डूँगरसिंह राज्यशासन चला रहे थे[३]। डूँगरसिंह वि० सं० १४८१ (१४२४ ई०) में राज्यसिंहासन पर आरूढ़ हुए थे। १४५५ ई० में कीर्तिसिंह गद्दी पर बैठे। किन्तु वि० सं० १५२५ में पं० रइधू के द्वारा प्रतिष्ठित मूर्ति-लेख से पता लगता है कि उस समय कीर्तिसिंह राज्य कर रहे थे[४]। अतएव अनुमानतः सं० १४७० के लगभग से १५२०-२२ तक डूँगरसिंह का राज्यकाल रहा होगा। इस सम्बन्ध मे इतिहास के आलोक में अभी छान-बीन करना अत्यन्त आवश्यक है। लगभग वि० सं० १४९७ से १५१२ तक डूँगरसिंह ने जैनमूर्तियों का निर्माण-कार्य कराया। उन के पुत्र कीर्तिसिंह ने भी सं० १५३६ में जैनमूर्ति-निर्माण कार्य कराया।

कवि का परिचय

सन्मतिजिन चरित्र में कवि के उल्लेख से पता चलता है कि पं० रइधू के बाबा का नाम देवराज और पिता का नाम हरिसिंह था। उन की माता का नाम विजयश्री था[५]। वे पद्मावती कुल-कमल के दिवाकर थे। कवि के बाबा संघ के अधिपति थे। जैनधर्म मे उन की श्रद्धा अटूट थी। कवि स्वयं और उन के पिता भी जैनधर्म के अनुयायी तथा परम भक्त थे। पं० रइधू के पिता हरिसिंह अपने समय के बड़े विद्वान् थे। कवि का भी यश दूर-दूर तक फैल गया था। दिल्ली और हिसार से बड़े-बड़े लोग आ कर कवि से ग्रन्थ लिखने का अनुरोध करते थे। वस्तुतः उस युग में भट्टारकों की भाँति पं० रइधू ने भी धर्म की बहुत ही प्रभावना की थी। राजा डूँगरसिंह का नाम बहुत दूर-दूर तक फैला हुआ था। उन के शासन से प्रायः सभी सन्तुष्ट थे। कवि ने कई स्थानों पर राजा का गुण कीर्तन किया है[६]।

---

१. संवत् १४८९ वर्षे आषाढवदि ९ गुरुदिने गोपाचल दुर्गे राजा डूँगरसिंह राज्य प्रवर्तमाने श्रीकाष्ठासंघे माथुरान्वये पुष्करगणे आचार्य श्रीसहस्रकीर्तिदेवास्तत्पट्टे आचार्यगुणकीर्तिदेवास्तच्छिष्य श्रीयशःकीर्तिदेवास्तेन निजज्ञानावरणी कर्मक्षयार्थं इदं भविष्यदत्तपंचमीकथा लिखापितम्। पुष्पिका का अन्तिम भाग।

२ गोवग्गिरि डूँगर णिवहु रज्जि पइ पालतइ अरिराय तज्जि।

३. प्रो० विद्याधर जोहरापुरकर ग्वालियर के तोमरवंश का एक नया उल्लेख, अनेकान्त, वर्ष १४, किरण १०, पृ० २९६।

४. पं० परमानन्द जैन शास्त्रीः महाकवि रइधू अनेकान्त, ११, ६। पृ० ३२५।

५. देवराय संघाहिव णंदणु हरिसिंघु बुहयणं कुल आणंदणु।
पोमावइ कुलकमलदिवायरु सो वि सुणंदउ एत्थु जसायरु।
जस्स घरिज रइधू बुहु आयउ देवसत्थगुरुपय अणुरायउ। २८, अन्तिम भाग।

६. तोमरवंसहु तिजयपसंसहु। उज्जोयणरु कुलसंतय घरु।
णामें डोगरु अरियण खययरु। तासु जि रज्जहि मइ णिरवज्जहि ॥२६॥

रचनाएँ

अपभ्रंश में पं० रइधू ने सब से अधिक रचनाएँ लिख कर इस साहित्य को गौरवान्वित किया। पं० परमानन्द शास्त्री ने महाकवि की बीस रचनाओं का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है[1]—सम्यक्त्वगुण निधान, सुकौशलचरित, बलभद्रचरित (पद्म-चरित), नेमिनाथजिनचरित (हरिवंशपुराण), पार्श्वपुराण, मेघेश्वर चरित, यशोधरचरित, धन्यकुमारचरित, पुण्याश्रव कथा, सन्मतिजिनचरित, सिद्धचक्रविधि, वृत्तसार, अणथमी-कथा, सिद्धान्तार्थसार, सम्यक्त्वकौमुदी, षोडशकारण-जयमाला, दशलक्षण जयमाला, जीवंधरचरित, करकण्डुचरित और आत्मसंबोधकाव्य। इन के अतिरिक्त सुदर्शनचरित्र, सोहंबुद्धि और सम्यक्त्वभावना का पता लगता है। सम्यक्त्वभावना जयपुर के तेरा-पन्थी मन्दिर के गुटका नं० २५७१ में संकलित है। इन की एक रचना आदिपुराण भी कही जाती है जो अभी तक अनुपलब्ध है। इस प्रकार कवि रइधू की लिखी हुई चौबीस रचनाओं का पता मिलता है। इन में कई रचनाएँ बहुत सुन्दर हैं।

रचना-काल

कवि का रचना-काल लगभग सं० १४९० से आरम्भ माना जा सकता है। सन्मतिजिनचरित्र में उन्होंने स्वलिखित छह रचनाओं का उल्लेख किया है, जो वि० सं० १४९६ से पूर्व की रचनाएँ हैं। हरिवंशपुराण में भी छह रचनाओं के लिखे जाने का निर्देश है[2]। सुकौशलचरित में भी जिनदत्तचरित, पार्श्वचरित और बलभद्र पुराण का उल्लेख है। सुकौशलचरित वि० सं० १४९६ की रचना है। अतएव उक्त तीनों ग्रन्थ निश्चय ही उन के पूर्व रचे गये थे। सन्मतिजिनचरित्र में जिन रचनाओं का उल्लेख है उन में सिद्धचक्रमाहात्म्यकथा भी सम्मिलित है[3]। अतएव यही प्रतीत होता है कि वि० सं० १४९२-९६ के मध्य कवि ने कई रचनाएँ लिखी थी, जिन मे 'सिरिपाल कहा' भी एक है। अनुमानतः यह सं० १४९५ की रचना जान पड़ती है।

जैनाम्नाय में श्रीपालकथा

श्रीपाल की कथा जैनाम्नाय में अत्यन्त ख्यात वृत्त रही है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में यह प्रचलित रही है। दोनों में इस का महत्त्व समान है। अन्य कथाकाव्यों की भाँति इस की दीर्घ परम्परा है। प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश,

---

१. पं० परमानन्द जैन शास्त्री महाकवि रइधू अनेकान्त वर्ष ११, किरण ६, पृ० ३२८।

२ सिरितेसट्ठि पुरिसगुण मन्दिरु रइउ महापुराण जयचंदिरु।
तह भरहहु सेण्णावइ चरियउ को मुहकह पबन्ध गुणभरियउ।
जमहरचरिउ जीवदयपोसणु, वित्तसार सिद्धंत पयासणु।
जीवधरहु वि पासहयचरियउ विरइवि भुवणत्तउ जसभरियउ।
हरिवंशपुराण, पुष्पिका का अन्तिम भाग।

३. सन्मतिजिनचरित, १,६।

गुजराती और हिन्दी में शताब्दियों से इस कथा की रचना होती रही है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार इस कथा में कई परिवर्तन लक्षित होते हैं, जो इस प्रकार हैं— श्रीपाल चम्पापुरी के राजा अरिदमणक और रानी कुन्दप्रभा के पुत्र न हो कर सिंहरथ और कमलप्रभा के पुत्र थे। पाँच वर्ष की अवस्था में ही बालक श्रीपाल के पिता का देहावसान हो जाता है। मन्त्री मतिसागर कुमार को सिंहासन पर आरूढ़ कर स्वयं राजकाज सँभालता है। यह देख कर श्रीपाल का चचेरा काका अजितसेन षड्यन्त्र रचता है। मन्त्री अपने शुभचिन्तक से यह जान कर रातोंरात रानी को बालक के साथ नगर के बाहर भेज देता है। घने वन में सात सौ कोढ़ियों से रानी की भेंट होती है। रानी को करुण कथा सुन कर वे उसे शरण देते हैं और राजसेवकों से झूठ बोल कर उस की रक्षा करते हैं। कोढ़ियों के संसर्ग से श्रीपाल को भी कोढ़ रोग हो जाता है। तब माता कौशाम्बी के प्रसिद्ध वैद्य के पास चल देती है। कोढ़ी लोग श्रीपाल को राजा बनाते हैं। एक दिन उन का दल उज्जैनी नगरी में पहुँचता है।

उस समय मालवदेश के राजा प्रजापाल का वहाँ शासन था। उन के दो रानियाँ थीं। पहली का नाम सौभाग्यसुन्दरी और दूसरी का रूपसुन्दरी था। सौभाग्य-सुन्दरी के सुरसुन्दरी और रूपसुन्दरी के मैनासुन्दरी नामक पुत्री उत्पन्न हुई। जब वे दोनों पढ-लिख कर सयानी हो गयी तो एक दिन राजा ने सभा में पूछा—बताओ पुण्य से क्या मिलता है? सुरसुन्दरी ने धन, यौवन, सौन्दर्य और प्रियतम की प्राप्ति बतलायी और मैनासुन्दरी ने न्याय, शील, बुद्धि, आरोग्य और सद्गुरु की प्राप्ति बतलायी। राजा दोनों से सन्तुष्ट हुआ। उस ने वर माँगने को कहा। सुरसुन्दरी राजसभा में स्थित कुरुजागल के राजा अरिदमन को वरती है। दोनों का विवाह हो जाता है। किन्तु मैनासुन्दरी माथा धुनती है। राजा उस से प्रकाश डालने को कहता है तो वह कर्म सिद्धान्त की बातें कहती है। राजा भरी सभा में अपना अपमान समझता है। अन्त में मन्त्री बगीचे में जाने का समय होने से राजा को साथ में घुमाने ले जाता है। नगर के बाहर पहुँचते ही कोढ़ियों का दल मिलता है। राजा के पास उन का दूत आता है जो यह कहता है कि हे राजन्! हम ने अपने राजा के लिए सब कुछ जुटा लिया है, पर एक सुशील कन्या के प्रबन्ध के लिए आप से प्रार्थना है। राजा मैनासुन्दरी का विवाह श्रीपाल-बनाम उम्बर से कर देता है। राणा उम्बर वहीं सुख से रहने लगता है। मैनासुन्दरी गुरु से सिद्धचक्र नामक यन्त्र तथा आयम्बिल की विधि ग्रहण करती है। दोनों ही गुरु के निर्देशानुसार आश्विन शुक्ल सप्तमी से पूर्णिमा तक तथा चैत्र शुक्ल सप्तमी से चैत्र शुक्ल पूर्णिमा तक नौ-नौ दिन का आयम्बिल व्रत का पालन करते हैं। दिगम्बर परम्परा के अनुसार यह व्रत कार्तिक, फागुन और असाढ़ के अन्तिम आठ दिनों में पाला जाता है।

सिद्धचक्र व्रत के पालन से श्रीपाल नीरोग हो जाते हैं। इस बीच माता भी आ जाती है। सभी लोग प्रसन्न होते हैं। श्रीपाल अपना राज्य वापस लेने के विचार

से विदेश-यात्रा करता है। क्योंकि वह ससुर की सहायता से राज्य पाना ठीक नहीं समझता। मार्ग में विद्या-साधक से कुमार की भेंट होती है। श्रीपाल की सहायता से अल्प समय में ही वह विद्या सिद्ध हो जाती है। तब वह विद्याधर जलतरणी और शस्त्र-घातनिवारिणी दो औषधियाँ आग्रहपूर्वक प्रदान करता है। विद्याधर के साथ मार्ग में श्रीपाल को रससिद्ध करने वाला धातुवादी मिला। श्रीपाल की बतलायी हुई विधि से सोना बन जाता है। वह थोडा-बहुत सोना कुमार के छोर से बाँध ही देता है। कुछ दिनों में दोनों भरुच पहुँचते हैं। वहाँ सोना बेच कर सुन्दर वस्त्र और शस्त्रास्त्र मोल लेते हैं।

दैवयोग से इसी समय कौशाम्बी नगरी का सेठ धवल गाड़ियों और ऊँटों पर किराना लाद कर भरुच में आता है। उस से उसे बहुत लाभ होता है। तब वह जल-मार्ग से विदेश-यात्रा का विचार करता है। वह पाँच सौ छोटी-बड़ी नौकाएँ तैयार करता है। प्रस्थान के समय तोपें छोड़ी जाती हैं। पर लंगर टस-से मस नही होते। जब धवल सेठ को यह पता लगता है कि मनुष्य की बलि चढाये बिना नौकाएँ आगे नही बढेंगी तो वह घबडा कर राजा के पास पहुँचता है। राजा परदेशी को पकड़ने की आज्ञा दे देता है। श्रीपाल को पकडने के लिए सेठ के सेवक पहुँचते हैं। पर किसी की भी सामर्थ्य नही होती। अन्त में धवल सेठ और राजा की सेना अग्रसर होती है। कुमार युद्ध ठान देता है। अनेक योद्धा मारे जाते हैं। औषध के प्रभाव से उस का कुछ भी बाल बाँका नहीं होता। सेठ श्रीपाल से क्षमा याचना करता है और नौकाएँ चला देने की प्रार्थना करता है। इस के लिए वह एक लाख स्वर्ण मुद्राएँ देने को तैयार हो जाता है। श्रीपाल सिद्धचक्र का ध्यान कर सिंहनाद करता है। नौकाएँ चल पड़ती हैं। धवल सेठ कुमार को अपने साथ ले चलता है। वह सेठ को सौ रुपये प्रतिमास भाड़ा दे कर विदेश यात्रा करता है। मार्ग में बब्बरकुल बन्दरगाह पर रुकते हैं। राजपुरुष कर माँगने आते हैं। सेठ देने से मना कर देता है। राजा के आदेश से सेठ के हाथ-पैर बाँध कर उसे पेड़ से उलटा टाँग दिया जाता है। श्रीपाल राजा को बन्दी बनाता है और सेठ को मुक्त करता है। राजा महाकाल अपनी कन्या मदनसेना का विवाह श्रीपाल से कर देता है। बहुत दिनों तक वहाँ रहने के बाद वे रत्नद्वीप की ओर प्रस्थान करते हैं।

धवल सेठ मन ही मन बहुत कुढता है। जब श्रीपाल को उस के ओछे विचारों का पता चलता है तब वह सेठ को भाडे की दस गुनी रक़म चुका देता है। कुछ दिनों में वे रत्नद्वीप पहुँचते हैं। एक दिन कुमार नाटक देख कर जब लौटता है तब एक सवार व्यक्ति रत्नसानु पर्वत पर स्थित जिनमन्दिर, रत्नसंचया नगरी, कनककेतु विद्याधर, रानी रत्नमाला और कन्या मदनमंजूषा का परिचय देता है। श्रीपाल के प्रभाव से पर्वत के मन्दिर के द्वार खुल जाते हैं। वह दर्शन करता है। राजा अपनी पुत्री उसे परणा देता है। धवल सेठ के कहने पर एक दिन मदनमंजूषा के साथ विदा हो कर श्रीपाल स्वदेश के लिए लौट पड़ता है। धवल उस के वैभव को देख कर चिढ़ता है। धीरे-धीरे

नयी बहू के रूप-सौन्दर्य का आकर्षण उसे अपना बना लेता है। इस लिए वह अपने चौथे मित्र को राय से कुमार को छल पूर्वक समुद्र में ढकेल देता है। किन्तु जलतरणी जड़ी और सिद्धचक्र के प्रभाव से मगर उसे अपनी पीठ पर चढ़ा कर समुद्र-तट पर पहुँचा देता है। थकावट के कारण श्रीपाल चम्पा वृक्ष के नीचे लेटते ही सो जाता है। आँख खुलने पर घुड़सवारों की भीड़ उसे बतलाती है कि इस कोंकण देश की यह ठाणापुरी नाम की राजधानी है। यहाँ के राजा वसुपाल की मदनमंजरी नामक सुन्दर कन्या है। नैमित्तिक के अनुसार आप ही उस के वर है। अतएव चलिए। इधर श्रीपाल का विवाह मदनमंजरी से होता है और उधर दोनो ही पत्नियाँ करुण विलाप करती हैं। अन्त में दोनों ही समुद्र में गिरने के लिए तैयार होती हैं। इतने में ही सिंहवाहिनी चक्रेश्वरी देवी तथा क्षेत्रपाल प्रकट होते है। देवी धवल सेठ के चौथे मित्र को मार डालती है और सेठ को सतियों की शरण लेने से छोड़ तो देती हैं, पर बुरी तरह से डाटती हैं। तीनों मित्र उस का उपहास करते हैं। किन्तु कामान्ध सेठ अपनी चाल से बाज नही आता। वह स्वयं स्त्री के वेश मे प्रेम को याचना करता है। तब चक्रेश्वरी देवी कुछ दिनो के लिए उस की नेत्र-ज्योति हर लेती हैं। सेठ के बहुत चाहने पर भी हवा के प्रतिकूल बहाव से विवश हो दक्षिण में कोकण देश के तट पर जा लगे। सेठ राजा के पास भेंट की बहुमूल्य वस्तुओं को साथ मे ले कर जाता है। वहाँ बैठे हुए श्रीपाल को देख कर वह सूख जाता है। और भाँड़ो को एक लाख रुपये दे कर वह श्रीपाल को नीच कुल का प्रमाणित करता है। अन्त मे कुमार मन्त्रियो के साथ अपनी दोनों पत्नियों को राजसभा मे बुलवाता है। वे कुमार के कुल का परिचय देती हैं। धवल सेठ और भाँड़ो को शूली का दण्ड मिलता है। कुमार उन्हे बचाता है। किन्तु सेठ का पापी मन अब भी नही मानता। वह श्रीपाल की हत्या करने के लिए महल के सातवें खण्ड पर गोह के सहारे चढ़ता है, पर शरीर भारी और अवस्था अधिक होने से रस्सी उस के हाथ से छूट जाती है और कमर मे खोंसी हुई कटारी उसी का प्राणान्त कर देती है।

एक दिन बग़ीचे जाते समय बनजारों का मुखिया श्रीपाल को कुण्डलपुर के राजा मकरकेतु और रानी कर्पूरतिलका की पुत्री गुणसुन्दरी का परिचय देता है। श्रीपाल सिद्धचक्र के ध्यान से देवता विमलेश्वर की सहायता से मणिमाला को पहन कर वामन का रूप धारण कर कुण्डलपुर पहुँचते है और कुमारी को वीणावादन में पराजित कर उस का पाणिग्रहण करते हैं। वहाँ से कुमार चल कर कंचनपुर के राजा वज्रसेन और रानी कंचनमाला की पुत्री त्रैलोक्यसुन्दरी को समस्यापूर्ति में विजित कर वरण करता है। इसी प्रकार श्रृंगारसुन्दरी और उस की पाँचो सखियो को भी समस्या-संवाद मे विजित कर अपना लेता है। कुमार की विद्वत्ता से प्रसन्न हो विप्र अंगभट्ट कोल्लागपुर के राजा पुरन्दर और रानी विजया की पुत्री जयसुन्दरी को वरने की राय देता है। श्रीपाल वहाँ पहुँच कर राधावेध में सफलता प्राप्त कर कन्या से विवाह करते हैं। ठाणा

के राजा वसुपाल कुमार की खोज में दूतों को भेजता है। वे यहाँ आ कर उन से मिलते हैं। मामा का सन्देश पा कर श्रीपाल रानियो के साथ वहाँ पहुँचता है। कुछ दिन वहाँ रह कर माता से मिलने के लिए स्वदेश के लिए प्रस्थान करता है। मार्ग मे कई राजाओं को अधीन कर भेंट लेते हुए सोपारकपुर पहुँचते हैं। वहाँ के राजा को, सर्प-दंश से पीड़ित राजकुमारी के अग्नि-संस्कार मे गया हुआ सुन कर कुमार भाग कर वहाँ पहुँचता है और कुमारी को जीवित कर देता है। उन दोनों का विवाह हो जाता है।

श्रीपाल मालवपति राजा प्रजापाल की नगरी उज्जैनी की ओर तेजी से बढ़ता है। मार्ग के अनेक देशों के राजा, जिन में मुख्य महाराष्ट्र, सौराष्ट्र, मेवाड़, लाट, भोट हैं—कुमार को अधीनता स्वीकार करते हैं। उज्जैन में पहुँच कर कुमार नगर को चारों ओर से घेर लेता है। बाकी की घटनाएँ दोनो में समान है। हाँ, मालवपति कन्धे पर कुल्हाड़ी रख कर नंगे पैरों शिविर में आते हुए यहाँ बताये गये हैं। सभी प्रसन्न हुए। श्रीपाल ने आनन्द बढ़ाने के लिए अभिनय करने की आज्ञा दी। किन्तु नटी तैयार नही हुई। वह रंगमंच पर आते ही विषाद से भर गयी और माता सौभाग्यसुन्दरी के गले लग कर सिसक-सिसक कर रोने लगी। उस ने बताया कि माता जब मै यहाँ से बिदा हो कर शंखपुर पहुँची तो प्रवेश का मुहूर्त न होने से हम नगर के बाहर बगीचे में ठहर गये। हमारे साथ के कई लोग स्वजनो से मिलने चले गये। आधी रात गये डाकुओं ने हमें लूट लिया। मैं डाकू के हाथो नेपाल पहुँच गयी। वहाँ से बिक कर मै बब्बरकुल पहुँची। वहाँ मै वेश्या के हाथों में बिकी। वेश्या ने मुझे नटी बना दिया। राजा महाकाल के यहाँ बाध्य हो कर मुझे रहना पड़ा। मदनसेना के विवाह में राजा ने श्रीपाल के दायजे में नाटक-मण्डली भी भेंट में दी और तब से मै इस मण्डली में हूँ। इस प्रकार लेखक ने सुरसुन्दरी और मैनासुन्दरी के विचारो और कर्मों के अनुसार इसी जीवन के दोनों पक्षो को उजागर कर दिया है। यही इस की विशेषता है। जो सुरसुन्दरी पहले गर्व से इठला रही थी और मैनासुन्दरी के दुःख पर प्रसन्न हो रही थी वही आज मैनासुन्दरी की सराहना एवं प्रशंसा करती हुई नही थक रही थी। अन्त में श्रीपाल दूत को शंखपुर भेज कर अरिदमन कों बुलाता है और सुरसुन्दरी को उस के हाथों में सौंपता है।

इस प्रकार हम देखते है कि रइधू तथा पं० नरसेन की कथा से यह कथा कई बातों में भिन्न है तथा विस्तृत है। सुरसुन्दरी की यह घटना दिगम्बर-परम्परा में प्रचलित नहीं है। जान पड़ता है कि यह परवर्ती विकास है, जिस में घटनाओं को विषय के अनुरूप माहात्म्य को और भी प्रभावशाली बनाने के लिए कहीं-कहीं मोड़ कर वस्तु-व्यंजना को अधिक स्फीत एवं प्रेरक बना दिया गया है। जो भी हो, इस से इस कथा के महत्त्व और लोक-प्रसिद्धि का पता चलता है।

श्रीपालचरित्र सम्बन्धी रचनाएँ

जैन साहित्य में श्रीपाल सम्बन्धी कई रचनाएँ विभिन्न भाषाओं में लिखी हुई मिलती हैं। श्रीपाल की कथा को ले कर जितनी अधिक रचनाएँ लिखी गयीं सम्भवतः उतनी अन्य किसी कथा पर नहीं लिखी गयी। अकेले जिनरत्नकोश में इकतीस रचनाओं का उल्लेख है।[1] अपभ्रंश में ही पं० रइधू के अतिरिक्त कवि दामोदर कृत श्रीपालचरित्र, पं० नरसेन कृत तथा जयमित्रहल रचित श्रीपालचरित्र उपलब्ध हैं। प्राकृत में रत्नशेखर विनयविजयसूरि तथा प्रद्युम्नसूरि रचित श्रीपालचरित्र काव्यों का पता लगता है। संस्कृत में भ० सकलकीर्ति, शुभचन्द्र, सोमकीर्ति, ब्र० नेमिदत्त, मल्लिभूषण, विद्यानन्दिन, लब्धिमुनि, जगन्नाथ कवि, सत्यसागरगणि, धर्मधीर आदि विद्वानों द्वारा लिखित श्रीपालचरित्र का पता मिलता है। संस्कृत गद्य में ज्ञानविमलसूरि, जयकीर्तिसूरि और जीवराजगणि की रचनाओं का उल्लेख मिलता है।[2] हिन्दी में भी दौलतराम कृत श्रीपालचरित्र, जिनहर्षगणि तथा ब्रह्म रायमल्ल रचित श्रीपालरास, परिमल्ल विरचित श्रीपालचरित्र तथा कई अज्ञात लेखकों की भाषा और हिन्दी गद्य में लिखी हुई रचनाएँ मिलती हैं। गुजराती मे भी श्रीपाल विषयक कई रचनाएँ देखने को मिलती हैं। गुजराती का अधिकांश साहित्य रासो साहित्य है। मेरे पास लगभग सौ-सवा सौ रासो ग्रन्थ के नाम लिखे हुए हैं। उन मे से गुणसुन्दर कृत श्रीपालरास; ज्ञानसागर, जिनहर्ष, विनयविजय तथा यशोविजय रचित श्रीपालरास और नयसुन्दर विरचित सुरसुन्दरीरास तथा ज्ञानसागर कृत सिद्धचक्ररास विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार गुजराती, तमिल, कन्नड़ तथा अन्य भाषाओमे श्रीपालाख्यान के रचे जाने का उल्लेख मिलता है। इस से इस कथा की लोकप्रसिद्धि तथा उस के माहात्म्य का पता चलता है। उक्त रचनाओं में सब से प्राचीन कवि दामोदर विरचित श्रीपालचरित्र है। कवि की अन्य रचना 'णेमिणाहचरिउ' का रचनाकाल वि० सं० १२८७ है। अतएव यह भी उसी समय के लगभग तेरहवी शताब्दी की रचना है। तेरहवी शताब्दी का लिखा हुआ श्रीपालचरित्र किसी अन्य भाषा में अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ। जिनरत्नकोश में दी हुई नामावली के अनुसार सब से प्राचीन रचना सत्यराजगणि कृत है, जो वि० सं० १४२८ की लिखी हुई है। पन्द्रहवी शताब्दी के पूर्व की केवल दामोदर कवि द्वारा लिखित रचना मिलती है। अधिकांश रचनाएँ तो सोलहवी शताब्दी की हैं। किन्तु पन्द्रहवी शताब्दी से आज तक अविच्छिन्न रूप से श्रीपाल की कथा लिखी जाती रही है।

कथा का आधार

पं० रइधू की श्रीपालकथा का आधार नरसेन कृत सिद्धचक्रकथा प्रतीत होती है। यद्यपि नरसेन का समय अभी तक अज्ञात है, पर प्राप्त प्रतिलिपियों के आधार पर

१ श्री एच० डी० वेलणकर : जिनरत्नकोश, खण्ड प्रथम, पृ० ३९८।

२. वही, पृ० ३९९।

पता चलता है कि नरसेन का काल चौदहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध या पन्द्रहवीं का पूर्वार्द्ध रहा होगा। क्योंकि आमेर भण्डार से प्राप्त प्रतिलिपि का समय वि० सं० १५९० है। किन्तु इस से पहले की एक प्रति वि० सं० १५८९ की जैनमन्दिर दीवानजी, कामा (भरतपुर) में वर्तमान है। यह रचना के प्रचलन का समय है। यदि हम कम से कम डेढ़-सौ वर्षों का अन्तराल मानें तो अनुमानतः चौदहवीं शताब्दी में उक्त रचना लिखी गयी होगी।

पं० रइधू कृत श्रीपालकथा का आधार नरसेन रचित सिद्धचक्रकथा को मानने के कारण निम्नलिखित हैं—

दोनों की कथा में कोई विशेष अन्तर नहीं दिखलाई पड़ता। कहीं-कहीं कुछ अन्तर है। जैसे कि राजा पयपाल की रानी का नाम जयश्री न हो कर नरसुन्दरी होना। मुनि समाधिगुप्त से दोनों कन्याओं का सकल शास्त्रों का अध्ययन करना। विद्यासाधन की घटना का सिद्धचक्रकथा मे न होना। किन्तु शेष घटनाएँ तथा पात्रों के नाम दोनों में समान हैं। कहीं-कहीं वर्णनों मे भी समता लक्षित होतीहै। उदाहरण के लिए श्रीपाल कुण्डलपुर मे रानी चित्रलेखा की पुत्रियों की दी हुई जिन समस्या पूर्तियों को रचता है लगभग उन्हीं शब्दों मे वे ही समस्यापूर्ति के लिए समस्याएँ पं० रइधू ने भी दी है। इस प्रकार अन्य स्थानो पर भी सिद्धचक्रकथा की झलक श्रीपालकथा पर मिलती है, जिस से यही अनुमान लगाया जा सकता है कि पं० रइधू ने उसे देखा-सुना अवश्य होगा। यदि हम यह मानें कि नरसेन की कथा रइधू के बाद रची गयी तो यह सम्भव नहीं जान पडता। क्योंकि रइधू की घटनाओ में विस्तार है और नरसेन मे संक्षेप। फिर, श्रीपालकथा मे दो-तीन घटनाएँ अधिक हैं। यदि नरसेन रइधू के ग्रन्थ को देख कर कथा लिखते तो उन घटनाओं को क्यों छोड देते ? अतएव यही प्रतीत होता है कि नरसेन रचित विषय-वस्तु का पं० रइधू ने विस्तार से वर्णन किया है।

कथावस्तु

जम्बूद्वीप के दक्षिण में भरतक्षेत्र में मालवा नाम का सुन्दर प्रदेश था। उस मे उज्जैनी नाम की सुरम्य नगरी थी। वहाँ राजा पयपाल का शासन था। रानी का नाम जयश्री था। उन दोनो के दो कन्याएँ थी। बड़ी का नाम सुरसुन्दरी और छोटी का नाम मैनासुन्दरी था। जेठी कन्या कुमतिशीला थी और लोरी (छोटी) चतुर तथा धर्म के पालन मे निरत थी। एक बार उस नगरी में मुनिवर समाधिगुप्त का आगमन हुआ। राजा सपरिवार उन को वन्दना के लिए गया। राजा के निवेदन करने पर मुनिराज उन दोनो कन्याओ को विद्याएँ सिखाने लगे। उन दोनों ने अमरकोश, ज्योतिष, नीति, भरतसंगीत, नाट्यशास्त्र, छन्द, अठारह लिपि, अठारह भाषाओं तथा कला-विज्ञान आदि की शिक्षा प्राप्त की। जेठी पुत्री ने पुराण, आगम, वेद, कोक, सिद्धान्तग्रन्थ, नृ-पशु-विज्ञान आदि की भी शिक्षा प्राप्त की। पढ़-लिख लेने के बाद एक दिन जेठी

कन्या राजसभा में गयी और आधे आसन से बैठ गयी। राजा ने उस के रूप-सौन्दर्य को निहार कर तथा विदुषी जान कर पूछा कि राजकुमारों में से तुम्हें जो अच्छा लगता हो उसे बताओ। हे पुत्रि, मैं तुम्हारी रुचि के अनुसार उसी से तुम्हारा विवाह कर दूँगा। इतने में ही वहाँ कौशाम्बी के राजा का पुत्र हरिरथ आ पहुँचा। उस के रूप को देख कर सुरसुन्दरी मोहित हो गयी। वह बोली—मुझे सिंहरथ के सिवाय कोई अच्छा नहीं लगता। जो भाता है वही प्रदान कीजिए। राजा ने शुभ दिन तथा मुहूर्त में उस से उस का विवाह कर दिया। वे दोनों आनन्द से कौशाम्बी में जा कर रहने लगे।

इधर एक दिन दिपते हुए स्वर्ण की भाँति रूपवती मैनासुन्दरी गन्धोदक ले कर राजा के पास जाती है। राजा उसे ले कर असीस देता है और कहता है कि सुरसुन्दरी की भाँति तुम भी स्वयंवर माँग लो। कुमारी कहती है कि अपने-अपने पुण्य से सब प्राप्त करते हैं। राजा इन वचनों को सुन कर क्रोधित हो गया। वह बोला कि तुम जिस किसी राजकुमार को चाहती हो सो बताओ। राजकुमारी यह सुन कर खेदखिन्न हो मुँह नीचा कर बैठ गयी। तब राजा ने उस की बहुत निन्दा की। राजा के बार-बार धिक्कारने पर वह संशय में पड़ गयी। फिर कुछ विचार कर बोली कि आप किसी भी राजकुमार को परणा दीजिए। राजा इस बात को सुन कर क्रोध से भर कर कहने लगा कि यह कुलकलंकिनी है। स्वच्छन्द हाथी की भाँति मदमस्त है इस के मन में जो कुछ आता है सो कहती है। तब अत्यन्त नम्रता से मैनासुन्दरी पिताजी से बोली कि आप क्रोध न कीजिए। कुलीन घर में जन्म लेने वाली कन्या अपनी लज्जा नहीं खो देती है। आप अपनी इच्छा के अनुसार विवाह कीजिए। मेरा वही वर है जो आप सब के मन भावे। फिर, प्राणी को सुख-दुःख कर्म के विपाक के अनुसार मिलता है। कोई किसी को सुख-दुःख नहीं देता है। कर्म ही संसार में सब से प्रधान है। कर्म से ही मनुष्य शुभ-अशुभ गतियों को प्राप्त करता है, राजा-रंक बनता है। राजा इन वचनों को सुन कर बोला कि यदि कर्म ही सब कुछ करता है तो फिर प्रत्यक्ष रूप से तुम मुझ से वस्त्र, भोजन आदि विविधसुखों को क्यों प्राप्त करती हो? तब उत्तर में वह बोली कि मेरा जन्म कर्मों के उदय से आप के घर में होने से मुझे यह सब मिल रहा है। कर्मों की प्रेरणा से ही मुझे सुख-साधन मिले है। पुत्री की इन बातों को सुन कर राजा का मन भड़क उठा और वह बोला कि अच्छा देखता हूँ कि कर्म तुम्हें क्या फल देता है। उठो, तुम अपने घर जाओ। मैनासुन्दरी घर जा कर भोजन करती है और उधर राजा क्रोध से जल उठता है।

दूसरे दिन राजा सेना के साथ वर की खोज में निकल पड़ता है। पुर के बाहर सेना को छोड़ कर वह मन्त्रियों के साथ आगे बढ़ता है। इतने में उसे अंग देश में स्थित चम्पापुरी के राजा अरिदमणक और रानी कुन्दप्रभा का पुत्र श्रीपाल सामने आता हुआ दिखाई दिया। कुमार श्रीपाल का समूचा शरीर कुष्ठ व्याधि से पीड़ित था। सिर पर वह ढाक (पलाश) का छत्र धारण किये हुए था। उसे देख कर राजा के मन में

सन्तोष हुआ। वह सम्मान के साथ उसे नगर में ले गया और मैनासुन्दरी के साथ उस का विवाह कर दिया। मन्त्रियो ने बार-बार समझाया; पर राजा ने किसी की भी बात नही मानी। अन्तःपुर में सभी विलाप करते हैं। किन्तु मैनासुन्दरी सब को समझाती है कि दुःख-शोक मत करो। शुभाशुभ कर्मों के परिणमन से संसारी जीव को दुःख-सुख लगे ही रहते है। अन्त में मैनासुन्दरी पति के साथ ससुराल मे पहुँचती है। श्रीपाल उस से कहता है कि तुम मेरी संगति मत करो, नही तो तुम्हें भी कुष्ठ हो जायगा। किन्तु वह अपने शील को प्रकट कर पति की सेवा में निरत रहती है। गुरु के प्रसाद से वह सिद्धचक्र-विधान की आराधना एवं अर्चना करती है। कुछ ही दिनों में उस के पति के तन का कुष्ठ दूर हो कर तपे हुए सोने की भाँति रंग निखर आता है। सभी लोग हर्ष से फूले नही समाते। जब श्रीपाल से राज्य के लिए कहा गया तो उस ने विचार कर कहा कि दूसरे के बल से उपार्जित राज्य को ले कर मैं क्या करूँगा। मैं स्वयं देशान्तरों मे भ्रमण करूँ। मैनासुन्दरी भी पति की अनुगामिनी बन कर चलने की इच्छा प्रकट करती है। तब श्रीपाल उसे समझाते हैं और माता-पिता की सेवा करने के लिए कहते हैं। अन्त में बारह वर्ष के लिए श्रीपाल यात्रा पर निकल पड़ते हैं। मैनासुन्दरी विलाप करती है। माता को भी दुःख होता है। कोटिभट श्रीपाल सात सौ मित्रों के साथ द्वीपान्तरो की यात्रा समुद्र मार्ग से करते हैं।

समुद्र-मार्ग से यात्रा करने के पूर्व श्रीपाल अपने मित्रों के साथ कई नगर, उपवन, पर्वत, गाँव आदि लाँघते हुए एक अत्यन्त रमणीक उपवन में पहुँचते हैं। वे वहाँ एक चम्पा वृक्ष के नीचे बैठ जाते है। इतने मे कुछ राहगीर हाथ जोड कर उन से कहते हैं कि गुरु ने कृपा कर हमे विद्यामन्त्र दिया है, पर मन की चंचलता से हम उसे साध नही पा रहे है। आप महानुभाव हैं इस लिए यदि आप उसे सिद्ध करने में हमारी सहायता कर दें तो हमे पाप नही लगेगा। कोटिभट श्रीपाल ने उन की संरक्षा की। वे विद्यामन्त्र ग्रहण कर ध्यानपूर्वक जाप करने लगे। एक दिन रात को विद्यागण सिद्ध हो गये। उन्होने श्रीपाल को जलतारिणी, वैरिनिवारिणी तथा कितनी ही अन्य विद्याएँ प्रदान की। तब श्रीपाल बिना कही रुके समुद्र-देश मे पहुँचते है। वहाँ धवलसेठ से भेंट होती है। द्रव्य के लोभ से वह पाँच सौ जहाज तैयार कराता है। दस हजार सुभट वहाँ एकत्र होते है। बारह वर्ष के लिए खाने-पीने की तथा अन्य सामग्री ले कर जलदेवता का पूजन कर वे सब प्रस्थान करते है। किन्तु पोत टस से मस नही होता। सब बहुत घबड़ाते है। धवलसेठ को भी चिन्ता होती है। जब श्रीपाल यह देखते हैं कि जल-जन्तुओं के स्थिर हो जाने से पोत नहीं चल रहा है तो अपनी भुजाओं का प्रदर्शन करने के लिए तैयार होते है। किन्तु धवलसेठ जीवों की विराधना करने से उसे रोकता है। अन्त मे श्रीपाल सिद्ध मन्त्र का ध्यान करता है और पोत चल पड़ता है। तब धवलसेठ कहता है कि यदि मार्ग में पोत अड़ जायेगा तो कौन चलाने में समर्थ होगा? श्रीपाल कहते हैं कि जब तक मेरे साथ हो तब तक क्या डर? यदि प्राणों को भी माँगोगे तो

दे दूँगा। इन वचनों को सुन कर सेठ कोटिभट को धर्म-पुत्र मान लेता है। भयावह समुद्र को देख कर तथा कई दिनों तक लगातार बैठने के कारण कई लोगों की तबियत बिगड़ने लगी। इधर लुटेरे लोग निकट आ गये। दोनों ओर के लोगों में घमासान युद्ध हुआ। धवलसेठ जीवित ही बाँध लिया गया। श्रीपाल यह सुन कर दौड़ पड़े और उन सब पर तरह-तरह के वार किये। अन्त में वे सब शरण में आये और हाथ-पैर जोड़ने लगे। अकेले श्रीपाल ने एक लाख चोरों को बाँध लिया और सेठ को बन्धनों से मुक्त कर दिया। युवतियो ने मंगलगीत गाये। कोटिभट श्रीपाल ने चोरो के बन्धन छोड़ कर उन्हें वस्त्राभूषण दिये और प्रेम से धर्म का उपदेश दिया। फिर पवन से प्रेरित हो कर उन का पोत अन्य किसी द्वीप में जा लगा। इस द्वीप का नाम हंसद्वीप था। इस में अठारह रत्नों की खानें थी। सब लोग यहाँ पर उतरते हैं और पोत से सब सामान उतार लिया जाता है।

इस द्वीप में कनककेतु नामक राजा राज्य करता था। उस की रानी का नाम गुणमाला था। उन दोनों के रत्नमंजूषा नाम की अत्यन्त सुन्दर तथा गुणवती कन्या थी। एक बार मुनिवर से पूछने पर उन्होंने बताया कि जो व्यक्ति सहस्रकूट चैत्यालय के किवाड़ों को अपने हाथ से खोल देगा वही इस कुमारी का वर होगा। तभी राजा वहाँ पर द्वारपाल नियत कर देता है। कोटिभट श्रीपाल जिनवन्दना के लिए उस चैत्यालय मे जाते हैं। पास मे पहुँच कर देखते हैं कि इतना सुन्दर मन्दिर बन्द पड़ा है, तब उस नौकर से उस के बन्द होने का कारण पूछते हैं। वह प्रमत्त सेवक कहता है कि कारण क्या पूछते हो? तुम धर्मात्मा और बलवान् एवं रूपवान् हो इसलिए वज्र के किवाड़ों को जा कर खोल लो अथवा छेदों में से दर्शन कर लो। श्रीपाल गुरु का स्मरण कर हाथों से किवाड़ों को ठेलता है। किवाड खुल जाता है। द्वारपाल राजा को सूचना देता है। राजा सपरिवार मंगल उद्घोषों के साथ सहस्रकूट चैत्यालय में जाता है। वहाँ श्रीपाल से भेंट कर मुनिवर का वृत्तान्त सुनाता है। सुमुहूर्त मे राजा श्रीपाल को अपनी कन्या परणा देता है। श्रीपाल वही राज्य करने लगता है। एक दिन धवलसेठ लौटने के लिए कहता है। पोत को भलीभाँति वस्त्रों तथा रत्नों आदि से भर कर वे सब स्वदेश के लिए लौट पड़ते हैं। वस्त्राभूषणों से अलंकृत रत्नमंजूषा के अनिन्द्य रूप को देख कर सभी वणिक् मोहित हो जाते हैं। धवलसेठ उसे देख कर मूर्च्छित हो जाता है और मन ही मन में घुलने लगता है। श्रीपाल उस की दशा को देख कर कारण पूछते हैं तो वह विषम व्याधि बताता है। मन्त्री लोग कहते है कि यह क्या रोग है कि मरणावस्था तक पहुँच गये हो। वह अपनी व्यथा कह कर सुनाता है और रत्नमंजूषा में अपनी अनुरक्ति प्रकट करता है। मन्त्री जन उसे समझाते हैं। तीनों मन्त्रियों के चले जाने पर वह तुरन्त ही श्रीपाल के पास जा कर कूट भाषण करता है। वह कहता है कि हे स्वामी, आप के कई बैरी हैं। मैं ने मन्त्रणा कर पता लगा लिया है। कलकल कोलाहल कर कई लोग आश्चर्यजनक बोल रहे हैं। श्रीपाल तुरन्त ही बाँस पर चढ़ता

है। इतने में वह रस्सी काट देता है। श्रीपाल के समुद्र में गिरते ही हाहाकार मच जाता है। रत्नमंजूषा विलाप करती है। वणिक् इधर-उधर दौड़ते हैं। धवल भी झूठ-मूठ रोता है। फिर सभी वणिग्वर मिल कर वहाँ आते हैं और रत्नमंजूषा को समझाते हैं। कुछ समय बाद धवल दो दूतियाँ उस के पास भेजता है। वे रत्नमंजूषा से धवल में अनुरक्ति प्रकट करने को कहती हैं, पर वह बुरी तरह उन्हें फटकारती है और भगा देती है। तब स्वयं धवल उस के पास जाता है। वह मुख-कमल ढँक लेती है। सेठ अनुनय-विनय करता है। वह उसे धिक्कारती है। इतने में आसन कम्पित होने से जिनशासन की देवियाँ चक्रेश्वरी, अम्बिका, ज्वालामालिनी और कालिका तथा यक्ष मणिभद्र क्रोध से प्रदीप्त हो कर आते हैं। समुद्र में चारों ओर अँधेरा छा जाता है। बनियों के जुड़े हुए हाथ अपने-आप बँध जाते हैं। अच्छी पिटाई होती है। समूचा दल रत्नमंजूषा के पास हाथ जोड़ कर पहुँचता है। सुन्दरी से सब प्रार्थना करते हैं। जिनशासन की देवियाँ तथा जलदेवता उसे सान्त्वना देते हैं और कहते हैं कि तुम्हारा पति अवश्य मिलेगा और राज्य करेगा। रत्नमंजूषा सब को क्षमा कर देती है। सभी धवल का अपयश-कीर्तन करते हैं। वे सब बार-बार सुन्दरी का अभिनन्दन करते हुए लौटते हैं।

उधर श्रीपाल मन्त्र का स्मरण करता हुआ अनेक जलजन्तुओं को तथा दूर से बड़वानल को लाँघता हुआ कोंकण द्वीप के तट पर पहुँचता है। भुजाओं से सागर को पार करने वाले सुभट को आते देख कर भट लोग उसे प्रणाम करते हैं और अपने आने का कारण सुनाते हैं। वे कहते हैं—इस कोंकण पट्टन में धरपाल नामक राजा प्रजा का भलीभाँति पालन करते हैं। उन की वनमाला नाम की रानी से उत्पन्न अत्यन्त रूपवती एवं गुणवती गुणमाला नामक कन्या है। मुनिराज ने उन्हें बताया है कि जो महापुरुष भुजाओं से समुद्र पार कर इस द्वीप में आयेगा वही इस कन्या का वर होगा। इसी लिए राजा ने हमें यहाँ नियुक्त किया है। श्रीपाल को आया हुआ देख कर राजा भेंट करता है। विवाह की तैयारियाँ होती हैं। दोनों का धूम-धाम से विवाह होता है।

इधर धवलसेठ के पाँच सौ पोत उसी द्वीप के तट पर आकर लगते हैं। सेठ धवल मोती-रत्नों के थाल भर राजा को भेंट करता है। वहाँ श्रीपाल को देख कर सभी को बड़ा अचरज होता है। राजा परिचय देता है। सेठ को बड़ी आत्मग्लानि होती है। सब उसे समझाते हैं और श्रीपाल के चरणों में शरण लेने को कहते हैं। पर वह पापी मातंगों को धन देकर राजसभा में भेजता है और रत्नमंजूषा को निर्लज्ज तथा दुःशील कहला कर प्रचार करता है। पहले तो श्रीपाल को डोमों की बातों पर विश्वास हो जाता है, पर कुछ सोच कर वह गुणमाला को रत्नमंजूषा की परीक्षा लेने भेजता है। रत्नमंजूषा राजा को पूरा वृत्तान्त सुनाती है। राजा सभी को बन्दी बना कर बुलवाता है। धवलसेठ को मृत्युदण्ड देता है। किन्तु श्रीपाल धर्मपिता कह कर बचा लेता है।

फिर सभी वणिग्वरों को राजा षड्रसों से बना हुआ भोजन कराता है। श्रीपाल के यश का प्रसार होता है। बहुत दिनों तक कोटिभट वहीं रहता है।

एक दिन कोई वणिग्वर राजसभा में आ कर श्रीपाल को कुण्डलपुर द्वीप में स्थित मकरकेतु राजा तथा रानी रूपरेखा से उत्पन्न चित्ररेखा के रूप और गुणों का वर्णन कर सुनाता है कि मुनिवचनों के अनुसार जो समुद्र लाँघ कर गुणमाला को परणायेगा वही उस कन्या का वर होगा, अतएव आप चलिए। वह उस के साथ वहाँ जाता है और चित्रलेखा के साथ श्रीपाल का सानन्द विवाह होता है। कंचनपुर पट्टन के राजा वज्रसेन भी मुनि के वचनों के अनुसार अपनी पुत्री कंचनमाला को श्रीपाल को परणा देते हैं। वहाँ से चल कर श्रीपाल कोंकण पट्टन में पहुँचे। वहाँ के राजा जसरासि की चौरासी रानियाँ थीं। उन के जसमाला नाम की सब से जेठी कन्या थी। सब कन्याएँ सोलह सौ थीं, जिन में आठ मुख्य थी। उन्हें विद्या का अत्यन्त गर्व था। जो उन की समस्यापूर्ति कर सकता वही उन को वर सकता था। श्रीपाल ने उन्हें विजित कर सोलह सौ कन्याओं के साथ पाणिग्रहण कर लिया। वहाँ से वह कंचनपुर, कुण्डलपुर होता हुआ कोंकण द्वीप में लौट कर आ जाता है। इस बीच वह सोरठ से पाँच सौ, महाराष्ट्र से पाँच सौ, गुजरात से चार सौ, मेवाड़ से दो सौ और अन्य राज्यों से छियानवे कन्याओं को वरण करता है। पल्लिराज, खस और पुलिन्द आदि राजा लोग उस की सेवा करते हैं। उन सब को ले कर श्रीपाल उज्जैनी नगरी में आ पहुँचता है।

नगर में पहुँचने पर कोटिभट छिप कर राजमहल में जाता है और मैनासुन्दरी को देखता है। वह पति-वियोग में चिन्तित दिखलाई पड़ती है। सासू से कहती है कि आज भी वे नहीं आये। अब मैं साध्वी की दीक्षा ग्रहण करूँगी। बारह वर्ष का समय तो बीत गया, पर अब अधिक समय निकालना बहुत ही कठिन जान पड़ रहा है। माता समझाती हैं। इतने में श्रीपाल सम्बोधते हैं। पति के वचनों को सुन कर मैनासुन्दरी किवाड़ों को खोलती है। माता पुत्र को असीस देती है। पत्नी स्नेह प्रकट करती है। श्रीपाल समूचा वृत्त सुनाता है। विद्याधर राजाओं की आठ हज़ार कन्याओं को परणा कर लाने की बात भी वह कहता है। मैनासुन्दरी रोमांचित हो जाती है। वह प्रेमासक्ति में पति से न भुलाने का वचन लेती है। श्रीपाल सभी पत्नियों को अन्तःपुर में बुलाता है और सब का परिचय देता है। उन आठ हज़ार सपत्नियों से मिल कर मैनासुन्दरी आनन्दित होती है।

इतने में समर-तूर बजने लगता है। मन्त्री युद्ध को ठना हुआ देख कर श्रीपाल के पास दौड़े आते हैं और पहले दूत को भेजने की राय देते हैं। दूत राजा पयपाल के पास पहुँचता है। वह अभिनव चक्रवर्ती की आज्ञा सुनाता है कि या तो कम्बल पहन कर सिर पर लकड़ी का बोझा और कुल्हाड़ा ले कर शोभायमान हो अथवा युद्ध करो। राजा दूत को फटकारता है, मारने को तैयार हो जाता है; पर मन्त्री बचा लेते हैं। श्रीपाल मैनासुन्दरी से दूत के अपमान की बात कहता है। वह पति को प्रियवचनों से

निवारण करती है। तब सन्धि के लिए दूत के हाथ वह भेंट भेजता है। राजा पयपाल उसे स्वीकार कर श्रीपाल से मिलने आता है। दोनों मिल कर आनन्द से गद्गद हो जाते हैं। श्रीपाल पूरा परिचय देता है। दोनों हर्ष से भरे मैनासुन्दरी से मिलते हैं। उत्सव मनाया जाता है। श्रीपाल का राज्याभिषेक करने के लिए राजा पयपाल तैयार होता है, पर कोटिभट स्वीकार नहीं करता।

अन्त में सेना के साथ श्रीपाल वहाँ से चम्पापुरी के लिए प्रस्थान करते हैं। मन्त्री के वचनों से वह राजा के पास भेंट भेजता है। दूत की बातों को सुन कर राजा उसे फटकार देता है। तब श्रीपाल रण का शंख फूँक देता है। दोनों मे घमासान युद्ध होता है। श्रीपाल राजा के पास पहुँच कर अपना परिचय देता है। वीरदमण श्रीपाल को देख कर चिन्तित और लज्जित होता है। अन्त मे वीरदमण अपने हाथों से श्रीपाल का राज्यतिलक करता है। वह स्वयं मुनि बन जाता है। चिरकाल तक राज्यसुख भोग कर श्रीपाल भी एक दिन नागर मे आगत मुनिवर से दीक्षा ग्रहण कर दुर्धर तपस्या कर निर्वाण को प्राप्त करता है।

प्रबन्ध-रचना

वस्तु-संघटना की दृष्टि से मंगलाचरण और कथा-प्रेरक की प्रशंसा के अतिरिक्त अन्य किसी काव्य-रूढ़ि का पालन नही हुआ है। दस सन्धियो की यह रचना छोटी-छोटी सन्धियो में विभक्त है। समूची रचना प्रबन्ध काव्य के अनुरूप होने पर भी वर्ण्य विषय की संक्षिप्तता से एकार्थ काव्य की कोटि की है।

इस काव्य में अवान्तर तथा अप्रासंगिक कथाओ की संयोजना न होने से कथानक गतिशील लक्षित होता है। समूचा कथानक नायक और नायिका के पुण्य-कर्म तथा सिद्धचक्र के माहात्म्य से लिपटा हुआ मिलता है। अतएव कथा का केन्द्रबिन्दु मैनासुन्दरी के वृत्त से विकसित हो कर श्रीपाल की विभिन्न देशों की यात्रा और राज्य-प्राप्ति में कार्य (फल) के रूप मे परिणत हो जाता है। इस प्रकार पाँच सन्धियो का परिवेश भी स्वाभाविक रूप से मिलता है। यद्यपि घटनाओ के विकास में कवि ने अपनी कल्पना से बहुत कम काम लिया है, पर अतिलौकिक एवं अतिमानवीय बातों से कथानक को बचा कर कवि ने स्वाभाविकता की रक्षा की है। और इसीलिए विद्यासाधना का प्रसंग जोड़ कर कवि ने धार्मिक मान्यता एवं आस्था को व्यक्त कर श्रीपाल के समुद्र-संतरण में अन्य अद्‌भुत कल्पनाओं से कथा को बचा लिया है। मूल में धार्मिक भावना मुख्य होने पर भी कथा की आत्मा इस रचना में सुरक्षित है।

घटनाओं में स्वाभाविक विकास होने से रचना में क्षिप्रता और औत्सुक्य बराबर प्रभावशील है। इस मे न तो पात्रों की भीड़ है और न घटनाओं का जमघट ही। इसलिए कथातत्त्व रोचक और मधुर बन पड़ा है और काव्य-रचना स्फीत एवं स्वच्छ

दिखाई पड़ती है। मुख्य रूप से इस कथाकाव्य में एक ही कथा है, जो क्रम से विकसित हो कर विभिन्न घटनाओं एवं स्थान-भेद से वैचित्र्य की सृष्टि करती है।

कथा सरल और मधुर है। रचना में कहो भी जटिलता और क्लिष्टता नहीं दिखाई पड़ती। पूरी कथा एक ही सूत्र में समाहित है। इस प्रकार की कथाएँ बहुत कम मिलती हैं। क्योंकि ये सीधी-सादी कथाएँ रोचक होने पर भी अधिक प्रभावशालिनी नहीं होतीं। और इसीलिए उद्देश्य विशेष से इन का सम्बन्ध जोड़ कर अपभ्रंश-कथाकाव्य के लेखकों ने प्रभावान्विति और रस-व्यंजना की दृष्टि से इन्हें पूर्ण सफल बनाने का यत्न किया है, जिस मे वे बहुत कुछ सफल हुए हैं। प्रस्तुत कथाकाव्य के सम्बन्ध में भी यही बात चरितार्थ होती है।

संक्षेप में, कुल मिला कर प्रबन्ध-रचना के रूप में यह कथाकाव्य उत्तम रचना कही जा सकती है। इस में कथा के लगभग सभी तत्त्व स्वाभाविक रूप में संयोजित हैं। यही इस की सब से बड़ी विशेषता है।

वस्तु-वर्णन

वस्तु-वर्णन में नगरी-वर्णन, विवाह-वर्णन, विद्यासाधन-वर्णन, समुद्र-वर्णन, युद्ध-वर्णन, यात्रा-वर्णन आदि वर्णन मिलते हैं। किन्तु इन वर्णनों में कोई नवीनता नहीं मिलती। वस्तुतः आलोच्यमान कथाकाव्य में वर्णन की अपेक्षा विवरण अधिक है। चलते हुए कथानक में वस्तु का वर्णन करते चलना कवि की स्वाभाविक प्रवृत्ति जान पड़ती है। स्वतन्त्र रूप से वर्णन इस मे नहो मिलते और न प्रसंगतः वर्णन करने में कवि की रागात्मिका वृत्ति रमी हुई लक्षित होती है। घटनाओं के वर्णन में अवश्य कथा की गतिशीलता प्रेरक एवं सवेदनीय बन पड़ी है। किन्तु वर्णनों में चमत्कार तथा अलंकरणता न हो कर भावों को स्वाभाविक अभिव्यक्ति हुई है, जो लोक-जीवन में सर्वत्र सुनने को मिलती है। विषय के अनुरूप हो वस्तु की योजना स्वाभाविक विधान मे अनुस्यूत है। लोक-जीवन की यथार्थ चेतना की अभिव्यंजना से समन्वित तथा इतिवृत्तात्मकता से वह मण्डित है। रचना विवरण-प्रधान होने से वर्णन कहीं-कहीं दब गये हैं। उन में वह स्फूर्ति और प्रेरणा नहीं है जो यकायक अपनी ओर आकर्षित कर सके। कुछ अन्य वर्णन निम्नलिखित हैं।

सहस्रकूट चैत्यालय का वर्णन

कवि सहस्रकूट चैत्यालय का वर्णन करता हुआ कहता है कि उस के ऊपर कई शिखर बने हुए थे, जिन का अंग स्वर्ण दण्डों से मण्डित था। वे इतने ऊँचे थे कि उन पर लगी हुई ध्वजा-पताकाएँ मानो स्वर्ग के किसी खण्ड का स्पर्श कर रही थीं। सुन्दर घण्टों से अलंकृत वह चैत्यालय गजेन्द्र के समान ही मानो शोभायमान हो रहा था। स्थिर तथा निष्कम्प वह मानो जिनेन्द्र के सदृश था। चित्र-विचित्रित भाग मानो काव्य-

खण्ड के समान था। रत्नों से खचित चैत्य मानो अखण्ड सागर जान पड़ रहा था। नमन, आसन और जिनोक्त सूत्रों से शब्दायमान मानो रत्नत्रय के तीनों भेदों से युक्त था। रवि, शशि से मण्डित उस का कटिप्रदेश ऐसा प्रतीत होता था मानो भूतल पर दूसरा मेरु उत्पन्न हो गया हो। मोतियों की मालाओं (वन्दनवारों) से अलंकृत द्वार मानो दुर्गति रूपी स्त्री के प्रवेश का निषेधक था।

कणयायलुव्व उत्तंगसिंगु   बहु कूडे किय ण ससंगु।
सोवण्णदंड मंडियउ अंगु   धयवड छिवंति णं सग्गखंडु।
वरघंटालंकिउ णं गइंदु   अप्पंकु अकंपु जि जिणेंदु।
मत्तालंकिउ णं कव्वपेंडु   रयणच्चिउ णं सायरु अखंडु।
णं रयणत्तउ तिब्भेयजुत्तु   नमणासणु णं जिणभणिउं सुत्तु।
रविससिणउ मंडिउ कडियलम्मि   णं बीओ मेरु पुणु भूयलम्मि।
मोत्तियमालालंकिय दुवारु   णं दुग्गइ तिय पइसण णिवारु। ६,३।

श्रीपाल का स्वागत-वर्णन

श्रीपाल को देख कर राजा का मन भर गया। सभी लोगों ने उसे भव्य घोषित किया। राजा ने श्रीपाल को अपने गले से चिपटा कर अपने हाथों से हाथी पर बिठाया। सभी लोग जय-जय शब्द करते हुए चल पड़े। राजा की भाँति सभी ने हर्ष एवं उल्लास प्रकट किया। स्त्रियों की इतनी भीड़ हो गयी थी कि कहीं पर भी समा नहीं रही थीं। घर-घर में मणितोरण शोभित हो रहे थे। गलियाँ जनों से संकुल थीं। प्रत्येक द्वार पर पल्लवों से युक्त सोने के मांगलिक कलश सन्निहित थे। स्त्री-पुरुष श्रीपाल की सागर-पार की चर्चा कर रहे थे। लोग अनुमान लगा रहे थे कि यह कोई स्वर्ग का राजा है अथवा देवता। राजा उल्लसित हो गाजे-बाजे के साथ जामाता श्रीपाल को अपने घर ले गया।

सिरिपालहु दंसणि तोसियउं   पुणु भव्वु भव्वु तें घोसियउ।
कंठालिंगणु राएं करिवि   पुणु गयखिरि रोविउ णिय करिवि।
जयजयसद्दें बरु चल्लियउ   भूयलु समंतु तहं हल्लियउ।
दल वट्टणि खणेण पराइयेउ   णारीयण करथ ण माइयउ।
घरि घरि मणितोरण सोहियइ   रच्छा सोहहिं जणक्खोहियइं।
कंचणकलसइ पल्लवसहिया   गहि दारि दारि णिरु सण्णिहिया।
णारीणर जंपहि एहु वरु   आयउ लंघिवि सायरु पवरु। इत्यादि (७,४)

डोमों का नृत्य-वर्णन

फिर डोमों को नृत्य का अवसर मिला। उन से माँगने के लिए कहा गया। पश्चात् डोमों के मुखिया ने कई प्रकार के नाटक अपने लोगों के साथ किये। उन्होंने

कई कौतुक दिखाये, जैसे—कि बांस पर चढ़ना, लटकना आदि। फिर, कई प्रकार के बाजों के साथ देव, मनुष्य, और विद्याधरों के मन को प्रसन्न किया।

पुणु नट्टहो अवसरें भणिवि सुहवरु पुणु वि तेहि मांडयहु विहि।
आरंभिय रायउं सयण समाणउं सिरिपालें णिरु जणिय दिहि॥
कोऊहलु बहुविह दंसियउ दंसारोहणु पुणु ववसियउ।
कंसालताल वहु वज्जियइ सुरणरखेयर मण रंजियइं (७,९-१०)

इन वर्णनों को पढ़ने के साथ इतिवृत्तात्मकता ही अधिक उभर कर हमारे मन को चमत्कृत करती है; वर्णन की चारुता नहीं। वस्तुतः इस कथाकाव्य में अधिकतर वर्णन विवरणप्रधान हैं। उन में कल्पना की अतिशयता या श्लिष्टता न हो कर विवरण की यथार्थता है। अतएव भाव और भाषा की अभिव्यक्ति में सरलता एवं स्वाभाविकता लक्षित होती है। दूसरे, वर्णनों में संक्षिप्तता और वास्तविकता अधिक है। तीसरे, अलंकरण की प्रवृत्ति नहीं मिलती। कहीं-कहीं उत्प्रेक्षा अवश्य मिलती है। किन्तु उस में वस्तु की सम्भावना मात्र ही अभिव्यंजित है। कल्पनाओं के विभिन्न रूपों का साहचर्य या सादृश्य-विधान हमें उस में नहीं मिलता। वास्तव में यह लोक-शैली का काव्य है, जिस में कथाप्रधान है और चलते हुए कथानक में ही वर्णन का वैशिष्ट्य है। अलग से वर्णनों को ढूंढ़ निकालना बहुत कठिन है। वे कथा से पूरी तरह लिपटे हुए हैं। कहीं-कहीं वर्णन बहुत संक्षिप्त हैं। यथा—समुद्र-संतरण, विवाह-वर्णन इत्यादि।

समुद्रसन्तरण-वर्णन

दोनों ओर से उठने वाली तरंगों की भँवरों को, मच्छ-कच्छ आदि जलचरों को तथा दूर से वडवाग्नि को लाँघता हुआ व्याकुल हो धीरे-धीरे श्रीपाल तैरता हुआ समुद्र के किनारे पहुँच गया।

उवहि तरंग भमणि लंघंतउ मच्छकच्छजलयर लंघंतउ।
जिहंतु वीहलु तिहं गच्छंतउ एम तरंतु तरंतु जि पत्तउ॥ ७,२।

विवाह-वर्णन

फिर, शुभ मुहूर्त तथा लग्न में राजा ने रत्नमंजूषा श्रीपाल को परणा दी। साथ में छत्र, चमर, हाथी, घोड़ा, माणिक, रत्न, दासी, दास आदि बहुत-सी वस्तुओं को तथा वस्त्रों को दायजे में दिया, जिसे कौन गिना सकता है?

परिणिय सुहजोएण गुणालें छत्तचमरहयगय अप्पमाणइं।
दिण्णइ मणिरयणइ सुहठाणइं दासी दासइ तं वहु दिण्णइं।
अवर वत्थु को पवर विगण्णइं वरमंदिरु काराविवि दिण्णउं। (६,१२)

राजा हाथी पर बिठा कर श्रीपाल को गाजे-बाजे के साथ नगर में से घुमा कर घर ले जाता है।

गय आरोहिवि जयजयसद्दें गिहिं पेसिउ वरु तूरणिणद्दें ।
पुणु सुमुहुत्तें लग्गु गणाविउं धवलु सेठि तहु जणणु अणाविउं । (६,१२)

इसी प्रकार अन्य स्थलों पर भी विवाह का वर्णन न हो कर विवरण मात्र है। सामान्यतः आलोच्यमान कथाकाव्य मे वर्णन संक्षिप्त तथा इतिवृत्तात्मकता से भरित हैं। समुद्र-यात्रा तथा युद्ध, रूप-वर्णन आदि लोकशैली में वर्णित गिने-गिनाये वर्णन हैं, जो लोकजीवन की वास्तविकता को अभिव्यक्त करते हैं।

समुद्र-यात्रा का वर्णन

पोत के चलते ही धवलसेठ का मन प्रसन्न तथा तन रोमांचित हो गया। भुंगल, भेरी, पटह आदि कई बाजे बजाये गये। बाँसों पर बड़ी-बड़ी ध्वजाएँ सजायी गयी। सभी को अत्यन्त अचरज हुआ। जयजयकार करते हुए सब आनन्दित हुए। भेरुंड पक्षी के भय से लोगों ने लोहे की बनी हुई टोपरी सिर पर धारण कर ली। रात को आँखों में नीद भरी होने पर भी वे सो नही पाते थे। जहाज में बैठे-बैठे लोगों को चक्कर आने लगे। कई लोगों का सिर घूमने लगा। कई चक्कर खा कर गिर पड़े। कई लोगों को उलटियाँ होने लगीं। कई समुद्र में उठती हुई लहरों को देख कर डरने लगे। कुछ लोगों को कही भी अच्छा नही लगने लगा। कुछ सोचने लगे कि कब पार लगें। कुछ लोग अपने कर्मों को कोसने लगे। कुछ लोग कहने लगे कि यह मनुष्य जन्म ही व्यर्थ है, और कुछ लोग इस व्यापार को ही व्यर्थ बताने लगे। इस प्रकार कई दिनो तक जहाज में बैठे हुए लोगों की मन.स्थिति गड़बड़ रही। बाद मे उन में स्थिरता आ गयी। वे सब गाते-नाचते, जल को देखते, नित्य जलचरों से विनोद करते हुए आनन्द से समय बिताने लगे (५,१९-२१)

शृंगार-वर्णन

गुणमाला आँखों के कोयों में काजल आँजती है। दर्पण को देखती हुई तिलक करती है। सोने का हार वक्षस्थल पर धारण करती है। जूडे में सुगन्धित कुसुमों को खोंसती है। बढिया मोतियों से माँग सँभारती है। कुंकुम की पत्रावली रचती है। दाढों के बीच पान का बीड़ा धरती है। सोने के आभूषणों से शरीर को सजाती है।

पुणु वत्त पत्त तहिं गुणमाला जहिं णयणरेह कज्जल ठवइ ।
दप्पणु जोवंती तिलउ करंती कणयहारु उरयलि ठवइ ॥
कुसुमसुयंधु सीसि संवरइ वरमोतिय माग समारइ ।
पत्तावलि कुंकमहु समारइ डसणअंति तंबोलु वि धारइ।
कणयाहरण विहूसिय गत्ती भणइ कावि सहि तासवि वत्ती । ७,१३

इसी प्रकार भावाभिव्यंजना में रसात्मक एवं भावपूर्ण स्थलों में लोकजीवन की वास्तविकता की झलक मिलती है। इन वर्णनों को पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि वर्णन

स्वाभाविक और साधारण हैं। अन्य कथाकाव्यों की भाँति रोचकता और सजीवता नहीं है। कहीं-कहीं वातावरण का चित्र आँखों के सामने छा जाता है। अतएव लोकजीवन के स्वाभाविक वर्णन की दृष्टि से ही इस का महत्त्व है; पर कला के यथार्थ परिवेश में रचना का मूल रूप सटीक नहीं उतरता, केवल नखशिख, रूप-वर्णन आदि मे अलंकरणता का परिचय मिलता है।

नखशिख-वर्णन

पूनम के चन्दा जैसा आधा भालपट्ट मानो कामदेव के विजय का पट्टा था। मैनासुन्दरी की भौहें टेढापन लिये हुए बिना डोरी के मानो काम का प्रचण्ड धनुष जान पडती थीं। दोनों कानों में सोने के कुण्डल शोभायमान हो रहे थे। वे ऐसे जान पडते थे मानो सूरज और चन्दा अपने स्निग्ध करों से प्रकाश कर रहे हों। भौहों के अगले प्रदेश में तीक्ष्ण नासिका थी। उस से निकलती हुई साँस लक्षित नहीं होती थी। मानो कामदेव के छोडे हुए बाणों को बडी कठिनाई से सहन करती हो। प्रेम को प्रकाशित करने वाले कोमल भुज युगल मानो पृथ्वी पर काम के पाश थे। उठे हुए उरोज चन्द्रमा की प्रभा के समान स्वर्ण वर्ण के ऐसे मालूम हो रहे थे मानो काम ने ही अभिषेक के कलस स्थापित किये हो। उस की कटि सिंह के समान मध्य में क्षीण थी। त्रिवली भी अत्यन्त शोभित उसी मे लीन थी। मानो रति-सुख के हेतु आ कर काम ने ही आसन जमाया हो। उस सुन्दरी के—

ता यहु वयणें मल्हंति कण्ण चल्लिय लोएं दिठी रवण्ण।
पुण्णिम ससि अद्धउ भालपट्टु णं कामणरेसहु विजयपट्टु।
वंकत्तणु भूजुयलुहु अखंडु णिगुण वि धण्णुहुं णं कम्मचंडु।
सोहंति सवणजुव कुंडलेहि रविससि णिद्धाडिया णियकरेहिं।
अगपाएस पुणु तिक्ख णास णउ लक्खिज्जइ णिग्गंत सास।
कणंति सहंति कडक्ख वाण णं कामहो ते मेलंति वाण।
भुयजुयलु सुकोमलु पियपयासु णं पयडु सु महियलि कामपासु।
उरुरुह उण्णय ससिपह णिसुंभ णं मयणहु थिय अहिसेय कुंभ।
हरि लंक समाणी मज्झि खीण तिवली तरंग पुणु तत्थ लीण।
आहवि कुलणियंवुजि तहिं अलीहु णं रइसुह कारणि णिहिउ पीडु।
उरुजुयलउ णयणाहिरम्मु णं जणमण वंधण थंभ जुम्मु।
दिढ संधिवंध जं णूरवण्ण जंघाजुव पुणु वित्थर सछण्णु।
रत्तुप्पलदल सारिच्छ पाय णिम्मलु णहपह जिय दुमच्छाय ॥ २, १३ ॥

उरुयुगल देखने में इतने मनोहर थे मानो लोगो के मन को बाँधने के लिए दो खम्भे ही हों। दृढ़ सन्धिबन्धों से गठित अच्छे वर्ण वाली दोनों जाँघें मानो प्रणय के प्रच्छन्न

आसन-पीठ थे। लाल कमल के समान उस के पैर थे तथा निर्मल नखों की कांति पेड़ों की छाया जैसी फैलती हुई जान पड़ती थी।

युद्ध-यात्रा का वर्णन

दूत की बातों को सुन कर राजा उसी क्षण क्रोध से भर कर हाथ में तलवार ले कर चल पड़ा। उस ने सेना को सम्बोधित करते हुए कहा कि उठो, मारो-मारो, झट से युद्ध के लिए सजो। शीघ्र ही हाथी, घोड़े, रथ युद्ध में पेल दो। वैरी राजा को मार डालो। ऐसा कहता हुआ श्रीपाल भी तैयार हो गया मानो हाथ मे तलवार ले कर विजयश्री ही उत्कंठित हो रही हो। उस को देख कर सामन्त भी सज गये। असंख्य समर-तूर बजाये गये। दोनों ओर के योद्धा दौड़ पड़े। युद्ध के मैदान में वे समा नही रहे थे। घोडे हीस रहे थे और मदोन्मत्त हाथी चिंघाड़ रहे थे। तीक्ष्ण तलवार को कोश से निकाले हुए दल का दल चला जा रहा था मानो प्रलयकालीन समुद्र ही उछल रहा हो। श्रीपाल सिन्दूर से अरुण किये हुए श्रेष्ठ हाथी पर बैठे हुए चले जा रहे थे। पीछे-पीछे सेवक जन रतिसुत की भाँति जयश्री की कामना से अनुगमन कर रहे थे। सात सौ अंगरक्षक उस के सेवक थे। राजा वीरदमन भी उस समय तैयार खड़ा था। उस की ओर भी हाथी, घोड़ो का परिकर तथा छत्तीस सौ सुभट थे। चलो, चलो का शब्द चारो ओर गूँज रहा था। वैरी राजा श्रीपाल के सौन्दर्य को देख कर कहता है कि इस विषम रण मे यह सुन्दर दिख रहा है। आज मैं इसे मृत्यु का अलिगन कराऊँगा। कोई कहता है कि मैं अपनी भुजाओं का पराक्रम दिखाऊँगा। कोई अपने युद्ध-कौशल को दिखाने के लिए कहता है। इस प्रकार योद्धागण परस्पर वार्तालाप करते हुए युद्ध के लिए अपने मन को प्रेरित करते हैं। सभी लोग तैयार होकर हर्ष एव उल्लास से भर कर चल पडे। राजा भी क्रोधित हो कर बढिया हाथी पर बैठ कर चल पड़ा। क्षण भर मे वेग से वे सब एक स्थान पर पहुँच गये (९,७)।

युद्ध-वर्णन

युद्ध के बाजे बजने लगे। हय, निशान, ढोल और भेरी के बजने से चारों ओर गूँज हो गयी। दोनों ओर की सजी हुई चतुरंगी सेना पहले दर्शन से क्रुद्ध हो कर क्षण भर मे जयश्री के सुख को लूटने के लिए एक दूसरे को घायल करने लगी। पैनी धार वाली तलवारों को निकाले हुए योद्धा लोग धनुष को टंकार करने लगे। हाथ मे चक्र को धारण किये हुए दल के दल गुँथ गये। एक दूसरे को ललकारते हुए हाथी के सैनिक हाथी वालो से, घोडे के सवार घोड़ों पर चढे वीरों से तथा पैदल पैदलों से भिड गये। वे एक दूसरे को हकेलते हुए महाभट ऐसे जूझ गये कि रथ उछलने लगे। उस समय वहाँ कुछ भी नही सूझता था। दूसरों को और अपने को कोई बूझ ही नही रहा था। ऐसा जान पडता था मानो अन्धकार ने ही दो दल बाँध लिए हों। उस समय दोनों ही सेनाएँ क्रोध से उद्दीप्त हो अत्यन्त निविडतम को फैला रही थी।

दोनों सेनाओं के घमासान युद्ध को देख कर मन्त्री जनों ने विचार किया कि राजा लोग आपस में निपट लें, सेना का क्यों सर्वनाश हो। किन्तु दोनों ही राजाओं को यह बात अच्छी नहीं लगी। श्रीपाल ने राज्य पर अपना दावा किया। दोनों में डट कर युद्ध हुआ। एक प्रहर तक दोनों बराबर रहे। दोनो में से एक भी नहीं जीता। तब क्रोध में भर कर श्रीपाल ने उस के पैरों में हाथ डाल कर कँपते हुए हाथों से उसे युद्धस्थली में पटक कर गिरा दिया। उसी समय जयजयकार सुनाई देने लगा। (९,८-१०)

राज्याभिषेक का वर्णन

मंगल गीतों और गाजे-बाजे के साथ राजा श्रीपाल को रत्नखचित सिंहासन के पास ले गया। कुमार को उस पर बिठा कर दोनों ओर जल से भरे हुए सोने के कलसों को स्थापित कर, उस जल से कुमार को स्नान कराया और उस के मस्तक पर सेहरा बाँधा। राजा वीरदमण ने अपने हाथों से श्रीपाल के पट्टा बाँधा। तिलक कर सारा राज्य प्रदान किया। फिर, विनय से कुमार से बोला—हे कुमार, तुम क्षत्रिय के गुणों से युक्त हो इस लिए सम्मान व विधिपूर्वक इस राज्य का पालन करना, जिस से किसी को कोई दु ख न हो। इतना कह कर राजा ने उसे प्रणाम किया। (९,१२)

संवाद

पं० रइधू की इस सिद्धचक्र कथा मे संवाद संक्षिप्त, मधुर, सरल तथा सरस है। मुख्य संवाद इस प्रकार हैं—पयपालु-सुरसुन्दरी-संवाद, पयपालु-मैनासुन्दरी-संवाद, श्रीपाल-मैनासुन्दरी-संवाद, श्रीपाल-विद्यासाधक-संवाद, श्रीपाल-धवलसेठ-संवाद, मन्त्री-धवलसेठ-संवाद, चण्डाल-धरपाल-संवाद, श्रीपाल-धरपाल-संवाद, श्रीपाल-मैनासुन्दरी-संवाद, दूत-पयपाल-संवाद, वीरदमन-श्रीपाल-संवाद, श्रीपाल-मुनि-संवाद आदि।

इन संवादो मे भावों की सरल अभिव्यक्ति सीधे-सादे शब्दों मे हुई है। युद्ध के समय वीरदमन श्रीपाल को ललकारता हुआ व्यंग्य के साथ बोलचाल की भाषा में कहता है—

तहु भासिउ णिसुणिवि पुणु पुणु विहसिवि वीरदमणपहु भासइं।
भो भो सुंदर तुहु वड्ढिय मणसुहु आयउ णिरु रायासइं॥
हउ पुणु तुज्झु आस हउ पूरमि भज्जिम डिंभ भयवसं।
अण्णु वि एत्थु अज्जु दंसावमि संगामहो महारसं॥ (९, ९-१०)

इस प्रकार संवादो के साथ वर्णन भी आगे-आगे जुड़े हुए मिलते है। यथा—

सो जवसमत्ति पुणु भणइ तासु
बे कर जोडिवि पंथी जणासु।
गुरुणामहु विज्जा मंतु दिण्णु
सो भइविउ णउं जवियउ अछण्णु।

परमुत्तरसाहण मंतरेण	सिज्झइ न मित्त महु चल मणेण ।
जइ तं तुहुं होसि महाणुभाउ	ता विज्जा सिज्झइ महु अपाव ।
तं सुणिवि भणइ सिरिपालु धीरु	उवयारें सोहइ णरसरीरु ।
जिह रयणें सोहइ कणउ भव्वु	वेरग्गें सोहइ जेम भव्वु ।
जिणदाणें सोहइ पउर दव्वु	जिम सीलें सोहइ लोउ सव्वु । (५,१०)

किन्तु कहीं-कहीं संवाद स्वतन्त्र तथा लोकशैली में वर्णित हैं। उनमें शब्द-जाल न हो कर ठेठ भाषा और संवादों का ठाठ दिखाई पड़ता है। जैसे कि—

चल्लहि धवलसेठि वुल्लावइ	तासु महिम महि अण्णु ण पावइ।
कुमरें पुच्छिय कि कारणि महु	वुल्लावइ अक्खहु तुम्हह पहु ।
तेहि भणिउ तुहुं निरु मारेव्वउ	कज्जु अप्पणउ तं सारिव्वउ । (५,१६)

वस्तुतः पात्रों के अनुकूल संवादों का समावेश इस काव्य की विशेषता है। श्रीपाल के संवाद अच्छी भाषा में शिष्ट प्रयोग है, किन्तु किंकर, चण्डालों के वार्तालाप अन्तर लिये हुए हैं। यथा—

सिरिपालें जंपिउ वयणु ताम ।

अहो धवलसेठ णियकुलमयंक,	अवहारि मज्झु सरु विगयसंक ।
किं तुव पोहण चलणेण कज्ज,	कि जीववहं तुम्हहं मणुज्ज ।
तं सुणिवि भणइ वणि पोहणाहं	हउं चाउ णत्थि पूरिय वणाहं ।
मारिम णउं अण्णहो कारणेण	हउं तुहुं चलावम्मि विणु जितेण । (५,१८)

संक्षेप मे, संवाद न तो अधिक विस्तृत है और न बिलकुल संक्षिप्त। कहीं-कहीं इन को पढने से पात्रों के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है। प्रसंगतः संवादों की मधुरता देखी जाती है। कुल मिला कर सवाद अच्छे है। रचना मे उन का वैशिष्ट्य झलकता हुआ लक्षित होता है।

चरित्र-चित्रण

प्रस्तुत रचना मे दो वर्ग के चरित्र दृष्टिगोचर होते है। एक वर्ग का प्रतिनिधित्व मैनासुन्दरी और श्रीपाल करते हैं तथा दूसरे वर्ग का सुरसुन्दरी और धवल सेठ करते है। समूचे कथाकाव्य मे श्रीपाल का चरित्र ही आदि से अन्त तक पाठकों को प्रभावित एवं आकर्षित करता है। मैनासुन्दरी का वैशिष्ट्य सब से अलग है, जो सच्ची भारतीय नारी की प्रतिमूर्ति हैं।

श्रीपाल

श्रीपाल राजपुत्र होने पर भी दया, क्षमा, साहस, धैर्य, शील और नम्रता आदि गुणों से विभूषित दिखाई देता है। जन्म से क्षत्रिय होने के कारण उस में जातीय

स्वाभिमान, तेज और पौरुष का जहाँ दर्प मिलता है, वहीं राजोचित शालीनता, गम्भीरता और कर्तव्यपालन की गुरुता का भी परिचय मिलता है। वह स्वभाव से मधुर और शान्त है तथा मधुरभाषी है। संकट में धवलसेठ की रक्षा करता है। उस के कंजूस मन को परख लेने पर भी उस से घृणा नही करता है। छल से धवलसेठ के द्वारा समुद्र में गिराये जाने पर भी धर्मपिता कह कर उसे क्षमा करता है और राजा से कह कर दण्ड देने से बचाता है। उसे पिता की भाँति सब साधन-सामग्री जुटा कर प्रदान करता है। किन्तु इतना सब कुछ होने पर भी श्रीपाल मे घमण्ड नही है। वह कई कन्याओं का वरण करता है। असंख्य रत्न, धन-कंचन, दासी-दासों को प्राप्त कर लेने पर भी उस के मन मे तृष्णा की ज्वाला तथा व्यर्थ का अभिमान नहीं जगता। वह सब के साथ यथोचित व्यवहार तथा कर्तव्य का पालन करता है। इसी लिए कई देशो को जीत कर जब वह घर पहुँचता है तब सब से पहले माता से मिलता है और उन के चरणो मे प्रणाम करता है। श्रीपाल का व्यक्तित्व इन्ही गुणो तक सीमित नहीं है। वह ससुर के नगर को घेर कर स्वयं राजा को अपने पास मिलने के लिए बुलाता है। जब वे नही आते तो आक्रमण न कर पत्नी से राय ले कर उसे सम्मान प्रदान करता है और स्वयं राजा के दर्शन करने जाता है। नयी-नयी राजकुमारियो से विवाह होने पर भी नायक माता और पत्नी के उपकारों के प्रति कृतज्ञ तथा वास्तविक प्रेम का स्फुरण करने मे उदासीन नही दिखाई देता। वह मैनासुन्दरी और माता के हितों का पूरा ध्यान रखता है। वर्षों के बाद पहली पत्नी से मिलने पर उस के प्रति नायक का प्रेम और भी अधिक गाढा हो जाता है। और विजय का सारा श्रेय वह मैनासुन्दरी द्वारा रचित सिद्धचक्र विधान और पत्नी-सेवा को देता है। इस से श्रीपाल की विनम्रता और उदात्तता का परिचय मिलता है। यही नही, कवि ने श्रीपाल को सुयोग्य राजा के रूप में भी चित्रित किया है। और जो बात आदि से अन्त तक उस के जीवन मे परिव्याप्त दिखाई देती है वह यह कि धर्म के प्रति उस की पूरी निष्ठा है। वह धर्म के विधिवत् पालन करने से ही अपने जीवन मे सफलताएँ प्राप्त करता है। यही श्रीपाल का जीवन है।

धवलसेठ

श्रीपाल जहाँ परमार्थी है वहाँ धवल स्वार्थी। इस का चरित्र श्रीपाल से बिलकुल विरुद्ध है। वह बहुत ही कंजूस और दिल का मैला है। श्रीपाल के वैभव को देख कर उसे डाह होती है। मन से वह उसे बिलकुल नही चाहता। चोर, डाकुओं से रक्षा के हेतु वह श्रीपाल को अपने पोत पर रख लेता है। और धर्म पिता इस लिए बन जाता है कि पोत चला देने के लिए उसे जिस धनराशि का वचन दिया था वह नही देनी पडेगी। सेठ जाति से वणिक् है, इस लिए धन के संग्रह में और व्यय की कमी मे भलीभाँति सावधान है, जो जातीय गुण है। कर न देने के लिए बन्दी बन

सकता है, श्रीपाल से सहायता की याचना कर सकता है; पर द्रव्य भेंट करते हुए उस का मन ही मर जाता है। हाँ, श्रीपाल के धन को हड़प जाने के लिए उस का बहुत बड़ा पेट है। यही नही, वह अपने धर्मपुत्र की बहू को भी अपनी बना कर रखना चाहता है। यहाँ उस की कामवासना का पता चल जाता है कि वह कितना नीच है। मित्र मन्त्रियों के समझाने पर भी वह नही मानता। वह काम में कितना अन्धा है, इस का कवि ने सजीव चित्र खीचा है। श्रीपाल की पत्नियों को रिझाने के लिए वह हर सम्भव प्रयत्न करता है, पर उसे सफलता नही मिलती। राजसभा मे श्रीपाल से भेंट हो जाने पर भी वह कुटिलता नही छोड़ता। और बिना परिणाम का विचार किये श्रीपाल की पत्नियो को निन्दा करता है और डोमो को धन देकर राजसभा में प्रचार करवाता है। इस से जहाँ सेठ की अदूरदर्शिता का पता लगता है, वहीं उस के कपट पूर्ण रहस्य का भी उद्‌घाटन हो जाता है। इस प्रकार कवि ने श्रीपाल और धवल सेठ के चरित्र मे जातीय और वैयक्तिक गुणावगुणो पर प्रकाश डाल कर दो प्रकार के चरित्रों को उभारा है। दोनो हो विरोधी चरित्र है। एक दूसरे से दोनो मे बहुत अन्तर है।

मैनासुन्दरी

स्त्री पात्रों मे मैनासुन्दरी का चरित्र पाठको के मन पर सबसे अधिक प्रभाव डालने वाला है। भारतीय आदर्श नारो का चित्र पूर्णतया उसमें सजीव हो उठा है। पिता के बार-बार कहने पर भी वह पति को वरने के लिए अपने को स्वतन्त्र नही समझती है। क्योंकि भारतीय ललनाएँ यह भलीभाँति जानती है कि माता-पिता कभी उन का अहित नही करेंगे और फिर जितना अच्छा वर वे ढूँढ सकते है कन्या उसे कहाँ खोज सकती है? केवल रूप देख कर मुग्ध होने मे जहाँ मन को तृप्ति मिलती है, वहीं अनेक असमर्थताओ तथा कुरूपताओ को भी सोचना समझना पड़ता है। छोटी-सी अवस्था में अनुभव की वह आँख कहाँ मिल सकती है, जो सदसत् का ठीक से निर्णय कर सके। फिर, मैनासुन्दरी जिस कर्म सिद्धान्त का पाठ पढ़ती है उसे अपने जीवन में भी भली-भाँति उतारती है। उस का दृढ विश्वास है कि यदि मैं भली हूँ तो जग भला है। दुःख किसी के देने से नही अपने कर्मों से मिलता है। संसार तो उस में निमित्त मात्र है। यही हाल सुख का है। अतएव पिता के व्यवहार से असंतुष्ट नही होती। पिता की आज्ञा का पालन करना वह अपना परम कर्तव्य समझती है। पति के कहने पर वह कोढ़ के डर से अलग न रह कर उनके साथ रहती है और यथासंभव सेवा करती है। अपने धार्मिक विश्वास से तथा गुरु के द्वारा निर्दिष्ट मन्त्र तथा विधान का पालन कर पति के कोढ को दूर करती है। पति-सेवा का इस से बढ़ कर अन्य उदाहरण क्या मिलेगा। यदि सीता राम का और सावित्री सत्यवान का साथ देती है तो मैनासुन्दरी भी श्रीपाल का पूरा-पूरा साथ देती है और यथाशक्य सेवा कर पति को नीरोग बनाती

है। पति के प्रति उस के हृदय में असीम प्रेम है। श्रीपाल का मन इसे भलीभाँति जानता है इसलिए वह बारह बरस से एक दिन भी अधिक नही बिताता है। यही नही, पति से मैनासुन्दरी भी विदेश ले चलने का आग्रह करती है, पर सास के समझाने पर मान जाती है। इस से पता चलता है कि उस का स्वभाव हठी नही है। बड़ों की आज्ञा का पालन करती है। वह विनम्र है, शीलवती है। पति के हृदय को समझती है। उसकी धर्म मे अटूट श्रद्धा है। वह कर्तव्य पालन में सदैव रत रहती है।

अन्य नारी-चरित्रो मे रत्नमंजूषा का व्यक्तित्व प्रभावशाली है। संकट के समय में वह धीरज नही खोती है। धवलसेठ के बहकावे मे न आ कर अपने शील एवं सदाचार पर दृढ़ रहती है। असत्य का सामना वह सत्य से करने मे हिचकिचाती नही है। धर्म पर उस की आस्था अडिग है। वह हिताहित का विचार करने मे विचक्षण है। यद्यपि उस का जीवन फूलो की सेजो पर पला है, पर पति के साथ काँटो पर चलने के लिए भी वह तत्पर दिखाई देती है। पति को पाने के लिए वह मृत्यु से भी आलिंगन करने के लिए सहर्ष तैयार हो जाती है। इस प्रकार दोनो ही पति-प्रेम के रस मे सराबोर लक्षित होती हैं।

सुरसुन्दरी स्त्री पात्रो में मैनासुन्दरी से विपरीत विरोधी चरित्र के रूप में दिखलाई पड़ती है। स्वभाव से उसे रूप का दर्प एवं अभिमान है। अपने आगे वह किसी को कुछ नही समझती। धर्म तथा सिद्धान्त की बातो को वह बिलकुल नही मानती। पढने-लिखने में भी उस का मन नही लगता। पिता की हाँ मे हाँ मिला कर काम निकालने में वह चतुर है। मैनासुन्दरी से उसे ईर्ष्या है। इसी लिए जब उस का विवाह कोढी से होता है तब उसे प्रसन्नता होती है। सुरसुन्दरी के इस चरित्र में कवि ने स्त्री जाति मे सुलभ रूप-मद, ईर्ष्या, बराबरी वाले का अपमान देख कर प्रसन्न होना, मीठी-मीठी बातें बनाने मे चतुर तथा अवसर से लाभ उठाना आदि गुणावगुणों का समावेश किया है।

राजा पयपाल मे राजोचित स्वाभिमान का दर्प कूट-कूट कर भरा है। अतएव वह अपनी पुत्री के अपमान को सहन नही करता। इस से जहाँ उस के अगाभीर्य का पता चलता है, वहीं अदूरदर्शिता भी स्पष्ट हो जाती है। संक्षेप मे, इस रचना मे सभी प्रकार के चरित्रो की मधुर संयोजना हुई है। कुन्दप्रभा जैसी माता, मैनासुन्दरी जैसी पत्नी और श्रीपाल जैसे पुत्र तथा पति का चरित्र अत्यन्त सजीव एवं आदर्श रूप मे चित्रित है। भाई के रूप मे अवश्य किसी आदर्श चरित्र की योजना नही हुई।

भावाभिव्यंजना

यद्यपि आलोच्यमान कथाकाव्य मे मार्मिक स्थल बहुत कम हैं, पर भावों की यथार्थ अभिव्यक्ति तथा सजीवता उन में भरपूर है। धवल सेठ जब कोंकण द्वीप के राजदरबार में श्रीपाल को पान का बीड़ा देता हुआ देखता है तो मानो निष्ठुर वज्र से

ही आहत हो जाता है। सर्वांग से पसीना बह उठता है। एकटक वह उस का मुँह देखता रह जाता है। सभी का मन विस्मय तथा सन्देह से भर जाता है। वणिग्वर विचार करते हैं, सोचते है कि भयानक जलचरो से युक्त समुद्र से यह कैसे बाहर आया? धवलसेठ किसी सेवक से श्रीपाल के सम्बन्ध में पूछता है। उस की बातों को सुन कर सेठ को यह दशा होती है, मानो श्रीपाल ने ही दौड़ कर निष्ठुर वज्र का प्रहार किया हो। किसी प्रकार से लोगों ने उसे सम्हाला। हथेली पर सिर को लटकाये वह सेठ अपने स्थान पर पहुँचता है। आत्मग्लानि से उस का चित्त भर जाता है। कवि ने उस के भावो की मार्मिक अभिव्यंजना कर भावो को ही मानो सजीवता प्रदान कर दी है।

फिर, पापी सेठ मन्त्रियों के साथ बैठा हुआ क्षण-क्षण मे मन ही मन दुखी होता है। पश्चात्ताप करता हुआ वह कहता है कि मैं ने पाप के वशीभूत हो क्या कर डाला। जिस से बिना किसी कारण के उसे सागर में गिरा दिया। सो वह पुण्य से बच कर अपनी भुजाओं से सागर पार कर यहाँ आ गया। मेरा पाप ही मेरे सामने आ गया है। यहाँ से बच कर अब मैं कहाँ जाऊँ? वह देवी तो मुझे उसी समय मार डाल रही थी, पर रत्नमंजूषा ने बचा लिया।

पुणु पाविउ तहिं मंति णिसण्णउं चिंतइ खणि खणि मणेण विसण्णउं।
हा मइ पावें किं किउ विहियउ णिक्कारणि सो सायरि णिहियउ।
सो पुणु पुण्णें तिथुब्वरियउ विहुं भुएण दुत्तरु णिरु तरियउ।
मज्झु पाउ महु सम्मुहु आयउ कहु गच्छमि हउ एत्थ वरायउ।
तइ या देवहिं मारिवि जंतउ मंजूसइ रक्खियउ तुरंतउ ।७,८।

सेठ की इन भावनाओ मे कितनी आत्मगर्हा और ग्लानि छिपी हुई है कि वह अब जीवित ही नही रहना चाहता। वस्तुतः भावो की यथार्थ एवं मार्मिक अभिव्यंजना कर कवि ने पूर्ण बिम्ब ही स्पष्ट कर दिया है। यह कवि की सब से बडी सफलता है। भावों के उतार-चढाव के कई चित्र तथा दृश्य प्रस्तुत रचना मे दिखाई देते हैं। वर्णनों की अपेक्षा कवि ने भावो के यथार्थ चित्रण मे अधिक रसानुभूति अभिव्यजित की है। सूक्ष्म से सूक्ष्म भावनाएँ इस सहजता के साथ अभिव्यक्त हुई है कि रस उद्दीप्त हो कर संचार करने लगता है। रचना में कथा के तत्त्व पूर्ण रूप से विद्यमान है। अतएव रसान्विति मे प्रभावाभिव्यंजकता बनी हुई है। धवलसेठ और रत्नमंजूषा की भावनाओं को पढ कर सहज मे ही उन की स्थिति का बोध हो जाता है। इसी प्रकार राजा धरपाल को यह पता चलता है कि श्रीपाल डोम सरदार का पुत्र है तो वह क्रोध से संदीप्त हो नाना विरोधी भावों से भर जाता है। डोम सरदार के हाव-भावों को देख कर राजा क्षुब्ध हो उठता है। उस के भाव मलिन हो जाते हैं। किन्तु धीर चित्त वाला श्रीपाल तनिक भी कंपित नही होता। राजा को चिन्तित देख कर वह धीरे से उस के

पास जाता है। तब राजा चिल्ला पड़ता है—हे कायरो, उबारो। तुम सब क्या कह रहे हो? क्यों इतना प्रेम दर्शा रहे हो? मुझे सारी बातें बताओ, नहीं तो तुम्हारे प्राणों के खण्ड-खण्ड कर दूँगा। राजा की बातें सुन कर कोई डोम स्त्री विस्तृत विवरण सुनाती है। राजा उस के वचनों को सुन कर श्रीपाल को बुला कर पूछता है। श्रीपाल कहता है कि डोम जो कुछ बकते हैं वह क्या सच है? इन वचनो से राजा की क्रोधाग्नि और भी भड़क उठती है और वह चण्डाल को बुला कर कहता है कि इस पापी को मसान में ले जा कर छेद डालो। उस समय श्रीपाल मन में चिंतित होता है। उधर यह वृत्तान्त गुणमाला सुनते ही छाती पीटने लगती है, सिर धुनती है, विलाप करती है। वह दौड़ी हुई पिता के पास आती है और कहती है कि मेरा पति सच्चा है। (७,१२-१४)

इस प्रकार एक साथ कितने भावों का संचार इस दृश्य मे लक्षित होता है। भावों की सन्धि तथा शबलता मे औचित्य का पूर्ण ध्यान रखा गया है। कवि ने वातावरण के बीच भावो की इतनी सुन्दर चित्रमाला अंकित की है कि उस का प्रभाव पाठक के मन पर पडे बिना नही रहता। यही नही, उस दृश्य की अमिट छाप सहृदय के चित्त पर अंकित हो जाती है। फिर, ऐसे प्रसंगो पर लेखक ने वर्णन में कृपणता नही दिखाई है। निम्न-उच्च सभी वर्ग के पात्रो के विभिन्न मनोगत भावो की पूर्ण एवं सफल अभिव्यंजना इस रचना मे बन पडी है। मुख्य बात तो यही है कि औचित्य का पूर्ण समाहार हुआ है। अतएव रसान्विति में क्लिष्टता न हो कर रस का पूर्ण आस्वादन मिलता है।

इस काव्य मे मुख्य रस शान्त है। आरम्भ से ले कर अन्त तक निर्वेद भाव बना रहता है। संसार मे कर्म की प्रधानता दर्शाने के लिए ही उद्देश्य रूप में कथा की संयोजना हुई है। सिद्धचक्र-विधान का अनुष्ठान तथा व्रत का माहात्म्य स्थान-स्थान पर कवि ने बताया है। हंसद्वीप मे श्रीपाल के पहुँचने पर सहस्रकूट चैत्यालय की वन्दना, चारण मुनियों का आगमन और धर्मोपदेश आदि निर्वेद भाव की प्रधानता को सूचित करते हैं, जो अन्त तक अपना प्रभाव बनाये रहता है। राजा वीरदमण श्रीपाल को सिंहासन देने के साथ ही संन्यास एवं मुनि-दीक्षा ग्रहण कर लेते है। अन्त मे राजा श्रीपाल भी मुनिराज से धर्मोपदेश तथा भवान्तर के वृत्तों को सुन कर मुनि बन जाता है और घोर तपश्चर्या कर निर्वाण प्राप्त करता है। अतएव स्पष्ट ही इस मे शान्तरस मुख्य है।

अन्य रसों में वीर, शृंगार, रौद्र और वीभत्स का सुन्दर परिपाक मिलता है। युद्ध-वर्णन मे वीररस का सहज संचार दिखाई देता है। विवाह के प्रसंग में तथा काम-भोग की अवस्था में संयोग शृंगार का चित्रण हुआ है। इसी प्रकार वियोग काल की अनुभूतियों का भी स्वाभाविक चित्रण कवि ने किया है। वियोगविधुरा भारतीय नारी

का चित्र कितने स्वाभाविक ढंग से कवि ने दो पंक्तियों में चित्रित कर दिया है कि उस का वास्तविक रूप ही आँखों के सामने घूमने लगता है। यथा—

मलिणंवर तणु खीणिय पयलिय णेत्तवरा।
णाह णाम घोसंती पेच्छिय ताइ परा ॥७,१४॥

अर्थात् रत्नमंजूषा पति के वियोग में मलिन वस्त्रों को धारण किये हुए मौन बैठी थी। उस का शरीर क्षीण हो गया था। नेत्रों के पलक ही नहीं झँपते थे। वह गुणमाला को पति का नाम लेते हुए देख कर उसे बार-बार देखने लगी। यहाँ पर रत्नमंजूषा अपने पति का नाम नहीं लेती है। वह अपने विरह में मौन रहती है। मुख से भी कुछ नहीं कहती है। राजसभा में जा कर पतिदेव के समक्ष ही उस की वाणी का स्फुरण होता है। यह भारतीय जीवन और साहित्य की यथार्थ अभिव्यक्ति है, जो हमें अन्य देश के जीवन तथा साहित्य में इतनी कारुणिकता के साथ नहीं मिलती। यह भारतीय साहित्य और संस्कृति की अपनी विशेषता है, जिस के विभिन्न चित्र हमें आज भी देखने-पढ़ने और सुनने को मिलते हैं। अपभ्रंश के प्रायः प्रत्येक कथाकाव्य में हमे नारी की महत्ता और उस के आदर्श रूप की गाथा चित्रित मिलती है।

वियोग-वर्णन

श्रीपाल के सागर में गिरते ही रत्नमंजूषा मूर्च्छित हो जाती है। बड़ी कठिनाई से बहुत देर बाद वह उठती है और नाथ-नाथ चिल्लाती है। धाड़ें मार-मार कर वह ऐसा विलाप करती है मानो नभतल ही फूट गया हो। उस की वही दशा हो गयी, जो पाला गिरने से कमलिनी की हो जाती है।

उठिय णाह णाह जंपंतिया।
हा विहु काइं काइं इहु जायउ — अणुचिंतिउ दुक्खु संपायउ।
मुक्कद्धाहण्ण णं णहयलु फुट्टइ — कय कम्मह महि कोइ ण छुट्टइ।
सरकमलिणि णं हिमहय सुक्किया — हा हा णाह णाह कहि मुक्किया।
हा हउं इत्थु अणाहु तुरंतरि — किम अप्पउ धारमि पोयंतरि। (६,२१)

इस प्रकार वह तरह-तरह के विचारों तथा मनोभावनाओं को प्रकट करती हुई स्वाभाविक ढंग से विलाप करती है। उसे इतनी वेदना होती है कि वह अपने-आप को सम्हालने में समर्थ नहीं होती।

एक अन्य स्थल पर हमें गुणमाला का विलाप सुनाई देता है। गुणमाला शृंगार कर रही है। अपने शरीर को उस ने भलीभाँति सजा लिया है, पर सखी के मुँह से यह सुन कर कि जिस के लिए तुम सज रही हो उन्हें राजा के आदेश से मसान घाट पर चण्डाल ले जा रहे हैं, वह मूर्च्छित हो जाती है। क्षण भर में उठ कर वह फिर

से मूर्छित हो जाती है। चेतने पर आँसुओं के प्रवाह से वक्षस्थल सींचती है। वह कहती है कि हे स्वामी सच-सच कहो, जिस से मेरे प्राण दुःख से न निकल सकें।

पेच्छिवि णाहहु सुंदरि मुच्छिय पडिय खणे
हाहारउ पुरि वड्ढिउ मिल्लिय समणजणे।
पुणुउ मुच्छिवि सामिहु मुच्छइ ससिवयणी
अंसुपवाहें सिंचिय उरयलुमयणयणी।
जिम न पाण पमेल्लिवि महदुक्खेण पहु
तामहु वल्लह अक्खहि सच्चउं वयणलहु। (७,१४)

उक्त वर्णन मे हमें कवि की स्वानुभूति मूलक विरह की अतिशयता लक्षित नही होती, वरन् नारी जाति का स्वाभाविक हाहाकार ही मिलता है, जो सहजता के साथ अपनी करुणावस्था का मार्मिक चित्र उद्‌बुद्ध करता है। अतएव इस मे विरह की वह सघनता और गम्भीरता नही आने पायी है, जो मनुष्य के हृदय को छू कर उसे तरल तथा द्रवित बना देती है।

काव्य मे रौद्र रस की अभिव्यंजना दो स्थलो पर हुई है। पहला स्थल तो वह है जहाँ राजा चण्डाल को क्रोध में भर कर श्रीपाल का वध करने का आदेश देता है—और दूसरा वह है जहाँ राजा पयपाल श्रीपाल के दूत को क्रोध के आवेश मे मारने को तैयार हो जाता है। इसी प्रकार श्रीपाल के कोढ़ के वर्णन मे वीभत्स रस का स्फुरण हुआ है। कुल मिला कर भावाभिव्यंजना में रचना साधारण तथा कथा की मधुरिमा से मण्डित है। इस में भ० क० की भाँति संप्रेष्य बिम्बों का विधान तथा मूर्तामूर्त-योजना तो अवश्य नही है, पर अनुभूति की संवेदनात्मकता भावानुभावों मे भलीभाँति लक्षित होती है। यही इस कथाकाव्य की विशेषता है।

अलंकार-योजना

श्रीपाल कथा मे अलंकारों का स्वाभाविक सौन्दर्य अपनी सहजता से हृदयग्राही तथा मनोरम है। सादृश्यमूलक अलंकारों का ही विधान इस मे दृष्टिगोचर होता है। कुछ मुख्य अलंकार निम्नलिखित है।

उवयारें सोहइ णरसरीरु, जिह रयणे सोहइ कणउ भव्वु। (५,१०)
(उदाहरण)

अर्थात् उपकार से मनुष्य तन वैसे ही शोभा पाता है जैसे कि रतन मे लगा हुआ सोना भव्य जान पड़ता है।

यहाँ पर शरीर की शोभा उपकार से है—इस सामान्य अर्थ को उदाहरण से पुष्ट किया गया है, इस लिए उदाहरण अलंकार है। यह बोलचाल की भाषा का अलंकार है। इस का प्रयोग अत्यन्त व्यापक है। ऐसे अलंकार लोकतत्त्व को सूचित करते

हैं। उदाहरण की झड़ी ही इस रचना मे लगी हुई मिलती है। यथा—जिस प्रकार से ध्रुवतारा गगनतल मे इधर से उधर नही चलता उसी प्रकार पानी से भरे हुए समुद्र में भी वाहन नही बहे। जिस प्रकार बिना त्याग के यश नही चलता, बिना पवन के पेड़ नही हिलता, बिना पुत्र के कुल सुखकारक नही होता, बिना बुद्धि के शास्त्र का विचार नहीं होता, पर स्त्री के संग से जैसे शील की रक्षा नही होती, गुरु की आज्ञा भग करने से जैसे ज्ञान रक्षित नही रहता, बिना राजा के सेना नही बढ़ती, बिना सत्य के व्यवहार नही चलता, बिना स्त्री के गृहस्थ धर्म नही पलता, जिस प्रकार अविवेक युक्त होने पर संयम का पालन नही होता उसी प्रकार वाहनगण भी कही चलने को समर्थ नही हुए। (६,१३-१४)

विणु देहिं जिम धम्मु सुहासिउ   विणु मंति जिम रज्जु पउत्तउ।
विणु वेरग्गें जिम तउ चित्तउ   विणु पुत्तें जिम कुलु सुहयारउ।
(विनोक्ति)

यहाँ धर्म आदि के बिना शरीर आदि की शोभाहीनता कही गयी है।

इय णिसुणिवि पुणु दूउं वुत्तउ   देव म वोल्लहि वयणु अजुत्तउ।
किं पंचाणणु गएण हणिज्जइ   किं कम्मे जिणवर वसि किज्जइ।
(काव्यलिङ्ग)

अर्थात् यह सुन कर दूत बोला कि हे देव, ऐसे अनुचित वचन आप मत बोलिए। क्या हाथी सिह को पछाड सकता है? क्या कर्मो से जिनवर को वश किया जा सकता है? यहाँ पर वाक्यार्थमूलक काव्यलिंग है।

इन के अतिरिक्त अर्थान्तरन्यास, अनुमान, उपमा, रूपक तथा उत्प्रेक्षा आदि मुख्य अलंकारों का प्रयोग हुआ है। रचना मे उत्प्रेक्षा की तो प्रचुरता ही दिखाई देती है। कई नयी-नयी तथा सटीक उत्प्रेक्षाओ का प्रयोग कवि ने किया है। बात-बात मे उत्प्रेक्षा कवि की कल्पना को उभारती लक्षित होती है। जैसे कि—

त सुणेवि सिरिपालु अभउ लहु।
चडिउ वंससिरि दिसउ णिहालइ   ण कम्में रोविउ विग्घालइ। (६,२०)

अर्थात् धवलसेठ की बातो को सुन कर दिशाओं को देखता हुआ श्रीपाल उस बाँस के सिरे पर चढ़ गया मानो कर्मो ने ही विघ्नो के घर पर चढ़ा दिया हो। ऐसे उदाहरणों से रचना भरी पड़ी है। इस से की कवि लोकप्रवृत्ति तथा कल्पना की उन्मुक्तता का पता लगता है। अपभ्रंश के सभी कथाकाव्यो मे कल्पना की नित नूतनता और उपमानों का नया प्रयोग दिखलाई पड़ता है। यद्यपि कहीं-कही पुरानी लीक का ही अनुसरण दृष्टिगोचर होता है, पर कवि की मौलिकता की छाप भी भलीभाँति दृष्टिगत होती है।

छन्द-विधान

अपभ्रंश के प्रबन्ध काव्यों की भाँति आलोच्यमान कथाकाव्य में पद्धड़िया छन्द का विशेष रूप से प्रयोग हुआ है। समग्र ग्रन्थ पद्धड़ियाबन्ध है। इस छन्द के प्रत्येक चरण में सोलह मात्राएँ होती हैं। अपभ्रंश में इस का बहुत प्रयोग देखा जाता है। संस्कृत कविता बहुत कम पद्धड़िया या पज्झटिका अथवा पद्धति छन्द में लिखी गयी। आ० हेमचन्द्र के अनुसार इस छन्द मे पाद के अन्त में अनुप्रास का होना आवश्यक है[1]। इस के कई भेद कहे गये हैं। आ० स्वयम्भू ने भी उल्लेख किया है कि पद्धड़िया सोलह मात्राओं का छन्द होता है। यथा—

सुरसुंदरी णामा पढम उत्त सिवधम्मलीण अविवेइ जुत्त।
णिय जणणिहु सत्थें कुगुरुदेउ आराहिउ णिरु संसारहेउ। (१,११)

यहाँ चारो चरणो मे सोलह-सोलह मात्राएँ तथा पाद के अन्त मे अनुप्रास है। अन्य छन्दों मे चारु, मदनावतार, दोहा, गाथा, पद्मावती, मौक्तिकदाम्नी आदि मात्रिक वृत्तो का प्रयोग हुआ है। चारु छन्द मे प्रत्येक चरण मे दस मात्राएँ होती है[2]। उदाहरण है—

सोहग्गसुंदरी, णामे गुणऽभरी। (१,१०)

यह सम द्विपदी वृत्त है। पाँचवी मात्रा पर यति है। इस का दूसरा नाम ललतक भी है। पद्मावती समचतुष्पदी छन्द है। इस के प्रत्येक चरण मे बत्तीस मात्राएँ होती है। इस का उदाहरण है—

तं जिणवरमंदिरु णयणाणंदिरु दिठउ तें झंपियउ णिरु।
हा हा कि कारणु कुणइ णिवारणु जिणहरवारु जि दिण्णु थिरु। (६,३)

मौक्तिकदाम्नी समद्विपदी छन्द है। इस के प्रत्येक पद में बत्तीस मात्राएँ होती है। यह स्कन्धक के समान कहा गया है[3]। उदाहरण है—

हा पोहणचालण तक्करपालण उग्घाडण जिणमंदिरहो।
भो महु मणरंजणु अरियणभंजण सज्जण णयणाणंदिरहो। (६,२२)

इस प्रकार प्रस्तुत काव्य मे अधिकतर मात्रिकवृत्तों का ही प्रयोग मिलता है। पद्धड़िया तो संस्कृत में अपभ्रंश से गया हुआ प्रतीत होता है। क्योंकि पदान्तानुप्रास

१. चगणचतुष्टय पादान्तेऽनुप्रासे सति पद्धति। अपभ्रंशे चास्या भूयसा प्रयोग।
—छन्दोऽनुशासन, ६,७३।

२. पौ चारु। द्वौ पंचमात्री चारु। छन्दोऽनुशासन, ७,७१।

३ षण्मात्रश्चतुर्मात्रिषट्कं द्विमात्रश्चेत्येभिमात्रागणैः कृतेष्वेषु स्कन्धकसामादिषु त्रिषु स्त्रीत्वं स्त्रीलिंग शब्दाभिधेयत्वम्। स्कन्धकसमा, मौक्तिकदाम्नी, नवकदलीपभा चेत्यर्थः। यति सैव। वही, ७, २१।

तथा पद्धड़ियाबन्ध की रचना अपभ्रंश काव्यों की मुख्य प्रवृत्ति रही है। अधिकांश अपभ्रंश के प्रबन्ध काव्य पद्धड़िया शैली में लिखे हुए मिलते है। पं० रइधू का यह काव्य भी इसी शैली का है। वस्तुत. अपभ्रंश काव्यों को शैली तथा अलंकारों का विधान छन्द-योजना के अन्तर्गत हुआ जान पड़ता है। अन्त्यानुप्रास तथा यमक और पद्धड़िया-कडवक बन्ध को रचना से यह स्पष्ट हो जाता है। यथार्थ में अपभ्रंश की कविता में छन्दो का विशेष महत्त्व है। भावो के अनुसार, ताल और लय से समन्वित कई देशी छन्द भी इस में मिलते है, जिन का नाम तथा लक्षण ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता।

भाषा तथा शैली

श्रीपालकथा की भाषा सरल तथा चलती हुई है। तत्कालीन लोक भाषा का प्रभाव इस रचना पर लक्षित होता है। वाक्य-रचना और नाम-रूपों को देखने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भाषा साहित्य से प्रभावापन्न होने पर भी लोक के निकट है। उदाहरण के लिए—णियहत्थें छोडिय गुणालें, तं सुणेवि ते चोर णिकिठा, सिरिपालहु पुणु सरणि पइठा, आदि वाक्यो मे लोक बोली की झलक मिलती है। रचना में छुट्टइ, ढोइयउ, छूटो, छुट्टइ, फुट्टइ, दोसिया, चोसिया, चडइ, चडाविया, छंडिउ, उठयउ, पुज्जियउ, आय, गय आदि क्रियाएँ लोक भाषा से मिलती-जुलती हैं। इसी प्रकार कोढिउ, छप्पयरवाला, डुल्लिय, भुल्लिय, मेल्लिय, पलोट्टइ (लोटना), खीर, अंसू, एकल्लउ, झलझलिय, फिरि, फिरि फिरि, को, जो, सो, कोइ, जहि, छिप्पइ आदि शब्द-रूपो पर देशीपन स्पष्ट झलकता है। अतएव अनुकरणात्मक शब्द भी रचना में विरल नही है। संक्षेप मे, आलोच्यमान काव्य की भाषा सरल अपभ्रंश है, जिस मे कही-कहीं लोक बोली का प्रभाव लक्षित होता है। वैसे भाषा न तो साहित्यिक ही है और न बोलचाल की। भ० क० की भाँति यह बीच की भाषा भी नही है। चलती से यही अभिप्राय है कि सीधी-सादी अपभ्रंश मे यह रचना लिखी गयी है। शब्द-रूपों मे सरलता तथा वाक्य-रचना स्वच्छ है। ग्रन्थ की श्लोकसंख्या लगभग दो हजार है। इस दृष्टि से यह आकार में बड़ी रचना नही है, पर वर्ण्य विषय से काव्य की समग्रता का आभास मिल जाता है। यह काव्य अपभ्रंश प्रबन्ध काव्य की प्रसिद्ध पद्धड़िया शैली में लिखा गया है। रचना दस सन्धियो में तथा कडवकों मे निबद्ध है। कडवक पद्धड़ियाबद्ध है। साधारणतः एक कडवक मे दस पंक्तियाँ और एक घत्ता है। घत्ता के आरम्भ में और अन्त में भी कही-कही दोहा मिलता है। किसी-किसी कड़वक का आरम्भ ही दोहे से होता है। पं० रयधू की शैली प्रसाद गुण से युक्त प्रवाहपूर्ण है। अपभ्रंश के कवियों में उन का अपना अलग व्यक्तित्व है, जो स्पष्टता और सरलता लिये हुए है। कठिन से कठिन विषय को सरलता से कहने का गुण कवि का वैशिष्ट्य है। वस्तुतः प्रसाद गुण तथा वैदर्भी रीति के कारण रचना प्रभावपूर्ण बन पड़ी है।

सिद्धचक्ककहा

कवि का परिचय

कवि के सम्बन्ध में अभी तक निश्चित रूप से कुछ भी ज्ञात नहीं हो सका है। स्वयं कवि के लिखे अनुसार नरसेन रचित सिद्धचक्ककहा का प्रमाण मिलता है।[1] *जिनरत्नकोश* में इस अपभ्रंश रचना के लेखक *नरदेव* और *नरसेन* को *अलग-अलग* कहा गया है, किन्तु वे दोनों एक ही हैं। लेखक का शुद्ध नाम नरदेव न हो कर नरसेन है। अलग से नरदेव की सिद्धचक्र या श्रीपालकथा नामक कोई रचना अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है। अतएव हमारी समझ मे दोनों लेखक एक ही हैं। रचना से तथा चोबीसी वन्दना से स्पष्ट है कि लेखक जैन था। इस रचना मे वर्णित सिद्धचक्रव्रत की विधि दिगम्बर सम्प्रदाय से अनुमोदित है। सम्भवतः लेखक उत्तरप्रदेश के किसी स्थान का रहा होगा। कथा की भाषा से इतना ही अनुमान लगाया जा सकता है।

समय

इस कथाकाव्य की सब से प्राचीन प्रति वि० सं० १५१२ की मिलती है, जो जयपुर के आमेर शास्त्र भण्डार में उपलब्ध है। इस से पता चलता है कि कम से कम सौ-डेढ सौ वर्ष पूर्व ही यह रचना लिखी जा चुकी होगी। अनुमानतः कवि का समय चौदहवी शताब्दी कहा जा सकता है। पं० रयधू और नरसेन की श्रीपाल-कथा के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत रचना रयधू के पूर्व की लिखी हुई है।

गुर्जर देश के कवि धनपाल द्वितीय ने "बाहुबलिचरित" मे नरदेव का उल्लेख किया है। यथा—

णवयारणेहु णरदेव वुत्तु कइ असग विहिउ वरहो चरित्तु।

बाहुबलिचरित पन्द्रहवी शताब्दी (वि० सं० १४५४) की रचना है। अतएव नरदेव का समय चौदहवी शताब्दी के बाद का नही हो सकता। कवि के नरसेनदेव, नहसेन, नरदेव आदि नाम लिखे हुए मिलते है।

रचनाएँ

अभी तक कवि की लिखी हुई तीन रचनाओं का पता लगा है जो इस प्रकार हैं—सिद्धचक्रकथा, वर्द्धमानकथा और जिनरात्रिविधानकथा।

---

१. सिद्धचक्कविहि रइय मइं णरसेणु भणइ निय सत्तिए।
भवियण जण आणंदयरे करिवि जिणेसर भत्तिए॥ २, ३६।

कथावस्तु

उज्जैन नगरी मे राजा पयपालु (प्रजापाल) राज्य करता था। उस की रानी का नाम सुरसुन्दरी था। राजा की बडी कन्या सुरसुन्दरी और छोटी मैनासुन्दरी थी। छोटी कन्या पढने में तेज और सुन्दर थी। एक बार पढ़-लिख लेने पर राजा ने बड़ी कन्या से वर माँगने को कहा। उस ने कौशाम्बी के राजकुमार सिंहरथ को वर लिया। जब छोटी कन्या ने मुनिवर समाधिगुप्त के पास सकल शास्त्रों को पढ़ लिया तब राजा ने उसे अपने निकट बुला कर वर माँगने को कहा। पहले तो वह चुप रही, फिर काँपते मन से बोली कि जिसे आप उचित समझें उस से विवाह कर दें। कन्या तो माँ-बाप पर निर्भर रहती है। फिर, जो कर्म मे लिखा होगा उसे कौन मेट सकता है। राजा उस की इन बातो से क्रुद्ध हो जाता है। क्रोध में भर कर राजा जैसे ही नगर के बाहर पहुँचता है उसे कोढ़ी राजा आता हुआ दिखाई देता है। राजा उसे मैना-सुन्दरी के योग्य समझ कर मन्त्रियो को आदेश दे देता है। दोनों का विवाह हो जाता है। किन्तु विवाह हो जाने पर राजा को पश्चात्ताप होता है। उज्जैन नगरी में पाँच सौ मन्दिर थे। श्रीपाल के साथ के कोढी वही रहने लगे। इसी समय सीमासन्धि का युद्ध आ पडा। मरहठा और सोरठ देश के युवराज सेना ले कर आ पहुँचे। किन्तु राजा उन्हे अंग देश तक खदेड़ कर ले गया, जहाँ चम्पा देश के राजा अरिदमन शासन कर रहे थे। राजा वाड़ीवाहन के कुल मे उत्पन्न अरिदमन की रानी कुन्दप्रभा श्रीपाल की माता थी। माता को आया हुआ देख कर श्रीपाल ने विनय का पालन किया। एक दिन मैनासुन्दरी अपने गुरु एवं मुनिवर समाधिगुप्त से कुष्ठव्याधि दूर करने के लिए सिद्धचक्र व्रत ग्रहण करती है। इस विधान की पूजा तथा व्रत से श्रीपाल का कुष्ठ दूर हो जाता है। अन्य कोढी भी गन्धोदक लगाने से अच्छे हो जाते हैं। लोगो को यह कहते सुन कर कि यह राजा का जमाई है, श्रीपाल मन ही मन दुखी होता है और बारह बरस के लिए विदेश-यात्रा के लिए निश्चय कर लेता है। श्रीपाल की माता तो तैयार हो जाती है, पर पत्नी उसे नही जाने देती। अन्त मे माता का उपदेश ग्रहण कर श्रीपाल सात सौ अंगरक्षकों के साथ वहाँ से चल पड़ता हे। कई देशो तथा नगरो मे विहार करता हुआ वह वत्स देश में पहुँचता है। वहाँ श्रीपाल को पकड कर समुद्र तट पर ले जाते है और बलि देने के लिए चन्दन से चर्चित कर उस की पूजा करते है। श्रीपाल धवल सेठ के पाँच सौ जहाजो को स्थिर देख कर कहता है कि तुम्हारे दस हजार वीर हैं इसलिए यदि इतने ही सिक्के दो तो मैं इन्हे चला सकता हूँ। सेठ तैयार हो जाता है। जहाज चल पड़ते है।

श्रीपाल उन सब के साथ यात्रा करता है। वे सब रत्नद्वीप पहुँचते है। हवा के जोर से जहाज उलटे चलते है, जहाँ एक लाख चोरों का दल धावा मारता है। धवल सेठ बाँध लिया जाता है। दोनों ओर की सेनाओ में युद्ध होता है। अन्त में श्रीपाल के पास सेवक दौड़ा आता है। वह सेठ को छुड़ाता है। वहाँ से माणिक-रत्नों

को ले कर वे सिंहद्वीप में पहुँचते हैं। उस समय वहाँ का राजा कनककेतु विद्याधर था। उस की रानी का नाम कनकमाला था। उस के तीन कन्याएँ थीं। सब से छोटी का नाम रत्नमंजूषा था। एक बार मुनिराज ने बताया कि जो सहस्रकूट चैत्यालय के फाटक खोल देगा वही इस कन्या का पति होगा। श्रीपाल वहाँ दर्शन के लिए जाता है और उन के देखते ही किवाड़ खुल जाते हैं। राजा समाचार पा कर अपनी पुत्री श्रीपाल को परणा देता है। कुछ दिन वहाँ रहने के बाद श्रीपाल साथियों के साथ जहाज में बैठ कर स्वदेश के लिए चल पड़ता है। धवल सेठ रत्नमंजूषा के लावण्य को देख कर काम से पीडित हो जाता है। वह मन्त्रियों से मन्त्रणा कर उन्हें राय देता है कि मैं तुम्हें लाख दाम देता हूँ तुम उछलते हुए मच्छों की घोषणा कर किसी प्रकार श्रीपाल को बाँस पर चढा दो और रस्सी काट दो, जिस से वह पानी में गिर पडे। लोग हल्ला मचाते हैं कि मच्छ आया और श्रीपाल जैसे ही उसे देखने को ऊपर चढता है, नीचे से रस्सी काट दी जाती है। रत्नमंजूषा विलाप करती है। उसे मन ही मन बड़ा पश्चात्ताप होता है कि बाप ने परदेश मे मुझे क्यों ब्याह दिया। सेठ उस के पास दूती भेजता है। वह दुतकार देती है। तब स्वयं सेठ हाथ जोड़ कर उस के पैरों पर गिर कर मनाता है। वह उसे भी फटकारती है। देवता का स्मरण करती है। मान-भद्र यक्ष और चक्रेश्वरी, अम्बिका, पद्मावती, रोहिणी और ज्वालामालिनी आदि देवियाँ आ कर सेठ का मुँह लहूलुहान कर अन्धा कर देती हैं और दोनों हाथो को पीछे बाँध देती हैं। तब रत्नमंजूषा मना कर उसे छुडाती है।

श्रीपाल तैरता हुआ दलवट्टण (दलपट्टन) नाम के नगर में पहुँचता है। वहाँ का राजा धनपाल अपनी रानी वनमाला से उत्पन्न गुणमाला को मुनि के वचनों के अनुसार श्रीपाल को परणा देता है। वह राजा के साथ वहीं राज्य करता है। इतने में संयोग से धवलसेठ के जहाज भी वही आ लगते हैं। सेठ राजसभा में भेंट ले कर जाता है। वहाँ श्रीपाल को देख कर लाख दाम मे डोमों को तैयार करता है। वे इन्द्रजाल दिखा कर श्रीपाल को अपना पुत्र घोषित करते है। राजा श्रीपाल को वध करने की आज्ञा देता है। श्रीपाल गुणमाला को रत्नमंजूषा के पास भेजता है। रत्नमंजूषा राजा को सब वृत्तान्त सुनाती है। राजा श्रीपाल से क्षमा माँगता है। राजा सेठ को मारने की आज्ञा देता है। किन्तु श्रीपाल उसे धर्मपिता कह कर बचा लेता है। उस का स्वागत किया जाता है। सेठ अपने कर्मों से पर-स्त्री लम्पट होने से अन्त मे मर कर नरक गति को प्राप्त करता है।

गुणमाला और रत्नमंजूषा के साथ श्रीपाल सुखोपभोग करते हैं। एक दिन एक वणिग्वर वहाँ आता है। कुण्डलपुर मे स्थित राजा मकरकेतु और रानी कपूर-तिलक की पुत्री चित्रलेखा के रूप तथा गुण के सम्बन्ध में विस्तार से बताता है। श्रीपाल उस की बातों से प्रभावित हो कर दूसरे ही दिन कुण्डलपुर के लिए चल पडता है। वह नाच-गान के साथ बाजा बजाने मे जगरेखा, सुरेखा, गुणरेखा, मनरेखा, रम्भा,

भोगमती और रतिरेखा को विजित कर चित्रलेखा के साथ सब का पाणिग्रहण करता है। कुछ समय बाद वहाँ एक व्यक्ति पहुँचता है, जो श्रीपाल को कंचनपुर के राजा वज्रसेन और रानी कंचनमाला की कन्या विलासमती के सम्बन्ध में बहुत कुछ बताता है। श्रीपाल वहाँ जाता है। कन्या विलासमती के साथ उस का पाणिग्रहण संस्कार होता है। कुछ दिन वहाँ राज्य करने के बाद श्रीपाल वहाँ से प्रस्थान करता है। वह ठाणा कोकण द्वीप में पहुँचता है। वहाँ का राजा विजय अत्यन्त प्रसिद्ध था। उस की अत्यन्त सुन्दर चौरासी रानियाँ थी। यशमाला पटरानी थी। उस राजा की सोलह सौ विदग्ध कन्याएँ थी। उन कन्याओं मे गोरी सब से बड़ी थी। उन सब को समस्या-पूर्ति मे जीत कर श्रीपाल परणा लेता है। उन सभी पत्नियो को ले कर श्रीपाल उज्जैनी के लिए चल पड़ता है। मार्ग मे सात सौ कुमारियाँ मल्लिवाड की, हजार तैलंग की, पाँच सौ सोरठ की, पाँच सौ महाराष्ट्र की और सवा लाख गुजरात की तथा चार सौ मेवाड़ की परणा लेता है। छियानवे कन्याएँ वह समर, पुलिंद, भील, खस और बब्बर की लेता है। इस प्रकार श्रीपाल दल-बल के साथ उज्जैन नगरी मे बारह बरसों के बाद लौट कर पहुँचता है।

सेना को वह कटक मे छोड़ कर अकेला घर पहुँचता है। मैनासुन्दरी सास से दीक्षा-ग्रहण करने की चर्चा करती है। श्रीपाल उस की बातो को सुन कर झट से द्वार खोल कर भीतर प्रवेश करते हैं। फिर, श्रीपाल सभी पत्नियो को बुलवाता है। वे सास तथा मैनासुन्दरी के पैरो पर पड़ती है। श्रीपाल की सेना चारो ओर से नगरी घेर लेती है। राजा पयपालु के पास दूत जाता है। राजा कम्बल पहन कर कुल्हाड़ी ले कर भेंट करने जाता है। श्रीपाल सम्मान करता है। फिर, कुछ दिनों के बाद श्रीपाल चम्पानगरी के लिए प्रस्थान करता है। काका वीरदमण से उस का युद्ध होता है। श्रीपाल राजा बनता है। वीरदमण मुनि बन जाता है। बहुत समय तक राज्य करने के उपरान्त श्रीपाल भी मुनि-दीक्षा ग्रहण करता है और घोर तपस्या कर निर्वाण-लाभ करता है।

प्रबन्ध-रचना

यद्यपि पं० नरसेन की सि० क० दो सन्धियों की रचना है, किन्तु बन्ध की दृष्टि से यह लघुकाय प्रबन्ध काव्य है। वर्ण्य विषय पं० रयधू की सि० क० के तुल्य हैं। वर्णन अवश्य कम और संक्षिप्त हैं, पर लगभग सभी मुख्य वर्णनीय बातों का समावेश हुआ है। वस्तुतः श्रीपालकथा विषयक दोनों रचनाएँ पौराणिक निबन्ध मे अनुस्यूत हैं, जिन मे साहित्यिक रूढ़ियों का समावेश कम, पर पौराणिक बातों का उल्लेख विशेष है। उदाहरण के लिए अपभ्रंश के प्रबन्ध काव्यों में मिलने वाली काव्य-रूढ़ियों में से मंगलाचरण और आत्मोल्लेख के अतिरिक्त अन्य बातें इस काव्य में नही मिलती। किन्तु विपुलाचल पर स्थित महावीर स्वामी के समवशरण में राजा श्रेणिक का वन्दना

करने के लिए जाना और यथास्थान बैठ कर इस कथा को तथा माहात्म्य को सुनने का विवरण दोनों मे समान है।

घटनाओं के संक्षिप्त विवरण तथा नाटकीय सन्धियों की योजना में कवि ने विशेष प्रबन्धपटुता का परिचय न देकर स्वाभाविकता को अभिव्यक्त किया है। इस लिए घटनाएँ सहज रूप मे गतिशील लक्षित होती हैं। उन मे कवि ने अपनी प्रतिभा का उपयोग न दर्शा कर एक आख्यान को ही प्रबन्ध का रूप देने का यत्न किया है। अतएव घटनाओं मे कार्य-कारण योजना तथा शृंखला रूप में कई छोटे-छोटे वृत्त जुड़े हुए मिलते हैं। आधिकारिक कथा में पूर्ण प्रवाह और गतिशीलता है। किसी प्रकार का गत्यवरोध उस मे नही मिलता। प्रासंगिक कथाएँ तो नही, पर घटनाओं तथा वृत्तो की योजना अवश्य हुई है, जो मुख्य कथा के प्रेरक हैं। स्पष्ट ही पताका नायक और पताका कथाओं की संयोजना इस काव्य में नहीं है। आदि से अन्त तक नायिका और नायक कथा के केन्द्रबिन्दु है और विभिन्न घटनाएँ उन के जीवन की आशा-निराशाओं से संवलित एव प्रभावोत्पादक दिखलाई पड़ती हैं।

इस प्रकार वस्तु एवं विषय की रचना मे यह कथाकाव्य साधारण रूप से निरवद्य कहा जा सकता है। कवि यदि चाहता तो इस कथा को और भी अच्छा रूप दे सकता था, पर अपने आप मे यह इतनी स्वाभाविक और प्रभावोत्पादक है कि इस के अन्य रूप पर सहसा ध्यान आकर्षित नही होता।

संक्षेप मे, वस्तु, विषय और संघटना की दृष्टि से अल्पकाय होने पर भी यह प्रबन्ध की कोटि की रचना है, जिसे एकार्थक काव्य कहा जा सकता है।[1]

वस्तु-वर्णन

आलोच्यमान काव्य मे कथा उद्देश्य विशेष से नियोजित है। कवि ने इसे सिद्धचक्र कथा कहा है।[2] इस में सिद्धचक्र के माहात्म्य एवं फल का वर्णन है।[3] चौबीसी वन्दना के अनन्तर विपुलाचल पर महावीर स्वामी का आगमन तथा राजा श्रेणिक का वन्दना के लिए जाने का वर्णन है। यथास्थान बैठने के बाद गौतम गणधर से राजा श्रेणिक सिद्धचक्र का फल पूछते है और उन्हे यह कथा सुनाई जाती है। वस्तु-वर्णन मे सब से पहले उज्जैनी नगरी का वर्णन है। कवि उस की शोभा का तथा सुख-समृद्धि का वर्णन करता हुआ कहता है कि वह ऐसी जान पड़ती है मानो अमरावती ही खिसक कर धरती पर आ पड़ी हो।

उज्जेणि णयरि तहिं पयडि थिय कणयरयण कोडिहिं जडिय।
वलिवंडघरंतहं सुरवरहं अमरावइ णं खसि पडिय ॥१,४॥

---

१ भाषाविभाषानियमात्काव्यं सर्गसमुज्झितम्।
एकार्थप्रवणै· पद्यै· सन्धिसामग्र्यवर्जितम् ॥ सा० द०, ६,३२८।

२. सा भगवइ मह्नु होउ पसण्णी सिद्धचक्ककह कह उरवण्णी ।१,१।

३. पुच्छइ सेणिउ वीर जिणेसर सिद्धचक्कफलु कहि परमेसर ।१,२।

फिर, कोढ़ियों के दल का वर्णन है। किस प्रकार से अपने राजा पर चमर डुलाते हुए, घण्टा और सिंगीनाद करते हुए गलित नासा करचरणांगुलि वाले कोढ़ी चले आ रहे थे—इसका स्वाभाविक वर्णन हुआ है। अनन्तर विवाह का अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन है।

विवाह-वर्णन

उस समय का दृश्य बड़ा विचित्र जान पड़ता है जब अन्तःपुर की स्त्रियाँ कोढ़ी राजा को देख कर रो पड़ती हैं। इधर मांगलिक गीत गाये जाते है, बाजे बजते हैं और उधर माता तथा बहिन आदि रोती है।

वज्जइ मंदलु गिज्जइ मंगलु णारीयणु जण करहि अमंगलु।
माय बहिणि रोवंति णिवारइ विहिण विहियउ को किरवारइ।१,१४।

मैनासुन्दरी उन्हें समझाती है। लोग भी अमंगल का निवारण करते है।

शान्ति के लिए ब्राह्मण वेद-पाठ करते हैं। हवन किया जाता है। श्रीपाल के सिर पर मुकुट बांधा जाता है। मानो एक छत्र राज्य ही बाँध दिया गया है। मैना-सुन्दरी का भी शृंगार किया जाता है। उत्सव के साथ विवाह होता है।

बंभण वेय पढतहं संतहं अइ हव मंगल चारु करंतहं।
सिरि सिरिपालहु मउडु णिबद्धउ एयछत्तु ण रज्जु णिबद्धउ।
करकंकणु उरयलि हारावलि करइ रज्जु जिम सयर धरायलि।
मुद्धी वीसंगुलि दिण्णिय तहु जिम विलसइ पुहविय समुद्दलहु।
सिद्धचक्कफल पुण्ण पहावें परिणिय कण्णारयणच्छावें।१,१४।

यात्रा-वर्णन

श्रीपाल के यात्रा करने के पूर्व माता उपदेश देती है। फिर, मांगलिक क्रियाओं से पुत्र की अर्चना करती है, आरती उतारती है। सात सौ अंगरक्षको के साथ चतुरंगी सेना ले कर श्रीपाल यात्रा करता है। अनेक देशों, नगरो में विहार करता हुआ, बड़े-बड़े सरोवर, नदी-घाट, पर्वत लाँघता हुआ वह वत्स नगर में पहुँचता है।

माय घरिणि विण्णिवि संबोहिवि अंगरक्ख सयसत्त विबोहिवि।
साहसकोडिभडहं आसघिवि गउ पायार सत्त नह लंघिवि।
णाणा देस णयर विहरंतउ सरि सरवर पव्वय लंघंतउ।
गउ भडु वच्छणयरु वेसनलउ धवलु सेट्ठि जहिं अवगुणमालउ।१,२४।

समुद्र-यात्रा का वर्णन

श्रीपाल धवलसेठ के साथ समुद्र के किनारे जाता है। वह पाँच सौ जहाजो को चला देता है। बाजे बजाये जाते है। जलदेवता का पूजन करते हैं। तुरन्त

ही वे जहाज धरती छोड़ कर ऐसे चलने लगते हैं मानो आकाश के धुल जाने पर सूर्य-चन्द्र का तेज सहन करते हुए उडुगण चल रहे हों। सभी लोग मुद्गर निकाल कर संचार करते हैं। जहाज के बीचों बीच बाँस गाड़ते है। माथे पर लोहे की टोपरी लगाते हैं, जिससे वन्य पक्षी माथा न नोंच सकें। आनन्द से भरे हुए वणिक् लोग चले जा रहे हैं। समुद्र मे जल की किलोलों से तरंगें छूट रही हैं। हवा के बहाव में पोत बहते जा रहे हैं। इतने में ही लाख चोर उन के जहाज की ओर दौड़े आते हैं।

पंचसयइं जलजाणइ रयण समाणइं सायर मज्झि तरंति किह।
णं णहयलि धुलियइं उडुगण चलियइं ससिरवि तेउ सहंति जिह।
मुग्गर कड्ढेविणु संचारिय वावस पडिवाई ओसारिय।
मज्झु वंसु रोपिउ उक्किट्ठउ तहिं चडेवि मर जियावइट्ठउ।
लोह टोपरी मत्थे अच्छइं णत भेरंड बिडउ गलगच्छइ।
गहगहाइ चालहिं वाणिज्जहिं रयणदीव उप्परहिं मणोज्जहि।
चलिउ सत्थु सहु जाणा रूढउ जलकल्लोलतरंगह छूटउ।
वायूवसेण चललंति परोहण लक्खु चोर तहिं धाया मोहण।१,२६।

इन वर्णनो को पढ़ने से लगता है कि कवि ने इतिवृत्त को घटनाओं के साथ प्रसाद एवं मधुर शैली मे इस ढग से ढाल दिया है कि पढ़ते ही स्फूर्ति उत्पन्न हो जाती है। अतएव इतिवृत्त प्रधान होने पर भी वर्णन सरस तथा सजीव हैं। घटनाओ के बीच वातावरण उत्पन्न करने मे लेखक अत्यन्त कुशल जान पड़ता है। विवरण और वर्णन का अद्भुत मेल इस रचना की पहली विशेषता है।

युद्ध-वर्णन

युद्ध-वर्णन अत्यन्त सजीव तथा प्रेरक है। पढते ही हृदय उछलने लगता है। यह वर्णन मुख्य रूप से दो स्थलों पर लक्षित होता है। पहला स्थल वह है जहाँ चोरों में और धवलसेठ के सैनिकों मे युद्ध होता है और दूसरे मे श्रीपाल तथा वीरदमण का युद्ध वर्णित है। चोर लोग जहाज पर धावा बोल कर धवलसेठ को बन्दी बना लेते है। निम्नलिखित पंक्तियो मे उसी का वर्णन है। दोनो ओर से डट कर युद्ध होता है। वर्णन सरल तथा प्रसाद गुण से युक्त है इस लिए ज्यों का त्यों उद्धृत है।

एक्कमेक्क जुज्झंति परोप्पर हक्क दिंति मारंतिय मतु मतु।
धवलु सेट्ठि संगरि सण्णद्धउ दह सहसहि पायक्कहिं सुद्धउ।
धाणुक्किय चालिय अगवाणिय तीरी तोमर सर संधाणिय।
बंधिय अंगरक्खि सण्णाहइं टाटर सीसि देवि उण्णाहइं।
असिवर छुरिय फरिय चालंतइं धाइय मुग्गर कुंत गुणंतइं।
पुण मरहट्ठ पजाण उट्ठंतहं सव्वलसेलह यहं फक्खंतहं।
धाइय सुहड सहारि सुछल्लहं .... (१,२६)

इसी प्रकार संग्राम के लिए हर्षोल्लास से भरे हुए सैनिकों की यात्रा का अत्यन्त सजीव एवं चित्रात्मक वर्णन हुआ है। पढ़ते ही रोमांच हो जाता है।

युद्ध-यात्रा का वर्णन

श्रीपाल के कहते ही लेहु, लेहु कहते हुए चतुरंगी सेना सज कर तैयार हो गयी। चारों ओर सेना ही सेना दिखाई देने लगी। युद्ध के बाजे बजने लगे। मलकते हुए, नाचते हुए वीर चलने लगे। कवि के शब्दों में—

लेहु लेहु पभणंतु पधायउ चाउरंगु वलु कहिमि ण मायउ।
णिग्गय धाणुक्किय किविमहंत धणुगुणहं वाण सज्जंत संत।
संगाम तूर काहलिय सद्द तिविलिय गुंजा काहलिय सद्द।
डव डिंडिम डिम तुरु तुरु रसंति सुणि वीर सद्द रणमुह सवंति।
कस घायह ताडिवि वर तुरंग असवारहि णिज्जिय वरतुरंग।
मल्हंतउ गय घड पेरियाउ करडह सद्दें णच्चंति याउ।
बहु छत्त विंधणहु छाइयाउ तहिं उभय वलइं रणि आइयाउ। (२,२२)

इसी प्रकार से संग्राम का भी शब्द-चित्र वर्णित है। भाषा भावों के पीछे यहाँ दौड़ती-सी दिखाई देती है। भाव और भाषा दोनों ही प्रवाहपूर्ण तथा वर्णन की कला से अनुप्रेरित है। देखिए दो ही पंक्तियों में कवि ने संग्राम का एक छोटा, पर सुन्दर चित्र अभिव्यक्त कर दिया है—

पहंति परोप्पर सुहडमल्ल तीरी तोमर वावल्लमल्ल।
फारक्क भिडिय फारक्क एहिं धाणुक्किय सिहु धाणुक्कि एहिं। (२,२२)

इस प्रकार वस्तुवर्णन विषय तथा भावों के अनुरूप है, जिस में कवि को पूर्ण सफलता मिली है।

भाव-व्यंजना

यद्यपि प्रस्तुत रचना में मार्मिक स्थलों की कमी है, पर भावों की गम्भीर अभिव्यंजना तथा संवेदनीय मार्मिक चित्रण मिलता ही है। राजा कोढ़ी श्रीपाल को आवेश में आ कर मैनासुन्दरी परणाते तो परणा देता है, पर बाद में उस के मन में बड़ा पश्चात्ताप होता है। वह अपनी मूर्खता पर और पुत्री के जीवन पर बार-बार पछताता है। वह अपनी निन्दा करता हुआ कहता है कि मैं नष्टबुद्धि क्रोधित हो कर क्या अनर्थ कर बैठा। कुमारी की रूपश्री को देख कर वह अपने आप को धिक्कारने लगा। राजा कहता है कि जिसने मुझे अमृतफल दिया उसे ही मैंने विषफल दिया। मैं ने रावण की भाँति ही अपयश प्राप्त किया है। इतना मेरा यश है, पर इसे सुन कर मुनिराज ने भी मेरी निन्दा की। इस प्रकार राजा मन में पछताता है, और कहता है कि मुझ निरे गँवार ने अपनी ही मूर्खता से कन्या को मार डाला। अन्त में वह यह कह

कर सन्तोष कर लेता है कि अथवा मेरा इस में क्या दोष है ? शुभाशुभ कर्मों के परिणमन से ही प्राणी को सुख-दुःख प्राप्त होता है। (१,१५)

इसी प्रकार राजा धनपाल को जब धवलसेठ के छल का पता लगता है तब वह कुमार से क्षमा माँगता है। श्रीपाल भी कहता है कि आपका कोई दोष नहीं है। यह तो सब अर्जित कर्मों का फल है। राजा धनपाल उस के पैरों पर गिर पड़ता है और कहता है कि हे कुमार ! क्षमा करो, विषाद मत करो। हाथ पकड़ कर वह श्रीपाल को गजेन्द्र पर चढ़ाता है। मंगलवाद्य बजते है। नगर में उत्सव मनाया जाता है। गुणमाला प्रसन्न हो जाती है। कवि उस की प्रसन्नता का वर्णन करता हुआ कहता है कि मानो अन्धे को दो आँखें मिल गयी हों, बहरे को सुनाई देने लगा हो और वन्ध्या को पुत्र मिल गया हो (१,५२)। रत्नमंजूषा पति से भेंट कर केशो से उन के पैरो को झाड़ती है। उन के आगे बार-बार लोटती है, प्रणाम करती है।

मंजूसा पुण भेट्टिउ सुरंगु   पयजुवल अंतघरि उत्तमंगु।
वल्लह पयझाड केसभार   पुणु अग्गें लोटिय वार वार। १,५३।

श्रीपाल भी प्रेम-भाव दर्शाता है। फिर, एकान्त मे वह धवलसेठ की करतूतें सुनाती है। इस प्रकार रत्नमंजूषा की पति-भक्ति और आदर्श प्रेम को चित्रित कर कवि ने भारतीय नारी के स्वत्व को भलीभाँति अंकित कर दिया है। भावनाओं की मार्मिकता, परिस्थितियो की यथार्थता एवं कठोरता तथा चरित्रो की उत्कृष्टता का संगम एवं समन्वय कर लेखक ने इस छोटी-सी रचना को प्रभावाभिव्यंजक एवं मार्मिक बना दिया है। अन्य काव्यो की भाँति इस मे कथा की पुनरावृत्ति नही के बराबर, विस्तार से नही हुई है। अपभ्रंश के प्राय. सभी कथाकाव्यो में दो-दो, तीन-तीन बार कथा की आवृत्ति हुई है। प्रस्तुत रचना ही इस की अपवाद है। इस में मुख्य रस शान्त है। माता का उपदेश, सहस्रकूट चैत्यालय की वन्दना, सिद्धचक्र व्रत का पालन, वीरदमण का साधु होना, मुनि से पूर्वभवों का वृत्तान्त सुनना तथा मुनिदीक्षा ग्रहण कर तपस्या करना आदि शान्तरस के मुख्य स्थल है, जिन में आदि से अन्त तक समग्र रचना में निर्वेद का संचार लक्षित होता है। अन्य रसों मे श्रृंगार के दोनों पक्षो का तथा वीर, रौद्र एवं बीभत्स का चित्रण हुआ है। वियोग-वर्णन बहुत ही साधारण है। रत्नमंजूषा पति के गुणो का स्मरण कर विलाप करती है तथा बाप को कोसती है—

णाह णाह पणवंती कलु (रु) णु रुवंती रयणमजूसा विहलगय।
सिरिपाल णरेसर महिपरमेसर   पइ विणु हउं जीवति मुय।
कलुणु पलाउ करंति समुट्ठिय   कहि गउ णाह छाडि पभणंतिय।
कहिं गउ णाह कोडीभड   समरसूर विहडावण गय घड।
कहिं गउ वलण परोहण चालण   कहिं गउ जीवदया परिपालण।
कहिं गउ जणपिय पिय जगसुन्दर   सहसकूड उग्घाडण मन्दिर।

पाविउ मइ विण्णिवि उसहेसहं काहे वप्प विण्ण परएसहं ।
तेण कहिउ जं कहिउ णिमित्तिय सो मइं तुज्झु विहायउ पुत्तिय । १,४२ ।

उस का विलाप सामान्य नारी का चीत्कार है, जो असहाय अवस्था में अपने आप फूट पड़ता है। इस में न तो अनुभूति की सघनता है और न भावों की संकुलता ही; अपितु भावों के स्वाभाविक उद्‌गार सरलता से अभिव्यक्त है। श्रीपाल जब चोरों को ललकारता है तथा राजा पयपाल जब श्रीपाल के दूत को फटकारता है तब रौद्ररस की अभिव्यंजना हुई है।

रे रे पाविट्ठहु समरिणिकिट्ठहु महु पहु बंधिवि लेहु रणे ।१,२७।

इसी प्रकार कोढ़ियों के कोढ के वर्णन में बीभत्स रस का संवरण लक्षित होता है। इस प्रकार प्रभावान्विति की दृष्टि से रचना साधारण तथा सफल है। भावों की विविध स्थितियो का तथा मानव-मन का अच्छा चित्रण उक्त काव्य मे वर्णित है। इतिवृत्तात्मकता होने पर भी रसात्मकता का पूरा-पूरा समन्वय है। यही इस काव्य की विशेषता है।

संवाद

यद्यपि आलोच्यमान कथाकाव्य मे संवाद कम हैं, पर रचना की दृष्टि से उन का विशेष महत्त्व है। बोलचाल की भाषा में वर्णित होने के कारण संवादो मे सरलता तथा सजीवता दिखाई पड़ती है। मुख्य संवाद इस प्रकार है—

राजा पयपाल-मैनासुन्दरी-संवाद, श्रीपाल-मैनासुन्दरी-संवाद, श्रीपाल-द्वारपाल-संवाद, धवलसेठ-मन्त्री-संवाद, राजा धनपाल-श्रीपाल-संवाद और मैनासुन्दरी-श्रीपाल-संवाद आदि। इन संवादों में जहाँ पात्रों के मनोविज्ञान का चित्रण है, वही कथानक मे भी गतिशीलता लक्षित होती है। क्योकि कथा में संवादो से ही गति तथा चमत्कार उत्पन्न हो जाता है। इस कथाकाव्य मे आकार की दृष्टि से संवादों को कम नही कहा जा सकता। यदि संवादों को अलग कर दिया जाय तो कथा निष्प्राण ही प्रतीत होने लगती है। इस से संवाद का महत्त्व स्पष्ट है। श्रीपाल मैनासुन्दरी से कहता है कि लोग तरह-तरह की बातें करते हुए कहते हैं—यह राजा का जमाई है, इसलिए मैं चिन्तित हूँ। किन्तु मैनासुन्दरी स्त्री जाति के स्वभाव का परिचय देती हुई कहती है कि तुम्हारी चिन्ता का कारण यह न हो कर किसी कामिनी का स्मरण करना है। तब श्रीपाल उसे विश्वास दिलाता हुआ कहता है कि तुम्हें छोड़ कर अन्य स्त्री मेरे हृदय में नही है।

जामायउ तुहुँ णिव पयपालहु एम भणिवि स लहहिं सिरिपालहु ।
तं णिसुणेविणु मणि विद्दाणउ मयणासुन्दरि पुच्छिउ राणउ ।
दुव्वलु पहु तुव चिन्त ण जा मणि माणहिं हियइं छियवर कामिणि ।

भणइं कुमरु तुहुँ देवि अयाणिय अण्ण णारि महु हियइं ण माणिय ।
गुज्झु ण दिण्णउँ मइँ मणि भाविउ परदारहु णिवित्ति चउसाहिउ ।
तोवि णाह किं णिय मणि रक्खहि गुज्झवत्त किं णउ महु अक्खहि ।
सुणु महु कोवि ण जाणइं सुंदरि एवहिं गायण गावहिं घरि घरि ।
ता पहो णाउ कोवि जाणइं सुसरहो णामें जणु वक्खाणइ ।
महु मणु वड्ढइ देवि सलज्जउ करमि सेव तुव ताय णिलज्जउ । १,२० ।

इसी प्रकार रत्नमंजूषा के पूछने पर श्रीपाल संक्षेप में माता-पिता के सम्बन्ध में कहता हुआ उन के चरित्रों पर प्रकाश डालता है । यथा—

भणइं वीरु पिय (इत्य) रयणमजूसहं पिय महु छइ मालवदेसहिं ।
परम सणेही मयणासुन्दरि जो णिय रूवें जिणइ पुरन्दरि ।
मयणासुन्दरि सरिस महासइ णत्थि तीयणउ हुइय ण होसइ । (१,३३)
....

भणइं मजूस मिलिउ वरु चंगउ णेह महाभरेण आलिगिउ । (१,३५)

इस प्रकार संवादो मे घरेलू वातावरण, संक्षिप्तता तथा चुस्ती स्पष्ट रूप से लक्षित होती है । संवादों के कारण ही पात्रो में सजीवता मुखर है । अतएव संवाद-रचना में यह रचना सफल बन पड़ी है ।

भाषा और शैली

इस काव्य की भाषा बोलचाल के अधिक निकट है । कई स्थल तो हिन्दी की ओर उन्मुखावस्था को स्पष्ट रूप से सूचित करते है । अपभ्रंश के समस्त कथाकाव्यों में सिद्धचक्रकथा की भाषा सरल, देशी तथा भाषाविज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । इस रचना की भाषा को पढ कर परवर्ती अपभ्रंश की हिन्दी मे ढलने की स्थिति का भलीभाँति परिज्ञान हो जाता है । संवादों मे तो बिलकुल बोलचाल की भाषा लक्षित होती है । यथा—

अम्हारउ णरवइ कवणु चोज्ज धोबी चमार घर करहिं भोज्ज ।
खर कूकर सूवर गसहिं मास हमि डोम भाउ कहियहिं कण्णास । (२,३)

तथा—

ता णरवइ कुद्धउ भणइ विरुद्धउ गहहु कहिउ तलवरहं सहुँ ।
मारहु चंडालु डोम विटालु अम्हह भण्डवि गोउ कहु ॥ (२,३)

रचना में प्रयुक्त अधिकांश शब्द-रूप देशी भाषाओं से गृहीत हैं । उदाहरण के लिए कुछ शब्द निम्नलिखित है—

तलाय (तलाब), हंसि (हंसिनी), संड (सांड), धीवर, छत्तीस, बाहत्तरि, चउरासी, सत्तरि, छह, अट्ठारह, चउदह, चउसट्ठि, पासु (पास), पणिहारिय (पनहारिन), आजु (आज), मंदलु, कायरा (कायर), गवार (गँवार), छार, भालय, दासी-दास, चयारि (चार), दस, दुक्खु, बारह, संकल, ठग, चोर, तीस, पहाड, आण (आन), आहि (है), पारु (पार), टोपरी (टोप के आकार की लोहे की बनी हुई चपटी और गोल तथा ऊपर उठी हुई टोपी), अगवाणिय (अगवानी), वणिजारिय(बनजारा), किसाणु (किसान), तीजी (तीसरी), भीतर, लगुण (लगुन), चउरी (चौरी), भावरि (भामर), कचोल, थालइ (थाली), सासु, बहिणि, दामु, छल छिदु, खोर, हत्थियारु, सुसुरु, लहू लुलायउ (लहूलुहान), तिण्णि (तीन), घडियाल, विवाहु, सुपारिय (सुपारी), अब, यहु, तुरन्तु, सोलह, जेट्ठी, चउथी, छट्ठी, रोलु (रोला), रावत्त (रावत), भतीजउ (भतीजा), कटारिय (कटार), डोम, डोर, आरत्तिय (आरती), धुरंधर और दमाम इत्यादि।

इसी प्रकार देशी क्रिया-रूपों तथा सर्वनामों की भी प्रचुरता है। भाषा ऐसे रूपों से जहाँ प्रवाहपूर्ण बन गयी है वहीं उस में प्रसाद गुण भी विद्यमान है। वाक्यरचना की शैली आज की हिन्दी से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। उदाहरण के लिए—

लेहु लेहु (लेओ लेओ), लेहु देवि पहिरहु मोत्तिय सारिउ (लो देवि, मोती की साड़ी पहरो या पहनो), पाय पडिय (पाँव पड़ना), अद्धउ रज्जु देसु लइ वंटिवि (आधा देश का राज्य बाँट लो), अज्जु अवहिण सामिय किय पूरी (आज अभी तक स्वामी ने मनोरथ, लौटने की बात पूरी नहीं की) आदि।

सर्वनाम के कुछ शब्द-रूप इस प्रकार हैं—जो, सो, ए, को, हउ, हउं (हौं), कवणु (कौन), मइं (मैं), हमारे, अम्हारिय, इह, यहि, किह (कैसे), इस, जिह (जैसे), तिह (तैसे), जावहिं (जब), तावहिं (तब), महारी, तुम्हारी, मोर, मेरी, जहीं, तहीं, इय (यह), कि, महारउ, जाम, ताम, अब, यहु, यहउ, तुम्ह, अम्ह, हमि, तुम्हि, एत्तहि, तेत्तहु, जे, ता और जं इत्यादि।

देशी क्रियापदों की विशेष प्रवृत्ति भी इस रचना में दिखाई पड़ती है। जैसे कि छुत्तउ (छूते ही), भेट्टिउ (भेंटा, भेंट की), पुकारियउ आदि। अलग से भी भेंट शब्द मिलता है, पर द्वित्व की प्रवृत्ति यहाँ विशेष है। इसी प्रकार मैं भूल गया या मुझ से भूल हो गयी—के लिए "मय भुल्ले गय" वाक्य मिलता है। अन्य क्रियापद हैं—पूछिय, आयउ, तोडिय, देखिवि, लग्ग (लगे हुए), घल्लिय, ढोइय, छोडइ, पडिउ, छूटउ, हक्क दिति (हाँक देते है), चालावहि (चलवाये), चलु (चलो), वीसरहु (बिसरना), मारहु, सहारहु, हुवउ (हुआ), भउ (भल्लउ भउ), विसूरियउ, फिरइ, गइय, देइ, बुलावइ, लावति (लाता है), गय (गया), लयउ (लिया), खायइ, चबलंति, बुज्झिउ (बूझा), मग्गिउ (माँगा), खुल्लय (खुला हुआ) इत्यादि।

इस प्रकार भाषा की दृष्टि से इस रचना का विशेष महत्त्व है। अपभ्रंश की ढलती हुई अवस्था का स्वरूप सरलता से इस में प्राप्त होता है। यही नहीं, उस के विभिन्न शब्द-रूपों पर उस युग की छाप लगी हुई मिलती है। इस से यह भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह रचना आ० हेमचन्द्र के व्याकरण लिखे जाने के बाद की है। क्योंकि भाषाविषयक कुछ बातें इस में विशेष दृष्टिगत होती हैं।

प्रस्तुत काव्य नौ सौ पच्चीस श्लोकप्रमाण आकार वाला है। इस में कुल दो सन्धियाँ हैं। आश्चर्य तो यह है कि जिसे पं० रयधू ने दस सन्धियों में वर्णित किया उसे कवि ने दो सन्धियों में सम्पूर्ण कथानक के साथ निबद्ध कर दिया है। वर्णन भी रयधू के श्रीपालकथा काव्य से अच्छे तथा संक्षिप्त नहीं हैं। हाँ, वर्णनों की और मार्मिक स्थलों की कमी तो है, पर कथाकाव्य की दृष्टि से यह रचना अत्यन्त सफल है। इस की शैली भी अपभ्रंश के प्रबन्ध काव्यों की भाँति पद्धड़िया बन्ध से समन्वित लोकमूलक है। शास्त्रीय शैली का निर्वाह इस मे नही दिखाई देता। कथा मे संवाद मधुर तथा प्रसाद गुण युक्त हैं। उन मे रोचकता भलीभाँति मिलती है। देश, काल और वातावरण का भी पूर्ण सामंजस्य लक्षित होता है। संक्षेप मे, भाषा और शैली की दृष्टि से रचना महत्त्वपूर्ण है। कथा और काव्य के सुन्दर अंगो का भी विनियोग इस काव्य मे मिलता है। यह भी इस की एक मुख्य विशेषता है।

अलंकार-विधान

आलोच्यमान कथाकाव्य में अलंकारो का सहज प्रयोग भलीभाँति लक्षित होता है। साधर्म्यमूलक अलंकार ही प्रचुर है। बिम्बार्थ प्रस्तुत करने में अलंकारों का योग आवश्यक ही नही अनिवार्य भी है। प्रस्तुत रचना मे भी अमूर्त उपमाओं द्वारा सुन्दर बिम्बार्थ अनुस्यूत हैं। उदाहरण के लिए—धवलसेठ तब रत्नमंजूषा को देख कर काम से ऐसा बिंध जाता है कि वह अनर्गल प्रलाप करने लगता है। उस के मन मे शल्य ऐसे ही बैठ जाती है जैसे कि जीभ तालु से चिपक जाती है। जिस प्रकार सरोवर सूख जाने पर मछली बिललाने लगती है उसी प्रकार उस के तन-मन की दशा हो गयी। एक ही पंक्ति मे इन भावों को लेखक ने कितनी सुन्दरता के साथ अभिव्यंजित कर एक साथ दो स्पष्ट बिम्बार्थों को चित्रित कर दिया है। जैसे कि—

तालु विल्लि लग्गइ मणि सल्लइ जिम सर सुक्कें मच्छउ विल्लहइं। (१,३७)

इसी प्रकार रूप तथा गुण-वर्णन मे कवि ने उत्प्रेक्षा के माध्यम से सुन्दर बिम्ब ही खड़ा कर दिया है। यथा—

वे सुवतहिं जाया गुणघणाइं उवयारे णं सावण घणाइं। (१,३१)

अर्थात् विद्याधरराजा कनककेतु के अत्यन्त गुणशीला दो कन्याएँ उत्पन्न हुईं, जो उपकार करने में मानो सावन महीने के मेघ की भाँति सजल थी।

यहाँ पर मेघ की कल्पना में कवि ने सजलता, वर्षण तथा आनन्द-सृष्टि करने वाले गुणों को मेघ के बिम्बार्थ से अभिव्यंजित कर राजपुत्रियों में करुणा, उपकार तथा सुख एवं हर्षप्रदायक गुणों की उत्प्रेक्षा की है। ऐसी उत्प्रेक्षाएँ बहुत कम दृष्टिगोचर होती हैं। काव्यगत मुख्य अलंकार निम्नलिखित हैं—

णिय कम्मेज्ज लिलाडहं लिहियउ सो को मेटइ जो विहि विहियउ। (१,९)

यहाँ पर कर्म से ही रंक होते हैं और कर्म से ही राजा—इस पूर्वार्द्ध का सामान्य कथन उत्तरार्द्ध के "लिखितमपि ललाटे प्रोज्झितुं कः समर्थः" अर्थात् 'विधिना रचै न औरै होय'—इस विशेष कथन द्वारा वैधर्म्य से समर्थन किया गया है। अतएव अर्थान्तर-न्यास है।

णरसुन्दरि घरिणि मणोहरिया जिह कामहु रइ रहुवइहि सिया। (१,५)
(उदाहरण)

अर्थात् राजा पयपाल की स्त्री नरसुन्दरी वैसी ही मनोहर थी, जैसी कामदेव की रति और श्रीरामचन्द्र की सीता थी।

जहिं सुद्धफलिह मणिभित्ति पिक्खि करि करइ वेपु पडिबिंबु देखि। (१,५)
(भ्रान्तिमान्)

अंतेवरु सहु भणइ रुवंतउ कण्णारयणु ण कोढिहि जुत्तहु।
रयणमाल जो तिहुवणु मोहइ सो किम सुणहहु बंधी सोहइ। (१,१२)
(निदर्शना)

एयहं अचारी अंग छारु, एयहं पुणु सोहइ सह अचारु।
यहु पुणु ईसरु जिम फिरइ वारु, ...।
सूलपाणि जिम वहइ भीख, इहु भयरउ जिम जग देह सिक्ख। (१,१३)
(अनुमान)

यहाँ पर विभिन्न साधनों द्वारा श्रीपाल के शिवत्व, ईश्वरत्व आदि का निश्चय किया गया है, इस लिए अनुमान अलंकार है।

यद्यपि अन्य अलंकार भी ढूँढ़ कर बताये जा सकते हैं, पर मुख्यता उत्प्रेक्षा और उदाहरण की है। चलती हुई बातों में अलंकारों का प्रयोग भी रचना में कहीं-कहीं दिखाई देता है। उदाहरण के लिए—

जिम सूरु ण भुल्लइ हत्थियारु, सिरिपालु तेम मणि णमोयारु। (१,३९)

अर्थात् जिस प्रकार शूर-वीर संकट पड़ने पर हथियार से काम लेना नहीं भूलता उसी प्रकार श्रीपाल मन मे ध्याये हुए णमोकार मन्त्र को नहीं भूलता।

छन्दोयोजना

समस्त रचना पद्धड़िया छन्द में निबद्ध है। पूरे कड़वक की रचना पद्धड़िया में हुई है। घत्ता में अवश्य भिन्न-भिन्न छन्द प्रयुक्त हुए है। स्वतन्त्र रूप से केवल एक स्थल पर गाथा और दोहा का प्रयोग है। घत्ता के रूप में प्रयुक्त कुछ छन्द इस प्रकार हैं—संगीत, गीति, कर्पूर (उल्लाला), ललिता, उत्फुल्लक, घत्ता, अशोकपल्लवच्छाया, कुसुमायुधशेखर, कंकेल्लिलता, ओहुल्लणक इत्यादि।

कुछ ऐसे भी छन्द हैं, जिन का नाम-लक्षण छन्दोनुशासन में नही है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित बत्तीस मात्राओं का छन्द कितना स्पष्ट हैं, पर इसके नाम का निश्चय नही हो सका है। उदाहरण है—

सिरिपालु णरेसरु पुज्जइ जिणवरु   अछइ सुहु भुंजंतु महि।
सो समरसरुवउ भल्लउ हूवउ   महि मंडलि जसु भमिउ तहिं ॥ (१,१९)

इसके प्रथम और तृतीय चरण में अठारह तथा दूसरे और चौथे में तेरह मात्राएँ हैं, इस लिए यह घत्ता छन्द है, किन्तु जिन मे अठारह और बारह तथा अठारह और चौदह मात्राएँ मिलती है उन का नाम स्पष्ट नहीं हो सका है। उक्त उदाहरण है—

कारुण्णु णिवारहि हियउ सहारहिं   पाणिय अंजुलि देहि तहो।
सिरिपालु अतीतउ गयउ जु बीतउ   रयणमजूसा तुवहि कहो॥ (१,४२)

इस छन्द के प्रथम और तृतीय चरण में अठारह और दूसरे तथा चौथे चरण मे चौदह मात्राएँ है। यह कुल चौंसठ मात्राओं का छन्द है।

प्रसंग के अनुकूल प्रयुक्त होने वाले कुछ छन्दो का प्रयोग भी इस काव्य में दिखाई पड़ता है। उदाहरण के लिए, श्रीपाल विदेश के लिए प्रस्थान कर रहे हैं। माता पुत्र को उपदेश देती है। वह प्यार से बेटे को अच्छी सीख देती हुई उस का आलिंगन करती है। इस प्रसंग मे कवि ने सुतालिंगन छन्द का प्रयोग कर उस के नाम को चरितार्थ कर दिया है।

सुतालिंगन अर्द्धसमचतुष्पदी छन्द है। इसके प्रथम और तृतीय चरण मे सोलह तथा द्वितीय और चतुर्थ चरण में बारह मात्राएँ होती हैं।[1] इसका उदाहरण है—

डिंभी पासंडी भवहिति(भमहि) दंडी   आण आहि सुव मेरी।
एयहं ण पतिज्जउ कहिउ ण किज्जउ   चाड पहाड वसेरिय ॥ (१,२३)

इसी प्रकार धवलसेठ की चेष्टाओं, हाव-भावों को देख कर कवि ने जिन विचारों को रत्नमंजूषा के मुख से अभिव्यक्त किया है वे मन्मथविलसित छन्द में निबद्ध हैं।

१. समे द्वादश ओजे षोडश सुतालिंगनम्। छन्दोनुशासन, ६,२०-४१।

मन्मथविलसित अर्द्धसमचतुष्पदी छन्द है। इसके पहले और तीसरे चरण में सोलह तथा दूसरे और चौथे में चौदह मात्राएँ होती हैं।[1] उदाहरण है—

कामिहि णउ लज्जा वहिणि भणिज्ज   णउ जाणहिस स (?) अवसरु।
वहिणि ण जोवइ पाउ पलोवइ   जिम वर गय तु कुक्कुरु खरु॥ (१,३८)

अन्य छन्दों में छब्बीस मात्राओं का समद्विपदी द्विपदक या दोहक तथा बाईस मात्राओं का विच्छित्ति नामक छन्द भी प्रयुक्त है। दोहक का उदाहरण है—

सिद्धचक्कविहि रइय मइं   णरसेणु भणइ निय सत्तिए।
भवियणजण आणंदयरे   करिवि जिणेसर भत्तिए। (२,३६)

विच्छित्ति के अन्तिम पद में जगण का प्रयोग नहीं होता।[2] यहाँ भी उस का ध्यान रखा गया है। उदाहरण हैं—

पुणु अक्खमि भव्व जंगणु   भउ सिरिपाल जहं।
आयण्णहु तंपि सेट्ठिहि   दुट्ठ पवंच कहा॥ (२,१)

इस प्रकार आलोच्यमान रचना में छन्दों की नियोजना सुव्यवस्थित है।

अन्य कथाकाव्य

सत्तवसणकहा

अज्ञात रचनाओं में पं० माणिक्यचन्द्र कृत 'सत्तवसणकहा' सात सन्धियों की रचना उपलब्ध है। यह रचना लेखक को भरतपुर के जैनभण्डार से मिली है। इस की प्रत्येक सन्धि में एक-एक कथा वर्णित है। उपदेशात्मक कथा होने से इस में इतिवृत्तात्मकता की अतिशयता है। इस का रचना काल वि० सं० १६३४ है।[3] लेखक जैसवाल कुल के थे। इस कथा की रचना टोडर साहु के पुत्र ऋषभदास के निमित्त हुई थी।[4] कवि मलयकीर्ति भट्टारक के वंश में उत्पन्न हुआ था। भ० मलयकीर्ति सोलहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध आचार्य थे। वे भ० यशःकीर्ति के पट्टधर थे।[5] अतएव निश्चय ही पं० मणिक्यचन्द्र उन के बाद में हुए।

---

१. समे चतुर्दश ओजे षोडश मन्मथविलसितम्। वही, ६.२०, ५२।

२ वही, पृ० ३३७।

३, अह सोलह सइ चउतीस एण   चइतहु उज्जलपक्खें सुहेण।
आइच्चवार तिहि पचमीहि   इहु गंथु सऊरणु हुउ विहीहि। (७,३२)

४, णंदउ सिरिपाला साहुण हु (णंदु)   सकुडुंब सहिउ णियकुलसुचंदु।
सो टोडरसाहु पसिद्ध भव्वु   तसु रिसहदास णंदणु अउव्व।
जसु णामें कीउ एहु कव्व   सो नंदउ सकुडंबउ अगव्वु। (७,३२)

५. सिरिमलयकित्ति वंसे अणिंदु   णंमउ कइयणु माणिक्कचंदु (७,३२)

६, पं० परमानन्द शास्त्री, 'काष्ठासंघ स्थित माथुरसंघ गुर्वावली, अनेकान्त, वर्ष १५, किरण २, पृ० ८१।

'सत्तवसणकहा' (सप्तव्यसनकथा) को पढ़ने से दो बातें स्पष्ट रूप से समझ में आती हैं। पहली तो यह कि यह कथा प्रबन्ध की शैली में लिखी गयी है। दूसरी यह कि इस में वस्तु-वर्णन न हो कर कथा का विवरणमात्र है। किन्तु कथा के लगभग सभी गुण इस में मिलते हैं। संवाद-योजना भी मधुर है। भाषा सरल और स्पष्ट है। रावण और सीता का वार्तालाप सुनिए—

हउ खयरराउ तुह उवरि तुट्ठु   महु पाणपियारी होहि सट्ठु।
हउ सुणि रावणहु वि कहइ सीय   काउवि आयासि णिरु उडीय।
गच्छइ सीहु वि पुणु भूमि माइ   ता सीहहु समकिउ काउथाइ। (७,१६)

यहाँ पर सीता की बात अत्यन्त संक्षेप में कह दी गई है। राम के विरह में भारतीय नारी सती सीता का एक चित्र देखिए—

सा रामु रामु आलवइ मंतु   णियचित्ति धरिउ राघउ सुकंतु।
णवि खाइ अण्णु णवि पिवइ णीरु   मलमलिणवत्थ दुब्बलु सरीरु।
भयभीय सीय अच्छइ सुतित्थु   रामहु लक्खणहु वि णियइ पंथु। (७,१७)

इस प्रकार वर्णन नाम मात्र के बहुत छोटे-छोटे हैं। उदाहरण के लिए रावण और जटायु का युद्ध चार पंक्तियों में ही वर्णित है, जो इस प्रकार है—

रावणहु भिडिउ अइसिग्घु जाम   विरुयालें किउ संगामु ताम।
ता रावणेण तहु विज्जछेउ   करिऊण पुणुवि आउह समेउ।
डारिउ समुद्दि पुण्णाउ सोवि   णिवडिवि णउ बुड्डिउ खयरु जोवि।
तत्थाउ थलें आएवि तेण   बंधिउ सुवत्थु तहि वंसएण (७,१६)

किन्तु युद्ध-यात्रा तथा राम-रावण युद्ध का विस्तृत वर्णन भी मिलता है। यथा—

सब सेण सहिउ सिरिरामयंदु   सण्णिद्धिवि चल्लिउ णं सुरेंदु।
सो रावणोवि भेरी सुणेवि   सण्णज्झिउ सम्मुहुतिणु गणेवि।
इंदजउ मेहसरु कुंभयणु   रक्खसवंशो खेयरह गणु।
लंकाउ दसाणणु सेण लेवि   चल्लिउ गयणंगण तूर देवि।
खोहिणि चत्तारि सहस्स जुत्तु   दसकंधरु आइवि गयणि पत्तु।
किवि भूयलेहि किवि णहिठिएहि   सव्वत्थ विवलु पूरिउ दिएहि। (७,२४)

युद्ध-वर्णन

ता उहय वलहि संगामु जाउ   भड भडहि रहहु भिडिउ ताउ।
गउ गयहि पुणु हउ हयहि वग्गु   खण खण करंत करिवार अग्गु।
वरसहि समरंगण वाणपंति   णावइ धाराहर घणहु जुत्ति।
रणभूमें भडहिमि भडु णिरुद्धु   गउ गयहि तुरिउ तुरएहि कुद्धु। (७,२४)

बाण-बरसा का कितना सुन्दर चित्र उक्त पंक्तियों में प्रतिबिम्बित है। इस के आगे रावण और लक्ष्मण का संवाद तथा युद्ध का वर्णन है। लेकिन ये वर्णन बहुत कम है। इन में बुरी आदतों से बचने के लिए कथा कहना ही कवि का उद्देश्य है और इस लिए कथा ही मुख्य है। किन्तु रचना में रसात्मकता भी परिव्याप्त है। उदाहरण के लिए, सुन्दरी के अनुभावों का सुन्दर चित्र द्रष्टव्य है—

संकोइवि णियतणु धीरिवि पुणु मणु घूघटपट मुहु गोवियउ।
भीउ विवलवंतो बहु गुणवंतो तहि दिठ सो णिरु कोवियउ। (१,१४)

इस कथाकाव्य में वस्तुतः प्रबन्धमूलक कथाएँ है, जिनमें विवरण और वर्णन समान रूप से मिलते हैं। विवरण की प्रधानता होने पर भी वर्णन कही न कही लक्षित होते ही हैं और वे किसी भी प्रबन्ध के रसात्मक अंश भलीभांति कहे जा सकते है। कृष्ण और जरासिन्धु का युद्ध, नेमीश्वर का विवाह, द्यूतक्रीड़ा आदि का सुन्दर वर्णन हुआ है। इन वर्णनों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि यह एक कथाकाव्यात्मक संग्रह है, जिस मे सात व्यसनों को अलग-अलग कथाओं का काव्यात्मक वर्णन है। भाषा की दृष्टि से भी इस रचना को महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है। लोकोक्तियो तथा देशी शब्दो की प्रचुरता और भाषा के प्रवाह की एक झलक इस मे लक्षित होती है। उदाहरण के लिए—

घूघट, देवर, खीर, भेट, खंभु, खेल, दाख, मिठाई, खील, सिंघारे (सिंघाडा), गोद, गलु, कंख. छह, बारह, बालु (बालू, रेत), घी आदि शब्द हिन्दी के बिलकुल निकट है। शब्द-रूपों पर ही नही क्रिया-रूपों पर भी सतरहवी शताब्दी की बोलचाल की भाषा की छाप लगी हुई मिलती है। इस रचना को ध्यान से देखने पर निश्चय हो जाता है कि अपभ्रंश भाषा का युग और तत्कालीन देशी भाषा एवं साहित्य से पूरा-पूरा सम्बन्ध बना रहा है। कुछ क्रिया-पद इस प्रकार हैं—फिरिउ, फाडेवि, उडिउ, सुणिउ, दियउ, खेलहि, मारिउ, मरहि, करिय, आयउ, आवेहि, यिरि, भरि, रिहउ (रहा), कहिउ, सहइ, जाइ, कहइ, चडइ, देइ, खाइ इत्यादि।

इस कथाकाव्य में क्रियार्थक क्रिया के रूपो मे संश्लिष्ट तथा विश्लिष्ट दोनों प्रकार की योजना मिलती है। यथा—'झाडिवि कालिमि पुणु करिय दूरि' (५,२) तथा—"तहि करि भोयणु भुजियउ तेण"। इस से पता चलता है कि अपभ्रंश के परवर्ती युग में 'भोजन कर' आदि में प्रयुक्त होने वाले 'कर' का विकास हो गया था। क्योंकि अन्य कथाकाव्यों मे इस का प्रयोग नही मिलता। इसी प्रकार—अन्य परसर्गों का विकास भी विकसित रूप मे इस काव्य में दृष्टिगोचर होता है। उदाहरण के लिए छत्तीसगढ़ में 'खाने के लिए' प्रयोग है—'खाये बर' और इस काव्य में इस के स्थान पर 'विर' प्रयोग मिलता है।

खेले विर जावइ वालयाह। (२,३)

इसी प्रकार प्रेरणार्थक क्रियाओं में—खिल्लावइ, पट्ठाविउ, छोडावइ, जणावइ आदि मिलते है। इस रचना की सब से बड़ी विशेषता देशज प्रयोगो मे लक्षित होती है, जिन को देख कर स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी भाषा तथा उस की बोलियों का विकास जनपदों की बोलियों के प्रवाह मे अपभ्रंश की परवर्ती विकसित धारा से हुआ है।

छुडु दाख मिठाई खील सार सिंघारे मोयय वोर चार।
चणकाइ गोद भरि गयउ तत्थ संझा अवसर सिसु रमहिं जत्थ। (२,३)
झीणी दिक्खा जिणउत्त जोवि। (२,३)
सिसु लेइ एउ चोरिवि दवक्कि गलु मोडिवि लावइ कंख चप्पि।
सो बंधिउ णिरु बहु बंधणेहिं पुणु लट्ठि मुट्ठि भारिउ घणेहि। (२,३)

अपभ्रंश के प्रबन्ध काव्यो की भाँति ही यह कथाकाव्य पद्धडिया बन्ध एवं कडवक शैली मे निबद्ध है। कडवक-रचना घत्तों के रूप मे हुई है। इस काव्य की मुख्य विशेषताएँ है—

(१) केवल आधिकारिक कथाओ को संयोजना। प्रासंगिक वृत्तों का निर्देश मात्र।

(२) सात सन्धियों मे सात कथाओ की रचना। इस प्रकार प्रबन्ध की शैली मे सन्धिबद्ध काव्य-रचना।

(३) चलती भाषा मे वर्णन करते चलना। वर्णन और विवरण मे प्रवाह।

(४) वर्णनों का रोचक तथा संक्षिप्त होना और संवादो मे मधुरता।

(५) पौराणिक शैली पर कथा-रचना। प्रत्येक कथा का निर्गमन गौतम गणधर से राजा श्रेणिक के पूछने पर महावीर स्वामी से मानना।

(६) काव्य-रूढ़ियो का पालन-मंगलाचरण, साहु टोडर के अनुरोध से कथा रचने का उल्लेख तथा आत्मपरिचय।

(७) यद्यपि कथाएँ उद्देश्य मूलक है और उन में सप्त व्यसनो से होने वाली हानि का वर्णन है, पर बीच-बीच मे सूक्तियों तथा लोकोक्तियो से रचना और भी अधिक प्रभावशाली बन गयी है।

ता सीरें जंपिउ रे णिकिट्ठु वालु वहि तेलु कत्थइ वि दिट्ठु। (३,२२)

(८) छन्दों मे वैविध्य होना। घत्ता के रूप मे कई छन्दो का प्रयोग होना।

(९) भाषा मे हिन्दी की प्रारम्भिक विकसित अवस्था के साथ अपभ्रंश से उस के साहचर्य का पता मिलना।

किं कज्ज लिए डोलेहि अंध। मा रूसहि हउ जाणेवि वोर। (३,२१)
पाणी पीवहि मुह हत्थि लेहि। जीविय मरणहु रामु वि सहाय। (३,२१)

भो राम एहु रावणहु भाइ आयउ तुहु सेवा करण राइ । (७,२३)
कैकेय चल्ली रामहु वि अंत वंदे कैकैयहु करि पणामु । (७,५)

संक्षेप में, रचना छोटी-छोटी कथाओं का संकलन होने पर भी कहीं-कही काव्यात्मक अंश से सरस एवं मधुर है। अपभ्रंश की काव्य-धारा का विकसित रूप किस प्रकार कथाओ की रचना में निहित है—इस की एक झलक मात्र इस काव्य मे मिलती है। यद्यपि यह रचना शुद्ध कथा मात्र हैं, पर इतिवृत्तात्मक तथा रसात्मक स्थलों को संयोजना से स्पष्ट ही कथाकाव्य की कोटि मे देखी जाती है। निश्चय ही कई बातों मे इस कथाकाव्य का महत्त्व है।

सुदंसणचरिउ

सत्तवसणकहा की भाँति सुदंसणचरिउ भी अप्रकाशित रचना है। यह बारह सन्धियो की रचना है। इसके लेखक कविवर नयनन्दी है। इस का रचना-काल सं० ११०० है।

णिव विक्कमकालहो ववगएसु एयारह संवच्छर सएसु ।
तहि केवल चरिउ अमच्छरेण णयणंदी विरइउ वित्थरेण ।

इस मे पंचनमस्कार के माहात्म्य स्वरूप सुदर्शन की कथा का वर्णन है। घटनाओं की योजना प्रसगतः मार्मिक, स्वाभाविक तथा प्रभावोत्पादक है। अपभ्रंश के उपलब्ध कथाकाव्यों मे यह एक विशिष्ट कथाकाव्य कहा जा सकता है। यद्यपि इसकी बाह्य रचना अलकृत एवं शास्त्रीय प्रतीत होती है, किन्तु अन्तरंग मे भाषा और शैली को मधुरता तथा लोकजीवन का पूरा पुट मिलता है। भाषा की दृष्टि से इस रचना का अत्यन्त महत्त्व है। सूक्तियो तथा लोकोक्तियो से यह काव्य अत्यन्त सप्राण तथा प्रसाद पूर्ण बन पडा है। इसके वर्णनो मे परम्परागत प्रवृत्तियों की झलक मिलने पर भी नवीनता दृष्टिगोचर होती है। श्लिष्ट तथा अलंकृत शैली में जहाँ कवि एक ओर बाणभट्ट के निकट दिखाई देता है, वहो लोक जीवन के यथार्थ चित्रण मे स्वयंभू का स्मरण हो आता है।

छन्दो की दृष्टि से भी इस काव्य का विशेष महत्त्व है। अपभ्रंश के कवियों मे से कदाचित् नयनन्दी ने सब से अधिक छन्दों का प्रयोग किया है। कवि की अन्य रचना सकलविधिविधान काव्य है, जिस मे सौ से भी अधिक छन्दो का प्रयोग है। सुदंसणचरिउ मे भी लगभग साठ छन्द प्रयुक्त हुए हैं। समूचा काव्य पद्धडियाबन्ध शैली मे वर्णित है। अलंकारो की भी प्रचुरता इस रचना में दिखाई देती है। कही-कही कथा में अलौकिक बातों का भी समावेश है। मानवीय स्वभाव का अच्छा चित्रण इस काव्य मे हुआ है। अपभ्रंश की अन्य कथाओ की भाँति इस में साहित्यिक रूढ़ियों का पूर्ण-

तथा सन्निवेश नहीं है। किन्तु मंगलाचरण तथा आत्मशक्ति का कीर्तन अवश्य है। आत्म-विनय का भी प्रदर्शन है।

सुकवित्ते ता हउं अप्पवीणु चाउ वि करेमि किं दविणहीणु।
सुहडत्तु तवहु दूरें णिसिद्ध एवं वि हौंवि हउँ जस विलुद्धु।

कवि की रचना में मानवसुलभ प्रेम तथा उस के विपाक का अतिरंजित वर्णन है। इस लिए कहीं-कहीं घटनाओं मे अस्वाभाविकता प्रतीत होती है; किन्तु ऐसी कथाएँ भारतीय साहित्य तथा लोक-जीवन में विरल नही हैं, जो सामान्य नायक के आदर्श रूप तथा जीवन के यथार्थ तथा विद्रूप का चित्रण करने वाली हो। वस्तुतः ऐसी कथाओं का आधार लोकजीवन है, जिसे कवि ने अपने अनुकूल ढाल कर साहित्यिक बन्ध मे अनुस्यूत किया है।

इस काव्य में जहाँ प्रेमाख्यानक की काव्य प्रवृत्तियाँ मूल रूप मे लक्षित होती है, वही रीति-परम्परा की सामान्य बातें—नायिका-भेद, सुरतक्रीड़ा, नखशिख, नायिकाओं की वेश-भूषा, उद्दीपन रूप मे प्रकृति-वर्णन, षड्ऋतु-वर्णन आदि भी मिलती है। स्पष्ट ही कई प्रकार से नायिकाओ के भेद दर्शा कर कवि ने रीति-वृत्ति का परिचय दिया है।

वर्णनों मे संस्कृत के साहित्यिक ग्रन्थो की झलक स्पष्ट रूप से मिलती है। अपभ्रंश के कथाकाव्यों मे यह रचना विशेष रूप से संस्कृत के परवर्ती महाकाव्यो से प्रभावित जान पड़ती है। किन्तु इसके साथ ही नये-नये उपमानो की रचना और गीत-पद्धति का मेल करना भी कवि नही भूला है। परन्तु अधिकतर उपमान और वर्णन-शैली प्राचीन परम्परा का अनुसरण करती दिखाई पड़ती है। डॉ० कोछड़ ने कुछ उद्धरणो के साथ संस्कृत की रचनाओ में और सुदंसण चरिउ मे भाव-साम्य दर्शाया है।[1] और भी कई स्थल ऐसे है जो संस्कृत के साथ ही हिन्दी के विद्यापति, केशव और जायसी आदि मे भावो तथा शैली की दृष्टि से कही-कही बहुत अधिक समान दिखलाई पड़ते है।

अपभ्रंश के अन्य कथाकाव्यों की भाँति ही इस काव्य में भी शृंगार, वीर और शान्त रस का मधुर परिपाक लक्षित होता है। प्रभावान्विति और रस-व्यंजना की दृष्टि से काव्य उत्तम एवं शास्त्रीय नियमों से परिपोषित है। किन्तु प्रबन्ध-रचना मे अवश्य घटनाओं के विस्तार मे तथा अन्य प्रासंगिक वृत्तो की सयोजना मे कुछ शैथिल्य जान पडता है। इसका कारण अति लौकिक बातों का समावेश ही जान पड़ता है। कुल मिला कर रचना प्रभावपूर्ण और सुन्दर है।

इस काव्य में भाषा भावों के अनुकूल सजीव एवं सप्राण है। भाषा मे पदो की सुष्ठु योजना और लालित्य एवं अलंकरणता से जहाँ रचना मधुर बन पड़ी है वही कही-कही कृत्रिमता भी स्पष्ट रूप से झलकने लगी है। किन्तु जहाँ मुहावरो-सूक्तियों एवं

१ डॉ० हरिवंश कोछड़ : अपभ्रंश-साहित्य, पृ० १६६–६८।

लोकोक्तियों का प्रयोग हुआ है वहाँ रचना अत्यन्त स्फीत एवं मधुर बन पड़ी है। लोकोक्तियों का इस काव्य में अधिक प्रयोग हुआ है। उदाहरण के लिए—

करे कंकणु कि आरिसे दीसए। (हाथ कंगन को आरसी क्या ?)
एक्कें हत्थे तालं कि वज्जइ (क्या एक हाथ से ताली बजती है ?)
कि मारवि पचमु गाइज्जइ। (क्या ठमाका दे कर पंचम स्वर गाया जाता है)
जं जसु रुच्चइ तं तसु भल्लउ। (जो जिसे रुचता है उस के लिए वही भला है)
पर उवएसु दिन्तु बहु जाणइ। (पर उपदेश कुशल बहुतेरे)

भाषा मे अनुकरणात्मक शब्दो की प्रचुरता अन्य कथाकाव्यों से विशेष मिलती है। इसी प्रकार पद-योजना मे सौष्ठव तथा लालित्य कवि की निजी विशेषता है। यथा—

कि कुसुमें गन्ध विवज्जिएण कि सूरे समर परज्जिएण।
कि भिच्चे पेसण संकिएण कि तुरए उरूढउ किएण।
कि दव्वें किविण करासिएण कि कव्वे लक्खण दूसिएण।
कि णीरसेण णच्चिय णडेण कि साहुहु इंदिय लंपडेण।

अनुप्रास इवं सालंकार भाषा मे प्रसाद गुण युक्त रचना समूचे काव्य मे दिखाई पड़ती है। कही-कही तो बहुत ही सुन्दर रचना हुई है। जैसे कि—

तो उल्ललइ चलइ खलइ तसइ ल्हसइ णीससिह पणासइ।
णिसियर वलु णिव साहणहो णव वहु जेम ससज्झए दोसइ॥

किन्तु ऐसे स्थलो पर भाषा एव रचना मे कृत्रिमता ही अधिक लक्षित होती है। छन्दो की दृष्टि से इस रचना का अत्यन्त महत्व है। अपभ्रंश के अन्य काव्यो की भाँति इस मे भी मात्रिक वृत्तो की मुख्यता है, किन्तु वाणिक वृत्त भी कम नही मिलते। लगभग साठ छन्दो का प्रयोग इस काव्य मे हुआ है, जिस मे चालीस-बयालीस मात्रिक छन्द हैं। जि० क० की भाँति वसंतचच्चर, मन्दारदाम, मानिनी, कुवलयमालिनी, मणिशेखर, उण्हिया और आनन्द आदि कई नये छन्द भी इसमे प्रयुक्त हैं।

लोक-जीवन और समाज-संस्कृति की दृष्टि से भी यह महत्त्वपूर्ण रचना है। इस मे वसन्तमास मे चाँचर खेलने, हिंडोले झूलने और वन-उपवन मे विहार करने तथा गीत आदि के उल्लेख मे सामन्तकालीन भारतीय जीवन की एक झलक मिल जाती है। कवि की भूगोल विषयक जानकारी का पता भी इस रचना से मिल जाता है। स्वय कवि ने अपने काव्य के सम्बन्ध में कहा है—

कोमलवयं उदारं छन्दाणुवरं गहारमत्थट्टं।
हिय इच्छिय सोहग्गं कस्स कलत्तं च इह कव्वं॥

अर्थात् अभिलषित सौभाग्यशालिनी स्त्री की भाँति इस काव्य मे उदार कोमल वचन तथा श्रेष्ठ छन्द है।

पउमसिरीचरिउ

दिव्यदृष्टिकवि धाहिल विरचित 'पउमसिरीचरिउ' (पद्मश्रीचरित) चार सन्धियों की रचना है। यद्यपि कवि ने इसे धर्मकथा कहा है, (१,१) किन्तु यह एक प्रेम कथाकाव्य है; जिस में समुद्रदत्त और पद्मश्री के प्रेम-व्यापारों का सुन्दर वर्णन है। इस काव्य के अध्ययन से दो बातें बिलकुल स्पष्ट हो जाती हैं—एक तो यह कि कथाबन्ध अस्वाभाविक है; क्योंकि पूर्व जन्म की घटना को ले कर कथा आगे बढ़ती है, जो पूर्वार्द्ध से विच्छिन्न जान पडती है। दूसरे यह कि समूची कथा धार्मिक वातावरण से लिपटी हुई है। यदि इन दोनो प्रसंगो से विश्लिष्ट कर कथा पर विचार करें तो शुद्ध प्रेमकथा लक्षित होने लगती है। रचना छोटी होने पर भी काव्यात्मक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। भावानुभावों का बहुत ही सुन्दर चित्रण इस काव्य मे हुआ है। वस्तु-वर्णन अलंकृत होने पर भी स्वाभाविक है। लोक-जीवन की झलक भी इस मे मिलती है। वर्णन विस्तृत तथा मधुर है। समुद्रदत्त और पद्मश्री का प्रथम मिलन वसन्तमास मे उद्यान के माधवीलता के मण्डप मे होता है। धीरे-धीरे स्नेह बढ़ता है। पद्मश्री के सात्त्विक भावों तथा अनुभावो का कवि ने बहुत ही सुन्दर चित्र अभिव्यंजित किया है।

पउमसिरि ससज्झस तरलनयण   ठिय लज्जोहामिय नमिय वयण।
नीसास समीरण चंचलाइं   गणयन्ति केलि पंकयदलाइं। २,८।

वह समुद्रदत्त को अपने हाथो से प्रचुर कपूर से भरित पान देती है, अपने हाथो से गूँथी हुई मौलश्री की माला अर्पित करती है।

कप्पूर पउर विरइय सणेहु   पउमसिरि देइ तंबोलु तेहु।
मयराणंदिय भमर जाल   *निय हत्थ गुत्थ वर बउलमाल।*
साणंद लेवि घण नीलकेसि   आणेवि निवेसिय तेण सीसि।

कवि ने इन प्रेम-व्यापारो को स्वच्छन्द रूप से नही दर्शाया है। इस का कारण भारतीय सामाजिक चेतना है, जो असंयत प्रेम का बन्धन दूभरता से स्वीकार करता आया है। नैतिक व्यवस्था के लिए यह आवश्यक भी था कि मनुष्य की वासनात्मक प्रवृत्तियो को न उभारा जाय। किन्तु धार्मिक कथाओ मे भी मूल रूप में प्रेम का ही बीज अंकुरित दिखाई देता है, जिन मे वासना का भी संयोग है; किन्तु धार्मिक प्रभाव का आवरण डाल कर कवि ने उन्हे आदर्श रूप प्रदान कर दिया है। यदि ध्यान से देखा जाय तो ऐसी रचनाओ मे हमे रीतिकालीन भूमिका के बीज बिखरे हुए मिलते हैं। इन मे नखशिख-वर्णन, स्त्रियो के भेद, दूती द्वारा प्रेम-निवेदन, उपवन-विहार, जलक्रीड़ा, कामावस्थाओं का वर्णन आदि मुख्य है।

अन्य कथाकाव्यों में हरिभद्रसूरि कृत 'णेमिणाहचरिउ' के अन्तर्गत सनत्कुमार चरित भी प्रेम कथाकाव्य है, जिस मे कुमार के रोमांटिक तथा साहसिक कार्यों की

गाथा का वर्णन है। श्रृंगार के दोनों पक्षों का इस में विशद चित्रण है। यह काव्यात्मक अंश तीन सौ तैंतालीस रड्डा छन्दों में निबद्ध है।[1]

धम्मपरिक्खा

श्री हरिषेण रचित 'धम्मपरिक्खा' (धर्मपरीक्षा) पद्धडियाबंध ग्यारह सन्धियों की रचना है। अपभ्रंश के कथाकाव्यों की भाँति इस काव्य में भी जंबूद्वीप, वैजयन्ती नगरी, उज्जैनी नगरी, राजा, वन-उपवन आदि के वर्णन हैं। वन-वर्णन में परिगणनात्मकता लक्षित होती है। साहित्यिक रूढ़ियों में मंगलाचरण, पूर्ववर्ती कवियों का उल्लेख, आत्म विनय, बुद्धि का उपयोग, गुरु-स्मरण, कथा का आधार तथा काव्य-रचना का कारण कहा गया है। समूची कथा धर्म तथा उपदेश से भरित है। कथा कल्पित है, जो वैष्णव धर्म पर एक व्यंग्य मात्र है। किन्तु पवनवेग और मनोवेग प्रचलित धर्म से मन को सन्तुष्ट न कर वास्तविकता का रहस्य खोलते दिखाई देते हैं। कथा का विकास संवादों से होता है। कथा को पढ़ते ही हरिभद्रसूरि के 'धूर्ताख्यान' का स्मरण हो आता है। संभव है उसी रचना के ढाँचे पर कवि ने यह काव्य लिखा हो। समूची काव्य शैली सवाद में वर्णित है। कहीं-कहीं अलकृत वर्णन भी दृष्टिगोचर होते हैं।

समया इय जाय अहो समया रिसहो पुणु णाहि सुओ रिसहो।
अरिहो सण राम रपू अरहो विजिणोवि विहंडणु सोवि जिणो ।१०,११।

रचना कई छन्दों में निबद्ध है। गीति शैली में भी वर्णन हुआ है। लोकजीवन की अच्छी झलक इस में मिलती है। भाषा में प्रवाह तथा माधुर्य है। अनुरणनात्मक शब्दों की प्रचुरता है। कवि ने रासा छन्द का भी उल्लेख किया है।

इय पर रइय पुराणि ण सच्चउ मइं मुणियं,
रासय छंदु वियाणहु एरिसु मइ भणिउं ।५,१६।

कथानक अल्प होने से तथा वाद-विवाद की प्रधानता से रचना का सौन्दर्य फीका पड़ गया है। कथा कथा न होकर धार्मिकवार्त्ता बन कर रह गयी है। इसलिए इसे कथाकाव्य कहने में संकोच होता है। वस्तुत. यह उपदेशात्मक पद्यबद्ध कथा है, जिसे प्रबन्ध के ढांचे में ढाल कर कहा गया है। 'करकण्डचरिउ' दस सन्धियों में निबद्ध अपभ्रंश का पौराणिक काव्य है, जिस में एक कथा के अन्तर्गत कई कथाएँ वर्णित हैं। यद्यपि रचना में कथानक-रूढ़ियाँ मिलती हैं, पर अवान्तर कथाओं की भरमार से आधिकारिक कथा का स्वाभाविक विकास नहीं हो पाया है। काव्यात्मक दृष्टि से रचना

१. डॉ० हरिवंश कोछड़ अपभ्रंश-साहित्य, पृ० २२३।

प्रभावोत्पादक तथा विभिन्न काव्यांगों से समन्वित है। भावानुभावों की सुन्दर अभिव्यंजना काव्य का अपना वैशिष्ट्य है[1]। इसी प्रकार 'जंबूसामिचरिउ' और 'जसहरचरिउ' भी पौराणिक काव्य हैं, किन्तु 'णायकुमारचरिउ' चरितकाव्य है। महाकवि पुष्पदन्त ने कथावस्तु की योजना श्रुतपंचमी व्रत के माहात्म्य के व्याज से नागकुमार के सुन्दर चरित्र के वर्णन के लिए की है।[2] कथानक को ध्यान से देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि काव्य की अन्तिम सन्धि के पूर्व श्रुतपंचमी व्रत का कहीं भी उल्लेख नहीं है। केवल नागकुमार के लक्ष्मीमती से प्रगाढ प्रेम और अन्य जन्म में उसे व्रत के फलस्वरूप पाने का कारण निर्दिष्ट है, जो ऊपर से थोपा हुआ जान पड़ता है, जिस का प्रभाव पाठक के मन पर नहीं पड़ता। डॉ० हीरालाल जैन ने नागकुमार का सम्बन्ध नागजाति तथा नागराजाओं से जोड़ा है, जिस से उस की ऐतिहासिकता का पता लगता है[3]। सम्भव है नागकुमार राजा को किसी गाथा को अथवा चरित को कवि ने देखा-सुना हो और उस मे कल्पना का पुट दे कर अतिलौकिक घटनाओं से समन्वित कर दिया हो। इस प्रकार नागकुमार का चरित तथा श्रुतपंचमी व्रत का फल अति-लौकिक तथा पूर्व जन्म की घटनाओं से संबद्ध है, जब कि कथाकाव्यों मे व्रत का फल इसी जन्म में जिस ने उस व्रत का पालन किया उसे प्राप्त हुआ, दर्शाया गया है। अतएव हमारे विचार मे णायकुमारचरिउ कथाकाव्य न हो कर पौराणिक शैली मे लिखा हुआ चरितकाव्य है। अपभ्रंश के मुख्य चरितकाव्य इस प्रकार है—१. सुकुमालचरिउ—विबुध श्रीधर, २ णेमिणाहचरिउ (अमरकीर्तिगणि), ३ महावीरचरिउ—(अमरकीर्तिगणि), ४. जसहरचरिउ (अमरकीर्तिगणि), ५. सुलोयणाचरिउ (देवसेनगणि), ६. पज्जुण्णचरिउ (सिंह कवि), ७. पासणाहचरिउ (देवदत्त), णेमिणाहचरिउ (लक्ष्मण), बाहुबलिचरिउ (धनपाल), चन्दप्पहचरिउ (भ०-यशःकीर्ति), पासणाहचरिउ (श्रीधर), संभवणाहचरिउ, वरांगचरिउ (तेजपाल), सुकुमालचरिउ (मुनि पूर्णभद्र), अमरसेनचरिउ णायकुमारचरिउ (कवि माणिक्कराज) जंबूसामिचरिउ (सागरदत्तसूरि), सांतिणाहचरिउ (शुभकीर्ति), पासणाहचरिउ (पद्मकीर्ति), वरांगचरिउ (देवदत्त), सुलोयणाचरिउ (देवसेनगणि), पासणाहचरिउ (असवाल) सुभद्राचरित (अभयगणि), वज्रसामिचरिउ (जिनप्रभसूरि), णेमिणाहचरिउ, चंदप्पहचरिउ (दामोदर), पासणाहचरिउ (देवचंद), सांतिणाहचरिउ (महिन्दु), पासचरिय (तेजपाल), वर्द्धमानचरित्र (श्रीधर), सुकमालचरित्र (श्रीधर) सांतिणाहचरिउ (कवि ठाकुर) तथा मल्लिणाहकव्व (जयमित्रहल), इत्यादि। पं० रयधू के अधिकांश काव्य चरितकाव्य या पौराणिक है।

---

१ डॉ० हरिवंश कोछड अपभ्रंश-साहित्य, पृ० १८१-१६।

२ आहासमि सुयपंचमिहे फलु णायकुमारचारुचरिउ।१,१।

३. देखिए, णायकुमारचरित की भूमिका, पृ० ३५-३७।

क्षुल्लक कथाएँ

अपभ्रंश-साहित्य में कथा-साहित्य प्रभूत राशि मे उपलब्ध है। छोटी-छोटी कथाएँ अनेक भण्डारो मे दबी हुई पडी हैं। इन में से अधिकांश कथाएँ धार्मिक हैं, जिन में उपदेश तथा व्रत-माहात्म्य वर्णित है। सभी कथाएँ पद्यबद्ध हैं। अमरकीर्तिगणि की 'पुरन्दरविहाणकहा', लाखू की 'चंदणछट्ठीकहा', रयधू की 'अणथमीकहा' आदि ऐसी ही कथाएँ है, जो पद्यबद्ध होने पर भी विवरणात्मक हैं। भ० ललितकीर्ति विरचित 'जिणरत्तिकहा' मे रात्रिभोजन का निषेध तथा उस के फल का वर्णन है। ये कथाएँ आकार में छोटी तथा इतिवृत्तात्मक है। इन कथाओं मे कुछ विधान कथाएँ भी है, जो व्रतों के विधान से समन्वित है। विमलकीर्ति कृत 'सोखवइविहाणकहा' तथा भ० विनयचन्द्र रचित 'णिज्झरपंचमीविहाणकहा' आदि, ऐसी ही रचनाएँ हैं। अपभ्रंश मे कई कथाकोश भी मिलते हैं। श्रीचन्द कृत 'कहाकोसु' अपभ्रंश का सब से बड़ा कथा-कोश है। इस में तिरेपन सन्धियाँ है। इन्ही का 'रयणकरउसावयायार' इक्कीस सन्धियों की रचना है, जिस में सम्यग्दर्शन के विभिन्न अंगो मे प्रसिद्ध होने वालों की कथाएँ संकलित हैं। पं० रयधू कृत 'पुण्णासवकहाकोसु' मे पुण्य का बन्ध, करने वाली कथाएँ तेरह सन्धियो में वर्णित है। इसी प्रकार 'अणुवयरयणपईव' मे लक्ष्मण कवि ने आठ सन्धियो में पाँच अणुव्रतो (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह) से सम्बन्धित कथाओ के माध्यम से गृहस्थों को सदाचार पालन करने का उपदेश दिया है। इन के अतिरिक्त और भी कथाएँ, विधान, कथाकोश तथा उपदेशात्मक विविध रचनाएँ है, जो मनुष्य जीवन की विभिन्न घटनाओ पर प्रकाश डालती हुई हमे सन्मार्ग पर चलने का उपदेश देती हैं। स्पष्ट ही इन कथाओ का उद्देश्य मनोरंजन न हो कर रीति-नीति की शिक्षा प्रदान करना है।[1]

अपभ्रंश की कई कथाएँ स्वतन्त्र रूप मे या अन्य भाषाओं मे लिखित कथाओं के साथ छोटे-बड़े गुटको मे लिखी हुई मिलती है। धूलियागंज, आगरा के जैन मन्दिर में स्थित भण्डार के कथाकोशो का विवरण इस प्रकार है—प्रथम कथाकोश मे निबद्ध कथाएँ संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनो में है। दूसरे कथाकोश मे अपभ्रंश मे लिखित कथाएँ हैं—जिनपूजापुरन्दरविधान (षट्कर्मोपदेश से लिखित), चन्दनषष्ठी (लाखू) निर्झरपंचमी (विनयचंद), पाखवइ (करकण्ड से लिखित), पाखवइकथा, सुख-सम्पत्ति विधान कथा, अनन्तविधान, दुधारसि नरगउतारी विधान कथा, सुगन्धदशमी विधान, रोहिणीचरित, निर्दुःखसप्तमी विधान, जिनरात्रिविधान कथानक और जयमाल। ये कथाएँ छह कड़वकों से ले कर बीस कड़वकों तक मे लिखित मिलती है। रोहिणी चरित दो परिच्छेदो की रचना है। साधारणतया ये कथाएँ विवरण मात्र है, जिन मे साधारण रूप से कथा वर्णित है।

---

१. पं० परमानन्द शास्त्री 'अपभ्रंश भाषा का जैन कथा साहित्य' अनेकान्त, वर्ष ८, किरण ६ ७, पृ० २७३-७८ तथा—देवेन्द्रकुमार जैन : 'अपभ्रंश कथाकाव्य', 'शोध-पत्रिका' १२,४।

इन कथाओं में काव्य तत्त्व मुख्य न हो कर इतिवृत्त की प्रधानता है। इस लिए वर्णनों में चमत्कार या विच्छित्ति न हो कर कथन मात्र है। उदाहरण के लिए नगर, वन-उपवन, उद्यान, प्रकृति आदि के वर्णन इन में नहीं मिलते। विधान-पूजा का वर्णन देखिए—

चमरकलस चंदोय धयावलि वंदणमाल रंभ सोहावलि।
गीय णट्ट मंगल णिग्घोसहि कोट्टय अक्खय पुंज सुतोसहि।

जल चन्दण तंदुल बहु फुल्लहि, चरु दीवावलि धूव महल्लहि। (त्रिकालचउवीसी, ब्रह्मसाधारण, ३) ऐसे वर्णन भी इन रचनाओं में विरल हैं। नगर-वर्णन में—

मागहदेस मज्झि कंचणपुरु राउ पसिद्धउ पिंगलु णं सुरु। (वही, ४)

जैसी पंक्तियाँ ही मिलती हैं। ये कथाएँ आकार-प्रकार में इतनी छोटी हैं कि वस्तु किसी न किसी घटना का प्रकाशन मात्र है। इसलिए उन में वैविध्य नहीं मिलता। वे धार्मिक वृत्तों से नियोजित तथा कल्पित जान पड़ती हैं। संक्षेप में, कथा इन में मुख्य है और काव्य तत्त्व गौण।



पंचम अध्याय

अपभ्रंश-कथाकाव्य की सामान्य प्रवृत्तियाँ

कथावस्तु

अपभ्रंश के प्रायः सभी कथाकाव्यों की कथावस्तु लोकजीवन से उद्धृत है। उन मे कवि की कल्पना का मेल तथा धार्मिकता का आवरण किन्ही पौराणिक रूढ़ियों के साथ लक्षित होता है। कथाकाव्यों की अपेक्षा चरितकाव्यो पर पौराणिक प्रभाव अधिक है। आलोचित कथाकाव्यो मे कथावस्तु उद्देश्य विशेष से नियोजित है। ऐसी कथाएँ किसी व्रत-माहात्म्य का फल प्रकाशित करती है। भ० क० मे यदि श्रुतपंचमी व्रत का फल दर्शाया गया है तो श्रीपालकथा मे सिद्धचक्र विधान का माहात्म्य और उस का फल वर्णित है। जो कथाएँ किसी उद्देश्य विशेष को ले कर नही लिखी गयी वे मूल रूप में लोककथाएँ हैं, जिन पर धार्मिक वातावरण तथा सामाजिक विधान का रंग-रूप चढा दिया गया है। जि० क० और विलासवती की कथाएँ मूलतः लोककथाएँ ही है। इन कथाओं मे लोकजीवन की वास्तविकता तथा कथाभिप्रायो का सुन्दर योग दिखाई देता है। अतएव वस्तु की प्रथम सामान्य प्रवृत्ति लोक-जीवन की उद्धरणी है, जो किसी न किसी धार्मिक अथवा मानवीय आस्था से सम्बद्ध है।

उक्त कथाएँ शृंखलाबद्ध रूप से वर्णित हैं, जिन मे कई कहानियाँ एक साथ जुडी हुई हैं। अतएव कई स्थानों पर कथाओ की पुनरावृत्ति किसी न किसी पात्र के विवरण से हुई है। उदाहरण के लिए, भविष्यदत्त भविष्यानुरूपा को व्यापार के लिए भाई के साथ घर से निकलने, भाई से छले जाने और भटकते हुए तिलकद्वीप मे आ पहुँचने की कहानी सुनाता है। इसी प्रकार घर लौट कर माँ से मिलने पर वह समूचा वृत्तान्त सुनाता है। इसी प्रकार जि० क०, श्रीपालकथा तथा अन्य कथाकाव्यो मे कवि स्वयं या किसी पात्र के मुख से एक से अधिक बार कहानी को दुहराते लक्षित होते हैं। अतएव यह भी कथाकाव्यों की एक सामान्य प्रवृत्ति है।

वस्तु संस्कृत कथाओ की भाँति सरस होने पर भी गद्य में वर्णित न हो कर पद्य मे वर्णित है।[1] नाटकीय सन्धियों का निर्वाह भी महाकाव्यो की भाँति इन कथाकाव्यो में देखा जाता है। कहानियों की भाँति कुतूहल, औत्सुक्य और घटनाओ का चमत्कार आदि से अन्त तक इन कथाकाव्यों में मिलता है।

---

१. कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम्। साहित्यदर्पण, ६, ३३२।

कथानक का विकास मानव-जीवन की पूर्णता को ध्यान में रख कर क्रमशः होता है, जिस मे नायक-नायिका संयोग-वियोग के आवर्तों में झूल कर अन्त मे संसार से निवृत्त हो कर पारमार्थिक प्रवृत्ति की ओर उन्मुख होते है। भारतीय जीवन का लक्ष्य अन्ततोगत्वा परम पुरुषार्थ की प्राप्ति है। अतएव धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों की क्रमशः साधना तथा अवाप्ति के लिए नायक-नायिका का प्रयत्न तथा सफलता-प्राप्ति का वर्णन ही उक्त कथाकाव्यों मे दृष्टिगोचर होता है।

राजशेखर ने प्राचीनों की दृष्टि से तीन तथा निजी मत से सात प्रकार की कथावस्तु का उल्लेख किया है। दिव्य, दिव्यमानुष और मानुष ये तीन भेद प्राचीन काल से ही साहित्यशास्त्र मे वर्गीकृत हैं, किन्तु पं० राजशेखर पातालीय, मर्त्यपातालीय, दिव्यपातालीय और दिव्यमर्त्यपातालीय के भेद से सात प्रकार मानते है।[1] यही नही, दिव्यमानुष के उन्होने चार उपभेद माने हैं।[2] वस्तुतः अर्थव्याप्ति विषयक यह भेद पात्रो की दृष्टि से वर्गीकृत है, जिस में नायक को केन्द्र मे रख कर वस्तु की योजना की जाती थी। और इसी प्रकार संस्कृत-साहित्य में नायकों की कोटि के अनुसार प्रबन्ध-संघटना तथा उस की अभिधा का विधान होता था। किन्तु प्राकृत और अपभ्रंश-साहित्य मे यह व्याप्ति पूर्णतया चरितार्थ नही मिलती। अपभ्रंश के कथाकाव्यों में स्पष्ट रूप से नायक के नर से नारायण बनने की गाथा गर्भित है। इस लिए नायक के उदात्त-अवदात होने के कठोर बन्धन का उन मे प्रतिपालन नही हुआ है। परन्तु नायक मे औदार्य, शौर्य, क्षमा, तितिक्षा, धैर्य, साहस और विवेकशीलता आदि गुणों का समावेश अवश्य दर्शाया है।

अपभ्रश के कथाकाव्यों की वस्तु उत्पाद्य अर्थात् कल्पित है, क्योकि लोककथाएँ प्रायः कल्पित ही मिलती है। भले ही उन मे वर्णित या कही जाने वाली घटना सच्ची हो, पर जनश्रुतियों के रूप मे प्रचलित होने से कई प्रकार के परिवर्तन और परिवर्धन उन मे देखे जाते है। लेकिन ये कथाएँ सच्ची मान कर कही गयी हैं, क्योंकि धार्मिक व्रत तथा अनुष्ठानो मे आस्था उत्पन्न करने के लिए कथाओं का स्वाभाविक तथा गतिशील होना आवश्यक है। इन मे लोकमनोविज्ञान तथा जन-जीवन की यथार्थता का भलीभाँति समावेश दिखाई देता है। इस लिए अपभ्रंश के कथाकाव्यों मे लोकमानस, सामाजिक रीति-नीति तथा रूढ़ियों की प्रबलता लक्षित होती है। प्रथम शताब्दी मे ही जैन कथाओ में कथानक-रूढ़ियों का समावेश हो गया था, जिन में लोक-जीवन तथा

१. "स त्रिधा" इति द्रौहिणि", दिव्यो, दिव्यमानुषो, मानुषश्च। "सप्तधा" इति यायावरीय"; पातालीयो, मर्त्यपातालीयो, दिव्यपातालीयो, दिव्यमर्त्यपातालीयश्च। काव्यमीमांसा, नवम अध्याय।

२. दिव्यमानुषस्तु चतुर्धा। दिव्यस्य मर्त्यगमने, मर्त्यस्य च स्वर्गगमन इत्येको भेद"। दिव्यस्य मर्त्यभावे, मर्त्यस्य च दिव्यभाव इति द्वितीय"। दिव्येतिवृत्तपरिकल्पनया तृतीय। प्रभावाविर्भूतदिव्यरूपतया चतुर्थ। वही नवम अध्याय।

लोक-विश्वासों का जीता-जागता स्वरूप मिलता है ।[१] और इस का सब से बड़ा प्रमाण यह है कि आज भी ये कथाएँ किसी न किसी रूप में उन्ही अभिप्रायों तथा घटनाओं के साथ देश-विदेशों में सुनी जाती हैं ।

कथा-रूप

अपभ्रंश के इन कथाकाव्यों मे प्रयुक्त सभी कथाओं का रूप ऐकिक कहानी की भाँति है, जिस मे कई सरल कथाओ से मिल कर एक बृहत्कथा बनती है । मूल रूप मे कथा बहुत छोटी रहती है । किन्तु वस्तु-वर्णन विभिन्न अभिप्रायमूलक घटनाओं के योग से समूचे जीवन का चित्र चित्रित करने वाले प्रबन्ध काव्य का रूप ग्रहण कर लेता है । उदाहरण के लिए, भविष्यदत्तकथा मे भविष्यदत्त की कथा के साथ तीन अन्य उपकथाएँ जुड़ी हुई हैं । मुनि के आशीर्वाद से भविष्यदत्त का उत्पन्न होना तथा पाँच सौ व्यापारी एव भाई बन्धुदत्त के साथ यात्रा के लिए जाना और छल से भाई के द्वारा मैनागद्वीप मे भविष्यदत्त को छोड़ दिया जाना, वहाँ से भविष्यदत्त का तिलकपुर मे पहुँचना और भविष्यानुरूपा से मिलना, बन्धुदत्त के लौट कर आने पर उसी द्वीप मे फिर से मिलने और छल से पुनः भाई को अकेला छोड कर भाभी के साथ घर पहुँचने की कथा एकसूत्र मे बद्ध है । किन्तु पूर्व विदेह क्षेत्र में देवेन्द्र का यशोधर नाम के मुनिराज से पूर्व भव के मित्र धनमित्र की कथा का पूछना और मुनिदेव का इस भव में भविष्यदत्त का वर्णन करना और विपत्ति मे पड़ा हुआ बताना, जिसे सुन कर सुरेश्वर का तिलकपुर मे आना और भविष्यदत्त को सोता हुआ देख कर भीत पर अक्षर लिख कर मणिभद्र यक्षेश्वर को कह कर जाना, एक दूसरी कथा है; जो उपवाक्य की भाँति आधिकारिक कथा से जुडी हुई है । इसी प्रकार भविष्यानुरूपा की कथाएँ तथा विजयार्धवासी मनोवेग विद्याधर की कथा भिन्न कथाएँ होने पर भी उपकथाएँ हैं । कहीं-कहीं श्रृखलित कहानी के रूप भी मिलते है । जैसे कि, जिनदत्त सिहलद्वीप पहुँच कर मालिन से राजकुमारी श्रीमती की कथा सुनता है और वहाँ पहुँचकर जिनदत्त कुमारी को कहानी सुनाता है । उस कहानी का आधिकारिक और प्रासगिक कथा से कोई सम्बन्ध नही है । अतएव वह कहानी के भीतर की कहानी है, जो विकसनशील कथातत्वो से उद्भूत हुई है । अन्य कथाओ मे भी श्रृखला रूप में कथाएँ आबद्ध है, जिन मे मुख्य रूप से विलासवती कथा मे एक कथा से दूसरी और दूसरी से तीसरी कई कथाएँ एक के बाद एक उपजती चली जाती है । संक्षेप में, इन कथाकाव्यो का कथा-रूप ऐकिक तथा श्रृंखलाबद्ध रूपों मे दृष्टिगोचर होता है, जो बन्ध की दृष्टि से कसा हुआ तथा प्रभावपूर्ण है ।

---

१. सी० एस० मल्लिनाथन् : तामिल भाषा का जैन साहित्य, पृ० १० ।

कथा-प्रकार

विषय की दृष्टि से अपभ्रंश के कथाकाव्य तीन प्रकार के मिलते हैं। ये तीन प्रकार हैं—प्रेमाख्यानक, व्रतमाहात्म्य प्रदर्शक तथा उपदेशात्मक। विलासवती, जिनदत्त-कथा और पद्मश्रीचरित (पउमसिरीचरिउ) प्रेमाख्यानक कथाकाव्य हैं; जिन मे विभिन्न संकटों एवं आपत्तियों मे डूबते-उतराते नायक-नायिका वियुक्त हो कर सच्चे प्रेम के कारण अन्त में एक-दूसरे से मिलते हैं। इन दोनो ही कथाकाव्यों मे नायक-नायिका बिछुड कर एक-दूसरे से मिलने की आशा छोड़ बैठते हैं, किन्तु किसी ऋषि या साधु के कहने से मिलने का उपक्रम करते हैं और अन्त मे संयोग हो जाता है। सनत्कुमार और विलासवती का प्रेम तो विवाह होने से पूर्व ही स्थिर हो जाता है। नायिका नायक की मृत्यु का झूठा समाचार सुन कर सती होने का उपक्रम करती है, किन्तु असफल हो कर कई स्थानो मे ले जायी जाती है और अन्त मे एक आश्रम मे पहुँच जाती है, जहाँ नायक भी भटक कर पहुँचता है। जिनदत्त का प्रेम भी पुतली के रूप मे उत्कीर्ण विमलमती के रूप को देख कर उस पर इतना आसक्त हो जाता है कि काम की दसवी अवस्था तक उस का मनःसन्ताप बढ जाता है और उस के साथ विवाह होने पर ही वह शान्त होता है। इस प्रकार इन दोनो कथाकाव्यो मे विवाह के पूर्व ही प्रेम-भाव का उदय होना, मूर्ति-दर्शन, प्रत्यक्ष दर्शन से प्रेम का बीज अंकुरित होना, किसी बगीचे में या वाड़ी मे नायिका के मिलने पर उस का वृद्धिगत होना तथा दूती के माध्यम से पुष्पित होना और विघ्न-बाधाओ रूपी झकोरो से पुष्प का टूट कर गिरना, पर अन्त मे दैवी-पवन से पुष्प का खिल कर वृक्ष रूपी नायक से संयोग हो जाना आदि बातें समान रूप से विलासवती, जिनदत्त और पद्मश्रीचरित मे वर्णित हैं।

व्रतमाहात्म्य के फल वर्णनस्वरूप भविष्यदत्त, सिद्धचक्रकथा और सुदर्शन-चरित आदि कथाकाव्य वर्णित है। भ० क० मे यदि श्रुतपंचमी व्रत का माहात्म्य प्रदर्शित है तो सिद्धचक्रकथा मे सिद्धचक्र विधान का माहात्म्य वर्णित है और सुदर्शन-चरित मे पंचनमस्कार का माहात्म्य-वर्णन के फलस्वरूप सुदर्शन की कथा वर्णित है।

उपदेशात्मक कथाकाव्यो मे धर्मपरीक्षा और सप्तव्यसनकथा ही उपलब्ध हैं। इन दोनों ही कथाकाव्यों मे असत्प्रवृत्तियो, बुरी आदतो तथा बुरे मार्ग को छोड़ कर जैनधर्म के अनुकूल आचरण करने का उपदेश अभिहित है। अतएव इन मे कथा अत्यन्त अल्प अथवा अत्यन्त संक्षिप्त है और इतिवृत्तात्मकता तथा उपदेश की प्रधानता है। इनमे वर्णन की प्रवृत्ति विशेष न हो कर विवरण ही मुख्य है। इस लिए कथा के व्याज से धर्मका उपदेश ही इनका मुख्य प्रतिपाद्य है।

उक्त कथा-प्रकारो मे से उपदेशात्मक कथाओ को छोड़ कर दोनो मे आधिकारिक कथा के साथ अन्य प्रासंगिक कथाओ की भी योजना मिलती है। कहीं-कहीं अवान्तर कथाओं तथा पूर्व भव की कथाओं का भी विस्तृत वर्णन दृष्टिगत होता है।

प्रबन्ध-संघटना

अपभ्रंश के सभी कथाकाव्यो की वस्तु सन्धिबद्ध है। प्रबन्ध-संघटना में सभी काव्यो मे नाटकीय सन्धियों, अर्थ-प्रकृतियों एवं कार्यावस्थाओं का निर्वाह देखा जाता है। किन्तु वि० क० को छोड़ कर पताका-रचना अन्य कथाओ में नहीं मिलती है। साधारणतया इन कथाकाव्यों मे नायक के द्वारा नायिका तथा राज्य की प्राप्ति का वर्णन है, इसलिए कथा का उठान नायक की द्वीपान्तर-यात्रा से आरम्भ हो कर राजा बनने तक चरमोत्कर्ष पर पहुँच कर ढल जाता है। अतएव राज्य करने और उस के बाद की अन्य घटनाओ मे मुनि के नगरागमन और साधु बनने की घटनाओ को छोड़ कर अन्य कोई घटना इन कथाकाव्यों मे नही मिलती। और न उस के बाद के अंश की कथा मे कसावट, गति और उतनी रोचकता निहित है, जितनी की कथा के इस अंश के पहले के भाग मे लक्षित होती है।

इन कथाकाव्यो की वस्तु का आरम्भ कतिपय साहित्यिक रूढ़ियो के साथ होता है। काव्य-रचना के प्रारम्भ मे मंगलाचरण, आत्मविनय-प्रदर्शन, कथा लिखने का प्रयोजन, कथा-प्रेरक का संकीर्तन, सज्जन-दुर्जन-वर्णन, आत्म-परिचय, श्रोता-वक्ता का उल्लेख तथा प्रत्येक सन्धि के आरम्भ मे या अन्त मे ईश्वर-वन्दना (जिनस्तुति) और रचना के अन्त मे आशीर्वाद आदि काव्य-रूढ़ियो का पालन हुआ है। उक्त कथाओ मे इन में से मंगलाचरण, आत्मपरिचय तथा कथा लिखने का प्रयोजन एवं कथा लिखवाने वाले का उल्लेख अवश्य आगे-पीछे देखा जाता है।

कथाकाव्यों का नामकरण घटना विशेष पर आधारित न हो कर पात्रो के नाम पर ही अधिकतर अभिहित है। यद्यपि व्रतकथाएँ घटना विशेष पर आधारित है, पर कथा का नाम प्राय. नायक के नाम पर प्रसिद्ध रहा है। व्रतकथाओं के नाम पर सिद्ध-चक्रकथा और श्रुतपंचमीव्रतकथा कहा गया है। किन्तु श्रुतपंचमीकथा के नाम से प्रसिद्ध न हो कर भ० क० भविष्यदत्त के नाम से आख्यात है। हाँ, सिद्धचक्रकथा अवश्य लेखक ने घटना विशेष के आधार पर नाम दिया है। किन्तु यथार्थ मे इस का नाम श्रीपालकथा है। अन्य कथाकाव्यों मे सप्तव्यसनकथा घटनाओ के आधार पर दिया हुआ नाम है। शेष रचनाओं जैसे जिनदत्तकथा, भविष्यदत्तकथा, सुदर्शनचरित तथा विलासवतीकथा और पद्मसिरीचरित आदि के नाम नायक-नायिकाओ के आधार पर रखे गये हैं। परन्तु धर्मपरीक्षा की घटनाएँ कार्य विशेष से सम्बद्ध होने के कारण धर्म की श्रेष्ठता दर्शाने के फलस्वरूप उस का नाम धर्मपरीक्षा रखा गया है। इस प्रकार घटना, कार्य तथा नायक-नायिकाओं के नामो के आधार पर इन कथाकाव्यो के नाम अभिहित हैं।

विषय की दृष्टि से अपभ्रंश के कथाकाव्य तीन रूपो में मिलते हैं—प्रेमाख्यानक, व्रतमाहात्म्यप्रदर्शक तथा उपदेशात्मक। इन मे से उपदेशात्मक कथा को छोड़ कर

दोनों प्रकार की कथाओं मे आधिकारिक कथा के साथ ही अन्य प्रासंगिक कथाओं की भी योजना मिलती है। आधिकारिक कथा का सूत्र आदि से अन्त तक परिव्याप्त रहता है। किन्तु इन का सम्बन्ध घटनाओं के क्रमिक विकास में न हो कर कथा-सूत्रों को जोड़ने तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्त के अनुसार पूर्व भव की कथा से सम्बन्ध स्थापित करने में है। इस प्रकार सभी कथाकाव्यों मे कथावस्तु लोक-जीवन से गृहीत होने पर भी अन्त मे कवि की कल्पना उद्देश्य विशेष से उस का सम्बन्ध पूर्व भव की घटनाओ से जोड़ती लक्षित होती हैं।

यद्यपि अपभ्रंश के कथाकाव्यों की वस्तु ख्यातवृत्त है, पर लोक कथाओं के रूप में उन का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि ये लोक कथाएँ है, जिन पर धार्मिक आवरण काव्य-रूढ़ियों तथा कथानक के अभिप्रायो के साथ आवेष्टित है। अतएव आलोचित कथाएँ प्राकृत-साहित्य से गृहीत होने पर भी स्पष्ट रूप से एक ही कथा जितनी भाषाओ में लिखी मिलती हैं उन सब मे कुछ न कुछ परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है, और दूसरे इन कथाओ को लोक से सुन कर लिखे जाने के संकेत मिलते है। तीसरे, इन में लोकजीवन का पूरा पुट है। लाखू ने स्वयं लिखा है कि मैं ने जिनदत्त-कथा को अर्हद्दत्त (जिनदत्त) से सुन कर लिखा है।

> वणि अरुहदत्त कह कहहि तेम
> अहिणव विरइवि महु पुरउ जेम। जि० क० १,३।

तथा—

> कोलिय उववणे अरुहदत्तो घणे।
> तहिं सदयागउ सवलि जिय दिग्गउ। वही, ३,९।

जिनदत्त का दूसरा नाम अर्हद्दत्त लिखा है। इस प्रकार विबुध श्रीधर ने किसी आचार्य के मुख से सुन कर भविष्यदत्तचरित्र लिखा था।

> चन्द्रप्रभस्य जगतामधिपस्य तीर्थाज्जातेयमद्भुतकथा कविकण्ठभूषा।
> विस्तारिता च मुनिनाथगणक्रमेण ज्ञाता मयाप्यपरसूरिमुखाम्बुजेभ्य.।
> भ० क० (श्रीधर), १,५२।

अतएव अपभ्रंश के कथाकाव्यो की कथावस्तु पूर्ववर्ती काव्य-साहित्य के अनुरूप लिखी जाने पर भी किसी आचार्य या व्यक्ति के मुख से सुन कर लिखी गयी है अथवा प्राकृत की कथाएँ जनश्रुतियों के रूप मे प्रचलित कथाओ का आधार ले कर लिखी गयी हैं। यही कारण है कि इन कथाओ मे प्रयुक्त वस्तु तथा कथानक रूढ़ियाँ अन्य लोक कहानियो से बहुत मिलती-जुलती है।

संक्षेप में, ये मनुष्य लोक की कथाएँ है, जिन मे चमत्कारपूर्ण बातों का

समावेश पाठकों के मन पर पूरा-पूरा प्रभाव डालने के लिए किया गया है। कथानक की संयोजना में धार्मिक व्रत का महात्म्य तथा मनुष्य जीवन के क्रमिक विकास की सरणि का रूप पूर्ण रूप से समाहित है। साथ ही लोक-जीवन से सम्बद्ध होने के कारण इन में सामाजिक व्रत-विधानों तथा रीति-नीति का विवरण मिलता है। सभी कथाओं मे घटनाओं का क्रमिक विकास दिखाई पडता है। वि० क० में यदि कथा का आरम्भ यकायक नाटकीय दृश्य की भाँति चित्रित है तो भ० क० मे पौराणिक विधि से और जि० क० मे अलंकरणमूलक। लगभग सभी रचनाओ मे पूर्व भव की कथा तथा अन्य अवान्तर कथाओं की भी योजना हुई है। आधिकारिक कथा छोटी-छोटी कई कथा-कडियों के मेल से शृंखला रूप मे निबद्ध है। अतएव कथा-संघटना जटिल न हो कर सरल है। भ० क० जायसी के पद्मावत की भाँति पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो विभिन्न खण्डों मे विभक्त है। इसी प्रकार वि० क० भी दो खण्डो मे विभक्त जान पडती है। आधिकारिक कथा में घटनाओं के उठाव में वातावरण तथा संयोग का अद्भुत सामंजस्य है। कही-कही दैवो संयोग से भी काम लिया गया है। वि० क० मे और जि० क० मे नायक के जीवन में बाह्य संघर्ष और आन्तरिक संघर्षों की मुख्यता होने से घटनाओ मे कई मोड़ दृष्टिगोचर होते है, जिन से कथानक मे आकस्मिक गतिशीलता आ गयी है। सामान्य रूप से सभी कथाकाव्यो मे बाह्य और आन्तरिक सघर्ष का मेल प्रतिपादित है। घटनाएँ धीरे-धीरे आगे बढती है और संघर्षों की क्रिया-प्रतिक्रिया मे उग्र बन कर चरम सीमा पर पहुँच जाती है तथा अन्त मे बडी तीव्रता से नियति की अवस्था में दिखाई देने लगती है। वस्तुतः कथानक की इन स्थितियो का सम्बन्ध फलागम एवं फलप्राप्ति से है। जहाँ कार्य सिद्ध हुआ वही कथा की धारा विरत हो कर बिखर जाती है। अतएव इन कथाओं के अन्त मे मिलने वाली पूर्व भव की कथाओ का सम्बन्ध मुख्य कथा से न हो कर हेतु रूप मे पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्थापित करने तथा जन्म-जन्मान्तरो के कथासूत्रो से जोडने मे हैं। अतएव इन मे घटनाओ का विकास न दिखा कर उस का विवरण मात्र का उल्लेख मिलता है। किसी-किसी कथा मे मुनिव्रत के पालन तथा तप करने का वर्णन है और जि० क० मे तीनों लोको की रचना का विस्तृत वर्णन है। ये वर्णन कथा के अन्त मे होने से कथा की गतिशीलता मे कोई व्यवधान या बाधा उपस्थित नही हुई है। प्रयोजन की निवृत्ति के पश्चात् ही ऐसा हुआ है। वस्तुतः साहित्यिक प्रयाजन लौकिक सुख की प्राप्ति होने पर ही हो जाता है। किन्तु इन सभी कथाकाव्यो मे पारलौकिक सुख (स्वर्ग एवं मुक्ति-प्राप्ति) भी पुनर्जन्म के सिद्धान्त तथा धार्मिक व्रत-कथाओं के फल रूप मे वर्णित है। इस प्रकार दुहरे प्रयोजन इन काव्यो मे भलीभाँति निहित है। यथार्थ मे कथा की संयोजना धार्मिक व्रत का माहात्म्य तथा मनुष्य जीवन के क्रमिक विकास को समझने के निमित्त हुई है। और इसी लिए ये सभी कथाएँ कथानक-रूढ़ियो से समन्वित है, जिन मे मध्यकालीन भारतीय जीवन की सामान्य झलक झलमलाती लक्षित होती है।

वस्तु-वर्णन

इन कथाकाव्यों में वस्तु-वर्णन परम्परामुक्त, श्लिष्ट और परम्परामुक्त तीनों रूपों में मिलता है। परम्परागत वर्णनों में रूढ़ उपमानों, एक ही प्रकार से वस्तु का वर्णन तथा रूढ़ कल्पनाओं का परिपालन दृष्टिगोचर होता है। नगर, राजा, समुद्र, विवाह, युद्ध, कुमार-जन्म, मद्यपान-गोष्ठी और रूप-वर्णन आदि परम्परित हैं, जिन में अधिकतर रूढ़ कल्पनाओं तथा उपमानो का प्रयोग हुआ है। परन्तु संस्कृत के लक्षण ग्रन्थों मे उल्लिखित कवि-समय का पूर्णतया पालन इन मे नही हुआ है। फिर भी, काव्यगत कुछ रूढ़ बातें प्रयुक्त हैं। उदाहरण के लिए, समुद्र को परम गम्भीर कहना, सुन्दर नगरी को स्वर्ग का एक खण्ड बताना, वसन्त मे कोयल का कूजना और वन-वर्णन मे वृक्षो की नामावली प्रस्तुत करना आदि। श्लिष्ट वर्णनो मे कुमार जिनदत्त तथा समुद्र के वैभव की तुलना, वनवर्णन तथा सन्ध्यारजनीवर्णन आदि स्थल दृष्टिगत होते हैं।

मीणमयरिल्लओ मंगलसमिल्लओ णीलर्हविणिच्छरो वोभुव सविच्छरो।
णं सुकइसच्छओ दंसियपयच्छओ पेयपयमुण्णओ गीवयणिहुण्णओ।
कण्हुव सलोणओ संखसिरिमाणओ विझगिरिसण्णिहो पोसियसमयइहो।
वेयलयधारओ णं सुपडिहारओ मेहुवकयारवो कंठुव सहारओ। (४,२०)

कसणकज्जल अलसिकुसुमयलि अलिसिमिर मसिसम सरिस।
घणतमालदलपडलवण्णउं दहदिसिवहपसरियउ तिमिरु तेण भुवणयलु छण्णउं।

तममोहिउ सुन्दरयरुवि भुवणु बहूउ रउद्दु।
खलसंगेलि चित्तु इउ सज्जण होइ जु खुद्दु॥ (३,२४)

इन वर्णनो मे श्लेष अलकार तथा उत्प्रेक्षा आदि का चमत्कार लक्षित होता है। अलंकृत वर्णनों मे जि० क० मुख्य है, जिस मे राजा, नगरी आदि का वर्णन अलंकृत है। ऐसे वर्णनो मे अलंकारो की ही विच्छित्ति देखी जाती है। यदि उन्हे अलकारनिरपेक्ष देखा जाय तो वर्णन में सौन्दर्य नही रह जाता है। वस्तुत. अपभ्रंश के कथाकाव्यों मे श्लिष्ट एवं अलंकृत वर्णन बहुत कम है। कही-कही प्रकृति की पृष्ठभूमि मे तथा वातावरण के बीच अवश्य सुन्दर चित्र दिखाई देते है।

परम्परामुक्त वर्णनों में तेल चढाना, शकुन-अपशकुन, बरात, पंगत (पंक्तिभोज), समस्यापूर्ति करना तथा पूजा-स्तवन आदि के वर्णन निहित हैं। इन वर्णनो मे लोकगत उपमानो का प्रयोग होने से तथा शैली की सरलता और सरसता से वर्णन अत्यन्त सजीव बन पडे है। लोकमूलक गीति शैली मे वर्णित होने से इन में माधुर्य और प्रवाह है। ये वर्णन सर्वत्र प्रसाद गुण से युक्त है।

भाव-व्यंजना

भाव-व्यंजना की दृष्टि से मानवीय प्रेम की प्रतिष्ठा तथा लोकव्यापी सुख-दुःख मय घात- प्रतिघातों के बीच संयोग और वियोग की विवृति एवं परमपद की प्राप्ति समान रूप से सभी कथाकाव्यों मे वर्णित है । भ० क० मे यदि माता और पुत्र का अमित स्नेह आप्यायित है तो विलासवती में नायक और नायिका का सच्चा एवं पवित्र प्रेम की उत्कृष्टता तथा श्रीपाल और सिद्धचक्रकथा मे मनुष्य की भोगलिप्सा और नारी के अवदात प्रेम की गाथा वर्णित है । अतएव संयोग और वियोग की विभिन्न स्थितियों में मानसिक दशाओ का सहज चित्रण हुआ है । आत्मगर्हा, ग्लानि, पश्चात्ताप, विस्मय, उत्साह, क्रोध, भय आदि अनेक भावों का संचरण विभिन्न प्रसंगों मे लक्षित होता है ।

कई वर्षों के बाद बेटे से मिलने पर सेठानी की आँखें आँसुओं से गीली हो जाती है । वह उसे गोद में उठा लेती है । मातृस्नेह उमड पड़ता है । स्तनों से दुग्ध की धारा बह उठती है । वह बेटे का सिर चूमती है और आलिंगन करती है ।

सेट्ठिणि पुणु असुजलद्दवत्थ — उच्छंगे करेवि सुउ लवइ वत्थ ।
तुहुं जायउ अज्जवि मज्झु पुत्त — महुखीरपवाहें भरिय सोत्त ।
सिरि चुंबेवि आलिंगिवि बहुत्तु — आणंद सुय सिंचियउ पुत्तु । (६,११)

इस प्रकार पुत्र के संयोग से हर्षातिरेक मे माता का वात्सल्य भाव यहाँ अभि-व्यंजित है । इसी प्रकार जिस समय भविष्यदत्त भाई के साथ वाणिज्य के लिए द्वीपान्तर की यात्रा करने का विचार करता है तब माता कमलश्री का मन भय और आशंका से भर जाता है । वह कहती है—एक तो द्रव्य कमाने के लिए बाहर जाने की इच्छा विचित्र है और दूसरे दैव का चारित्रिक विधान कौन जानता है ? यदि सरूपा दुष्टता से बन्धुदत्त को सिखा-पढा दे तो वह तुम्हारा अमंगल करेगा और लाभ की चिन्ता मे मूल भी गँवा बैठोगे ।

एक्क दव्वि अहिलासि विचित्तइ — को जाणइ दाइयहं चरित्तइ ।
जइ सरूव दुट्ठत्तणु भासइ — बन्धुअत्तु खलवयणहिं वासइ ।
तो तउ करइ अमंगलु जंतहो — मूलु वि जाइ लाहु चिंतंतहो ।
भ० क०, ३, ११ ।

पुत्र के प्रति माता की यह शंका स्वाभाविक ही है । माता और पुत्र को विविध मनःस्थितियों की इन सभी कथाकाव्यों में स्वाभाविक अभिव्यक्ति हुई है । प्रिय के दुःख की आशंका तथा सुख का अनिश्चय संकल्प-विकल्पों में ही नहीं अनुभूत मानवीय भावों मे अभिव्यक्त है । सौत की मनोदशा का परिज्ञान तथा अमंगल की शंका इन्हीं भावों मे उच्छ्वसित है, जिन से कमलश्री के अनुभवजन्य ज्ञान का पता लगता है । किन्तु भविष्यदत्त छल से बन्धुदत्त के साथ भविष्यानुरूपा के चले जाने पर जहाँ उस का मन

प्रिया के वियोग में सन्तप्त हो उठता है, वियोग की आँच को नहीं सह पाता है, वहीं प्रियतमा के सम्बन्ध में नाना संकल्प-विकल्पों से भर जाता है। उस मे भय, आशंका, तिरस्कार और नारी विषयक शील सम्बन्धिनी आशा तथा त्रास के भाव संचार करने लगते हैं। वह कहता है—मेरी प्रियतमा मुझे प्राणों से भी अधिक प्यारी है। न जाने उस की क्या गति होगी? अथवा जिसने उसे ग्रहण कर लिया है वही उसे त्रास देगा। मुझे छल से, जो पोत चलवा कर अकेला छोड़ गया है—भला उसे अन्त तक वह क्यों छोड़ेगा? यदि किसी प्रकार बलात्कार किया जायेगा तो निश्चय ही वह प्राणों का विसर्जन कर देगी अथवा दृढ़ शील के बल से छूट जायेगी।

अण्णुवि आसि महादिहिगारउ पियकलत्तु पाणहंमि पियारउ।
ण मुणहं तहिंमि कावि गइ होसइ अह जं जेण गहिउ तं तासइ।
मइं वंचिवि जो पोयइं पिल्लइ सो अवसाणि सावि किं मेल्लइ।
इच्छइ जइवि णाहि तो फिट्टइ दिढ सीलहु बलेण जइ छुट्टइ।
भ० क०, ७, ७।

अपनी पत्नी के छूटे जाने पर इस प्रकार के शंका, वितर्क, भय और त्रास आदि भावों से भरित संकल्प-विकल्पों का उठना स्वाभाविक ही है।

पति श्रीपाल के समुद्र मे गिरा दिये जाने पर वियुक्त रत्नमंजूषा जहाँ पति के गुणों का स्मरण कर उनकी याद करती है, वहीं माता-पिता और अपने भाग्य को कोसती है। वह कहती है—मेरे पिता ने निमित्तज्ञानी के कहने से मेरा विवाह-परदेश मे क्यों किया?

पाविउ मइं विण्णिवि उसहेसहं काहे वप्प दिण्ण परएसह।
तेण कहिउ जं कहिउ णिमित्तिय सो मइं तुज्झु विहायउ पुत्तिय।
सि० क०, (नरसेन), १,४२।

किंतु श्रीमती अपने शरीर और हृदय को कोसती है और निर्लज्ज बता कर उन की निन्दा करती है। उस का कथन है कि संयोगावस्था मे रतिविषयक सुख को प्राप्त कर जिस शरीर और हृदय ने आनन्द लूटा है उसे अब लज्जित हो कर तड़ाक से फूट जाना चाहिए।

तें तुव भमउं समउं रइरससुहु सेवंताहं वट्टए।
कुग्घिण मे सरीरि लज्जाहउ हियउ तडत्ति फुट्टए॥ जि० क०, ४, २५।

यहाँ पर नायिका का वियोगाधिक्य तथा पति के प्रति वास्तविक रति-भावना और विवशता के भावों का एक साथ उदय हो कर श्रीमती को मथता-सा लक्षित हो रहा है। कई प्रसंगो मे भावों की सबलता तथा एक से अधिक भावों का संचार एक साथ अभिव्यक्त हुआ है। भावों की तीव्रता मे मनुष्य की विभिन्न मनस्थितियों का स्पष्ट चित्रण मिलता है। भ० क०, जि० क०, वि० क० और सि० क० (नरसेन)

रचनाओं मे भाव व्यजना मे कवियों को भावोत्कर्ष की अभिव्यक्ति में निश्चय ही सफलता मिली है।

आलोचित कथाकाव्यो में विभिन्न मार्मिक स्थलों की सुन्दर संयोजना हुई है, जिन मे से कुछ मुख्य है—बन्धुदत्त के छल से भविष्यदत्त को द्वीप में अकेला छोड देने पर साथ के लोगों का मन ही मन संताप करना, अपने आप को धिक्कारना, भविष्यदत्त को अकेला छोड कर बन्धुदत्त के घर लौटने पर कमलश्री की व्यथा का बढ जाना, भविष्यानुरूपा के सास-ससुर के सम्बन्ध मे पूछने पर माता की ममता का स्मरण कर भविष्यदत्त के हृदय का द्रवित हो जाना, श्रीपाल का मैनासुन्दरी से वियुक्त हो कर द्रव्यार्जन के लिए द्वीपान्तर की यात्रा करना, श्रीपाल और जिनदत्त का समुद्र पार करना, विलासवती और सनत्कुमार तथा पद्मश्री और समुद्रदत्त का उद्यान में मिलन, हंस और हंसी का वियोग वर्णन और माता का पुत्र से मिलना इत्यादि। मार्मिक स्थलो से कथा की रसात्मकता का संचार होने के साथ हो पात्रों की मन.स्थिति का भी परिज्ञान हो जाता है। मानसिक दशाओं मे वात्सल्य, दाम्पत्य और पति-भक्ति आदि मे निहित रति भाव, क्रोध, भय, हास, उत्साह, जुगुप्सा और निर्वेद नामक स्थायी भावो तथा विविध सचारी भावो और अनुभावों का विधान हुआ है।

सभी कथाकाव्यो का पूर्वार्द्ध शृंगार के संयोग और वियोग दोनो ही पक्षो से अनुरंजित है, किन्तु उन का पर्यवसान शान्त रस मे होता है। इस लिए शृंगार और शान्त सामान्यत दो ही रस मुख्य हैं। लेकिन भ० क०, सिद्धचक्र कथा और विलासवती कथा मे वीररस का भी मधुर परिपाक हुआ है। अन्य रसों मे हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्भुत का सन्निवेश यत्र-तत्र हुआ है।

रसाभिव्यंजना मे अपभ्रंश-कवियो ने औचित्य का पूर्ण ध्यान रखा है। कही भी विरोधी रसो तथा विरुद्ध बातो की एक साथ अभिव्यक्ति नहीं हुई।

चरित्र-चित्रण

चरित्र-चित्रण मे अपभ्रंश कथाकाव्यों के लेखको मे धनपाल, लाखू और साधारण सिद्धसेन को जितनी सफलता मिली है, उतनी अन्य किसी कथाकाव्यकार को नही। इस कथाकाव्य के लेखको ने सामान्य व्यक्ति को नायक बना कर उस के जीवन के चरम उत्कर्ष की सरणि प्रदर्शित की है। कथाकाव्यों मे जहाँ यथार्थ से आदर्श की ओर बढने तथा जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति का सन्देश निहित है, वही जन सामान्य की मांगलिक भावनाओं की मधुर अभिव्यंजना है। सामान्य रूप से इन कथाकाव्यों में जीवन के घोर दु.खों के बीच उन्नति का मार्ग प्रदर्शित है, जिस पर चल कर कोई भी व्यक्ति सुख एवं मुक्ति को प्राप्त कर सकता है।

यद्यपि इन कथाकाव्यों के नायक राजर्षि वंश के अथवा प्रख्यात नहीं हैं, पर राजोचित आन-बान तथा उदात्त गुणो से युक्त हैं। वे धीर-वीर ही नही क्षमाशील और उदार भी है। उन मे जहाँ एक ओर दाक्षिण्य तथा आत्मविनम्रता है, वही दूसरी ओर साहस तथा क्षात्रोचित आत्मतेज एवं दर्प का उज्ज्वल प्रकाश है। वे स्वाभिमान से भरे-पूरे तथा अन्याय का प्रतिकार करने वाले हैं। उन मे मधुरता और सरलता का अद्भुत मिश्रण है। जीवन की कठोरताओं का अनुभव कर वे वास्तविकता से परिचित हाते हैं। और इसी लिए जहाँ नायक उदात्त गुणों से समन्वित हैं, वही यथार्थ के धरातल पर असहाय, दीन, विवश, किकर्तव्यविमूढ़ और संकटों से भरपूर हैं। उन के जीवन में जहाँ पिता का तिरस्कार, भाई का छल-कपट, धर्मपिता का विश्वासघात, आधि-व्याधि आदि बिघ्न-बाधाओं की भरमार है, वही माता का स्नेह, प्रियतमा की सेवा-शुश्रूषा और पुण्यजनित सुख-वैभव तथा दैवी संयोगो की मधुरता परिव्याप्त है। स्पष्ट ही अपभ्रंश के कथाकाव्यों मे सामान्य व्यक्ति को नायक स्वीकार कर कदाचित् भारतीय साहित्य में पहली बार शास्त्रीय विधान से अलग कथाकाव्य की रचना का प्रचलन हुआ। कहने का अभिप्राय यही है कि कथा-काव्य मे चित्रित नायक दुःख और सुख दोनो से आपूरित हैं। किन्तु उन का जीवन दु ख से आरम्भ होता है और अनेक सकटो को झेलने के अनन्तर कही सुख की झलक मिलती है। वास्तव मे दुःख ही उन के जीवन को सुख की ओर बढ़ने के लिए उज्ज्वल आशा एवं प्रकाश करता है। और दु.ख के बाद ही वे वियोग की आँच मे तच कर सुख-संयोग प्राप्त करते हैं।

यदि इन कथाकाव्यो को ध्यान से देखें तो सामान्य व्यक्ति के नायक होने पर भी वे वणिक् या राजपुत्र ही होते है, माली, बढई या चमार नही। इस का कारण यही प्रतीत होता है कि ये कथाएँ सौदागर या व्यवसायी वणिकपुत्रों तथा प्रेमी राजकुमारों के आख्यानो को ले कर लिखी गयी है। अतएव इन का प्रतिपाद्य विषय भी उक्त दोनों से सम्बद्ध है। द्वीप-द्वीपान्तरो की यात्रा के लिए वणिक् कुमारों का सार्थवाहों के साथ नाना इतिहास प्रसिद्ध है। इसी प्रकार अधिकतर प्रेमकथाएँ राजकुमारों से सम्बन्धित मिलती हैं। मनुष्य-जीवन की भाँति प्रबन्ध एवं कथा मे मानव का चरित्र ही मुख्य होता है। कवि या लेखक विभिन्न चरित्रो को प्रकाशित कर हमारे जीवन की परतें खोल कर रख देता है। अतएव कई प्रकार के चरित्र हमे काव्य और कथा-साहित्य में देखने को मिलते है। अपभ्रंश के कथाकाव्यो मे मुख्य रूप से वर्गगत और वैयक्तिक चरित्रो का चित्रण हुआ है। वर्गगत चरित्रो मे हम विरोधी प्रवृत्तियों वाले पात्रों तथा चरित्रो को कई कोटियों (Types) मे वर्गीकृत देख सकते है, जिन मे भविष्यदत्त, कमलश्री, मैनासुन्दरी और विलासवती का चरित्र मुख्य है। प्रवृत्तियों मे प्रवृत्त पात्रो के वर्गगत चरित्रो में भी कई अन्तर दृष्टिगत होते है। उदाहरण के लिए, भविष्यदत्त सीधा-सरल, निर्भय और साहसी है, पर उस की माता कमलश्री चालाकी को, छल-कपट को जानने वाली भय और आशंका से सदा त्रस्त रहती है। इसी प्रकार अन्य वर्गगत चरित्रों में जहाँ

हमें सरूपा, राजा पयपालु, रानी अमंगवती आदि में व्यक्तिगत तथा जातिगत स्वभाव, संस्कार एवं चारित्रिक मैलापन दिखाई देता है, वही वे असत् प्रवृत्तियों के समवेत वर्ग में पृथक् रूप से लक्षित है।

कुल मिला कर आदर्श और सामान्य दोनों रूपों मे कथाकाव्यों में चरित्रांकन हुआ है। आदर्श चरित्रो में सामान्य वणिक् पुत्र, साहसिक कुमार, सफल सेनापति, प्रशासक और महापुरुष एवं स्वर्ग प्राप्त करने वाले मुनि के रूप में भविष्यदत्त का चारित्रिक स्वरूप तथा इसी रूप मे जिनदत्त का रूप दिखाई पड़ता है। कथाकाव्य मे चित्रित सभी प्रमुख पात्र सामान्य से विशेष की ओर उन्मुख होते हैं। दूसरे शब्दों मे हम कह सकते है कि वे आदर्शोन्मुख यथार्थ का प्रतिनिधित्व करते हुए चित्रित किये गये है। इस दृष्टि से ये भिन्न प्रकार के चरित्र है, जो विशेष रूप से अपभ्रंश प्रबन्धकाव्यो मे चित्रित है।

प्रत्येक काव्य की सफलता-असफलता का बहुत कुछ श्रेय पात्रो के चरित्र पर निर्भर रहता है। जो चरित्र हमारे जीवन के अधिक निकट होते हैं तथा जिन मे मानवीय गुणो का समावेश रहता है वे हमारे जीवन पर अधिक प्रभाव डालते है। किन्तु वैयक्तिक गुणो के साथ ही उन मे कुछ सामाजिक संस्कार निहित रहते है, जो रूढियो तथा धर्म-विश्वास आदि मे परिलक्षित होते हैं। उदाहरण के लिए—जैनधर्म मे कर्म-सिद्धान्त व्यवहार तथा आध्यात्मिक दोनो ही रूपो मे सब से मुख्य सिद्धान्त है। इस लिए इस सम्प्रदाय के लोगों के द्वारा लिखित कथा या प्रबन्ध आदि मे नायक-नायिका मे संस्कार या शिक्षा के रूप मे अवश्य ही कर्म-सिद्धान्त पर विश्वास या आस्था प्रकट की जायगी। यदि हम ध्यान से कथाकाव्यो मे वर्णित सभी कथाओ का अवधान-पूर्वक अध्ययन करें तो हमे अचरज होगा कि सभी कथाओ के मूल मे कर्म पर विश्वास विशेष अभिप्राय के रूप मे निहित है।

डॉ० हरिसत्य भट्टाचार्य के विचार से भारतीय साहित्य अत्यन्त प्राचीन काल से धार्मिक गाथाओ एव कथाओ में सामान्य विश्वासों से बँधा हुआ है। कर्म और भाग्य विषयक मान्यता युग-युगों से ऐसा ही सामान्य विश्वास है।[1] देवी-देवताविषयक कुछ विश्वास तथा यक्ष-यक्षिणियो की पूजा के संकेत इन कथाकाव्यों मे मिलते है। इस प्रकार कथाओं का धरातल सामान्य जीवन से सम्बद्ध है, जिस मे धवल सेठ, डोम, बन्धुदत्त, समुद्रदत्त आदि सामान्य चरित्र तथा उन के साथ ही श्रीपाल, विद्याधर, भविष्यदत्त, जिनदत्त आदि आदर्श नायक तथा चरित्रों की अवतारणा हुई है।

यद्यपि कथाकाव्यों मे गृहीत नायक बिलकुल आदर्श नही हैं, पर उन का जीवन एवं चरित्र आदर्शोन्मुख है। अतएव हम उन्हे सामान्य चरित्र का नही कह सकते। वस्तुतः उन के जीवन का क्रमिक विकास सत्प्रवृत्तियो के कारण ही होता है। इस

१. "हीरोज ऑव द जैन लीजेण्ड्स," जैन एन्टिक्वेरी, भाग १५, किरण १, पृ० ११।

लिए भले ही वे राजर्षि या अवतार न हों, पर सामान्य व्यक्ति के रूप में उन का चरित्र शुद्ध मानवीय है। पात्रों का विचार करते हुए हम निश्चय रूप से कह सकते है कि नायक दिव्य न होने पर भी अपने असाधारण कार्यों से दिव्यमानुष अवश्य हैं जो अन्त मे दिव्यता को प्राप्त करते हैं। सभी कथाकाव्यो के नायको का चरित उदात्त एव भव्य है, इस लिए उन्हें सामान्य नही कहा जा सकता। हाँ, वे सामान्य जीवन के व्यक्ति हैं। काव्य में प्रत्येक असाधारण एवं अवतारी पुरुष तक को सामान्य व्यक्ति के रूप में चित्रित करना ही पडता है, नहीं तो रस-दशा मे साधारणीकृत कैसे हो सकेगा? इस प्रकार कथाकाव्य में तो नही, पर चरितकाव्य में अवश्य नायक दिव्य देखा जाता है। इस दृष्टि से चरित और कथाकाव्य में वही अन्तर है, जो नाटक और प्रकरण में है। नाटक में राजर्षिवंश का चरित होता है जो दिव्यता से युक्त रहता है,[1] किन्तु प्रकरण में न तो नायक उदात्त होता है और न दिव्यचरित।[2] यहाँ इतना विशेष है कि कथाकाव्य का नायक उदात्त ही होता है।

संक्षेप मे, नायक धीर, वीर, क्षमाशील, विनयी आदि उदात्तगुणों के रूप में चित्रित तथा सद्गुणो का प्रकाशक दृष्टिगत होता है। यह सच है कि सस्कृत काव्य-परम्परा की मान्यता के अनुसार अपभ्रश के काव्यों में नायक का स्वरूप नही दिखलाई पड़ता है, किन्तु जाति के रूप मे या वश के रूप मे नही, अपितु प्रवृत्ति और चरित्र के रूप मे नायकोचित गुणों की प्रतिष्ठा तथा उस का स्वरूप अपभ्रंश के कथाकाव्यों में भलीभाँति लक्षित होता है।

संवाद-संरचना

अपभ्रंश के कथाकाव्यो में सवाद-संरचना कई रूपों मे मिलती है। यदि जि० क० के संवाद अलकृत है और गीति शैली मे कहीं-कहीं वर्णित है तो भ० क० मे सरल, स्वाभाविक और सजीव है। प्रायः सभी कथाकाव्यो मे संवादों की मधुरता और सरसता लक्षित होती है। किसी-किसी मे हाव-भावो का प्रदर्शन तथा व्यंग्य का भी उचित संनिवेश हुआ है। बडे और छोटे दोनों प्रकार के संवाद इन कथाकाव्यों में मिलते हैं। वि० क० मे कुछ संवाद कहानी बन गये है और कुछ संवाद अधिक लम्बे हो गये हैं। किन्तु सि० क० मे संवाद संक्षिप्त और मधुर है। इन सभी कथाकाव्यो मे वातावरण तथा दृश्यों के बीच संवादो की योजना हुई है। भाषा भी संवादो के अनुकूल है। इन संवादों मे नाटकीयता, वाक्चातुर्य, कसावट तथा भावो का पूरा प्रदर्शन परिलक्षित होता है।

---

१ प्रख्यातवस्तुविषये प्रख्यातोदात्तनायकं चैव।
राजर्षिवंशचरितं तथैव दिव्याश्रयोपेतम्॥
नानाविभूतिसंयुतमृद्धिविलासादिभिर्गुणैश्चैव।
अङ्कप्रवेशकाढ्यं भवति हि तन्नाटकं नाम॥ नाट्यशास्त्र, १८, १०–११।

२. नोदात्तनायककृतं न दिव्यचरितं न राजसंभोग. वही, १८, १००।

अकेली भ० क० में मनोवैज्ञानिक चरित्र, नाटकीयता, प्रवाह एवं क्षिप्रता तथा हाव-भावों का प्रदर्शन संवादों मे सुनियोजित है। किसी-किसी कथाकाव्य मे स्थानीय रंगीनता (Local Colurs) भी देखी जाती है।

कउण काज थेरी आरडहि, काहे कारणि पलावे करहि।
किसि कारणि दुख धरहि सरीरु वेगि कहेहि इउ जंपइ वीरु ॥
जि० चउ०, २०६।

तथा—

अम्हारउ णरवइ कवणु चोज्ज, धोबी चमार घर करहिं भोज्ज।
खर कूकर सूवर गसहि मास हमि डोम भाउ कहियहि कण्णास ॥
—सि० क० (नरसेन), १,४९।

कथानक के विकास मे भी इन संवादो का महत्त्वपूर्ण योग है। संवादो के कारण ही पात्र सजीव बन गये है। नरसेन कृत सि० क० मे घरेलू वातावरण, सक्षिप्तता तथा कसावट सवादो मे ही लक्षित होती है। सक्षेप मे, अपभ्रंश के कथाकाव्यों में निहित संवादों मे निम्न-लिखित सामान्य बातें दिखाई पडती है—

संवादों के बीच चलते हुए वर्णनो का समावेश, वातावरण, दृश्य एवं चित्रो के बीच संवाद-योजना, संवादो मे कथा की आवृत्ति, चलती हुई भाषा मे मधुर तथा सरस संवादों की रचना और सरलता, सरसता तथा सजीवता की अभिव्यक्ति। इसी प्रकार सामान्यत: संवादो मे कसावट, वाग्वैदग्ध्य और प्रसंगानुकूल भावो के उतार-चढाव लक्षित होते है। कुल मिला कर संवादो की संयोजना उक्त कथाकाव्यो मे विषयानुरूप विभिन्न मनःस्थितियो मे उत्तम बन पडी है।

कलात्मक संविधान

भाषा

जिनदत्तकथा को छोड कर अपभ्रंश के कथाकाव्यो की भाषा सरल तथा शास्त्र और लोक के बीच की मिश्रित भाषा है। प्रयुक्त भाषा मे बोलचाल के शब्द, मुहावरे लोकोक्तियों एवं सूक्तियों के समावेश के साथ ही संस्कृतनिष्ठ अथवा संस्कृत से बने या बिगडे हुए शब्दों की प्रचुरता है। जि० क० में शब्दो की तोड मरोड अधिक मिलती है। लेकिन विकृत शब्दों मे संस्कृत से आगत शब्दों का ही बाहुल्य दृष्टिगोचर होता है। उदाहरण के लिए कुछ शब्द निम्न-लिखित है—

अब्भउ (अर्भक), सप्पसूणु (सप्रसून), णाइणिलए (नाकनिलये), इच्चाइ (इत्यादि), वहूव (बभूव), इहा (इभा-हथिनी), विडोउ (विडौजा-इन्द्र), उवायण (उपायन), छम (छद्म), तण्णंग (तन्वंगी), णिसाडय (चन्द्रमा), आकूवारवीइव (आकूपारवीचीइव), फग्गु (फल्गु-व्यर्थ), वग्गु (वर्ग), दीहियइ (दीर्घिका), णिरंघेहिं (निश्शापैः), अरियण (अरिजन), रण्ण (अरण्य), अलविय (अलपित-मौन), अडइ (अटवी), संभंत (संभ्रान्त), मह (मम), अव्वुवा (अम्बुवाणा), इंगिव (इंगित), आसेसण (आश्लेषण-आलिंगन), विसुउ (विश्रुत), कंणिलउ (कंनिलयं-जलस्थान, समुद्र), वत्तु (वक्त्र), मुइयउ (मुदित), विद्धु (वृद्ध) और कोय (कोक) इत्यादि ।

कुछ शब्द-रूप तो ऐसे हैं जिन को सहज में समझ लेना सरल नहीं है । कई आवृत्तियों के पश्चात् तथा कवि की उक्त प्रवृत्ति से भलीभाँति परिचित हो लेने पर ही ये शब्द-रूप समझ में आते हैं, जो इस प्रकार हैं—

खेउ (खेद), कउक्के (कृतोत्कृष्टे), तप्परु (तत्पर), सीयरियइं (स्वीकृत), पउत्त (प्राप्त), सेउ (श्रेय), उत्त (युक्त), पंचास (पचास्य), सारय (शारद, शरद्कालीन) जलधर) आदि । जि० क० मे ही कही-कहीं सस्कृत के शब्द ज्यो के त्यों प्रयुक्त है और कही-कही वाक्य रचना पर स्पष्ट रूप से संस्कृत का प्रभाव लक्षित होता है । सस्कृत के कुछ शब्द हैं—महाविल (आकाश), भूषणु (भूवनुप), मेहिली (मैथिली), मेट्ठ (मेण्ठ), अह (अह्नि, दिन), ख (आकाश), णोड (नीड), वेस (वेश), रव, दल (पत्ता), को (कौन), आलय, कंठ, सेमल, सरल, साल (शाल), देवद्रुम और देवदार इत्यादि । इसी प्रकार गणिया (गणिका), विड (विट), खामोयरि (क्षामोदरी), कर (हाथ), वासर (दिन), उदर आदि शब्द भी दृष्टिगत होते है । इन शब्द-रूपो का देखने से स्पष्ट हो जाता है कि जि० क० की भाषा पर निश्चय ही सस्कृत का प्रभाव है । यही नही, लाखू ने संस्कृत के शब्दो को अपभ्रंश की प्रकृति मे ढाल कर उन्हे विकृत रूप में अपनाने की चेष्टा की, जिस से भाषा में कृत्रिमता झलकने लगी है । केवल शब्द-रूपों पर ही नही क्रिया-रूपों पर भी संस्कृत का प्रभाव देखा जा सकता है । जैसे कि— पिच्छंती (प्रेक्ष्यन्ति), पायडिय (प्रकटित), संकमिल्लु (संक्रमित), उण्णमिय (उन्नमित), परिणिय (परिणीता), आणिउ (आनीत), वहूव (बभूव), अंचित, संपाइउ (संप्रास), विरएव (विरचित), जति (यान्ति), संतविय (संतप्त), वहेइ (वहति), वट्टए (वर्तते), पभणिउ (प्रभणित), पयासइ (प्रकाशते) और णिवसंति (निवसंति), विरइउ (विरचित) इत्यादि ।

इसी प्रकार वाक्य-रचना पर भी कई स्थलों पर संस्कृत की झलक भलीभाँति दृष्टिगोचर होती है । विभक्त्यर्थ प्रयोगों मे सस्कृत की तृतीया विभक्ति का प्रयोग स्पष्ट रूप से कई स्थलों पर हुआ है । उन के उदाहरण हैं—

सुणेइ तं जिणाइदत्तिणा पयंपिउ । उद्दिट्टए–ऊर्ध्व दृष्टि से
णवकारें जलणिहि बुड्डु वोरु   उच्छलिउ ण अब्भुउ गुणगहीरु ।
आवीलित्ति संसालें जणसंसालें   ताहिं रोलु सुणि जुविजुवा ।

जिणयत्त विवाहुच्छवरसिणा णं णडंतु चालिय मुवहिं ।
चिंतइ मणेण जगि विणु धणेण होइ ण असोउ अणवरउ भोउ ।
गोधूलिय वेलए लेव हारि परिणिय जिणयत्तें सा कुमारि ।

सर्वनाम शब्दों का प्रयोग भी किसी-किसी स्थान पर संस्कृतनिष्ठ दिखाई देता है । किन्तु ऐसे प्रयोग विरल ही हैं । उदाहरण के लिए—

ता दिट्ठु तेण सजणिय रोस ।   एक्केण तेण रणरंगधीरु ।
अहिमाणसालि जे णर ससोए ।   उट्ठायउ केणवि धरिवि चेल ।

यदि जि० क० की भाषा साहित्यिक एवं अस्वाभाविक है तो जि० चउ० मे प्रयुक्त भाषा बोलचाल की है । सिद्धचक्रकथा की भाषा भी बोलचाल के अधिक निकट है । नाम-रूप तथा क्रियाओं पर स्पष्टतः देशी पानी चढा हुआ मिलता है । और इसी लिए 'सप्त-व्यसनकथा' में घूघट, सिंघ, चोली, तारा, भाइ, पास, पंखि, गुटिया, चारि, बारह आदि शब्द-रूप तथा फाडी, जडो, बोलिउ, मारिउ, आयउ, चल्लहि, मरहि, उट्ठिउ, पडिय, झूरइ, जाणइ, आणइ इत्यादि देशी हैं । इसी प्रकार जि० चउ० मे भी चउरी,चउकु, पाण जूवा, दामु, तहाँ, जहाँ, कापरु, नीक, तुरंतु, तबहि, मोती, बार, बरात, बाखर, डाडो, डोला, जुहारु, हीरा, सोना, जुवारी, पूरा, झूठउ, असीस, वाडी, बहूत, सीग, टेव, जूडउ, डोकरी, पापी, पाप, पोटली, खोड (खोट), समदहि (समदो), छुरी, विमाणु काकर (कंकड), भुणसारु (भिनसारा, भुनसारा), आदि शब्द-रूप देशज मिलते है । क्रिया-रूपों मे फाटी, काटि, झाडे, झुलाइ, छाडि, फेरियउ, मारउ, चाहइ, चडी, काढि, भेटियउ, नीसरउ, देइ, काटा, जाउ, करि, बूड्यो, भई, गई, दिखालइ, खेलत, चंपिउ, खूटउ, दीनी, पहिरइ, खायइ आवहु, बिलखाइ, पडी, चडाइ, चालिउ, चले, लइ जाइ, लीयउ, कियो, कराउ, कीए, निकले, उठाइ, पूछियउ, आवइ, हुय, देखत, आगइ, रांडियउ इत्यादि देशी क्रियाओ के रूप मे दृष्टिगोचर होते है ।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि अपभ्रंश के कथाकाव्यो मे जहाँ एक और संस्कृत से प्रभावापन्न भाषा मिलती है, वही दूसरी ओर बोलचाल की भी बानगी मिलती है, जिसे देख कर सहज मे ही यह निश्चय हो जाता है कि अपभ्रंश समय-समय पर लोक बोलियो का आँचल पकड़ कर विकसित हुई है । अपभ्रंश-युग में संस्कृत और प्राकृत-साहित्य की बहुमुखी उन्नति होने से यह स्वाभाविक ही था कि अपभ्रंश के (संस्कृत भाषाविद्) कवि संस्कृत के शब्द-रूपों से अपभ्रंश को समृद्ध बना कर उस का साहित्य संस्कृत-साहित्य के समकक्ष रचते । वस्तुतः अपभ्रंश भाषा में तत्सम शब्दों की अपेक्षा तद्भव और देशज शब्दों का प्राधान्य है ।

शैली

अपभ्रंश के कथाकाव्य प्रबन्ध काव्यों की भाँति सन्धिबद्ध है। कम से कम दो तथा अधिक से अधिक बाईस सन्धियों में निबद्ध कथाकाव्य उपलब्ध होते हैं। इन में सन्धियों की रचना कड़वकों में हुई है। कड़वक के अन्त में घत्ता देने का विधान मिलता है। यद्यपि अपभ्रंश-काव्य सन्धियों मे कड़वकबद्ध मिलते हैं, किन्तु कड़वकों की रचना मे नियत पंक्तियो का परिपालन नही देखा जाता है। आ० स्वयम्भू के अनुसार एक कड़वक मे आठ यमक एवं सोलह पंक्तियाँ होनी चाहिए।[1] लेकिन आठ पंक्तियों से ले कर चौबीस पंक्तियो तक के कडवक आलोचित कथाकाव्यों में प्राप्त होते है। इसी प्रकार प्रबन्ध काव्य के लिए कड़वको की संख्या का न तो कोई नियम मिलता है और न विधान ही। किन्तु सामान्यतः एक सन्धि में दस से चौदह के बीच कड़वकों की संख्या मिलती है। अपभ्रंश के उक्त कथाकाव्यों में कम से कम ग्यारह और अधिक से अधिक छियालीस कडवक प्रयुक्त है।

यद्यपि कडवक के अन्त मे ध्रुवक के साथ द्विपदी, चतुष्पदी और षट्पदी का विधान है,[2] पर अधिकतर दुवई, गाथा, उल्लाला आदि द्विपदी तथा अडिल्ला, घत्ता और वस्तुक आदि चतुष्पदी छन्दों का प्रयोग घत्ता के रूप मे दृष्टिगत होता है।[3] इन के अतिरिक्त कई छन्द घत्ता के रूप में प्रयक्त कथाकाव्यों मे देखे जाते है।

'कडवक' शब्द प्राकृत के तथा देश्य 'कडप्प' शब्द से बना है, जिस का अर्थ समूह है।[4] अपभ्रंश मे इसे 'कडव्व' कहा जाता है। नियत पंक्तियो मे समान छन्द की योजना करने के कारण 'छन्दों के समूह' की रचना विशेष को कड़वक कहना सार्थक जान पडता है। अतएव 'कड़वक' अलग से किसी छन्द का नाम न हो कर काव्य को प्रबन्धात्मक रचना विशेष है, जिस से वस्तु समान पंक्तियों मे वर्णित होने के कारण प्रबन्ध-रचना मे कसावट तथा संश्लिप्-रचना मे सुन्दरता आ जाती है। फिर, मुख्यरूप से एक ही छन्द तथा एक ही शैली मे लिखे जाने से विषय-वर्णन तथा भावो की अभिव्यक्ति सरलता और सरसता से अभिव्यंजित लक्षित होती है।

---

१ स्वयम्भूछन्द, ८,१५

२. ता तिविहा छपई चउपई य दुवई य तासु पुण्ण दुण्णि।
छ-चउप्पईउ कडघय-निहणे छडुणिय णामा वि ॥क० द०, २,३२ वृत्ति।
मयणपराजयचरिउ की भूमिका से उद्धृत।

३. सन्धिहिं आइहिं घत्ता दुवई गाहाडिल्ला॥
घत्ता पद्धडिआए छड्डुणिआ वि पडिल्ला ॥स्वयम्भूछन्द, ८,२०

४ एते चरवार' शब्दा निकरवाचका'। कडप्पो कटप्रशब्दभवोऽप्यस्ति। स च कवीनां नातिप्रसिद्ध इति निबद्ध'। 'णिअरे कडप्पकइअंका'।
—देशीनाममाला (हेमचन्द्र), २,१३।

अलंकार-विधान

आलोचित कथाकाव्यो मे साधर्म्य या औपम्यमूलक तथा लोकव्यवहारमूलक अलंकारों की मुख्यता है। सादृश्यमूलक अलंकारों मे उपमा, सन्देह, भ्रान्तिमान्, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा, निदर्शना, श्लेष, व्यतिरेक, स्मरण और रूपक आदि अलंकारो का प्रयोग लक्षित होता है। उपमा को छोड कर प्रायः सभी अलंकारों मे स्पष्टरूप से औपम्य गम्यमान है। लोकव्यवहारमूलक अलंकारो में उदाहरण, विनोक्ति, स्वभावोक्ति, सम और समाधि आदि का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार तर्कन्यायमूलक अलंकारों मे अर्थान्तरन्यास, काव्यलिग और अनुमान उक्त काव्यों मे प्रयुक्त है। अन्य अलंकारो में परिसंख्या, यथासंख्य, विभावना, विशेषोक्ति, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा तथा विषम आदि अलंकार दृष्टिगत होते हैं। प्रयुक्त अलकारो मे जहाँ परम्परित रूढ उपमानो का प्रयोग है, वही लोकगत उपमानो से सजीवता आ गयी है। रूढ उपमान भी कही-कही कथन की शैली से तथा परिवर्तनगत वैविध्य से कुछ नवीन से हो गये है। उदाहरण के लिए—नयनो की उपमा सामान्यत. मृग, मीन, रक्त कमल से तथा कही-कही खंजन पक्षी से दी जाती है। किन्तु इन काव्यों मे किसी स्थल पर आँखो को कमल के पत्तो के समान कहा गया है। इसी प्रकार है—केश-कलापो को मदन की डोरी का बना हुआ पाश कहना, माथे को काम का विजयपट्ट बताना, कपोलों पर लटकती हुई अलको को कामदेव के धनुष् और बाण कहना, स्तनो की उत्प्रेक्षा कामदेव के स्नान करने के दो कलसो से करना, जाँघो को कामदेव की शरण मे आने वालो के लिए बँधने का खम्भा कहना इत्यादि सभी नवीन उपमान है।

लोकगत उपमानो मे कुछ कवि की कल्पना से प्रसूत हैं तथा कुछ लोक से ग्रहण हुए है। उदाहरण के लिए—रोमावलि को चीटी की पंक्ति से उपमा देना, सन्ध्या के पश्चात् फैलते हुए अन्धकार को सौत की डाह का कालापन बताना, जूनी पगडण्डी को जैनधर्म की पुरानी पोथी कहना, बड़वानल से युक्त समुद्र को अकायर कहना, खाइयों से वेष्टित तथा रत्नो से निबद्ध हाट-मार्ग को मोक्ष-मार्ग कहने को कल्पना करना, तथा उपकार करने मे सावन के मेघ की कल्पना करना, इत्यादि। लोकप्रसिद्ध बातों मे वियोगिनी को ग्रीष्मकालीन वृक्ष की भाँति सूखती हुई बताना, बिना पानी के तड़पती हुई मछली से साम्य दर्शाना, विरह-काल मे नयनों की उपमा पाला मारी हुई कमलिनी से देना, शूर-वीर के हथियार को णमोकार मन्त्र के न भूलने की भाँति सदैव स्मरण करते रहना कहना, कोढ़ी श्रीपाल को भिक्षा-ग्रहण करने वाले शूल-पाणि की भाँति द्वार-द्वार घूमते-फिरते बताना तथा क्रोधित बन्धुदत्त को कोपाग्नि से प्रज्वलित होने पर वणिको की बातों को अग्नि पर घी छिड़कने की भाँति कहना, इत्यादि।

छन्दोयोजना

अपभ्रंश के इन कथाकाव्यों मे मुख्य रूप से मात्रिक छन्द प्रयुक्त हैं। यद्यपि वैदिक छन्द ताल और संगीत पर आधारित हैं, पर उन में अक्षर प्रधान हैं। उन का आधार गण, मात्रा और स्वराघात है। और इसी लिए नियत अक्षरों में आकलित होने से उसे 'वृत्त' कहा जाता है। किन्तु नियत मात्रा वाला पद्य 'जाति' कहा गया है।[1] आ० हेमचन्द्र के मत में छन्द का अर्थ बन्ध और एक अक्षर से ले कर छब्बीस अक्षर तक की जाति की सामान्य संज्ञा "छन्द" है[2]।

आ० भरतमुनि ने पात्रों की भाँति वृत्तो के भी तीन गण माने है[3]—दिव्य, दिव्यतर और दिव्यमानुष। गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती और पंक्ति को उन्होंने दिव्य कहा है।[4] वस्तुतः लोक मे तीन प्रकार के छन्द प्रचलित है[5]—गणछन्द, मात्रा-छन्द और अक्षरछन्द। यह कहना बहुत कठिन है कि सब से पहले मात्रिक छन्द का जन्म हुआ अथवा वर्णिक का। किन्तु वैदिक और अवेस्ता के छन्दों को ध्यान से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सगीत और लय के आधार पर वृत्त का जन्म हुआ था। क्योकि आसुरी वृत्त और गाथाएँ यजुर्वेद तथा अवेस्ता मे समान है।[6] समस्त सामवेद गीतिमन्त्रों से भरपूर है।

यथार्थ मे छन्द और संगीत का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसी लिए यह स्वाभाविक है कि संगीत के अनुरूप छन्द मे भी स्वरो तथा अक्षरो को नियत योजना एवं संविधान हो। शब्द स्वर और अक्षरो का सयोग ही होता है। अतएव स्वर और अक्षर के भेद से छन्दो के भी मात्रिक और वर्णिक दो भेद कहे जा सकते है। गणछन्द वास्तव में अक्षरो के समुदाय की संहृति है, इस लिए उसे अलग से नही मान कर अक्षरछन्द में गर्भित मानना चाहिए। और इस प्रकार शब्द-रचना के मूल स्वर और अक्षर के अनुसार वैदिक वृत्त वर्णमय है। मुख्य वैदिक छन्द है—गायत्री, अनुष्टुप्, जगती, त्रिष्टुप्, पंक्ति और बृहती तथा उष्णिक्। ये सभी वर्णवृत्त हैं। गायत्री मे आठ-आठ अक्षरो के तीन चरण होते है। अनुष्टुप् के चारों चरणो में समान रूप से आठ-आठ अक्षर होते हैं। जगती में चार पाद तथा प्रत्येक पाद मे बारह अक्षर प्रयुक्त होते है। त्रिष्टुप् के एक पाद मे ग्यारह और कुल मिला कर चवालीस अक्षर कहे गये है। पंक्ति

---

१. पद्य चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा।
वृत्तमक्षरसंख्यात जातिर्मात्राकृता भवेत्॥ —नारायण।

२. छन्दः॥आशास्त्रपरिसमाप्तेः छन्द इत्यधिकृत वेदितव्यम्। इदानीमेकाक्षराद्या षड्विंशत्यक्ष-रावसानाश्छन्दोजातीराह। छन्दोऽनुशासन, २.१-२।

३. सर्वेषामेव वृत्तानां तज्ज्ञैर्ज्ञेया गणास्त्रयः।
दिव्यो दिव्यतरश्चैव दिव्यमानुष एव च॥ नाट्यशास्त्र, १४,६२।

४. गायत्र्युष्णिगनुष्टुब् च बृहती पंक्तिरेव च। वही, १४,६२।

५. आदौ तावद् गणच्छन्दो मात्राच्छन्दस्ततः परम्।
तृतीयमक्षरच्छन्दश्छन्दस्त्रेधा तु लौकिकम्॥ छन्दःशास्त्र, पृ० ४६।

६. रुलियाराम कश्यप : वैदिक ओरिजिन्स ऑव जोरास्ट्रियानिज्म, पृ० १४।

छन्द के पहले के दो पाद बारह-बारह अक्षरों के तथा शेष दो चरण आठ-आठ अक्षरों के होते है । जिस मे प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ पाद आठ-आठ अक्षरों का तथा तृतीय पाद बारह अक्षरो का होता है वह बृहती छन्द है । उष्णिक् मे अट्ठाईस अक्षर होते है । इस मे आदि और अन्त का चरण आठ-आठ अक्षरों का होता है और मध्यग बारह का। इन मे तनिक-तनिक परिवर्तन कर देने से एक ही वृत्त के कई भेद हो जाते है । इस से स्पष्ट है कि वैदिक वृत्त वर्णिक है । उन मे अक्षर-परिमाण की संहति मुख्य है ।

साधारणत. यह कहा जाता है कि लौकिक छन्दों की उत्पत्ति वैदिक वृत्तों से हुई है, किन्तु अध्ययन करने से पता लगता है कि समय-समय पर शास्त्रीय वृत्त एवं जाति बन्धो से हट कर नये-नये छन्द तथा बन्धों का प्रयोग साहित्य मे होता रहा है । अतएव भाषा और बोलियों की भाँति ही विभिन्न लयो और देशी राग-रागनियो मे प्राकृत के छन्द साहित्य में देशी भाषा के साथ ढलते रहे हैं तथा विविध नाम-रूपो से प्रसिद्ध एवं प्रचलित रहे । उदाहरण के लिए—सोरठा, मरहट्टा, चर्चरी, वसंतचच्चर, संगीत, गीति और रास आदि लोकप्रसिद्ध छन्द है, जो धीरे-धीरे अपभ्रंश-कविता के प्रचलन के साथ ही काव्य मे प्रयुक्त किये गये । अपभ्रंश-काव्यों मे इस बात का उल्लेख है कि उस युग मे महापुरुषो के नाम के साथ ही लोकगीत प्रचलित थे । पुष्पदन्त के महापुराण मे धवल गीतो का उल्लेख है जिन का सम्बन्ध कृष्ण-चरित से कहा जाता है । आद्य मराठी मे इस प्रकार के गीत 'ढवलगीत' कहे जाते है[1] । आ० हेमचन्द्र ने धवलमगल, फुल्लडक तथा झम्बटक आदि ऐसे ही गीतों का उल्लेख किया है, जो विभिन्न प्रसंगो मे देवगान आदि विविध मागलिक कार्यों तथा उत्सवों के अवसर पर गाये जाते थे ।[2] इसी प्रकार के अन्य छन्दो को अपभ्रश-काव्यो तथा छन्दशास्त्रो मे ढूँढ़ा जा सकता है, जिन का लोक-जीवन से पूर्ण सम्बन्ध रहा है । डॉ० द्विवेदी ने बंगाल मे पाये जाने वाले मंगलकाव्य तथा पजाब मे गाये जाने वाले रुक्मिणीमंगल नामक ऐसे ही लोकगीतो का उल्लेख किया है, जो भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशो मे देवताओ के यशःगान अथवा माँगलिक कार्यों मे प्रचलित रहे है ।[3] हिन्दी के प्रबन्धकाव्यो की चौपाई-दोहा वाली शैली की भाँति अपभ्रंश के इन कथाकाव्यो मे कडवक शैली मिलती है, जिस मे पद्धड़िया (चौपाई की जाति का छन्द) तथा दुवई, गाथा आदि (सामान्यतया दोहे की जाति के छन्द) की रचना होती है । किन्तु कही-कही कडवक के आरम्भ में और अन्त में भी पद्धड़िया छन्दो से दुवई जुडी हुई मिलती है । इस प्रकार प्रबन्ध-रचना की दृष्टि से अपभ्रंश-कथाकाव्यो मे कडवक शैली प्रयुक्त है । यह अपभ्रंश की अपनी शैली है जो संस्कृत, प्राकृत मे नही मिलती ।

---

१. डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन, एम० ए०, पी० एच० डी०, साहित्याचार्य 'अपभ्रंश साहित्य', होलकर कालेज मेगजीन, इन्दौर, १९५७-५८, पृ० १११ ।

२. छन्दोऽनुशासन, ५,४०-४२ ।

३. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी . हिन्दी-साहित्य का आदिकाल, पृ० १११ ।

यदि साहित्यिक रचना-शैलियों की दृष्टि से विचार किया जाय तो कई प्राकृत की तथा लोकप्रचलित गीत एवं संवादमूलक शैलियाँ अपभ्रंश के इन कथाकाव्यों में देखी जा सकती है। केवल शैलियों पर ही स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना हो सकती है। क्योंकि अभी तक इस पर किसी विद्वान् का ध्यान ही नहीं गया। अपभ्रंश के प्रत्येक कथाकाव्य में कई प्रकार के गीत मिलते है, जो लोकप्रचलित शैली मे लिखे गये जान पड़ते है। अतएव इस प्रकार के गीतों मे भाव और भाषा की बनावट न हो कर लोक-गीतों का माधुर्य और प्रवाह लय पर आधारित है। उदाहरण के लिए—

रसंत कंत सारसं	रमंत नीर माणुस
सु उच्छलंत मच्छयं	विसाल नील कच्छयं
विलोल लोल नक्कयं	फुरंत चारु चक्कयं
खुडंत पत्त केसरं	पलोइयं महासरं। (वि० क० ५,१५)

अपभ्रंश के इन कथाकाव्यो मे वसन्त मे गाये जाने वाले तथा चर्चरी आदि गीतों का उल्लेख मिलता है। वस्तुतः ध्रुवक का प्रयोग गीत के अन्त मे होता है। कडवक के अन्त मे घत्ता के रूप मे ऐसे कई छन्दो का प्रयोग उक्त कथाकाव्यो में दिखाई पडता है। घत्ता के कई भेद है। ये किसो न किसी लोक शैली के ही विविध रूपान्तर प्रतीत होते है।

यद्यपि संस्कृत और प्राकृत के साहित्य मे भी गीतो की सृष्टि हुई है, किन्तु अपभ्रंश मे गीतो की मुख्यता है। गीत नाम से कई रचनाएँ इस साहित्य मे मिलती है। संस्कृत के विक्रमोर्वशीय नाटक मे अपभ्रंश के प्रसिद्ध चर्चरी गीत का उल्लेख ही नहीं उदाहरण भी मिलता है। यथा—

चर्चरी गीत—

गन्धुम्माइ अमहुअरगीएहिं
वज्जतेहिं परहुतूरेहिं।
पसरिअ पवण्हुव्वेलिअ पल्लवणिअरु
सुललिअ विविह पआरेहिं णच्चइ कप्पअरु। (४,१२)

इस गीत की विशेषता यह है कि अपभ्रंश मे ही लिखा गया है। संस्कृत के अन्य ग्रन्थो मे भी इस प्रकार बिखरे हुए अपभ्रंश के गीत मिलते है। आ० अभिनवगुप्त के तन्त्रसार मे प्रयुक्त गीत का एक उदाहरण देखिए—

सोच्चिअमासइ
भवतरुविसरउ।
सअलउअद्धजालु—
निअ घअणि परिमरि मेहहरो। ९,१०।

इस प्रकार अपभ्रंश-कथाकाव्यों की शैली का सम्बन्ध मुख्य रूप से छन्द एवं गीत-रचना से है। कहीं-कहीं तो इन की शैली इतनी सरल और मधुर है कि लगता है आपस में बात कर रहे हों। जैसे कि—

केत्थु वि वराहाहं वलवंत देहाहं
मह वग्घु आलग्गु रोसेण परिभग्गु
केत्थु वि विरालाइं दिट्ठइं करालाइं
केत्थु वि सियालाइं जुज्झंति थूलाइं
ताहे पासे णिज्झरइं सरंतइं गिरिकंदर विवराइं भरंतइं।
(भ० क०, विबुध श्रीधर)

संक्षेप में, जि० क० और वि० क० को छोड़ कर अपभ्रंश के कथाकाव्यो की शैली प्रसाद गुण से युक्त तथा मधुर है। संवादो में अवश्य सभी कथाकाव्य लोक-शैली को प्रकाशित करते हुए लक्षित होते है। यथा—

बहु दिवस काइं तुह पुत्त हुआ।
मा रुवहि धीए धीरत्तु धरि णिब्भरु होइवि महु वयणु करि।
सो लितु दितु तहि दिण गमइं जहिं रुच्चइ तहिं फिरि फिरि रमइं।(वही)

साधारणतया जि० क० और वि० क० मे वर्णन-शैली अलंकृत है। सन्धिबहुला तथा समस्त पदावली मे वाक्य-रचना की प्रवृत्ति इन दोनो रचनाओ मे मिलती है। किन्तु संवादों मे शैली स्वच्छ तथा मधुर है। जि० क० का ही एक उदाहरण देखिए—

हउं एक पुत्तु कुलजलहि पोउ महु विणु ण जियइ पिय जणणिलोउ।
तथा— जई मज्झु सीलु संजमु अपाउ ता वुड्डिवि पोहणु एहु जाउ।

अतएव कुल मिला कर शैली की दृष्टि से अपभ्रंश के कथाकाव्यों की रचना स्फीत एवं प्रेरक है।



षष्ठ अध्याय

लोक तत्त्व

लोककथा के रचना-तत्त्व

भारतीय साहित्य में लगभग दो सहस्र वर्षों से भी अधिक समय से दृष्टान्त रूप में लोक कथाओं का प्रचलन रहा है, जिन मे रीति-नीति की शिक्षा चित्तानुरंजन से समन्वित एवं प्रेरक रही हैं। डॉ० हर्टेल के विचार मे पंचतन्त्र की कथाएँ इक्कीस सौ वर्षों से भी अधिक प्राचीन हैं।[1] ये कथाएँ कल्पित होने पर भी लोक-जीवन मे व्याप्त है। यों तो भाषा और साहित्य लोक-जीवन से ही अनुप्राणित रहता है और इस लिए यदि यह कहे कि साहित्य जीवन की अनुकृति है तो अनुचित न होगा। परन्तु साहित्य मे लोक-जीवन का चित्र अपने वास्तविक स्वरूप में अभिव्यंजित न हो कर लेखक की कल्पना, भाषा और शैली के विविध रूपों तथा घटनाओं से प्रभावित हो कर कई रूपों तथा आकारो मे लक्षित होता है। अतएव लोक का वास्तविक रूप उस में उभरने नही पाता। लेकिन लोककथा या लोक साहित्य में वह अपने यथार्थ रूप मे प्रतिबिम्बित होता है, इस लिए हम उसे 'लोक' शब्द से सम्बद्ध मानते है। क्योकि साहित्य का उद्देश्य केवल मनोरंजन, उपदेश या नीति-रीति की शिक्षा प्रदान करना ही नही है, वरन् अपने युग या जीवन की झांकी प्रस्तुत करना भी है। इस का कारण यही है कि साहित्य, समाज और संस्कृति का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है और इसी लिए हम समाज तथा संस्कृति से विश्लिष्ट कर साहित्य का यथार्थ मूल्यांकन नही कर सकते। लोक साहित्य का सब से अधिक वैशिष्ट्य इसी बात में है कि वह परम्परागत तथा लोक युगीन भारतीय जीवन तथा संस्कृति का यथार्थ रूप वास्तविक परिवेश में युग-युगों के बाद भी सजीव बनाये रहता है। इस से यह स्पष्ट है कि उस मे लोक-मानस का सहज समावेश लक्षित होता है। अतएव इस मे क्या आश्चर्य कि रूढि तथा परम्परा के रूप मे देश-विदेशों मे विविध मान्यताएँ तथा विश्वास समान रूप से सहस्र वर्षों से काई की भाँति जमे हुए चले आ रहे है। लोक तत्त्व से समन्वित रचनाओ मे हमें लोक-जीवन से सम्बन्धित सामाजिक संस्कार, त्योहार, मागलिक कार्य, लोक प्रचलित रूढियाँ, क्रीड़ाएँ, वेशभूषा, खान-पान, विश्वास और समाज-रीति एवं राजनीति का समावेश रहता है।

---

१. डॉ० जोन्स हर्टेल : पंचतन्त्र का सम्पादित संस्करण, प्रस्तावना, पृ० १३।

डॉ० सत्येन्द्र ने लोक-कहानी के निर्माणतत्त्व में निम्न-लिखित बातों का उल्लेख किया है[1]—लोक-मानस (Folkmental-element), कथा-रूप (Tale-form), पात्र (Persontages) अभिप्राय, कथानक रूढ़ि या कथा-तन्तु (Molif), सामान्य घटना (Incidents), संघटना (Organisational sections of a tale) अक्षर कथा या कथामानक Tale type), उपयोग दृष्टि (Utility point of view) अलंकरण (Ombellishment) और वातावरण।

लोक-मानस

लोक-कथा का सबसे बढ़ कर तथा प्रथम अनिवार्य तत्त्व है—लोक-चेतना की अभिव्यक्ति। लोक-कथा एवं गीतों में ही हमें स्पष्ट रूप से जन-मानस की अन्तः सलिला प्रवहमान लक्षित होती है। अतएव युग-युगीन लोक-संस्कृति के विविध रूपों की स्पष्ट छाप उन पर लगी हुई दिखाई देती है। कहीं-कहीं यह जातीयता से ओतप्रोत होती है तथा कहीं-कहीं सामान्य लोक-जीवन से प्रभावित एवं चित्रित। उदाहरण के लिए, पं० नरसेन कृत सि० क० में भाँवर के साथ ही चौरी का भी उल्लेख है, जो केवल बुन्देलखण्ड के जैन लोगों में ही प्रचलित है। भाँवरें पड़ जाने के बाद यह निश्चय-सा हो जाता है कि वर-वधू प्रणय-सूत्र मे बँध गये हैं। किन्तु इस के बाद भी चौरी मे सात भावरें पड़ने का अर्थ यही समझ में आता है कि यदि भाँवरों के समय कोई छल या धोखा हो गया हो तो वर-वधूको एक बार और अवसर दिया जाता है। इसी लिए इस के पहले गुडा का खेल भाँवर और चौरी पडने के बीच खेला जाता है, जो एकान्त में होता है और जिस का यही उद्देश्य जान पडता है कि वर-वधू परस्पर एक-दूसरे को परख कर मन भर लें। उस के बाद चौरी में सप्तपदी की आवृत्ति होने पर वह सम्बन्ध सदा के लिए निश्चित एवं पक्का हो जाता है।

जि० चउ० में भी चउरी का उल्लेख मिलता है।

चउरी रचीय हरिए वास अरु तह थापे पुण्ण कलास। जि० चउ०, १२५।

चउरी रची घरे हरे बास तोरण थापे पूर्न कलास ।।वही, ४४६।

अपभ्रंश के प्राय: सभी कथाकाव्यो में चौक पूरना, मण्डप सजाना, मडवा गाड़ना, जल-देवता या किसी अन्य देवता का पुष्प-अक्षत आदि से पूजन करना, यात्रा की मंगल-कामना के लिए दधि, दूर्वा, अक्षत या जौ आदि को सिर पर डालना, मंगल कलस सजाना और बरात का सजाना तथा नगर मे वर वधू की फेरी फेरने आदि

---

१ डॉ० सत्येन्द्र : लोक साहित्य विज्ञान, पृ० २१३ से उद्धृत।

चउरी भावरि सत्त दिवाविय रयणमजूस तासु परिणाविय। सि० क०, १.३५।

बुन्देलखण्ड में चउरी या चौरी को चौडो मारना कहते हैं, जो एक रस्म के रूप में जैनियों के यहाँ अभी तक प्रचलित है। किन्तु धीरे-धीरे अब यह चलन उठता जाता है। साधारणतया 'चउरी' का अर्थ कटनी या वेदी होता है।

वर्णनों मे लोक-मानस की स्पष्ट झाँकी दृष्टिगोचर होती है। अतएव यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आलोचित कथाकाव्यों की कथाएँ लोक-कहानियाँ हैं, जो जातीय जीवन एवं वातावरण के परिपार्श्व में लोक-चेतना से परिव्याप्त हैं।

लोक-गाथा कहें या लोकाख्यान ?

संभव है कि कुछ विद्वान् अपभ्रंश के इन कथाकाव्यों को पद्यबद्ध देख कर इन्हें परम्परा से प्रचलित लोक-गाथा या कथागीत कहना उपयुक्त समझें; किन्तु ये लोककथाएँ हैं, जो श्रुतियों के रूप में युग-युगों से प्रचलित रही हैं। प्रायः सभी देशों में ऐसी लोक-कहानियाँ सुनी जाती हैं, जिन में हजारों वर्षों के जन सामान्य के विश्वास तथा रीति-रिवाज निहित रहते हैं। अतएव पद्यबद्ध या कुछ गीतों से युक्त होने के कारण हम इन्हें लोक-गाथा नही कह सकते। क्योंकि मूल रूप में इन से मिलती-जुलती अधिकांश कहानियाँ आज भी बंगाल प्रान्त में सुनी जाती है। अपभ्रंश की कथाओं का पद्यबद्ध होना तत्कालीन साहित्य के लिए कोई नयी बात नही थी। गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' तो बहुत पहले ही पैशाची भाषा में लिखी जा चुकी थी। आर्यशूर (चौथी शताब्दी) कृत जातकमाला तथा शिवार्य रचित (ई० पू० प्रथम) भगवती आराधना एवं हरिषेण विरचित बृहत्कथाकोष आदि पद्य मे लिखी हुई कथाएँ है, जिन में छोटी-बड़ी सभी प्रकार की कथाएँ दृष्टिगत होती हैं। भारतवर्ष मे ही नही अफगान देश में भी अवदान या लोकाख्यान (Legends) पद्यबद्ध मिलते हैं।[1] फिर, लोकगाथा कथात्मक गीत कही जाती है, जिस का रचयिता अज्ञात होता है तथा उद्भव की दृष्टि से इस का इतिहास सन्दिग्ध रहता है।[2] यद्यपि लोक-कथा का रचयिता भी अज्ञात रहता है, पर गाथा तथा कथा का मुख्य अन्तर गीति तत्त्व है; इतिहास नही। लोकगाथा वर्षों से जिस रूप मे मौखिक प्रचलित रहती है उसी रूप मे लोक में सुनी तथा गायी जाती है; किन्तु कहानी में घटना ही सामान्य रहती है, जिस में कई प्रकार के कथा-मानक तथा अवान्तर प्रसंगों की लेखक उद्देश्य विशेष से संयोजना कर विषय के अनुरूप कथा को ढाँचा प्रदान करता है। उदाहरण के लिए, आल्हा को लोक-गाथा माना जा सकता है; पर मधुमालती या विलासवती को नही। लोक-गाथा मे इतिहास का भी थोड़ा-बहुत अंश समाहित रहता है, लेकिन कथाकाव्य के लिए वह आवश्यक नही है। स्पष्ट ही गाथा इतिहास तथा विश्व-रचना के विचारों से सम्बद्ध होती है और कथा जीवन की सामान्य घटनाओं को अभिव्यक्त करती है। इन्हें हम धर्मगाथा भी नही मान सकते। क्योंकि इन में बाल-देव के रूप में न तो अतिलौकिक घटनाओं का समावेश है और न

---

१. डेमन्स एम० एल० : पापुलर पोइट्री आव द बेलोसिस।
रायल एशियाटिक सोसायटी, द्वितीय जिल्द, लन्दन, १९०७।

२. डॉ० सत्यव्रतसिन्हा . भोजपुरी लोक-गाथा का अध्ययन. हिन्दी-अनुशीलन, वर्ष ६, अंक ४, पृ० ३६।

बालक को जन्म से ही असाधारण दर्शाने का यत्न । अपभ्रंश के चरितकाव्यो मे अवश्य ऐसे वृत्तों की संयोजना दृष्टिगोचर होती है, जैसे कि प्रद्युम्न के जन्म होने पर दैत्य द्वारा हरण (प्रद्युम्नचरित-सिंह), करकण्डु का जन्म दन्तिपुर के श्मशान में होना (करकण्ड-चरित-मुनि कनकामर), देवताओ का मर्त्यलोक में आ कर बालक नेमिनाथ का अभिषेक आदि संस्कार करना (नेमिनाथचरित-लक्ष्मण देव) इत्यादि ।

भविष्यदत्तकथा का लोक-रूप

यद्यपि अपभ्रंश की कथाएँ सच्ची मान कर लोगो के मन पर धार्मिक प्रभाव डालने के लिए लिखी गयी है और उन का उद्देश्य मनोरंजन नही है; किन्तु कथा के अन्तर्गत वर्णित घटनाएँ तथा कथाभिप्राय आज भी हमें लोक-कहानियों में लक्षित होते हैं। भ० क० भी मूलतः लोककथा है, जो उद्देश्य विशेष से धार्मिक वातावरण के बीच वर्णित है । इस तरह की कहानी आज भी हमारे यहाँ गाँवों मे कही जाती है । कही पर यह कहानी राजा-रानी और राजकुमारो के रूप मे कही जाती है और कही सौदागर के रूप मे ।[1] अधिकतर लोक-कहानियो मे राजकुमार की कहानी इस से मिलती-जुलती सुनी जाती है । बंगाल मे प्रसिद्ध लोककथाओ मे 'कलावती राजकन्या' की कहानी ऐसी ही एक रूपकथा है, जिस मे पाँचो राजकुमार ईर्ष्यावश सब से छोटे दोनो राज-कुमारो को छोड़ कर कलावती को पाने के लिए जहाज मे बैठ कर यात्रा करते हैं । किन्तु दोनो भाई भी डोंगी मे बैठ कर प्रस्थान कर देते है । तीन बुढियो के देश मे पहुँच कर दोनो भाई पाँचो भाइयो को (बुढ़िया के चंगुल से फँसे हुओ को) छुड़ाते है । लेकिन फिर भी दोनो की उपेक्षा की जाती है । मार्ग में दिशा-भ्रम की दशा मे दोनो भाइयो मे से बड़ा बुद्धू पाँचो की सहायता करता है, पर अन्त मे तूफान आने से पाँचो भाई डूब जाते है । बुद्धू कलावती के नगर मे पहुँच कर देखता है कि पाँचो भाई बन्दीगृह मे है । उसे भी बन्दी बना लिया जाता है । किन्तु वह कला-कौशल से पाँचों भाइयो तथा कलावती को साथ मे ले कर छोटे भाई समेत पोत मे बैठ कर यात्रा के लिए आगे बढता है । पाँचो भाई कलावती को बुद्धू के पास देख कर जल-भुन जाते हैं और उन दोनो भाइयो को समुद्र मे फेंक देते है । कलावती को कैद कर अपने नगर मे ले जाते है । राजा कलावती से राजकुमार के साथ विवाह करने के लिए कहता है, पर वह तैयार नही होती । तब राजा मार डालने की धमकी देता है । वह एक महीने का व्रत धारण करती है। इसी बीच दोनों राजकुमार आ कर कलावती से मिलते है । राजा को जब सारा रहस्य ज्ञात होता है तब वह बुद्धू का विवाह कलावती के साथ धूम-धाम से कर देता है; और उस के छोटे भाई की किसी अन्य राजकुमारी से । पाँचों भाइयों को अपने किये का दण्ड मिलता है ।

---

१. डॉ० नामवरसिंह : हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, तृतीय परिवर्द्धित संस्करण, पृ० २४८।

यदि भ० क० की घटनाओं का विचार किया जाये तो निम्नलिखित घटनाएँ मुख्य लक्षित होंगी—

(१) सेठ धनवइ का कमलश्री को त्याग कर दूसरा विवाह सरूपा से करना और उससे बन्धुदत्त का जन्म होना। भविष्यदत्त का ननिहाल में पालन-पोषण होना।

(२) पाँच सौ व्यापारियों तथा बन्धुदत्त के साथ भविष्यदत्त की कंचनद्वीप यात्रा, मार्ग मे मैनागद्वीप मे भविष्यदत्त को अकेला छोड़ कर बन्धुदत्त की आज्ञा से जहाज का कंचनद्वीप के लिए प्रस्थान करना।

(३) भविष्यदत्त का उजाड़ नगर तिलकपुर में प्रवेश करना, अपने साहस से राक्षस को प्रसन्न कर राजकन्या भविष्यानुरूपा का पाणिग्रहण कर बारह वर्षों के बाद अपने नगर के लिए प्रस्थान कर समुद्र-तट पर पहुँचना। संयोग से बन्धुदत्त का मिल जाना। छल पूर्वक भविष्यदत्त को छोड़ कर भविष्यानुरूपा के साथ अतुल संपत्ति ले कर बन्धुदत्त का स्वदेश-गमन करना। मार्ग मे जल-देवता के प्रभाव से तूफान का आना *और भविष्यानुरूपा की शील-संरक्षा होना। एक मास की अवधि मे पति से मिलने का* स्वप्न देखना। घर पहुँच कर विवाह की तैयारी होना, इतने मे ही भविष्यदत्त का लौट कर घर पहुँचना। राजा को सच्चा वृत्तान्त ज्ञात होने पर बन्धुदत्त को दण्ड देना।

(४) राजा का भविष्यदत्त के साथ सुमित्रा को ब्याहने का प्रस्ताव रखना, धनवइ का स्वीकृति देना। पांचालनरेश चित्राग का सुमित्रा को माँगना और सकल राज्य को वश मे करने का प्रस्ताव रखना। भविष्यदत्त का युद्ध के लिए तैयार होना और चित्राग को बन्दी बना कर सुमित्रा से विवाह करना, सुखोपभोग करने के बाद सन्यास मे दीक्षित होना तथा परमपद प्राप्त करना।

ये मुख्य घटनाएँ क्या है अपने आप मे छोटी-छोटी चार लोक-कहानियाँ है, जो अलग-अलग आज भी कई रूपों मे कही-सुनी जाती है। जहाँ तक कथा की पहली मुख्य घटना एवं कहानी का सम्बन्ध है वह सौतेली माँ की कहानी से सम्बन्धित है, जिस मे एक ही राजा या सेठ की कई रानियो या दो पत्नियो मे से सब से छोटी के साथ और उस के पुत्र के साथ अच्छा व्यवहार किया जाता है और बड़ी को तथा उस के पुत्र को तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता है। दोनों ही सौतेले भाई कुछ तो स्वभाव से और कुछ माता के सिखाने से विमाता के पुत्र को धोखा दे कर मार डालने की चेष्टा करते है, पर अपने इस कार्य में उन्हे पूर्ण सफलता नही मिलती। इतना ही नही, विमाता का पुत्र अपने भाइयो की सहायता या संकट से उन की रक्षा करता है अथवा दुष्कृत्य के लिए उन्हे क्षमा कर देता है। किन्तु वे ही भाई फिर से धोखा दे कर उस का अनिष्ट करने की चेष्टा करते है, पर उन्हे सफलता नहीं मिलती।

पहली मुख्य घटना से सम्बन्धित एक अन्य घटना है—माता का पुत्र से न मिलने के कारण पुत्र-प्राप्ति के लिए व्रत-धारण करना और परिणामस्वरूप पुत्र से भेंट

होना। ऐसी कई व्रत-कथाएँ हैं, जिन में बाहर गये हुए अथवा किसी प्रकार बिछुड़े हुए पुत्र या पति की प्राप्ति के लिए व्रत-विधान निर्दिष्ट हैं तथा जिन के पालन से अभीष्ट सिद्धि दर्शायी गयी है। स्कन्दपुराण के अन्तर्गत गणेशचतुर्थी की कथा ऐसी ही है, जिस में इस व्रत के पालन से रानी दमयन्ती ने सात महीने में पुत्र और पति से भेंट की थी। इसी प्रकार 'ठाकुरमारझुलि' में संकलित 'कलावती राजकन्या' नाम की कहानी मे भी कलावती एक महीने के व्रत के फलस्वरूप पति को तथा बुद्धू और भुतुम को माता जल-देवता की आराधना से पुत्र को यात्रा से लौट कर वापिस प्राप्त करती है।[१] भ० क० तथा इन सब कहानियो मे संकटों मे डूबते-उतराते पुत्र एवं पति का वर्णन है। ऐसी और भी अन्य कथाएँ हैं जिनमें पुत्र या पति के बिछुड़ने तथा वर्षो बाद मिलने की कहानी वर्णित है। किन्तु ये कथाएं व्रतविशेष से सम्बद्ध न हो कर साहसिक राजकुमारों तथा सौदागरों की कहानियाँ है, जिन में संकटों को पार कर कंचन-कामिनी एवं अतुल वैभव प्राप्त करने का उल्लेख मिलता है। इस दृष्टि से अपभ्रंश की जि० क० और सि० क० मे समानता लक्षित होती है। वस्तुतः संकट-निवारण के लिए व्रत-उपवास का पालन करना भारतीय जीवन की चिर प्रचलित लोक-रूढि है। अतएव लोक-कथाओं मे उस का निर्देश होना स्वाभाविक ही है।

इसी प्रकार किसी उजाड नगरी या गन्धर्वों के देश मे अथवा पातालपुरी में किसी बहुत सुन्दर राजकुमारी का अकेला रहना और नायक का साहसिक कार्यों द्वारा उसे प्राप्त करने या प्राप्त हो जाने की घटना का भी लोक-कथाओं तथा भ० क० मे वर्णन है। बंगला की 'घुमन्तपुरी' नामक दादी की सुनायी हुई कहानी ऐसी ही है, जिस में एक राजा का पुत्र माता के बार-बार मना करने पर भी पिता की आज्ञा से देश-भ्रमण के लिए निकल पड़ता है और निर्जन एवं निःशब्द वन मे किसी राजभवन में पहुँच जाता है। भ० क० की भाँति उस नगरी को भी राक्षसो ने उजाड़ दी थी।[२] न जाने क्यों राजकुमारी को छोड कर राक्षसो ने सब का प्राणान्त कर दिया था। अन्त में राजकुमार राजकन्या को प्राणान्तक नीद से जगा कर, बुद्धिबल से राक्षसों का अन्त कर देता है। मूल रूप मे अपभ्रंश की ये कथाएँ छोटी-छोटी लोक-कहानियाँ है, जिन में मुख्य घटनाओ तथा लोकवार्त्ताओ मे अत्यन्त साम्य लक्षित होता है। उदाहरण के लिए, जिनदत्त की कथा की कई घटनाएँ अलग-अलग कहानियों मे तथा स्वतन्त्र कहानी के रूप में मिलती हैं। 'कथासरित्सागर' मे वर्णित विदूषक-ब्राह्मण की कथा और जिनदत्त की कथा मे मूलभूत कोई अन्तर दृष्टिगोचर नही होता। जि० क० की पूर्वार्द्ध की घटना मित्रो के साथ सहस्रकूट चैत्यालय में जिनदत्त का जाना और वहाँ पुतली के रूप को देख कर मोहित हो जाना तथा उसी कुमारी से विवाह करने का उल्लेख

---

१ सं० दक्षिणारजनमित्र · ठाकुरमारझुलि, बांगला रूपकथा, बगाब्द १३५६, पृ० १६।
२. वही, पृ० ६६।

राजवल्लभ कृत 'पद्मावतीचरित' में भी मिलता है।[1] वस्तुतः चित्र या मूर्ति को देख कर मोहित होने का उल्लेख प्राकृत तथा हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यों में विशेष रूप से प्रकाशित हुआ है। इस कहानी (कथा) का साहित्यिक रूपान्तर इस प्रकार है—

कथासरित्सागर	जिनदत्तकथा
१. भद्रा को ढूँढ़ता हुआ विदूषक पौण्ड्रवर्धन नामक नगर में पहुँच कर किसी बुढ़िया के यहाँ शरण लेता है। वह अपनी उदासी एवं व्यथा का कारण उसे सुनाती है।	१. जिनदत्त सागरदत्त तथा व्यवसायियों के साथ सिंहलद्वीप में पहुँचने पर मालिन के यहाँ जा कर रुकता है। वह अपनी व्यथापूर्ण कहानी कहती है।
२. इस नगर के राजा देवसेन को दु.ख-लब्धिका नाम की अत्यन्त रूपवती कन्या है। कच्छपदेश के राजा से उस का विवाह हुआ था। किन्तु घर में प्रवेश करते ही वह तथा एक अन्य राजा मर गया। तब से कोई राजकुमार उस से विवाह करने के लिए तैयार नहीं होता। राजा की आज्ञा से उस के शयनागार में प्रति-दिन एक ब्राह्मण या क्षत्रिय पुरुष भेजा जाता है। आज मेरे बेटे की पारी है। उस के मरने पर मैं भी प्रातःकाल आग में जल मरूँगी। इसलिए मैं तुम्हें सारा घर दान में दे रही हूँ।	२. मालिन कहती है—इस नगर के राजा घनवाहन की रानी विजया की श्रीमती नामक अन्यन्त सुन्दर कन्या है। रात में जो भी उस के पास रहता है उसे वह विष की पत्ती की भाँति खा जाती है। राजाज्ञा से उस की रक्षा के लिए प्रतिदिन एक मनुष्य भेजा जाता है। मेरे एक ही पुत्र है उस की आज पारी है। इसलिए मैं रो रही हूँ।
३. विदूषक राजकन्या के पास रात भर पहरा देता है और राक्षस को भुजा काट कर अपनी वीरता का परिचय देता है। राजा कटी हुई भुजा देख कर प्रसन्न हो विदूषक के साथ राजकुमारी का विवाह कर देता है।	३. मालिन के बेटे के बदले जिनदत्त राजकुमारी के महल में पहरा देता है और आधी रात में कुमारी के मुख से निकलते हुए भुजंग को देख कर सावधानी से प्रहार कर मौत के घाट उतार देता है। राजा अपनी कन्या का विवाह जिनदत्त के साथ कर देता है।

१. अगरचन्द नाहटा : "क्या राजवल्लभ कृत पद्मावतीचरित्र और जायसी के पद्मावत की कहानी एक ही है।", नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५६, अंक १, सं० २०११, पृ० ५३।

४. विदूषक एक रात चुपचाप उठ कर ताम्रलिप्ती चला जाता है। वहाँ स्कन्ददास व्यापारी से मित्रता कर उस के जहाज पर यात्रा करता है। बीच समुद्र मे फँसे हुए जहाज को विदूषक चला देता है। स्कन्ददास घोषणा के अनुसार सम्पत्ति का आधा भाग और कन्या नही देना चाहता है। और धन के लोभ से विदूषक के शरीर मे बँधी हुई रस्सी को काट कर समुद्र में गिरा देता है। किन्तु कटे हुए पुरुष की जाँघ के सहारे समुद्र पार कर वह समीपवर्ती कर्कोटक नगर की राजकन्यासे विवाह कर आगे बढ जाता है।

४. जि० क० में पूर्वार्द्ध में जिनदत्त एक उद्यान में सागरदत्त से मिलता है। सागरदत्त अनफूले बगीचे को अपने चमत्कार से प्रफुल्लित कर देने के उपलक्ष्य मे जिनदत्त को धर्मपुत्र बना लेता है।

५. भद्रा को ढूँढ़ निकालता है और उस के साथ सुखोपभोग करता है।

५. सिंहलद्वीप से लौटने पर सागरदत्त मोती-रत्न आदि सम्पत्ति तथा राजकन्या के लोभ से जिनदत्त को छल पूर्वक समुद्र मे उतार देता है। निमित्तज्ञानी के कथनानुसार विद्याधर वहाँ आते है और समुद्र पार करते हुए जिनदत्त को विमान मे बैठा कर ले जाते है तथा विद्याधर-कन्या का विवाह उस के साथ कर देते हैं। जिनदत्त सभी पत्नियो को साथ में ले कर अपने घर जाता है और वसन्तपुर मे राज्य करता है।

वस्तुत. यह घटना ज्यों की त्यों श्रीपालकथा अथवा सिद्धचक्रकथा से मिलती-जुलती है। श्रीपाल का वत्स नगर जाना, सार्थवाह धवलसेठ के अटके हुए जहाजों को चलाना। सेठ का वायदे के अनुसार श्रीपाल को धन न देना, तथा धन और स्त्री के लोभ में श्रीपाल को समुद्र मे गिरा देना; किन्तु मन्त्र के तथा देवी के प्रभाव से सुन्दर नगर मे पहुँचना और निमित्तज्ञानी के कहे अनुसार राजा की कन्या से विवाह हो जाना, आदि।

विलासवतीकथा का लोक-रूप

अपभ्रंश की लगभग सभी कथाएँ लोक-जीवन मे घुली-मिली मिलती हैं। ये कथाएँ केवल भारतवर्ष में ही नहीं इजिप्ट, मिश्र, चीन, रूस और जर्मन आदि देशो में भी लोक-कथाओ के रूप में प्रचलित हैं। देश-देशान्तरो मे भ्रमण करने से कही-कही रूप में तथा घटनाओं में अन्तर आ गया है, नाम भी बदल गये है; पर मूल रूप मे उन का उद्देश्य तथा अभिप्राय आज भी ज्यों का त्यों सुरक्षित है। विलासवती की कथा भी ऐसी ही एक प्रेमकथा है, जो रूपान्तरों के साथ देश-विदेश मे प्रचरित एवं प्रचलित रही है।

हिन्दी के प्रेमाख्यान तथा अपभ्रंश के प्रेमाख्यानक कथाकाव्यों में वस्तुविषयक यह सामान्य प्रवृत्ति पायी जाती है कि राजकुमारी किसी राजकुमार को वातायन मे से देख कर उस पर रीझ जाती है। पहली बार दोनो उद्यान मे नियत समय पर मिलते हैं। एक दूसरे के सौन्दर्य पर मुग्ध हो कर प्रेम-पाश मे बँध जाते हैं। धीरे-धीरे प्रेमांकुर स्फुट होने लगता है। दासी या मालिन दोनो की सहायता करती है। किन्तु दोनों के समागम होने के पूर्व ही ऐसी कोई विघ्न-बाधा आ पहुँचती है कि दोनो बिछुड़ जाते है। दोनो को समुद्र यात्रा करनी पडती है। जहाज के डूब जाने पर नायक काष्ठ-फलक के सहारे समुद्र पार करता है। अपनी प्रेमिका से मिलने मे उसे कई प्रकार के संकटो का सामना करना पडता है। और बडी कठिनाई से अन्त मे जा कर दोनों का मिलन होता है। किन्तु प्रेमिका का कुछ समय बाद ही हरण होता है और नायक को युद्ध कर उसे जीत कर लाना पड़ता है। इस प्रकार समूचा कथानक राजकुमार के साहसिक कार्यो से तथा विपत्तियों से भरा हुआ रहता है। अनेक संकटो को पार करने के बाद ही राजकुमार अपने कार्य मे सफलता प्राप्त करता है।

इस प्रकार की प्रेमकथाओ मे दुखहरनदास की 'पुहुपावती' महत्त्वपूर्ण प्रेमाख्यान है, जिस मे राजकुमार और पुहुपावती की प्रेमकथा वर्णित है। संक्षेप में कथासार इस प्रकार है[1]—

राजापुर देश के प्रजापति नामक राजा के एक सुन्दर राजकुमार था। जन्म के समय ही ज्योतिषियों ने भविष्यवाणी की थी कि यह बीस वर्ष की अवस्था में योगी बन कर सुन्दर राजकुमारी का वरण कर कई देशो के राजाओ को जीतेगा। बीसवें वर्ष में राजकुमार ने पिता से युद्ध की आज्ञा माँगी, किन्तु उनके मना करने पर असन्तुष्ट हो कर वह अनूपगढ़ पहुँच गया। वहाँ के राजा अम्बरसेन तथा रानी वसुधा के पुहुपावती नाम की अत्यन्त रूपवती राजकन्या थी। एक दिन राजकुमार योगी के वेश मे राजमहल के कोट के निकट से जा रहा था। पुहुपावती अपनी खिड़की में से उस के रूप को देख

१. रामचन्द्र तिवारी : 'हिन्दी-प्रेमाख्यानों की परम्परा में एक नवीन प्रयोग', हिन्दी-अनुशीलन वर्ष ५, अंक १-४, पृ० ४६-५१।

कर मोहित हो गयी। राजकुमार भी उस के सौन्दर्य पर मुग्ध हो कर उद्यान में चिन्ता पूर्वक बैठ गया। पुहुपावती ने मालिन को दूती बना कर राजकुमार के पास भेजा। दोनों प्रेम-साधना में रत हो गये। दूती के प्रयत्न से दोनों का मिलन हुआ। किन्तु यह प्रतिज्ञा की कि जब तक विवाह न हो जायगा तब तक समागम नही करेंगे।

एक दिन राजा अम्बरसेन के साथ राजकुमार शिकार खेलने गया। बीहड़ वन में वह बिछुड कर मार्ग भटक गया। राजकुमार सिंहलद्वीप जा पहुँचा। राजकुमार का मामा उसे ढूँढता हुआ सिंहलद्वीप में पहुँच कर कुमार को लौटा लाया। उस के पिता ने राजकुमार का विवाह काशीनरेश की पुत्री चित्रसेनी से कर दिया। किन्तु कुमार पुहुपावती को न भूल सका। पुहुपावती ने दूती को राजापुर भेजा। वह राजकुमार को साथ मे लिवा कर चल दी। मार्ग मे धर्मपुर नगर में राजकुमार को दानव हर ले गया। दानव सात समुद्र के बेगमपुर के बेगमराय की पुत्री रंगीली से राजकुमार का विवाह करा देता है। किन्तु अवसर पा कर वह रंगीली को साथ ले कर अनूपगढ़ के लिए चल देता है। मार्ग मे दोनो वियुक्त हो जाते है। रंगीली की पार्वती सहायता करती हैं। उधर भटकते हुए राजकुमार को धर्मपुर मे स्थित दूती सहायता प्रदान कर उसे अनूपगढ़ लिवा जाती है।

एक दिन राजकुमार पुहुपावती को साथ में ले कर राजापुर के लिए प्रस्थान करता है। मार्ग में उज्जैन का राजा रोठगँवार मार्ग रोक कर खडा हो जाता है। दोनों मे युद्ध होता है। राजकुमार की विजय होती है। राजापुर पहुँचने पर कुमार का विधिवत् राजतिलक होता है। सुखपूर्वक राजसुख का उपभोग करते है। भगवान् राजकुमार की कीर्ति को सुन कर परीक्षा के लिए आते हैं। राजकुमार दान के रूप मे पुहुपावती को देने के लिए तैयार हो जाता है। इस महान् त्याग को देख कर चतुर्भुज भगवान् अपने वास्तविक रूप मे प्रकट हो जाते हैं।

कथागत साम्य

विलासवती और पुहुपावती दोनो के ही कथानक में कई बातें समान है, जो निम्न-लिखित हैं—

(१) राजकुमार के उत्पन्न होने पर ज्योतिषी का भविष्यवाणी करना। वि० क० मे सनत्कुमार के विद्याधरो के राजा बनने की भविष्यवाणी है और पुहुपावती में रूपवती राजकन्या तथा राजा से युद्ध करने और विजय-लाभ की घोषणा है।

(२) दोनो ही कथाओ मे राजकुमारी राजकुमार को वातायन में से देख कर मोहित होती है। विलासवती तो प्रेमोपहार में मौलश्री की गूँथी हुई माला राजकुमार के ऊपर गिराती है। दोनों ही अपनी-अपनी दूती भेज कर उद्यान मे पहली बार राजकुमार से मिलती हैं। मिलने का यह उपक्रम नायिका की ओर से होता है।

(३) दूती की सहायता से राजकन्याएँ बराबर प्रेमोपहार भेजती रहती हैं और एक-दूसरे से मिल भी लेती हैं। किन्तु विवाह किये बिना समागम नही करतीं। नायक इस के लिए तैयार नही होता। दोनों इस बात की प्रतिज्ञा करते हैं।

(४) प्रेम की रस-दशा में पहुँचने तथा विवाह की तैयारी के पूर्व ही नायक नायिका से वियुक्त हो सिंहलद्वीप की यात्रा करता है। वि० क० में इस यात्रा का कारण राजा-रानी का लांछन कहा गया है और पुहुपावती में मृगया मे भटक जाने से राजकुमार उस द्वीप में जा पहुँचता है। पोत भग्न होने पर नव दम्पति-युगल बिछुड़ जाता है और देवी की कृपा से अन्त मे मिल जाते हैं।

(५) नायक-नायिका का विवाह हो जाने पर वि० क० मे विलासवती का हरण बताया गया है और पुहुपावती मे हरने की तैयारी। अभिप्राय यह है कि दोनो में नायिका की संरक्षा के लिए नायक को युद्ध करना पड़ता है और किसी अतिलौकिक शक्ति के बल से वे उस बड़े युद्ध मे विजय-लाभ करते हैं।

वि० क० मे नायक के वियुक्त हो जाने पर स्वयं विलासवती उस की खोज में निकल पडती है। किन्तु पुहुपावती मे दूती नायक को ढूँढ़ कर लाती है। यह दोनो मे विशेष अन्तर है। इस के अतिरिक्त राजकुमार चित्रसेनी और रंगीली से भी विवाह करता है, किन्तु वि० क० मे केवल विलासवती से विवाह का वर्णन है। जि० क० और सि० क० मे अवश्य नायक कई विवाह करते हुए दिखाई देते है।

इस प्रकार की अधिकतर कथाएँ काल्पनिक जान पडती हैं। इन मे लोक-जीवन मे व्याप्त प्रेम की महत्ता तथा सच्चे प्रेम के निर्वाह मे विपत्तियो का यथोचित निर्देश हुआ है। प्रेमकथा की सामान्य विशेषता है—चित्र, मूर्ति या प्रत्यक्ष-दर्शन द्वारा नायक-नायिका के सौन्दर्य पर मुग्ध हो कर उसे पाने की चेष्टा करना। किसी-किसी कथा मे स्वप्न मे किसी सुन्दरी के रूप से आकर्षित हो उसे पाने का प्रयत्न उल्लिखित है। वस्तुतः इन कथाओ की वस्तु-योजना दो रूपों मे मिलती है। पहले के अनुसार नायक या नायिका की खोज कर प्राप्ति का सामान्य वर्णन है। जि० क० मे चित्रकार को बुला कर सेठ कुमारी के सम्बन्ध मे जानकारी प्राप्त करता है और सुन्दरी के पिता के पास उसे भेजता है। किन्तु इस प्रकार एक-दो, चार या आठ विवाह करने मे विशेष कोई चमत्कार लक्षित नही होता। किन्तु प्रेम का जो बीज धीरे-धीरे भूमि में जड़ जमा कर विकसित होता है और आँधी-तूफानों को भी झेल कर जो अटल और अचल खड़ा रहता है वस्तुतः विशेष महत्त्व उसी का है। यथार्थ में वि० क० दूसरे प्रकार के प्रेमाख्यानक कोटि की रचना है, जिस मे दुःख, संकट, विरह की तपन एवं ऊष्मा सह लेने के बाद सुख, शान्ति, शीतलता तथा बरसात की वास्तविक नमी की तरावट है, जो जीवन को अधिक समय तक सक्षम बनाने मे समर्थता व्यक्त करती है। नूरमुहम्मद कृत 'इन्द्रावती' भी इस से कुछ-कुछ मिलती हुई रचना है, जिस मे अनेक कठिनाइयों के पश्चात् राजकुँअर समुद्र से प्रणमोती निकालने में सफल होता है और फलस्वरूप

इन्द्रावती से उस का विवाह होता है। यदि इन कथाओं को ध्यान से देखा जाय तो विलासवती, इन्द्रावती और पुहुपावती आदि राजकुमारी झरोखे मे से राजकुमार को देख कर ही कामासक्त हो जाती है और दासी आदि की सहायता से मिलने का उपाय ढूंढ़ निकालती है और मिलन भी हो जाता है; किन्तु प्रायः सभी लेखकों ने किसी न किसी बहाने से सभी राजकुमारों की समुद्र-यात्रा और विशेष कर सिंहलद्वीप की यात्रा का वर्णन किया है।

श्रीपालकथा का लोक-रूप

ब्रज की लोक-कहानियो में भाग्य की प्रधानता प्रदर्शक कई कहानियाँ हैं, जिन मे किसी राजा की सात कन्याओ में से सब से छोटी पुत्री के यह कहने पर कि 'मै अपने भाग्य का खाती हूँ' राजा उस का विवाह अत्यन्त असमर्थ अथवा कुष्ठगलित किसी व्यक्ति से कर देता है। किन्तु राजकुमारी रोग का कारण जान कर सेवा-शुश्रूषा से अपने पति का रोग-निवारण कर लेती है। अन्त मे उस का पति पिता के समान ही वैभवशाली बन जाता है।[1] गाँवों मे यह कहानी लकड़हारे के रूप मे सुनी जाती है। राजा छोटी राजकुमारी से चिढ़ कर उस का विवाह किसी लकड़हारे से कर देता है। किन्तु धीरे-धीरे वह सम्पन्न हो जाता है और जंगल में राजमहल बनवा लेता है। समय के फेर से राजा दरिद्री हो जाता है और अन्त मे भिखारी बन कर कन्या के दरवाजे पर पहुँचता है। श्रीपालकथा मे अन्तिम घटना को कम्बल और कुल्हाड़ी ले कर राजा को बुलाने मे यही लोकतत्त्व लक्षित होता है, जिसे कथानक के अनुसार कुछ बदल दिया गया है। इस प्रकार की कहानियों मे कथा का मुख्य अभिप्राय एक ही है कि होनी होय सो होय'।

बुन्देली और अवधी लोक-कहानियो मे भी भाग्य से सम्बन्धित कई कहानियाँ मिलती है। इन कहानियो मे राजा सात पुत्रियो मे से सब से छोटी लडकी का विवाह 'अपने भाग्य की कमाई खाते है' कहने पर कोढ़ी के साथ कर देता है। कोढी व्यक्ति शापित गन्धर्व रहता है। अतएव विवाह होते ही उस का कोढ़ अच्छा हो जाता है। अन्त मे इन्द्र की कृपा से विश्वकर्मा उस के लिए राजमहल बनाता है और वह उस महल मे सुखी जीवन बिताता है।[2] इसी प्रकार इस से मिलती-जुलती कई कहानियाँ मिलती है। एक भोजपुरी कहानी मे कोई स्त्री कोढ़ी पति की सेवा कर देवता के वरदान से अनेक वर्षों के उपरान्त उस के शरीर मे चुभे हुए हजारों काँटो को अलग कर रोग से मुक्त करती है।[3] इस प्रकार इन सभी कहानियो मे पत्नी सेवा के बल पर अपने

---

१. डॉ० सत्येन्द्र . ब्रज-लोक-साहित्य का अध्ययन, पृ० ४६६।

२. डॉ० गगाचरण त्रिपाठी . अवधी, ब्रज और भोजपुरी लोकसाहित्य का अध्ययन, अप्रकाशित, पृ० १४७।

३. डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय : भोजपुरी लोकसाहित्य का अध्ययन, पृ० ४१६।

पति का रोग-निवारण करती हुई दिखाई देती है। अतएव कर्म या भाग्य की प्रधानता मुख्यरूप से इन सब लोक-कहानियो मे व्याप्त है।

कथा-मानक-रूप

अपभ्रंश के कथाकाव्यों में प्रयुक्त लगभग सभी कथाएँ छोटी-छोटी कई सरल कहानियों से मिल कर बनी हैं, जो उपवाक्यों की भाँति मुख्य वाक्य से जुड़ी हुई लक्षित होती हैं। ये कथाएँ सामान्य पशु-पक्षी या मनोरंजन की कहानियाँ न हो कर अभिप्राय गर्भित लोककथाएँ है, जिन मे व्रत तथा अनुष्ठान के अंग सोद्देश्य नियोजित हैं। किन्तु मूल रूप मे ये ही कथाएँ देश-विदेशों में पात्रों के नाम, स्थान और क्षेत्रीय भिन्नता के साथ कई रूपो मे प्रचलित रही है। अतएव विभिन्न कहानियों के तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा प्रारम्भिक कथा का सामान्य रूप सरलता से निश्चित किया जा सकता है। वस्तुतः कथा-मानक की प्रणाली से छोटी बड़ी सभी प्रकार की कहानियों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है और तुलनात्मक अध्ययन के निष्कर्ष से ही कथाओं की वास्तविकता की पहचान हो सकती है। इस लिए कथा के मानक रूपों का निर्धारण करना आवश्यक ही नही अनिवार्य भी है।

एक ही कहानी युग-युगो तक विभिन्न देशो में निर्गमन करती हुई विविध रूपान्तरो के साथ आज भी हमे सुनने को मिल सकती है। प्रत्येक देश के रीति-रिवाज तथा सामान्य विश्वास इन कहानियों में तथा कथाओं मे भलीभाँति निहित रहते है। अतएव उन के मूल रूपो को ढूँढ़ निकालना अपने आप में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य है। कथा-मानक-रूपो के निर्धारित हो जाने पर सरलता से उस के मूल तक पहुँच सकते है। और इसी लिए कहानी के अध्ययन मे उस के मूल रूप को पहचानने तथा समझने के लिए कथा के मानक रूपो का अत्यन्त महत्त्व है।

यथार्थ मे कथा-मानक-रूप विभिन्न कथाओ मे निहित वह अन्तर्राष्ट्रीय रूप होता है, जो सामान्य रूप से कई कहानियों मे समान रूप से निबद्ध लक्षित होता है। क्योंकि क्षेत्रीय तथा जातीय भिन्नता के कारण विभिन्न देशो की भाषा, साहित्य और संस्कृति मे मौलिक अन्तर होने पर भी उन में कुछ ऐसे सामाजिक संस्कार तथा सामान्य विश्वास युग-युगो से प्रचलित रहे है, जो सर्वव्यापक तो नही पर अधिकतर देशों में सर्वमान्य रहे है। इस प्रकार इस अध्ययन के द्वारा जनपदीय ही नही देश-विदेशो की लोक-संस्कृति तथा लोक-रूढ़ियों का पता लगता है। इतिहास और भूगोल जहाँ हमें विभिन्न संस्कृतियो के उदय और विकास की कहानी समझाता है, वहीं कथा के मानकरूप लोकगत सामान्य विश्वासो का विश्लेषण कर किसी भी देश की संस्कृति और सभ्यता का प्राचीनतम ऐतिहासिक या भौगोलिक रूप का विचार कर निष्कर्ष रूप मे सामान्य भाव-भूमि को निर्धारित करते है। यही इन की सब से बड़ी विशेषता है।

उक्त तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर ही कई विद्वान् यह मत निश्चित कर सके हैं कि कहानियों का वास्तविक जन्म भारतवर्ष मे आर्यवंश से हुआ है ।[1]

अकेली भ० क० में निम्नलिखित कथा मानक-रूप हो सकते हैं—

१—सौतेला भाई

१. दो भाई व्यापार करने के लिए जहाज पर बैठ कर यात्रा करते है । माता की सीख से सौतेला भाई बड़े भाई को मार्ग मे किसी निर्जन द्वीप मे छोड़ कर आगे बढ़ जाता है ।
२. बड़ा भाई संकट मे पड़ जाता है । घने जंगल मे हो कर वह उजाड़ नगरी मे पहुँचता है । वहाँ राक्षस के अधीन किसी सुन्दरी से उस का विवाह हो जाता है ।
३. लौटते समय छोटे भाई से भेंट हो जाती है । वह छल से फिर उसे निर्जन द्वीप मे छोड़ कर भाई की पत्नी के साथ घर आ कर विवाह रचता है ।
४. बड़ा भाई राजा के पास पहुँचता है । छल का रहस्य खुल जाता है ।

बंगला कथाओ मे से 'घुमन्तपुरी' और 'कलावती राजकन्या' का कुछ-कुछ अंश इस कथा से मिलता-जुलता है । घुमन्तपुरी मे उक्त भ० क० की भाँति माँ के मना करने पर पिता की आज्ञा से एक राजकुमार बीहड़ वन मे अकेला चल देता है । जंगल मे उसे एक उजाड नगरी तथा राजमहल दिखाई देता है । उस मे सोती हुई राजकुमारी मिलती है । राजकुमार उस मरणान्तक नीद से जगा देता है । दोनो का विवाह हो जाता है । 'कलावती राजकन्या' मे सौतेले भाइयो की कहानी है । छोटे भाई कलावती के देश से उसे प्राप्त कर लाते है । किन्तु मार्ग मे बड़े भाई उन्हे समुद्र मे गिरा देते हैं और घर पहुँच कर ब्याह की तैयारियाँ करते है । इतने मे छोटे भाई पहुँच जाते हैं और छल-कपट का भेद खुल जाता है ।

राक्षस या राक्षसिन के अधिकार मे राजकुमारी के रहने का वर्णन अनेक कहानियो मे मिलता है । 'सोनेर काटी रूपार काटी' नामक बंगला कथा मे राक्षसिन के अधिकार में राजकुमारी का विवरण है । इसी प्रकार 'पातालपुरी' नाम की बंगला लोक-कथा मे शून्य (उजाड़) नगरी और उस मे राजमहल मे राक्षसिन के अधीन रहने वाली राजकुमारी का वर्णन है । 'एण्ड्रोमीडा' मे सर्प के रूप मे दैत्य का देश उजाड़ना वर्णित है । वह राजकुमारी को अपने वश मे इसलिए रखता है कि वह उस से विवाह करना चाहता है । अपभ्रंश की इस कथा मे व्रज की कहानियो की भाँति सर्प-दैत्य का राजकुमारी से विवाह करने की चाहना का उल्लेख नही है ।[2] किन्तु इस प्रकार की अन्य

१. डॉ० सत्येन्द्र : लोक साहित्य विज्ञान, विशेष जानकारी के लिए द्रष्टव्य है ।
२. डॉ० सत्येन्द्र लोक साहित्य विज्ञान, पृ० २४१ ।

कथाओं में राक्षस से युद्ध कर उस के अधीन राजकुमारी से नायक के विवाह करने की घटना का उल्लेख मिलता है।

५—लोभी वणिक्

१. एक धनी-मानी सेठ धन कमाने की इच्छा से समुद्र की यात्रा करता है। किन्तु समुद्र की पूजा करने पर भी जब जहाज टस से मस नही होता तो किसी राजकुमार को एक लाख स्वर्ण मुद्राएँ देने को तैयार हो जाता है।
२. राजकुमार जहाज चला देता है और साथ ले चलने की अपनी इच्छा प्रकट करता है। वणिक् सेठ इस लोभ से कि इस को एक लाख स्वर्ण मुद्राएँ न देनी पड़ें कुमार को धर्मपुत्र के रूप मे मान कर साथ मे ले जाता है।
३. लौटते समय राजकुमार की नई बहू के रूप को देख कर तथा साथ मे अतुल धन-राशि को देख कर वणिक् राजकुमार को समुद्र में गिरा देता है।

'कथासरित्सागर' मे भी 'विदूषक-ब्राह्मण' कथा के अन्तर्गत विदूषक ताम्रलिप्ती नगरी में पहुँच कर स्कन्ददास व्यापारी से मित्रता करता है और उस के फँसे हुए जहाज को सम्पत्ति के आधे भाग और कन्या के विवाह के बदले पुरस्कार स्वरूप चला देने मे समर्थ होता है। किन्तु बनिया धन के लोभ से उसे समुद्र मे गिरा देता है।[1] अपभ्रंश, प्राकृत तथा अन्य लोक-कथाओ मे यह वृत्त सामान्य है। 'ढोला' मे मोतिनी के लालच में सेठ मामाओं के द्वारा नल को समुद्र मे गिरा देने का उल्लेख है।

६—सहस्रकूट चैत्यालय का फाटक खोलना

१ एक राजकुमार पाँच सौ पोतो के साथ समुद्र की यात्रा के लिए चल पड़ता है।
२. किसी अच्छे द्वीप (हंस या रत्न) मे जा कर जहाज रुकते हैं। राजकुमार जिन मन्दिर मे देव-दर्शन के लिए जाता है। किन्तु सहस्रकूट चैत्यालय के फाटक को बन्द देख कर ठिठक जाता है।
३. द्वारपाल के बताने पर वह फाटक को छूता है। हाथ लगाते ही फाटक खुल जाता है। इस वृत्त को जान कर राजा अपनी कन्या का विवाह राजकुमार के साथ कर देता है।

ढोला मे भी भौमासुर दाने के महलों की शिला सरकाता है।[3] इसी प्रकार भ० क० मे भविष्यदत्त के धक्का देने पर वर्षों से बन्द पडा हुआ मन्दिर खुल जाता है। और भी अन्य जैन कथाओ मे हाथ लगाते ही मन्दिर के खुल जाने का वृत्त मिलता है।

---

१ पं० केदारनाथ शर्मा कथासरित्सागर, प्रथम खण्ड, हिन्दी अनुवाद सहित, मूल लेखक महाकवि सोमदेव भट्ट, तृतीय लम्बक।
२ डॉ० सत्येन्द्र : ब्रज लोक-साहित्य का अध्ययन, पृ० ४६०।
३. वही, पृ० ४८०। तथा-मध्य युगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्त्विक अध्ययन, पृ० २१३।

सि० क० या श्रीपाल कथा में निम्नलिखित कथा के मानकरूप कहे जा सकते हैं। यथा—

१—करम बड़ो संसार में

१. एक पिता की दो पुत्रियाँ हैं। पिता राजा है। उन की योग्यता की परीक्षा लेता है। बड़ी पिता को और छोटी कर्म को बड़ा बताती है। राजा छोटी बेटी पर क्रुद्ध हो कर उस का विवाह कोढ़ी से कर देता है।

२. कोढ़ी का रोग दूर हो जाता है। वह अत्यन्त प्रतापी राजा बनता है।

३. दामाद ससुर को अपने प्रताप तथा वैभव से चमत्कृत कर देता है। वह कर्म का माहात्म्य स्वीकार कर लेता है।

श्वेताम्बर-साहित्य मे श्रीपाल की कथा मे बडी पुत्री का संकटों मे पड कर छोटी पुत्री यानी बहन के शरण मे आने का उल्लेख भी मिलता है। 'लीअर' में छोटी पुत्री के विशेष प्रेम प्रकाशित न करने पर पिता उसे अपने घर से निकाल देता है। शेक्सपियर के 'किंगलियर' नाटक मे भी इस का उल्लेख है। वस्तुतः राजा का भूल स्वीकार करना और पुत्री के सम्मान करने की बात कई कहानियों में मिलती है।[1] इजिप्ट देश की कथा मे भी 'भाग्य विषयक' कहानी 'द स्टार ऑव इसिस' नाम से मिलती है जिस मे देवी के प्रसाद से भाग्योदय बतलाया गया है।[2] बुन्देली और अवधी में भाग्य से सम्बन्धित कई कहानियाँ मिलती हैं। अवधी, ब्रज और भोजपुरी लोक-साहित्य मे पुत्रियों के प्रेम की परीक्षा मे सब से छोटी पुत्री को देश से निकालने का चित्रण है।[3] किसी-किसी कहानी में कोढी से विवाह करने का भी उल्लेख मिलता है। कोढ़ी अथवा लुंज या अंगहीन से विवाह होने का वृत्त देश-विदेश मे अनेक कहानियो में है।[4]

२—असाध्य रोग से मुक्ति

१. किसी कन्या का पति कुष्ठ रोग से पीड़ित है। विवाह होने पर पति पत्नी को पास मे आने से रोकता है, पर वह नही मानती।

२. मन्त्र पूर्वक व्रत-विधान के पालन से तथा रात-दिन सेवा-शुश्रूषा करने से वह पति को निरोग बना लेती है।

३. कुष्ठ रोग दूर होने पर पति का भाग्य चमक उठता है।

---

१. डॉ० सत्येन्द्र : लोक साहित्य विज्ञान, पृ० २२८।

२. आफ्टरमाथ ए सप्लेण्ट टु द गोल्डन वाउ, पृ० ३६०।

३. डॉ० गंगाचरण त्रिपाठी अवधी, ब्रज और भोजपुरी लोकसाहित्य का तुलनात्मक अध्ययन (अप्रकाशित), पृ० १८५।

४ डॉ० सत्येन्द्र मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्त्विक अध्ययन, पृ० २१३।

बुन्देल और अवधी कहानियों में किसी राजा की सात पुत्रियों का वृत्तान्त मिलता है। सब से छोटी लड़की का विवाह कोढ़ी के साथ होता है। व्यक्ति शापित गन्धर्व होता है। अतएव विवाह होते ही कोढ़ दूर हो जाता है और इन्द्र की कृपा से विश्वकर्मा उन दोनों के लिए राजमहल बना देता है।[1] अपभ्रंश की उक्त कथा में कुमार शापित तो नहीं है, पर दैवी शक्तियों की सहायता से ही उस का अभ्युदय होता है। भोजपुरी कहानी में भी कोई स्त्री अपने कोढ़ी पति की सेवा कर देवता के वरदान से अनेक वर्षों के उपरान्त उस के शरीर मे चुभे हुए हजारों काँटो को अलग कर उसे रोग से मुक्त करती है।[2] सम्बुल जातक मे भी स्वामी एवं पतिभक्त पत्नी के द्वारा पति के कोढ़ को दूर करने का उल्लेख है।[3]

३—अटके हुए जहाज को चलाना

१. एक कुमार वाणिज्य-यात्रा के लिए जाता है। मार्ग मे एक नगर मे ठहरता है।
२. किसी सार्थवाह के जहाज तभी समुद्री द्वीपो की यात्रा के लिए सजते हैं। सार्थवाह प्रस्थान करता है, पर जहाज अटक जाता है।
३. मनुष्य की बलि के लिए परदेशी कुमार को राजा की आज्ञा से पकड़ लिया जाता है। कुमार मन्त्र की शक्ति से जहाज चला देता है।

ब्रज की कई कहानियों में अटके हुए जहाज को चला देने का उल्लेख मिलता है।[4] कथासरित्सागर मे भी विदूषक द्वारा फँसे हुए जहाज को चलाने का उल्लेख है।[5]

४—डाकुओ से मुठभेड़

१. कोई कुमार सार्थवाह-संघ के साथ समुद्री यात्रा करने के लिए चल पड़ता है।
२. किसी समुद्री-तट पर एक लाख डाकू मिल कर पीछा करते है और सार्थवाहो के मुखिया को पकड़ लेते है।
३. सार्थवाहों का अधिपति लोभ से डाकुओं के हवाले खुद चला जाता है। वे उसे बाँध कर पेड़ से कस देते है।

---

१. डॉ० गंगाचरण त्रिपाठी : अवधी, ब्रज और भोजपुरी लोकसाहित्य का तुलनात्मक अध्ययन (अप्रकाशित प्रबन्ध), पृ० १४७।
२. डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय : भोजपुरी लोक साहित्य का अध्ययन, पृ० ४१६।
३. सं० प्रो० ई० बी० कावेल : द जातक आर स्टोरीज ऑव द बुद्धाज फार्मर बर्थ्स, पाँचवीं जिल्द, पृ० ४८।
४. डॉ० सत्येन्द्र : ब्रज लोक-साहित्य का अध्ययन, पृ० ४५०।
५. पं० केदारनाथ शर्मा : कथासरित्सागर, हिन्दी अनुवाद सहित, प्रथम खण्ड, तृतीय लम्बक के अन्तर्गत 'विदूषक-ब्राह्मण' की कथा।

४. कुमार इस वृत्तान्त को सुन कर डाकुओं को ललकारता है और डट कर उन का सामना करता है। सब डाकू लोग उस के पैरों पर गिरते हैं।

डाकुओं से समुद्र-यात्रा करते समय मुठभेड़ होने का वृत्त कई जातक कथाओं मे मिलता है। डॉ० सत्येन्द्र ने दूसरे प्रसंग में संकट काल मे डाकुओं से मुठभेड़ होने का उल्लेख किया है।[1] इस प्रकार इस वृत्त को अन्य लोक-कहानियो में भी ढूँढा जा सकता है।

जि० क० के कथा मानक-रूप इस प्रकार है—

१—पुतली-दर्शन से प्रेम

१. एक वणिक् पुत्र एक दिन अष्टाह्निका के दिनों मे किसी चैत्यालय की वन्दना करने के लिए मित्रो के साथ जाता है।

२. चैत्यालय के ऊपरी भाग मे उत्कीर्ण पुतलियो के रूप को देख कर किसी एक पुतली पर मोहित हो जाता है। घर मे आ कर काम की दशों अवस्थाएँ क्रमशः प्रकट होने लगती है।

३. वणिक् सेठ चित्रकार को बुला कर उस कन्या के पिता के पास उसे भेजता है। दोनो का विवाह हो जाता है।

राजवल्लभ कृत 'पद्मावतीचरित्र' मे भी राजपुत्र चित्रसेन का मन्त्रीपुत्र रत्नसार के साथ अष्टाह्निका मे ऋषभदेव के मन्दिर मे किन्नरियो का गान सुनने और पुत्तलिका के रूप पर मोहित हो जाने का वृत्त मिलता है।[2] चित्र-दर्शन और मूर्तिदर्शन से प्रेम होने का वृत्त अन्य कहानियो मे भी ढूँढा जा सकता है। सूफी कहानियो मे स्वप्न-दर्शन और चित्र-दर्शन से सम्बन्धित कई कहानियाँ मिलती है।

२—जिनदत्त की यात्रा

१ जिनदत्त माता-पिता के मना करने पर भी धन कमाने के लिए घर से बाहर निकल पड़ता है। पत्नी को ससुराल के नगर के उद्यान मे छोड़ कर जड़ी के प्रभाव से अदृश्य हो जाता है। वहाँ से चल कर वह दशपुर के वन मे पहुँचता है।

२. वन के सूखे फल-फूलों को हरा-भरा कर देने से वणिक् समुद्रदत्त जिनदत्त को अपना धर्म-पुत्र बना लेता है। वह उसे अपने नगर मे ले जाता है।

३ नगर की स्त्रियाँ जिनदत्त के रूप-सौन्दर्य को देख कर मुग्ध हो जाती है। जादू की वस्तुओं मे कई चीजों का उल्लेख अनेक कहानियो मे मिलता है। स्टिथ थॉमसन ने ऐसी अनेक वस्तुओं का निर्देश किया है।[3]

---

१ डॉ० सत्येन्द्र लोक साहित्य विज्ञान, पृ० ३०८।

२. अगरचन्द नाहटा : "क्या राजवल्लभ कृत पद्मावतीचरित्र और जायसी के पद्मावत की कहानी एक ही है?", नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५६, अंक १, पृ० ५३।

३. डॉ० सत्येन्द्र . लोक साहित्य विज्ञान, पृ० २५४-२५५।

३—श्रीमती

१. किसी नगर मे एक राजकुमारी अकेली महल में रहती थी। रात को जो भी उस के पास रहता था सबेरे वह मरा हुआ मिलता था। इस लिए राजा ने पारी से एक-एक व्यक्ति प्रतिदिन के लिए नियत कर दिया।
२. एक दिन एक वणिक्पुत्र उस नगर में मालिन के यहाँ जा कर ठहरता है। उसी दिन मालिन के पुत्र की बारी होने से वह अत्यन्त विलाप करती है।
३. वणिक्पुत्र बुढ़िया को समझा कर उस के स्थान पर स्वयं जाता है।
४. वह रात भर राजकुमारी श्रीमती के महल में पहरा देता है। आधी रात को कुमारी के मुँह से निकलने वाले भुजंग को तलवार के वार से मार कर कुमारी के साथ विवाह करता है।

इस प्रकार उक्त कथा मे राजकुमारी सर्प के अधीन वर्णित है। किन्तु कथा-सरित्सागर मे तथा जगदेव की कथा मे सब बातें समान है; पर सुन्दरी राक्षस के अधीन है। जगदेव के अन्य वृत्तो मे अवश्य एक राजकुमारी के मुँह से रात को नागिन निकलने और एक मनुष्य को रोज डसने का उल्लेख मिलता है।[१] इसी प्रकार बंगला 'डालिम-कुमार' कथा के अन्तर्गत ऐसी ही राजकुमारी का वर्णन है, जिस के साथ रोज एक मनुष्य का विवाह होता है और रोज उस के मुँह से निकलने वाला सर्प रात मे उसे मार कर खा जाता है। डालिम कुमार सर्प को मार कर राजकुमारी से विवाह करता है।[२]

४—छलिया धर्मपिता

१. एक वणिक्सेठ किसी कुमार को धर्मपुत्र बना कर द्वीपान्तरों की यात्रा करता हुआ सिहलद्वीप मे पहुँचता है।
२. कुमार साहसपूर्ण कार्यो से वहाँ के राजा की पुत्री से विवाह कर लेता है।
३. मार्ग मे लौटते समय धर्मपिता कुमार की सुन्दर पत्नी को देख कर उस पर आसक्त हो जाता है। वह छल से कुमार को समुद्र मे गिरा देता है।

ब्रज-कहानी मे नल अपने दो मामाओं के साथ सोने की गोट की खोज मे जहाज से किसी द्वीप की यात्रा करता है। मामा दोनो जहाज पर रहते है। नल मोतिनी से विवाह कर लाता है। मामाओं की दृष्टि बदल जाती है। वे नल को समुद्र मे फेंक देते हैं।[3] उक्त अपभ्रंश-कथा मे भी धर्मपिता जहाज पर रह कर समुद्र-तट पर क्रय-विक्रय करता है। बुन्देलखण्डी कथा 'सब से बड़ा पुण्य कौन' मे भी राजकुमार को

---

१. डॉ० सत्येन्द्र ' लोक साहित्य विज्ञान, पृ० ३४१।
२. सं० दक्षिणारंजन मित्र मजूमदार · ठाकुरमारझुलि, पृ० १६४।
३. डॉ० सत्येन्द्र लोक साहित्य विज्ञान, पृ० २३०।

एक व्यापारी द्वारा समुद्र मे फेंक देने तथा महादेवजी के प्रसाद से अपने नगर में पहुँचने का वृत्त मिलता है। अपभ्रंश कथाओं की भाँति अन्त में राजकुमार सब को क्षमा कर देता है।[1] पाश्चात्य देशों की लोक-कथाओ मे भी वीरता और साहसपूर्ण कार्यों की कहानियाँ मिलती हैं, जिन मे समुद्र में गिरने और बच कर समुद्र के तट पर आने का वृत्त भी है।[2] वि० क० मे भी उक्त वृत्त मिलता है।

५—साहसी कुमार

१. जिनदत्त अपने जीवन में अनेक साहसपूर्ण कार्य करता है।
२. राजकुमारी के मुँह से निकलने वाले सर्प को मारता है। समुद्र में गिराये जाने पर सूखे लकड़ी के टुकडे के सहारे समुद्र पार करता है।
३. विद्याधरों के देश मे कई प्रकार की विद्याएँ सीखता है।

अवध मे भी साहसी राजकुमारों की कई कथाएँ प्रचलित है, जिन मे से एक कहानी में राजकुमार डायन को अपनी तलवार से काट कर उस के अधीन राजकुमारी से विवाह करता है।[3]

६—भविष्यवाणी की संपूर्ति

१. किसी नगर का राजा ज्योतिषी से पूछता है कि इस कन्या का वर कौन होगा? वह बतलाता है कि जो व्यक्ति अपनी भुजाओं से समुद्र पार कर इस द्वीप में आयेगा वही इस का पति होगा।
२. राजा अपने अनुचरो को समुद्र-तट पर नियुक्त कर देता है। एक दिन एक कुमार अपनी भुजाओ से समुद्र पार करता हुआ दिखाई पड़ता है। राजा को सूचना दी जाती है।
३. उन दोनो का विवाह हो जाता है।

इस वृत्त का उल्लेख कथासरित्सागर तथा प्राकृत-अपभ्रंश कथाओ और भारतीय लोक-कथाओ मे भी मिलता है।

७—कौतुकी जिनदत्त

१. विद्याधरों के देश मे रह कर जिनदत्त कई प्रकार की विद्याएँ सीख लेता है।
२. एक दिन कौतुकवश पत्नी को विमान मे बिठा कर विहार करता हुआ अकृत्रिम चैत्यालयो की जा कर वन्दना करता है।

---

१. शिवसहाय चतुर्वेदी गौने की विदा, पृ० १२७-२८।
२. स० थॉमस जे० सहान ' ए बुक ऑव फेमस मिथ्स एण्ड लीजेण्ड्स, १९५४।
३. शिवमूर्ति सिंह वत्स अवध की लोक कथाएँ, भाग २, पृ० ३९।

३. लौटते समय चम्पा नगरी के चैत्यालय मे त्यक्त पत्नियों को देख कर रात वहीं के वन मे बिताता है। सुबह होने के पहले ही वह विद्या से रूप बदल कर नगर मे चला जाता है।

४. जिनदत्त उस नगर मे भी कई कौतुक दिखाता है; जैसे कि—शिला को हँसाना, मदोन्मत्त हाथी को वश में करना, इत्यादि।

मदोन्मत्त हाथी को वश में करने का वृत्त 'क्षत्रचूड़ामणि' आदि कई जैन कथाकाव्यों मे मिलता है।

८—प्रिय-मिलाप

१. जिनदत्त अपनी पहली पत्नी चम्पा को उपवन में अकेली छोड़ कर अदृश्य हो जाता है, जो निकटवर्ती चैत्यालय में जा कर शरण लेती है।

२. श्रीमती सार्थवाह के साथ चंपापुर मे पहुँचने पर अवसर पा कर चैत्यालय की ओर पुर के बाहर उद्यान में चली जाती है। वहाँ विमलमती से भेंट हो जाती है और उसी के साथ रहने लगती है।

३. शृंगारमती को स्वयं जिनदत्त विमान मे बिठा कर वहाँ के उद्यान मे छोड़ देता है। जब सुबह वह विमान और पति को नही देखती है तो विलाप करती है। उस का करुण क्रन्दन सुन कर विमलमती श्रीमती को भेजती है। वह भी उन के साथ मे रहने लगती है।

इस प्रकार सब पत्नियों के एक स्थान पर मिलाप होने का वृत्त 'प्रियमेलकतीर्थ' मे संकलित कई कहानियों मे मिलता है, जिन में वियुक्त पत्नियाँ व्रत, अनुष्ठान कर प्रवसित पति को प्राप्त करती है[1]। अन्य भारतीय धार्मिक कथाओ में भी व्रत के परिणामस्वरूप प्रवसित पति को प्राप्त करने का वृत्त मिलता है। वि० क० के कथा मानक-रूप निम्नलिखित हैं—

१—पिता से अपमानित राजकुमार

१. एक दिन कोतवाल कुछ चोरों को पकड़ कर लिये जा रहा था। चोरों ने राजकुमार को सामने देख कर क्षमा-याचना की। उन के गिड़गिड़ाने पर राजकुमार ने उन्हे मुक्त कर दिया।

२. कोतवाल ने जा कर राजा से शिकायत की कि जनता की राय के विरुद्ध कुँवर ने चोरो को छुड़वा दिया। राजा ने आज्ञा दी कि बिना कुँवर के जाने चोरो को शूली पर चढ़ा दो।

३. जब राजकुमार को इस घटना का पता चला तब वह पिता से रुष्ट हो कर उस के राज्य की सीमा से बाहर चला गया।

---

१. डॉ० सत्येन्द्र : लोक साहित्य विज्ञान, पृ० २१४।

उक्त वृत्त पिता से रुष्ट हो कर नगर छोड़ना, दुखहरनदास की 'पुहुपावती' नामक कथा में भी मिलता है।

२—विलासवती का प्रेम

१ एक दिन वसन्त के समय राजकुमार सनत्कुमार मित्र के साथ उद्यान की ओर जा रहा था। विलासवती झरोखे में से उस के रूप-सौन्दर्य पर मुग्ध हो अपने हाथ से गूँथी हुई मौलसिरी की माला उस के ऊपर गिराती है, जो सिर पर गिरती है। मित्र गले में डाल देता है।

२ दोनों बगीचे मे मिलते हैं। परस्पर वार्तालाप होता है।

३ सनत्कुमार परदेश चला जाता है। विलासवती को पता चलता है कि उसे शूली पर चढा दिया गया है तो वह भी आधी रात मे अकेली श्मशान की ओर चल देती है। अनेक संकटो के बाद वह अपने प्रेमी को प्राप्त करती है।

यह प्रेमाख्यानक वृत्त है, जो सूफी तथा प्रेम-कथाओ मे किसी न किसी रूप मे मिलता है। इसी का एक अंश 'पउमसिरीचरिउ' में है।

३—राजरानी का लाछन

१ किसी राजकुमार को उद्यान मे देख कर रानी उस पर रीझ जाती है।

२ राजकुमार उस की पुत्री से प्रेम करता है। एक दिन वह वहाँ से निकलता है तो रानी अपने पास कुँवर को बुलाती है। वह उस के सामने प्रेम-प्रस्ताव रखती है। राजकुमार उसे ठुकरा देता है।

३. राजा के आने पर रानी कुमार पर आरोप लगाती है। राजा कुँवर को शूली पर चढाने का आदेश देता है।

४. चिर काल के पश्चात् रहस्य खुलता है। रानी पश्चात्ताप करती है। कुँवर से क्षमा माँगती है।

लाछन लगाने और झूठे पडने की कई कहानियाँ लोक मे प्रचलित है। किसी-किसी कहानी मे अलग-अलग तथा किसी में दोनो वृत्त एक साथ मिलते है।

४—जादू की चादर

१. सनत्कुमार ताम्रलिप्ती से चल कर श्रीपुर पहुँचता है। वहाँ उसे अपने नगर का मनोरथदत्त नामक मित्र मिल जाता है।

२. मित्र के यहाँ कई दिनो तक ठहर कर वह सिंहलद्वीप की यात्रा करता है।

३. चलते समय मित्र उसे 'मोहन पट' नाम की जादू की चादर भेंट करता है, जिसे ओढ़ लेने से मनुष्य अदृश्य हो जाता है।

लोक-कहानियों में चादर, टोपी, खड़ाऊँ आदि ऐसी कई जादू की वस्तुओं के नाम मिलते हैं, जिन के उपयोग से मनुष्य अदृश्य हो सकता था।

५—निर्जन में सुन्दरी

१. राजकुमार समुद्र की यात्रा मे पोत के भग्न हो जाने से किसी निर्जन वन के समुद्रीय तट पर पहुँचता है।

२. उस वन में सहसा किसी सुन्दरी को देख कर उसे आश्चर्य होता है। वह अपनी प्रेमिका मे प्रेम व्यक्त करता है।

३. वह सुन्दरी उस को प्रेमिका ही निकलती है।

६—सार्थवाह का धोखा देना

(१) सार्थवाह

१. कोई राजकुमार अपनी प्रेमिका पत्नी के साथ भग्नध्वजा वाले पोत पर बैठ कर स्वदेश वापिस लौटना चाहता है।

२. सार्थवाह उसे अपने जहाज पर बुला लेता है।

३. मार्ग मे कुमार की सुन्दर पत्नी के रूप के आकर्षण से उस की नियत बदल जाती है। वह धोखे से कुमार को समुद्र मे गिरा देता है।

४. कुमार-पत्नी के सामने वह प्रेम-प्रस्ताव रखता है। वह अस्वीकार कर देती है। पोत भग्न हो जाता है।

५ नायक-नायिका काष्ठफलक के सहारे बहते हुए किसी एक ही द्वीप मे थोड़ी दूर पर किनारे लगते है। दोनों परस्पर मिल जाते है।

नौका डूबने, नायक-नायिका के अलग-अलग बह जाने की घटना प्रेम-गाथाओ मे समान रूप से मिलती है। इसी प्रकार समुद्र मे नायक को गिराने और नायिका की ओर आकृष्ट होने का वृत्त ब्रज के ढोला मे तथा अन्य कहानियो मे मिलता है।[1]

(२) भविष्यदत्त

१. एक माँ पुत्र चाहती है। पुत्र उत्पन्न होता है। पति पत्नी को छोड देता है।

२. बेटा साहस, चतुराई और बुद्धिमता से कई साहसपूर्ण कार्य करता है।

३. सौतेले बेटे के वैभव को देख कर पति पत्नी से क्षमा माँगता है और प्राणों से अधिक प्यार करता है।

'टॉमथम्ब (Tomthumb) मे तथा ब्रज की किसी कहानी मे भी इसी प्रकार माँ के चाहने पर पुत्र की प्राप्ति तथा उस के अनेको साहसपूर्ण कार्यों का उल्लेख मिलता है।[2]

१. डॉ० सत्येन्द्र मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्त्विक अध्ययन, पृ० २१६।

२. वही, पृ० २४१।

(३) सरूपा

१. सौतेली माँ अपने सौत के पुत्र की बढ़ोत्तरी न देख कर अपने लड़के को उन्नत बनाना चाहती है, इस लिए वह सौतेले भाई को द्वीप या समुद्र में छोड़ देने के लिए कहती है।

२ किन्तु सौतेला पुत्र कई संकटो को पार कर अतुल धन और वैभव से सम्पन्न हो जाता है। और सौतेली माँ के पुत्र को अपनी करनी पर सब के सामने नीचा देखना पड़ता है।

३. सौतेली माँ और पुत्र को दण्ड मिलता है।

'जुनीपर वृक्ष' मे भी सौतेली माँ सौत के पुत्र से घृणा कर मरवा डालती है। किन्तु तरह-तरह के चमत्कार के बाद सौतेली माँ को दण्ड मिलता है। उक्त कथा-रूप की भाँति व्रज मे भी कुनाल और पूरनमल के वृत्त ऐसे ही कहे जाते है।[1]

(४) बहादुर कुमार

१. एक वणिक्पुत्र अपने साहस तथा चतुरतापूर्ण कार्यों से राजा को प्रसन्न कर लेता है।

२. वह राक्षस का सामना कर और राजाओं से युद्ध कर सुन्दरी तथा राजकुमारी से विवाह करता है।

'बहादुर दर्जी' में भी दर्जी के दानवों और मनुष्यो को जीत कर राजकुमारी से विवाह करने का उल्लेख है।[2]

७—सुन्दरी का अपहरण

१. सनत्कुमार मलयपर्वत की किसी गुफा में विद्या-सिद्ध करने के लिए जप करता है। विद्याधर राजा विलासवती को हर कर ले जाता है।

२. मित्र वसुभूति विलासवती का पता लगाता है और सनत्कुमार को बताता है।

३. सनत्कुमार को विद्या सिद्ध हो जाती है। पत्नी का वृत्त जान कर वह दूत को भेजता है। किन्तु विद्याधर युद्ध के लिए तैयार हो जाता है।

४. दोनों ओर की सेनाओ में युद्ध होता है। सनत्कुमार की विजय होती है। नायक-नायिका परस्पर मिलते है।

यह वृत्त देश-विदेश की अनेक कहानियों मे मिलता है।

---

१. डॉ० सत्येन्द्र लोक साहित्य विज्ञान, पृ० २२६।

२. वही, पृ० २३७।

८—सर्प-दंश

१. सनत्कुमार और विलासवती समुद्र में बहते हुए एक द्वीप के किनारे पहुँचते हैं।

२. घूमते हुए सनत्कुमार को कण्ठगत प्राणाधीन विलासवती दिखाई देती है। नायिका प्यास से व्याकुल होती है। नायक कमल के दोने में निकटवर्ती जलाशय से पानी लेने जाता है।

३. जब वह पानी ले कर वापिस लौटता है तो बड़ के पेड़ के नीचे प्रेयसी को नही देख कर बहुत हैरान होता है। कुछ दूर पर सनत्कुमार विलासवती की चादर को लीलते हुए अजगर को देखता है। वह मरने के विचार से अजगर के सिर पर पैर मारता है। अजगर सिकुड जाता है।

४. सनत्कुमार को विश्वास हो जाता है कि विलासवती नही रही।

ब्रज की नल और मोतिनी तथा बंगाल की फकीरचन्द कहानी मे भी सर्प दंश की घटना का उल्लेख है।[1] ढोला-मारू रा दोहा मे भी नव विवाहिता मारवणी को पीवणे साँप द्वारा डँसे जाने का वृत्त मिलता है।[2] इसी प्रकार चन्दायन तथा उस के बंगला अनुवाद 'सती मयना ओ लोर चन्द्रानी' (दौलत काजी) मे भी निद्रित चन्द्रानी को किसी पेड़ के नीचे साँप के डँसने की घटना मिलती है।[3]

५ कमलश्री

१. पुत्र यात्रा पर बाहर व्यापार करने जाता है। माता अकेली रहती है।

२. व्रत पूर्वक प्रतीक्षा करती है।

३. बरसों के बाद पुत्र लौट कर घर आता है।

इसी प्रकार रविव्रत कथा में पुत्र के वियोग मे मुनि से व्रत ग्रहण कर सेठ-पत्नी सविधि पालन करती है। परिणामस्वरूप पुत्र सकुशल लौट कर घर आ जाता है। भारतीय धर्मकथाओं मे ऐसी अनेक कथाएँ मिलती है, जिन मे किसी व्रत के पालने से पुत्र धन-मान से युक्त हो घर वापिस लौटता है। वियुक्त पुत्र की प्राप्ति के लिए कई व्रतों का उल्लेख मिलता है[4]। जैसे कि—संकष्ट चतुर्थी (भाद्रपद कृ० ४), बैशाख शु० षष्ठी और श्रावण शु० १५, आश्विन या कार्तिक का व्रत।

---

१ डॉ० सत्येन्द्र : लोक साहित्य विज्ञान, पृ० ३१८।

२. ढोला-मारू रा दूहा की भूमिका, पृ० ३०, प्रकाशित काशी ना० प्र० सभा, काशी।

३ श्री नित्यानन्द तिवारी : 'लोरिक-चन्दा-चँवारा में सर्प-दंश का अभिप्राय'। हिन्दुस्तानी, भाग २३, अंक १, पृ० ४६।

४. सं० प० जगन्नाथ शास्त्री : व्रतकोश, प्रथम भाग, पृ० ८५, ४४ और ८३।

६. ईर्ष्यालु पिता

१. एक पिता के एक सुन्दर पुत्र उत्पन्न होता है।

२. युवक होवे पर उस का पिता एक दिन उसे माँ का अत्यन्त स्नेह मिलते देख अपनी पत्नी से रुष्ट हो जाता है और उदासीन हो कर पत्नी को छोड़ देता है।

'चुल्लधम्मपाल' नामक जातक कहानी मे भी रानी का पुत्र के प्रति अत्यन्त स्नेह देख कर राजा पुत्र को मरवा डालता है, जिस से वह नरक मे जाता है[1]। उक्त कथा में पिता पुत्र को न मार कर पत्नी का त्याग कर देता है। अन्त में पिता को दण्ड मिलता है। वह बन्दी बनाया जाता है, पर पुत्र उसे छुड़ा लेता है।

७. सुकृत का फल

१. पूर्व जन्म में मित्र का उपकार करने से इस जन्म मे यक्ष या विद्याधर पद को प्राप्त कर मित्र संकट के समय मे आ कर कुमार की सहायता करते हैं, जिस से उस का जीवन धन-मान तथा वैभव से समृद्ध हो जाता है।

२. पूर्व जन्म के सुकृत से वह अन्त मे राजा बन जाता है। प्रजा उस से सन्तुष्ट रहती है। वह चिर काल तक राजसुख का उपभोग करता है।

८. भविष्यदत्त की समुद्र-यात्रा

१. भविष्यदत्त पाँच सौ वणिकों के साथ व्यापार करने के लिए समुद्र-यात्रा करता है। मैनागद्वीप मे वह छूट जाता है।

२. वह उजाड़ नगरी में पहुँचता है। वहाँ सुन्दरी मिलती है।

३. भविष्यदत्त का विवाह उस सुन्दरी से हो जाता है। अपनी इस यात्रा में उसे सुन्दरी और अतुल सम्पत्ति मिलती है।

'सिन्दबाद जहाजी की दूसरी यात्रा' में भी भविष्यदत्त की भाँति सिन्दबाद के किसी टापू मे छूट जाने की घटना का उल्लेख मिलता है। वह द्वीप भी उजाड़ होता है। सिन्दबाद कुछ दिनों तक अकेला वहाँ भटकता है और अन्त मे हीरे की घाटी में पहुँच जाता है।[2] इसी प्रकार लोक-कथा के 'बेजान नगर' जैसे 'बेगम नगर' मे दानव समूचे नगर को तो उजाड़ देता है, पर रंगीली नाम की राजकुमारी के सौन्दर्य से अभिभूत हो कर उस का संरक्षक बन जाता है। वह राजकुमार से उस का विवाह कर देता है[3]। भ० क० से यह घटना बिलकुल मिलती-जुलती है।

१. सं० प्रो० ई० बी० कावेल : द जातक आर स्टोरीज ऑव द बुद्धाज फार्मर बर्थ्स, तृतीय जिल्द, १९५७, पृ० ११७।

२. द अरबियन नाइट्स, हिन्दी अनुवाद, रामनारायणलाल, इलाहाबाद, १९२२, पृ० ११०।

३ डॉ० सत्येन्द्र मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्त्विक अध्ययन, पृ० ३३८।

९—सुन्दरी के लिए युद्ध

१. भविष्यदत्त के अपूर्व साहस तथा बल एवं बुद्धिमत्ता से प्रसन्न हो राजा अपनी पुत्री सुमित्रा से उस का विवाह तय कर देता है।
२. सिन्धुनरेश कर तथा राजकुमारी की माँग करता है। भविष्यदत्त दूत को फटकार देता है।
३. दोनों में युद्ध होता है। भविष्यदत्त विजयी घोषित होता है। राजकुमारी से उस का विवाह हो जाता है।

मध्ययुगीन भारतीय इतिहास की यह लोकप्रिय घटना है। कई लोक-कथाओं में युद्ध पूर्वक सुन्दर स्त्रियो की रक्षा और उन के साथ विवाह करने का वृत्त मिलता है। इसी प्रकार पाँच सौ वणिकों या पाँच सौ पोतों के साथ समुद्रीय यात्रा करने का वृत्त अपभ्रंश तथा कई जातक कथाओं में मिलता है[१]। अपभ्रंश की अधिकतर कथाओं मे सिंहलद्वीप की यात्रा का वृत्त वर्णित है, जो लोक-साहित्य और साहित्य मे अत्यन्त लोकप्रिय अभिप्राय रहा है।

अन्य कथा-मानक-रूप है—

१—छिप कर सुनना

१. किसी स्त्री का पति बारह बरस के लिए धन कमाने परदेश मे जाता है।
२. बारह बरस पूरे हो जाते हैं, पर उस का पति लौट कर नही आता।
३. पातिव्रत्य की रक्षा करती हुई वह पति की प्रतीक्षा करती है।
४. एक दिन पति चुपचाप आ कर दरवाजे से सट कर सास-बहू की बातों को ध्यान से सुनता है। अन्त में प्रकट हो जाता है।

इस वृत्त का एक अंश 'पेनीलोप', कथासरित्सागर की उपकोशा तथा लोक-कथाओं में मिलता है।[२] लोकगीतो में तो इस की बहुत चर्चा मिलती है।

२—पुण्य का फल

१. भटकते हुए निर्जन द्वीप मे यक्ष द्वारा सहायता पहुँचाना।
२. विमान में बिठा कर यक्ष या विद्याधर द्वारा अभीष्ट स्थान पर ले जाना।
३. काष्ठफलक के सहारे समुद्र पार करना।
४ निर्जन वन मे या उजाड़ नगरी में सुन्दरी की प्राप्ति होना, इत्यादि।

---

१. सं० बुद्धिस्ट लीजेण्ड्स, प्रथम भाग, पृ० १०८।
२. डॉ० सत्येन्द्र : लोक साहित्य विज्ञान, पृ० २२३-२४।

भारतीय कथाओ मे पूर्व जन्म के पुण्य से इस जन्म में सुख-सम्पत्ति प्राप्त करने की कई घटनाओ का उल्लेख मिलता है। बरलिगमे ने इस का विस्तारपूर्वक विचार किया है।[1]

३—छह मास की आन या अवधि

१. धर्मपिता नायक को धोखे से समुद्र मे गिरा देता है।

२. नायक की पत्नी को अपनी बनाना चाहता है।

३. सुन्दरी उसे उपदेश देती है, पर डर के मारे जहाज पर अकेली होने से पति के वियोग मे या अन्य कोई बहाना बता कर छह मास की अवधि के बाद धर्मपिता के प्रस्ताव को स्वीकार करने के लिए कहती है।

अपभ्रंश के कथाकाव्यो मे किसी मे नायिका छह मास की आन ले लेती है कि यदि पति से भेट नही हुई तो प्राण त्याग दूँगी। किसी में जलदेवी स्वप्न में एक मास की अवधि देती है। और किसी मे जलदेवी स्वयं प्रत्यक्ष हो कर पति के पास पहुँचाने का आश्वासन देती है। बड़े भाई द्वारा छोटे भाई की हत्या का प्रयत्न करना और उसे मार कर उस की पत्नी को अपनी बना लेने की चेष्टा का वृत्त अवधी और भोजपुरी लोक-गीतो मे भी मिलता है।[2]

इस प्रकार अपभ्रंश के कथाकाव्यो मे कई छोटे-बड़े कथा मानक-रूप मिलते है। इन मे से कुछ कथा-मानक-रूप तो बहुत ही अधिक प्रचलित हैं और कुछ रूपान्तरों के साथ देश-विदेश की कहानियो मे मिलते है। उदाहरण के लिए—बर्न महोदया के कथा-रूपो मे मैनासुन्दरी के कोढी के साथ विवाह होने के बदले किसी राजा के पुत्री के गर्व से क्रोधित हो कर भिखारी के साथ उसे ब्याह देने का वृत्त मिलता है।[3] किन्तु ब्रज की कहानी मे 'राजा विकरमाजीत परदुख भंजनहार' अंगहीन व्यक्ति को राजकुमारी वरती है।[4] इसी प्रकार प्रेमिका की प्राप्ति में अनेक संकटों का विधान प्रेमाख्यानक एवं सूफीकाव्यो मे मिलता है। ब्रज और बंगला कहानी की भाँति मिस्र और इजिप्ट की कहानियों मे भी समुद्र मे जहाज के टूटने पर नायक-नायिका के अलग-अलग बहने की घटनाएँ मिलती है। इसी प्रकार सर्प के अधीन सुन्दरी का वृत्त भारतीय लोक-कथाओ की भाँति मिस्र की कहानी मे भी मिलता है।[5]

---

१ इयुगेने वेट्सन बरलिगमे बुद्धिस्ट लीजेण्ड्स, प्रथम भाग, १६२१, पृ० २६।

२. डॉ० गगाचरण त्रिपाठी · अवधी, ब्रज और भोजपुरी लोकसाहित्य का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० ६७।

३. डॉ० सत्येन्द्र लोक साहित्य विज्ञान, पृ० २३४।

४ डॉ० सत्येन्द्र . मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्त्विक अध्ययन, पृ० २१३।

५. डॉ० सत्येन्द्र · लोक साहित्य विज्ञान, पृ० ३०६।

डॉ० सावित्री सरीन के द्वारा उल्लिखित अभिप्रायो में से अधिकतर उक्त कथा-मानक-रूपों में ढूढ़े जा सकते हैं। वस्तुतः भारतीय लोक-कथाओं तथा अपभ्रंश की इन कथाओं मे बहुत अधिक साम्य है। केवल हेतु कथाओ तथा घटनाओं के मोड़ में अन्तर मिलता है। इस अध्ययन से यह निश्चय हो जाता है कि अपभ्रंश के कथाकाव्यों की वस्तु कल्पित एवं लोक जीवन से उद्‌घृत है। और इन कथाओं मे भी आदिम जाति की सभ्यता और संस्कृति के प्रारम्भिक रूप प्रतिष्ठित पाये जाते है। अतएव लोक-साहित्य और संस्कृति की दृष्टि से इन का अध्ययन महत्त्वपूर्ण है, क्योकि मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य को धारा का विकास इसी लोकसंजीवनी प्राप्त अपभ्रंश-काव्य-धारा से हुआ है। इसी लिए चिर काल से प्रबन्ध एवं कथाकाव्यों में अपनायी गयी कथानक-रूढ़ियों का समा-वेश परवर्ती काल की रचनाओं में भी ज्यों का त्यों लक्षित होता है।

कथाभिप्राय

कथा के मूल अभिप्राय

कथा का मूल तत्त्व अभिप्राय है। क्योकि कथा मे प्रयुक्त होने वाले प्रतीक तथा काव्यगत कथानक-रूढ़ियो की संयोजना किसी मूल अभिप्राय या भाव की रहस्यात्मक अभिव्यक्ति के लिए निहित रहती है। ये मूल अभिप्राय या मूलभाव परम्परागत लोक-रूढ़ियो या सामान्य विश्वासो की उपज होते है, जिन में आदिम संस्कार के बीज प्रतीक रूप मे सन्निहित रहते है। अतएव अभिप्रायो के साथ ही स्थानीय वातावरण तथा जातीय संस्कारो की पूरी-पूरी छाप लोक-कथा पर लगी हुई मिलती है। उदाहरण के लिए, भविष्यदत्त की कथा पर स्पष्ट रूप से राजपूती रंग चढ़ा हुआ मिलता है। इसी प्रकार अन्य कथाओं पर भी स्थानीय रंग-रूप चढ़ा हुआ दिखलाई पड़ता है।

स्टिथ थॉमसन के अनुसार 'मोटिफ' मे लोकवार्त्ता (Folklore) के किसी अंग (Item) का विश्लेषण किया जाता है।[१] वस्तुतः लोकवार्त्ता मे मौखिक रूप मे लोक-परम्परा से गृहीत देव-कथाएँ या पुराण-कथाएँ (Myths), त्योहार, गीत, अन्ध-विश्वास तथा जनसामान्य की कहानियाँ विहित रहती हैं। इस शब्द का सब से पहला प्रयोग विलियम जे० थॉमस ने सन् १८४६ में किया था।[२] वस्तुतः अपभ्रंश के कथा-

१ "In folklore the term used to desegnate any one of the parts into which an item of folklore can be analyzed In folk art there are molip of design, forms which are repeated or combined with other forms in characteristic fashion," Stith Thompson · Dictionery of Folklore Mythology and Legend, Volumn 2, Page 753.

२ "The common orally transmitted traditions, myths, festivals, songs, superstitions and stories of all peoples. The term was first used by William J. Thoms in 1846."—Dictionery of Anthropology, Page 216

काव्यों में लोकाख्यान (Legends) ही मिलते हैं; देव या पुराण कथाएँ नही। इन में आतीय अभिप्राय लोक-जीवन के सामान्य संस्कारो के रूप मे तथा देश-विदेशों के सामान्य विश्वास मूल अभिप्रायों के रूप में दृष्टिगत होते हैं। कथा-मानकरूपों में तो सामान्यतः प्रदेश विशेष को परम्परागत कथाओं का मानक-रूप निर्धारित किया जाता है, किन्तु मानकरूपों के तुलनात्मक विश्लेषण से निष्कर्ष रूप में जो मुख्य बात लक्षित होती है वही विश्व के सामान्य अभिप्राय के रूप में प्रकाशित होती है। इस प्रकार मोटिफ या अभिप्राय प्रकार या मानक प्रणाली का स्वाभाविक परिणाम है, जो परस्पर अत्यन्त सम्बद्ध हैं।[1]

ये अभिप्राय कई प्रकार के हो सकते हैं। स्टिथ थॉमसन ने मुख्य रूप से तीन श्रेणियों में अभिप्रायों को विभक्त किया है[2]—पौराणिक (Mythological), चामत्कारिक एवं अतिलौकिक तथा विविध। यथार्थ में कथा के मूल मे कोई न कोई भाव या अभिप्राय अवश्य निहित रहता है। यह कोई आवश्यक नही है कि किसी कहानी मे एक ही अभिप्राय हो। एक कहानी में कई अभिप्राय हो सकते है। जिन घटनाओ के आधार पर कथा की रचना होती है सम्भव है कि उन सब में कोई न कोई अभिप्राय अभिव्यक्त हो। यही नही, एक घटना मे कई अभिप्राय ढूँढ़े जा सकते हैं। अभिप्रायो में कथानक के प्रायः सभी मुख्य अंग लिपटे रहते है। डॉ० सरीन के मत मे कथानक घटना, चरित्र और कार्य के मेल से बनता है। इस लिए घटना चरित्र और कार्य के भी अभिप्राय हो सकते है।[3]

अपभ्रंश के कथाकाव्यों मे कथा के अन्तर्गत निहित मूल अभिप्राय इस प्रकार हैं—(१) भाग्य तथा कर्म, (२) सौतेली माता की ईर्ष्या, (३) भाई का विश्वासघात, (४) भाग्य का पलटना, (५) उजाड नगरी, (६) राक्षस से मुठभेड़, (७) आपत्ति की सूचना, (८) सत की तौल, (९) राक्षस या साँप के अधीन राजकुमारी, (१०) भविष्यदत्त की बुद्धिमत्ता, (११) राज्यसभा में चतुराई, (१२) शील-परीक्षा, (१३) पति का भूल स्वीकार करना और पूर्व त्यक्त पत्नी को अपनाना (१४) पुरस्कार तथा दण्ड, (१५) योग्यता की परीक्षा, (१६) युद्धपूर्वक राजकन्या से विवाह करना, (१७) वैवाहिक जीवन, (१८) भविष्यनिर्देशन, (१९) विमान में बैठ कर आकाश-मार्ग से जाना, (२०) धार्मिक विश्वास—श्रुतपंचमी व्रत के पालन से परदेश को गये हुए पुत्र की अवधि के भीतर प्राप्ति, पुनर्जन्म, सत्य की रक्षा, करनी का फल, तपस्या कर कर्मों के

१. डॉ० सावित्री सरीन लोक साहित्य विज्ञान के अन्तर्गत 'अभिप्राय-अध्ययन का इतिहास,' पृ० २७३।
२. स्टिथ थॉमसन 'स्टैण्डर्ड डिक्शनरी ऑव फोकलोर माइथालॉजी एण्ड लीजेण्ड्स; जिल्द द्वितीय, पृ० ११४९।
३. डॉ० सावित्री सरीन लोक साहित्य विज्ञान के अन्तर्गत 'अभिप्राय-अध्ययन का इतिहास,' पृ० २७४।

क्षय कर देने से मोक्ष-प्राप्ति, सम्यक् आचरण तथा व्रतों के पालन से स्वर्ग-प्राप्ति, मोक्ष को परमपद मानना, इत्यादि।

अकेली भ० क० में उक्त अभिप्राय निहित हैं। इन में से अधिकतर अभिप्राय स्टिथ थॉमसन के द्वारा वर्गीकृत अभिप्रायों से मिलते-जुलते हैं। भारतीय लोक-कथाओं में तो सामान्य रूप से ये अभिप्राय अत्यन्त व्यापक हैं।

इसी प्रकार वि० क० में निम्नलिखित कथाभिप्राय मिलते हैं—

(१) विद्याधरों के द्वारा राजा होने की भविष्यवाणी, (२) प्रेयसी की प्राप्ति में विभिन्न बाधाएँ, (३) जादू की चादर, (४) नव विवाहिता पत्नी को सर्प का काटना, (५) नाग का विचारशील होना, (६) नववधू का अपहरण, (७) विद्या-सिद्धि, (८) अपहृत स्त्री के लिए युद्ध, (९) विमान में बैठ कर आकाश-मार्ग से जाना, (१०) भविष्यवाणी की संपूर्ति, (११) सार्थवाह का धोखा देना, (१२) काष्ठफलक के सहारे तीन या पाँच दिन में समुद्र पार करना, इत्यादि।

जि० क० मे प्रयुक्त मुख्य अभिप्राय इस प्रकार हैं—

(१) मूर्ति दर्शन से प्रेम, (२) जादू की जड़ी से अदृश्य होना, (३) सूखे बगीचे को हरा-भरा करना, (४) साँप के अधीन राजकन्या, (५) राजकुमारी के मुँह से साँप का निकलना, (६) शयन-कक्ष में सर्पदंश, (७) साँप को मार कर राजकुमारी से ब्याह करना, (८) धर्मपिता का धोखा देना, (९) समुद्र पार करना, (१०) छह मास की आन, (११) शील-रक्षा, (१२) विद्या-सिद्धियाँ प्राप्त करना, (१३) विमान मे बैठ कर उड़ना, (१४) विद्या से रूप-परिवर्तन, (१५) पत्थर की शिला को हँसाना, (१६) मन्दोन्मत्त हाथी को वश में करना, (१७) प्रेम-परीक्षा, (१८) किये हुए का फल पाना, (१९) विवाह के लिए परीक्षा, (२०) कठिन कार्य को करना आदि।

मुख्य रूप से सि० क० मे निम्नलिखित अभिप्राय प्रयुक्त हैं—

(१) कर्म और भाग्य, (२)स्वामीभक्त पत्नी, (३)सच्ची सेविका, (४)विद्या-प्राप्त करना, (५)बारह वर्ष की अवधि, (६)निम्न धातु का सोना बनाना, (७)मनुष्य की बलि, (८)अटके हुए जहाज को चलाना, (९)डाकुओं से मुठभेड़, (१०) धर्मपिता का विश्वासघात, (११) सहस्रकूट चैत्यालय के फाटक को खोलना, (१२) मन्त्र के प्रभाव से समुद्र पार करना, (१३) जिनशासन की देवियों का प्रत्यक्ष होना, (१४) दण्ड देना, (१५) कर्मफल का भोगना, (१६) दूरदर्शिता, (१७) पहचान के लिए प्रमाण देना, (१८) भविष्यवाणी का चरितार्थ होना, (१९) छिप कर सुनना, (२०) पिता से बड़ी पुत्री, (२१) कोढ़ी से राजा बनना, (२२) गया हुआ राज्य वापिस युद्ध मे जीत कर लेना, इत्यादि।

इन के अतिरिक्त बिछुड़े हुए पुत्र से मिलना, एक मास या छह मास की आन, यक्ष या विद्याधर का सहायक होना, समुद्र मे तूफान आने से या किसी के धोखा देने

पर काष्ठफलक के सहारे पार उतरना, स्वप्न-दर्शन, छोटे से बड़ा होना, विमान में बैठ कर आकाश में उड़ना, पुरस्कार तथा दण्ड और कर्म तथा भाग्य सम्बन्धी मुख्य अभिप्राय अपभ्रंश के प्रायः सभी कथाकाव्यों में लक्षित होते हैं।

अभिप्रायों का अध्ययन

१. सर्प-दंश का अभिप्राय

यह एक अन्तर्राष्ट्रीय अभिप्राय है। कई देशों मे विवाह होने के पश्चात् प्रथम समागम इतना भयावह और अपवित्र कार्य समझा जाता है कि सुहागरात को पति या तो अपने बदले किसी व्यक्ति को नियुक्त करता है अथवा अन्य कोई कन्या के कौमार्य की रक्षा करता है।[1] वस्तुतः सर्प और सम्भोग मे अद्भुत साम्य माना जाता है। अतएव नवविवाहिता को सर्प का डसना काम सम्बन्धी अभिप्राय से सम्बन्धित है। जैन-साहित्य में काम का रूपक नाग से व्यक्त किया जाता है।[2] पेंजर महोदय के विचार से सर्प पुरुष के लिंग का प्रतीक है।[3] सर्प किसी न किसी रूप मे पुष्पवती होने की अवस्था और संस्कार से सम्बन्ध रखता है। दक्षिण-पूर्वी बोलिविया के चिरिगुआनों मे मिलने वाली प्रथा मे साँप को मार कर झूठमूठ बूढी स्त्रियाँ पुष्पवती कन्या को समझाती हैं।[4] कुछ लोग इस का सम्बन्ध नागजाति से जोडते हैं। और कई विद्वान् शिव की पूजा शिश्न के रूप में होने से द्रविड और जंगली कबीलों से इस का सम्बन्ध स्थापित करते है। संहिता, स्मृति तथा सूत्र-ग्रन्थो में सर्प की पूजा का उल्लेख मिलता है। मिस्र में भी सर्पपूजा के प्रमाण मिलते है। बाबू धनपति बनर्जी के मत मे प्राचीन मिस्र में भी शिश्नपूजा का प्रचार था। बनर्जी के मत को उद्धृत करते हुए तिवारीजी ने लिखा है कि लिंग चिह्न, अशोभन पूजा-विधि और बैल-पूजा के तत्त्वो के आधार पर बाबू धनपति बनर्जी ने शिव के स्वरूप तथा विकास पर मिस्र का प्रभाव बताया है। उन का कथन है—भारतीय द्रविड़ों और मिस्र के लोगों का सम्पर्क ३०००-४००० वर्ष ई० पू० के लगभग हुआ होगा और तभी एक-दूसरे की सामाजिक रीति-नीतियो से प्रभावित हुए होंगे।[5] अतएव यह कहा जा सकता है कि सर्पदंश का अभिप्राय मिस्र या द्रविड़ जाति के लोगों की रीति-नीति-पद्धति से सम्बन्धित है। इसलिए ऐतिहासिक

१. टॉनी पेन्जर : द ओसन ऑव स्टोरी, द्वितीय जिल्द, पृ० ३०६।
२. कामनाग विषधाम नाश को गरुड़ कहे हैं, क्षुधामहादवज्वाल तासु को मेघ लहे हैं।—बृहज्जिनवाणीसंग्रह, पृ० ४६।
३. टॉनी पेन्जर : द ओसन ऑव स्टोरी, द्वितीय जिल्द, पृ० ३०७।
४. जेम्स् जार्ज फ्रेजर : गोल्डन बाउ, छठा भाग, पृ० ६०७।
५. बाबू धनपति बनर्जी : द इव्युल्यूशन ऑव रुद्र आर महेश इन हिन्दूइज्म, 'द क्वार्टरली जर्नल ऑव मिथिक सोसायटी', जिल्द १०, अंक ३, १९२०, पृ० २२१। श्री नित्यानन्द तिवारी : 'लोरिक-चन्दा-पँवारा में सर्प-दंश का अभिप्राय', हिन्दुस्तानी, भा० २३, अंक १, पृ० ५३ से उद्धृत।

दृष्टि से उक्त अभिप्राय ई० पू० तीन हजार वर्ष के लगभग मिस्र और भारत में प्रचलित था। 'स्टिथ थॉमसन ने भी इस प्रकार के मूल अभिप्रायो का संकेत किया है। ये अभिप्राय मूलरूप में आदिम मानस की यथार्थ प्रतीति को अभिव्यक्त करते है।

२. सर्प के अधीन सुन्दरी

यह भी एक अन्तर्राष्ट्रीय अभिप्राय है। किसी साँप, डायन या राक्षस के अधीन रहने वाली कन्या का उल्लेख तथा तत्सम्बन्धी अभिप्राय मिस्र और रूस की कहानियों में भी मिलता है। राल्स्टन ने 'रशियन फोक-टेल्स' नामक पुस्तक में 'द विच गर्ल' नाम की रूसी कहानी की तुलना एक पोलिश कहानी से की है, जिस मे भक्षक की भुजा काट कर कन्या की रक्षा का वृत्त मिलता है[1]। मिस्र की कहानी मे नागदेवो के राजा के अधीन रहने वाली किसी सुन्दरी की घटना का उल्लेख मिलता है। अतएव यह अभिप्राय ई० पू० २०००-१७०० की मिस्र की कहानी के पूर्व का कहा जा सकता है[2]।

३. उजाड़ नगरी

यह अभिप्राय भी प्राचीन प्रतीत होता है। भारतीय लोक-कथाओ मे तथा 'अरेबियन नाइट्स' मे उजाड़ नगरी या द्वीप का उल्लेख मिलता है। यह भी एक अन्ध-विश्वास है कि राक्षस या डायन चाहे तो किसी नगरी को उजाड सकते है। वस्तुतः यह भारतीय सामान्य विश्वास है, जो देश-देशान्तरो में पहुँच गया है। क्योकि राक्षस, भूत, पिशाच आदि योनियाँ भारतीय धर्म-पुराण एवं शास्त्रो मे भी वर्णित हैं। जैन ग्रन्थों मे भी व्यन्तर, किन्नर, किंपुरुष, गन्धर्व, यक्ष और राक्षस आदि को अलग-अलग जाति का माना गया है[3]।

४. सुन्दरी का अपहरण

सर्प के वेश मे किसी पुरुष द्वारा सुन्दरी के अपहरण का अभिप्राय व्यापक है। प्रायः नवविवाहिता सुन्दरी का ही रूप-परिवर्तन कर हरण किया जाता है। यह अभिप्राय 'लौरिक-चन्दा-पँवारा' में भी मिलता है[4]। वस्तुतः इस अभिप्राय का सम्बन्ध प्राचीन अनार्य जाति से है, जो आदिम मानस को प्रकाशित करती है। वैसे भी साहित्य मे तथा लोक-कथाओं मे सुन्दरी का अपहरण एक व्यापक अभिप्राय माना जाता है।

---

१. देखिए, द ओशन आव स्टोरी, दूसरी जिल्द, पृ० ७१।

२ डॉ० सत्येन्द्र . लोक साहित्य विज्ञान, पृ० ३०६।

३. व्यतरा किन्नरकिंपुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचा। तत्त्वार्थसूत्र, ४,११।
तथा-ओं गोमुखमहायक्षत्रिमुखयक्षनायकतुम्बरुकुसुममातंगविजयअजितब्रह्मयक्षराजकुमारषण्मुखपातालकिन्नरगरुडगन्धर्वयक्षराजकुबेरवरुणभृकुटिगोमेधपार्श्वब्रह्मशान्ति एते वर्तमान जिनयक्षा। बृहद्खरतरगच्छ पंचप्रतिक्रमणसूत्रार्थ, पृ० ८८।

४ नित्यानन्द तिवारी 'लोरिक-चन्दा-पँवारा में सर्प-दंश का अभिप्राय 'हिन्दुस्तानी', भाग २३, अंक १, पृ० ५१।

५—मनुष्य की बलि

मनुष्य को बलि का उल्लेख अपभ्रंश की श्रीपाल तथा सि० क० मे मिलता है। हिन्दू पौराणिक साहित्य में भी इस का वृत्त मिलता है। मनुष्य की बलि चढ़ाने को प्रथा अत्यन्त प्राचीन ज्ञात होती है। यह प्रथा कई देशों मे प्रचलित रही है।[1] अतएव यह सामाजिक अभिप्राय सभ्यता तथा संस्कृति का सूचक है।

६—जादू की जड़ी

स्टिथ थामसन, पेन्जर तथा ब्लूमफील्ड ने जादू की कई वस्तुओं का उल्लेख किया है। वस्तुतः इन का एक अन्तर्राष्ट्रीय अभिप्राय है। यूरोप में तो नहीं, पर मोरक्को में अवश्य कुछ यवनों में यह अन्धविश्वास है कि कुछ पौधे विशेष रूप से चमत्कारी होते हैं। वे ग्रीष्म ऋतु मे उन जादू के पौधों को तोडते हैं।[2] अपभ्रंश को जि० क० मे वसन्त में जड़ी मिलने का उल्लेख है। अतएव यह अत्यन्त प्राचीन अभिप्राय जान पड़ता है।

७—विमान मे बैठ कर यात्रा करना

स्टिथ थॉमसन ने ऐसे अभिप्रायों को चमत्कारी (Magic) नाम दिया है।[3] इस अभिप्राय का सम्बन्ध पुराणो तथा धार्मिक गाथाओ से है। जैन पुराणो मे ऐसी कथाएँ मिलती हैं, जिन मे स्वर्ग का लालच दे कर विमान में बिठा कर स्वर्ग भेजने के बहाने यज्ञ तथा बलि का समर्थन और उस के महत्त्व का उल्लेख है। वास्तव मे इस मान्यता का जन्म सब से पहले भारत में ही हुआ होगा।

८—शिला को हँसाना

पेन्जर महोदय का कथन है कि इस प्रकार की जादुई की बातें लोक-गीतों मे भी पायी जाती हैं।[4] यूरोप और एशिया में भी इस प्रकार के विश्वास जन सामान्य मे प्रचलित रहे है। किन्तु इन का मूल स्थान भारतवर्ष है।[5] इसी प्रकार जादू की चादर, देवियों का प्रत्यक्ष होना, रूप-परिवर्तन आदि अभिप्राय जादुई तथा चमत्कारिक बातो से सम्बन्धित हैं, जिन की जड़ भारतीय जनता के धार्मिक एवं सामाजिक जीवन में निहित है। अतएव इन का इतिहास आदिम जातीय रीति-पद्धतियों एवं अतिप्राकृतिक शक्तियों मे विश्वास रखने से सम्बद्ध है।

---

१. सर जेम्स जॉर्ज फ्रेजर गोल्डन बाउ, छठा भाग, १९५५, पृ० २७६।
२ वही, भाग ७, जिल्द २, पृ० ५१।
३ स्टिथ थॉमसन ' मोटिफ-इन्डेक्स ऑव फोक लिटरेचर, पहली जिल्द, १९५५।
४. एन० एम० पेन्जर द ओसन ऑव स्टोरी, पहली जिल्द, १९२४, पृ० २९।
५. वही, भूमिका।

९—सिंहलद्वीप की यात्रा

सिंहलद्वीप की यात्रा का अभिप्राय केवल भारतवर्ष की कथाओं में मिलता है। यहाँ की जनता में शताब्दियों से यह सामान्य विश्वास रहा है कि समुद्र पार किसी द्वीप में कोई अत्यन्त सुन्दरी रहती है, जिसे पाना बहुत कठिन है। प्राकृत तथा अपभ्रंश कथाओं में अधिकतर सिंहलद्वीप का नाम मिलता है। किसी-किसी मे कंचन-द्वीप या कनकद्वीप का भी उल्लेख हुआ है। जायसी के पदमावत मे सात समुद्रों का उल्लेख है[1]—खीर, खार, दधि, उदधि, सुरा, किलकिला और प्रेम-समुद्र। ये स्पष्ट ही प्रतीक रूप मे प्रयुक्त हैं। परन्तु जि० क० में कवि ने रुचिपूर्वक सात समुद्रों का वर्णन न कर हिम, कुंडल, मैनाग, तिलक, सहजावइ, छोहार, पावाल, नीलमणि और सिंहलद्वीप का उल्लेख किया है।

वेणातडु चइ हिमदीउ गउ।
भंभा पट्टणु वामंति किउ   वोहित्थु वि कुंडलदीवि णिउ।
मयणाउदीउ छंडिवि चलिया   पुणु तिलयदीवि ते पइसरिया।
तं छंडिवि सहजावइ वरिया   छोहारदीवि ते अणुसरिया।
पुणु मेच्छदीउ संखंतरिउ   पावालदीउ खणे आसरिउ।
णीलामणि दीवें पुणु गइया   जहिं वणुह पंचसय पडिम ठिया।
तं पत्तउ सिंहलदीउ जहिं।   जि० क०, ३, २५।

मुनि कनकामर के 'करकण्डचरिउ' मे भी सिंहल द्वीप का उल्लेख है। वास्तव मे मध्ययुगीन भारतीय साहित्य मे सिंहलद्वीप की यात्रा करना कथा की रूढ़ि के रूप में प्रचलित हो गया था। जोगेन्द्रचन्द्र घोष ने इस पर विचार करते हुए लिखा है कि कई रचनाओ मे सिंहलद्वीप समुद्र से घिरा हुआ वर्णित है।[2] इस प्रकार सिंहल-द्वीप की यात्रा एक सामान्य अभिप्राय के रूप मे शताब्दियों से साहित्य मे प्रचलित है। साहित्यिक तथा लोकाख्यान की परम्परा हिन्दी मे तथा अन्य भारतीय भाषाओं मे मध्य युग के पूर्व लिखे गये साहित्य से प्राप्त होने के कारण मध्ययुगीन साहित्य में भी कथाकाव्यों मे तथा प्रबन्धकाव्यों में सिंहलद्वीप की यात्रा करना कथानक-रूढि के रूप में प्रयुक्त मिलती है। जातक-कथाओं में अवश्य अत्यन्त प्राचीन काल मे सार्थवाह पाँच सौ व्यापारी या पोतों के साथ यात्रा करने के लिए प्रवाल, रत्न, नीलमणि आदि को खान वाले द्वीपो में जाते थे, ऐसा उल्लेख मिलता है। गुम्बियाजातक मे पाँच सौ व्यापारियों की यात्रा का उल्लेख है।

---

१ खार खीर दधि जलउदधि सुर किलकिला अकूत।
को चढ़ि नांघै समुद ए, है काकर अस बूत ?—राजा-गजपति-संवादखण्ड

२. जोगेन्द्रचन्द्र घोष, 'सिंहल इन सेण्ट्रल इण्डिया', न्यु इण्डियन एण्टिक्वेरी, पहली जिल्द, अक्तूबर १९३८, पृ० ४६३।

निष्कर्ष

अभिप्रायों के अध्ययन से स्पष्ट है कि अपभ्रंश-कथाएँ केवल भारतवर्ष की सीमा मे ही नहीं, अपितु उन के विभिन्न वृत्त एवं घटनाएँ देश-विदेशों की लोक-कथाओं में भी प्रचलित रही हैं। उदाहरण के लिए, पेट में साँप प्रवेश करने का अभिप्राय बंगला, अवधी और ब्रज आदि की लोक-कथाओं मे ही नही, शेक्सपियर के नाटकों मे भी मिलता है[1]। इसी प्रकार चमत्कारिक बातें तथा जादुई की वस्तुओं वाली कहानियाँ भारतवर्ष मे ही नही, संसार के उन सभी देशों में प्रचलित रही है, जिन मे जादुई शक्तियों का प्रचार रहा है। अतएव प्रत्येक प्रकार के अभिप्राय संसार के सभी भागो मे पाये जाते हैं। सरल से सरल कहानी में भी सभी प्रकार की जादुई में से किसी न किसी का समावेश पाठकों का मन अपनी ओर आकर्षित करने के लिए किया जाता है[2]। वैदिक काल की कहानियों में उन का उपयोग अलौकिक शक्ति के प्रदर्शन के लिए होता था। पौराणिक युग मे रूढ़ि के रूप मे उन का प्रयोग किया जाने लगा था। अतएव धार्मिक कथाओ पर उन का प्रभाव आज तक ज्यों का त्यो लक्षित होता है। कथासरित्सागर से मिलती-जुलती यूरोप और पश्चिम एशिया की कथाओ की समता बताते हुए पेन्जर महोदय ने कहा है कि यदि इन कथाओं का मूल स्थान भारतवर्ष है तो कथासरित्सागर से भी प्राचीन कथाएँ भारत मे मिलनी चाहिए, जो कि हमारे यहाँ मिलती है[3]। विचार करने पर उन का यह कथन निराधार प्रतीत होता है। क्योकि वेदो मे वर्णित देवासुर-संग्राम की भाँति जातक-कथाओ मे देवासुर का युद्ध और प्राकृत, अपभ्रंश कथाओ में विद्याधरो तथा राजाओ का युद्ध वर्णित है। राम और रावण का युद्ध दो व्यक्तियो का युद्ध न हो कर देव और असुर जाति की प्रवृत्तियो का संघर्ष था। वि० क० मे अनंगरति विद्याधर का विलासवती को हरण कर ले जाना और विद्याधरियों के बीच उद्यान मे सहकार वृक्ष के नीचे रखना, आदि बातें रामायण से मिलती-जुलती हैं। अपभ्रंश के इन कथाकाव्यो मे पाँच सौ व्यापारियो के संघ की यात्रा करना भी एक कथानक-रूढ़ि है, जो बौद्धकालीन भारतवर्ष की व्यावसायिक स्थिति से संबद्ध है। अतएव सिंहलद्वीप का अभिप्राय दो हजार वर्षों से अधिक प्राचीन निश्चय रूप से कहा जा सकता है।

पुरस्कार तथा दण्ड और कर्म तथा भाग्य सम्बन्धी अभिप्राय अन्तर्राष्ट्रीय हैं। बरलिगमे महोदय ने हिन्दू और यूरोपियन कथाभिप्रायों की समता मे जातक कथाओं में

---

१. डॉ० सत्येन्द्र : मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्त्विक अध्ययन, पृ० २१३।

२. स्टिथ थॉमसन : स्टैण्डर्ड डिक्शनरी ऑव फोकलोर माइथालॉजी एण्ड लीजेण्ड, दूसरी जिल्द, १९४९, पृ० ७५३।

३. एन० एम० पेन्जर : द ओसन ऑव स्टोरी की भूमिका, पृ० २२।

'But some of his parallels in Europe and Western Asia are very old, and if the idea at the root of the all is Indian it must be very old also, much older than the 'KATHA-SARITSAGAR' as we have it.' The Ocean of Story, Vol. I, foreward XXII.

से जिन अभिप्रायों को प्रकाशित किया है, उन में से अपभ्रंश के कथाकाव्यों में मिलने वाले अभिप्राय निम्नलिखित है—पिता से जेठी पुत्री[1], कर्मफल[2], निम्नधातु को सोना बनाना[3], पुनर्जन्म[4], सौत का ईर्ष्यालु व्यवहार और जादू की चिड़िया[5] इत्यादि।

श्रीपाल कथा में पिता से जेठी पुत्री और कर्मफल दोनों अभिप्राय एक साथ प्रयुक्त हैं। इसी प्रकार निम्न धातु को सोना बनाने का अभिप्राय भी उस में निहित है। पुनर्जन्म का सम्बन्ध तो प्रत्येक अपभ्रंश-कथा मे हेतु कथाओं के रूप में प्रकाशित किया गया है। वस्तुतः पुनर्जन्म और कर्म-सिद्धान्त भारतीय दार्शनिक भूमि की देन है। विशेष रूप से कर्म-सिद्धान्त जैन, बौद्ध और मीमासकों मे प्रचलित रहा है। इस सिद्धान्त पर जितना अधिक विचार और बल जैनों ने दिया है, कदाचित् उतना अन्य मतों ने नही दिया है। क्योकि समूचा जैन-दर्शन कर्म-सिद्धान्त पर आधारित है। व्यवहार पक्ष में वही अहिंसामूलक आचार-विचार की संस्कृति के रूप मे प्रतिष्ठित है।

इस प्रकार अपभ्रंश के कथाकाव्यो में निहित अधिकतर अभिप्राय आर्य और अनार्य संस्कृति के सूचक है। इनमे लोक-गीतों की भाँति प्राचीन रीति-रिवाज, सामान्य विश्वास, मान्यताएँ और अन्धविश्वास आदि आदिम मानस को प्रकट करते हुए लक्षित होते है। जेम्स हेस्टिंग्स के विचार मे लोक-गीतो में इस प्रकार के अभिप्राय किसी राष्ट्र के जीवन की अभिव्यक्ति होते है, जो परम्परा के रूप मे प्रचलित रहते हैं[6]। किन्तु अपभ्रंश की इन कथाओ मे मिलने वाले अभिप्राय जातीय अभिप्राय के रूप मे ही नही, अन्तर्राष्ट्रीय रूप मे भी मिलते है। अतएव इन की प्राचीनता स्वयमेव सिद्ध हो जाती है।

अभिप्रायो का वर्गीकरण

अपभ्रंश के इन कथाकाव्यों मे कई प्रकार के कथाभिप्राय मिलते है, जिन सब का पूर्ण विवेचन करना संभव नही है। फिर भी, स्टिथ थॉमसन को वर्गीकरण की पद्धति के आधार पर प्रमुख अभिप्रायों को वर्गीकृत किया गया है। थॉमसन महोदय ने जिन

१. इयुगेने वेरसन बरलिगमे बुद्धिस्ट लीजेण्ड्स, प्रथम भाग, १९२१, पृ० ३४।

२. वही, पृ० ३५।

३. वही, पृ० ३६।

४ वही, पृ० ३६।

५. वही, पृ० ३५।

६ जेम्स हेस्टिंग्स इन्साइक्लोपीडिया ऑव रिलीजन एण्ड इथिक्स, जिल्द ६, तृतीय संस्करण, १९५५, पृ० ५७।

'Folklore consists of customs, rites and beliefs belonging to individuals among the people, to group of people, to inhabitants of districts or places, and belonging to them apart from and often times in definite antagonism to the accepted customs rites, and beliefs of the State or the nation to which the people and the groups of people belong.' Encyclopedia of Religion and Ethics By James Hastings, Vol. VI 1955, Page 57.

वर्णनात्मक अभिप्रायों का उल्लेख किया है,[1] उन्हें सरल समझ कर छोड़ दिया गया है। वर्गीकृत अभिप्रायों में मुख्य हैं—

पशु सम्बन्धी, जादू सम्बन्धी, चमत्कारी, मनुष्यभक्षी राक्षस, परीक्षाएँ, बुद्धिमान और मूर्ख, धोखे, भाग्य का पलटना, भविष्य-निर्देशन, अवसर तथा भाग्य, पुरस्कार तथा दण्ड, कर्म का फल, धार्मिक विश्वास, सामाजिक, चारित्रिक, यौन, मनुष्य-जीवन तथा प्रतीक अभिप्राय।

उक्त अभिप्रायों में से 'कर्म का फल' और 'धार्मिक विश्वास' नामक दोनों अभिप्रायों को थॉमसन के अनुसार 'धर्म' शीर्षक के अन्तर्गत एक ही माना जा सकता था, किन्तु कर्म सिद्धान्त होने से धर्मविषयक न हो कर सिद्धान्तपरक है। पहले कहा जा चुका है कि कर्म-सिद्धान्त जैन, बौद्ध और मीमासको की वैचारिक मान्यता से सम्बन्धित है। यद्यपि कर्म शब्द कई रचनाओ मे प्रयुक्त मिलता है, पर उन विभिन्न मतों से सम्बन्धित प्राचीन रचनाओ मे रचनाकारो ने कई अर्थों मे उस का प्रयोग किया है, इस लिए विविध दार्शनिक तथा पौराणिक ग्रन्थों मे वह पारिभाषिक शब्द बन कर रह गया है।

अभिप्रायो का अध्ययन और वर्गीकरण करने के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्यों के सामान्य विश्वास, रीति-रिवाज भारतवर्ष में ही नही, संसार के कई देशों मे पाये जाते हैं; जिन की झलक हमे कथाभिप्रायो के रूप मे लोक-कथाओ मे मिलती है। प्रो० मैक्समूलर के मत मे धार्मिक आख्यानों में तथा लोक-कथाओ में रूपकतत्त्व के साथ प्रकृति-पूजा भी मिलती है, पर अब इस मान्यता का खण्डन हो चुका है।[2]

पशुसम्बन्धी अभिप्राय

(द) नाग का विचारशील होना

(१) सनत्कुमार को देख कर पैरों से कूँचे जाने पर भी अजगर का कुंडली सिकोड़ कर कर्तव्य बुद्धि का परिचय देना।

---

१. स्टिथ थॉमसन स्टेण्डर्ड डिक्शनरी ऑव फोकलोर माइथालॉजी एण्ड लीजेण्ड, दूसरी जिल्द, १९४९, पृ० ७५३।

२ इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, जिल्द ९, १९५७, पृ० ४४६।

"But the work of E B. Tylor, followed by that of Sir James Frazer, whose 'GOLDEN BOUGH' extended to the lower Cultural customs of the peasantry of Europe, and made popularity effective by the adroit pen of Andrew Lang, demelished there theories by demonstrating that analogies to these supposed survivals of 'ARYAN' religion among the European peasantary were to be found also among primitive people in all parts of the world." Encyclopaedia Britannica Vol 9, Page 446.

(अ) जादू सम्बन्धी अभिप्राय

(१) विलासवती का अपहरण। सनत्कुमार जिस जादू की चादर को विलासवती को ओढ़ा कर गया था उसे अजगर का उगलना। उसे देख कर सनत्कुमार को विश्वास हो जाना कि विलासवती मर गई है।
(२) जड़ी पा कर जिनदत्त का अदृश्य हो जाना।
(३) जादू की चादर ओढ़ लेने पर विलासवती का दिखाई नहीं पडना।
(४) जिनदत्त का राजसभा में पत्थर की शिला को हँसाना।

(ब) जादुई पशु

(१) राजकुमारी के मुँह से साँप निकलना।

(स) मनुष्य का रूप-परिवर्तन

(१) जिनदत्त का वामन रूप धारण करना।

(३) चमत्कारी

(१) विमान में बैठ कर यात्रा करना।
(२) मणिभद्र यक्ष का भविष्यदत्त की सहायता करना।
(३) सपरिवार भविष्यदत्त को मनोवेग विद्याधर के द्वारा विमान मे बिठा कर तिलकद्वीप की यात्रा कराना।
(४) सनत्कुमार का विमान में बैठ कर ससैन्य विद्याधरो से युद्ध करना।

(ब) असाधारण शक्ति वाले मनुष्य

(१) श्रीपाल का सहस्रकूट चैत्यालय के फाटक को खोलना।
(२) भुजाओ से समुद्र को पार करना।
(३) काष्ठफलक के सहारे समुद्र को तैर कर किनारे पर पहुँचना।
(४) मदोन्मत्त हाथी को वश मे करना।

(स) अन्य लोक की यात्रा करना

(१) जिनदत्त का विमान मे बैठ कर अकृत्रिम चैत्यालयो की वन्दना करने जाना।

(द) देवी-देवता का प्रत्यक्ष होना तथा सहायता करना

(१) श्रीपाल तथा सि० क० मे पद्मावती आदि देवियाँ आकर रत्नमंजूषा की सहायता करती हैं और धवल सेठ को दण्ड देती हैं।
(२) जि० क० में तथा भ० क० मे जल-देवता के द्वारा नायिका के सतीत्व की रक्षा होना।

(य) असाधारण घटनाएँ

(१) श्रीपाल का अटके हुए जहाज को मन्त्र के बल से चलाना।

(२) डाकुओं से श्रीपाल की मुठभेड़ होना और एक लाख डाकुओं को वश मे कर लेना।

(४) मनुष्यभक्षो राक्षस

(१) पूरे नगर के लोगो को मार कर खा जाने वाले राक्षस का वर्णन भ० क० मे है। केवल राजकुमारी ही उस में जीवित है।

(५) परीक्षाएँ

(१) भविष्यदत्त के कहने पर राजा भूपाल भविष्यानुरूपा की शील-परीक्षा के लिए जयलक्ष्मी और चन्द्रलेखा नामक दो दासियो को भेजता है।

(ब) विवाह के लिए परीक्षा

(१) जि० क० मे चम्पा नगरी का राजा जिनदत्त को वामन के रूप मे देख कर शंकित होता है और अपनी कन्या का विवाह जिनदत्त से करने को तैयार नही होता। मन्त्रियों के कहने पर कि यह प्रच्छन्न विद्याधर जान पड़ता है, राजा उस की परीक्षा लेता है और जिनदत्त से परिचय पूछ कर उसकी जाँच-पड़ताल करता है।

(२) भविष्यदत्त सुमित्रा से विवाह करने के लिए सिन्धुनरेश से युद्ध कर अपने रणकौशल की परीक्षा देता है।

(स) पहेलियाँ

(१) श्रीपाल पहेलियों को बुझा कर विभिन्न राजकुमारियों से विवाह करता है।

(द) योग्यता की परीक्षा

(१) श्रीपाल कथा में राजा अपनी दोनों कन्याओ की योग्यता की परीक्षा लेता है।

(य) पहचान के लिए परीक्षा

(१) श्रीपाल कथा मे कोंकण का राजा डोमों के कहने से श्रीपाल पर अविश्वास कर उसे डोम समझता है। तब गुणमाला के पूछने पर श्रीपाल रत्नमंजूषा को समुद्र तट से बुला कर अपना परिचय देने को कहता है। राजा उसे पहचान लेता है कि यह तो मेरा भानजा है। इस प्रकार परिचयपूर्वक पहचान होती है।

(र) साहस के कार्य

(१) सनत्कुमार का विद्या-सिद्ध करना।

(२) भविष्यदत्त का राक्षस से युद्ध करने के लिए तैयार होना।

(३) श्रीपाल का काका से युद्ध कर राज्य वापिस लेना।

(४) विलासवती का साहसपूर्वक आधी रात को पति के मृत्यु के समाचार को सुन कर मसान में सती होने के लिए जाना।

(५) धनवइ का साहस बटोर कर युद्ध के लिए सजना।

(६) जिनदत्त का समुद्र पार करते समय विद्याधरो को ललकारते हुए युद्ध के लिए आह्वान करना।

६. बुद्धिमान और मूर्ख

(१) सनत्कुमार का विलासवती को मरा हुआ समझ कर फाँसी लगा कर मरने की चेष्टा करना।

(२) ऋषि का सनत्कुमार को समझाना। विलासवती की प्राप्ति का उपाय बताना।

(३) भविष्यदत्त का माता को नाग-मुँदरी दे कर भविष्यानुरूपा के पास यह कह कर भेजना कि माता के साथ राजसभा मे मिलो।

(ब) राजसभा मे चतुराई

(१) भविष्यदत्त का अप्रकट रूप से राजभवन मे बैठना। राजा का धनवइ और बन्धुदत्त को बुला कर सच्चा वृत्तान्त पूछना। ऐन मौके पर भविष्य दत्त का प्रकट होना।

७. धोखे

(१) धोखे से सार्थवाह का सनत्कुमार को समुद्र मे गिराना।

(२) धोखे से बन्धुदत्त का भविष्यदत्त को मैनागद्वीप मे अकेला छोड जाना।

(३) समुद्र मे रत्नों की पोटली गिर गयी है, कह कर समुद्रदत्त का जिनदत्त को समुद्र में उतार देना।

(४) धवल सेठ का श्रीपाल को चकमा दे कर जहाज मे बँधी हुई रस्सी काट कर समुद्र मे पटक देना।

(ब) डोमों के द्वारा राजा को धोखा देना

(१) धवल सेठ श्रीपाल को समुद्र पार कर राजा के यहाँ आया हुआ देख कर डोमो को धन दे कर राजा के पास भेजता है। वे नृत्य-गान करने के पश्चात् श्रीपाल को अपना खोया हुआ पुत्र घोषित करते है। वृद्धा डोम

वात्सल्यपूर्ण वचनों के द्वारा पुत्र के प्रति वास्तविक स्नेह हाव-भावों से प्रकट करती है।

८. भाग्य का पलटना

(१) सब से छोटी पुत्री मैनासुन्दरी का रानी बनना।

(२) श्रीपाल को कोढी से राजा होना।

(३) वणिक्पुत्र जिनदत्त का राजा बनना।

(ब) दुर्बल की जीत

(१) भविष्यदत्त की सिन्धुनरेश के संग्राम में अल्प साधन-सेना के होते हुए भी विजय होना।

(२) सनत्कुमार को विद्याधरों के युद्ध में विजय मिलना।

(३) मैनासुन्दरी के द्वारा प्रतिपादित कर्म की जीत होना।

(स) घमण्डी का सिर नीचा

(१) सनत्कुमार का दूत भेज कर विलासवती को वापिस माँगना। किन्तु घमण्ड में आ कर विद्याधर अनंगरति का युद्ध करना और युद्ध में हार जाना।

(द) शील का पुरस्कार

(१) भविष्यानुरूपा शील की रक्षा करती हुई पति के न मिलने से निराश हो कर भी अपने को स्थिर रखती है। फलस्वरूप पति को राजा के रूप में पाती है।

(२) जि० क० में भी शील की रक्षा करती हुई जिनदत्त की पत्नियाँ अन्त में पति और राजसुख के वैभव को प्राप्त करती हैं।

९. भविष्य-निर्देशन

(१) जो सहस्रकूट चैत्यालय के फाटक को खोल देगा वही इस कन्या का पति होगा।

(२) जो भुजाओं से समुद्र को पार करता हुआ इस द्वीप के तट पर आयेगा वही इस राजकुमारी का वर होगा।

(३) जो मदोन्मत्त हाथी को वश में करेगा वही इस कन्या का पति हो सकेगा।

(ब) शर्त रखना

(१) यदि तुम अटके हुए जहाज को चला दोगे तो एक लाख स्वर्ण मुद्राएँ दूँगा।

(स) वायदा करना

(१) श्रीपाल मैनासुन्दरी से बारह बरस में लौटने का वायदा कर व्यापार करने जाता है।

(द) वचन देना

(१) जिनदत्त मालिन को वचन दे कर उस के बेटे के स्थान पर स्वयं राजकुमारी के महल मे पहरा देने जाता है।

(य) आदेश देना

(१) राजा ईशानचन्द्र रानी के आरोप लगाने पर सनत्कुमार को शूली का आदेश दे देता है।

१०. अवसर तथा भाग्य

(१) भाग्यवश फन्दा लगाते समय ऋषि का वहाँ आ पहुँचना और सनत्कुमार को मरने से बचा लेना।

(२) मित्र का मिल जाना। नायक की सहायता करना।

(ब) दुर्भाग्यपूर्ण घटना

(१) निर्जन वन मे विलासवती को साँप का डस लेना।

(२) समुद्र मे नायक को गिरा देना।

(स) विद्याधरो के देश में विद्याएँ सीखना

(१) जिनदत्त विद्याधरो के देश में कई प्रकार की विद्याएँ सीखता है। राजा स्वयं पुत्री के साथ आकाशगामिनी और परशस्त्रनिवारिणी नाम की दो विद्याएँ उसे प्रदान करता है।

(द) विद्या की सिद्धि

(१) सनत्कुमार मलय पर्वत की गुफा मे विद्या की साधना कर सिद्धि प्राप्त करता है।

११. पुरस्कार तथा दण्ड

(१) राजा भूपाल भविष्यदत्त के साथ धोखा-धड़ी करने से बन्धुदत्त को और साथ में धनवइ को दण्ड देता है तथा भविष्यदत्त को आधा राज्य सौंपता है।

१२. कर्म का फल

(१) समुद्रदत्त जिनदत्त के साथ विश्वासघात करने से कुष्ठ से गल-गल कर अल्प आयु में ही प्राण त्यागता है।

(ब) पूर्व जन्म की करनी का फल

(१) सनत्कुमार ने पिछले जन्म मे हंस और हंसी को कौतुक से वियुक्त किया था, इस लिए इस जन्म मे उसे विलासवती का बार-बार वियोग सहन करना पड़ता है।

(२) पूर्व जन्म के कर्म के विपाक से ही श्रीपाल को कुष्ठ हुआ।

(स) पुण्य-फल

(१) पुण्य-फल से पूर्व जन्म के दो मित्रो ने संकट के समय मे भविष्यदत्त की सहायता की।

(द) पूर्व जन्म का संस्कार

(१) पूर्व जन्म मे विलासवती का प्रेम सनत्कुमार से होने से तथा सस्कार विद्यमान होने से परस्पर प्रथम दर्शन मे ही एक-दूसरे के अनुरागी तथा ग्राहक बन गये।

१३. धार्मिक विश्वास

(१) वि० क० मे वट के वृक्ष के नीचे विलासवती को साँप का डसना कहा गया है। अतएव पीपल की भाँति बड के नीचे साँप का निवास करना धार्मिक विश्वास कहा जा सकता है।

(२) सिद्धचक्र विधान से श्रीपाल का कुष्ठ दूर होना।

(३) मन्त्र की शक्ति से समुद्र पार करना।

१४. सामाजिक

(अ) प्रथाएँ

(१) श्रीपाल कथा मे मनुष्य की बलि का अभिप्राय मिलता है।

(२) भाई (फूफा का लड़का)—बहन (मामा की लड़की) का विवाह।

(३) गान्धर्व विवाह।

इसी प्रकार चारित्रिक, यौन, मनुष्य-जीवन तथा प्रतीक रूप मे अभिप्राय अपभ्रंश के इन कथा-काव्यो में प्रयुक्त है। प्रतीक रूप मे प्रेमियों का सन्देश ले जाने के लिए तोता, मैना, चील, कौआ आदि पक्षियों का नाम मिलता है। भ० क० में कमलश्री व्यापार के लिए परदेश गये हुए पुत्र को घर लौटाने का सन्देश कौवे को दे कर भेजती है।

लोकजीवन और संस्कृति

धार्मिक विश्वास

अपभ्रंश के सभी कथाकाव्य जैन कवियों के द्वारा रचित है। इस लिए यह स्वाभाविक ही है कि इन में चौबीस तीर्थंकरों का स्तवन तथा उन के द्वारा निर्दिष्ट धर्म का स्वरूप एवं मोक्ष-प्राप्ति का उपाय वर्णित हो। किन्तु मध्यकालीन देवी-देवता विषयक मान्यताओं का उल्लेख भी इन काव्यों में मिलता है। यही नहीं, जल (वरुण)—देवता का पूजन[1], जल-देवता का प्रत्यक्ष होना, संकट पड़ने पर देवी-देवताओं द्वारा सकट-निवारण आदि धार्मिक विश्वास उक्त कथाओ मे लिपटे हुए लक्षित होते हैं।

जैन शास्त्रो मे स्पष्ट रूप से देवी-देवताओं की पूजा-मान्यता का निषेध है। केवल जिन या अर्हन्त की पूजा विहित है। जिन या अर्हन्त चौबीस कहे गये हैं, जिन्हे तीर्थंकर कहते है। इन के अतिरिक्त किसी देवी-देवता को मानना 'देव-मूढ़ता' कहा गया है। मूढता का अर्थ है—मूर्खता। मूढता का पालन करने वाला मिथ्यात्वी कहा गया है और मिथ्यात्वी कभी सम्यक्दृष्टि बने बिना मोक्ष को प्राप्त नही कर सकता। इस लिए सम्यक्त्वी बनने के लिए मूढता को छोड़ना अत्यन्त आवश्यक माना गया है। किन्तु परवर्ती काल मे मत-मतान्तरो के अधिक प्रभावशील होने पर बौद्धों की भाँति जैनों ने भी जिनशासन की देवियो की कल्पना की, जो जन-सामान्य मे चौबीस तीर्थंकरो की अधिष्ठात्री देवी के रूप मे चौबीस संख्या मे आठवी शताब्दी के लगभग प्रचलित हो गई थी। परन्तु जैन ग्रन्थो मे अधिकतर पद्मावती, रोहिणी और ज्वालामालिनी के नाम मिलते है। पद्मावती अत्यन्त प्रसिद्ध देवी है। मुस्लिम-युग मे जैनों मे इस की मान्यता का इतना अधिक प्रचार हुआ कि लोग मूर्ति बना कर उसकी पूजा करने लगे।

जैनो का सामान्य विश्वास है कि जिन या तीर्थंकर न तो किसी को कुछ देते-लेते है और न किसी का कुछ बना-बिगाड़ सकते है। जो कुछ अच्छा-बुरा फल मनुष्य प्राप्त करता है वह अपने-अपने कर्म के उदय से। तीर्थंकर-मूर्ति तो उन आदर्शों की अनुकृति मात्र है, जिन्हे अपने जीवन मे उतार कर हम भी कर्म-बन्धनों से रहित हो जिन या शिव की अवस्था को प्राप्त कर सकते है। अतएव तीर्थंकरों की पूजा पारमार्थिक दृष्टि को ले कर प्रचलित है। और इसी लिए जैन-मन्दिरो मे भोग लगाने और प्रसाद ग्रहण करने की प्रथा कभी नही रही है। किन्तु लोक-जीवन मे चमत्कारिक बातों से प्रभावित होने पर जैन समाज मे जिनशासन की देवियो का प्रचार लोक-सम्पदा, प्रभुत्व और ऐश्वर्य पाने के निमित्त हुआ। कहा जाता है कि सिद्धान्तों के खण्डन-मण्डन एवं वाद-विवाद मे बौद्धो की ओर से जब तारा देवी घट मे प्रस्थापित की गयी थी तब

---

१. इत्थंतरि सुमुहुत्तु समारिउ किउ चउक्कु चंदणु वद्धारिउ।
पुज्जिय जलदेवय वित्थारिं पुप्फक्खय बलिदीवंगारि। भ० क०, ७,३।
जाइवि पूजिय जलदेवयाइं पडवाई पोहण वाक्साइं। सि० क०, १,२५।

जैनों की पद्मावती ने आ कर सहायता की थी। देवियों की मान्यता के पश्चात् ही कदाचित् यक्ष और यक्षणियों की कल्पना की गयी। और जिनशासन की देवियों की भाँति ही यक्ष-यक्षणियों की संख्या भी चौबीस मानी गयी।

कवि रल्ह ने चौबीस तीर्थंकरों की वन्दना के पश्चात् चक्रेश्वरी, रोहिणी, ज्वालामालिनी, क्षेत्रपाल, अम्बिका, पद्मावती और चौबीस यक्ष-यक्षणियों की वन्दना की है।

चक्केसरि रोहिणी जयसारु जालामालिणि अरु खेत्तपालु
अंबिमाइ तुव नवऊ सभाइ पदमावति कइ लागउ पाइ ॥

जि० चउ०, १०।

जे चउवीस जखजक्खिणी ते पणमउ सामिणि आपुणी।
कुमइ कुवुधि देवि महु हरहु चउविह संघह रक्या करहु ॥वही, ११।

चौबीस यक्ष और यक्षणियों की तथा जिनशासन की देवियों की मूर्तियाँ जयपुर के पाटौदी मन्दिर की भित्ति पर उत्कीर्ण हैं।

यही नहीं, पद्मावती के पति धरणेन्द्र और रोहिणीपति चन्द्र का भी स्मरण कवि ने किया है।

इंद दहण जमणेरि उजाणु वरुणु वाय धणवि ईसाणु।
पणमउ पोमिणिवइ धरणिंदु रोहिणे कंतु जयउ णहिचंदु ॥वही, १२।

जिन-सरस्वती के प्रसाद से तो धनपाल और रल्ह दोनों ने ही काव्य की रचना की। इसी प्रकार नवग्रहों का भी रल्ह ने सादर स्मरण किया है। संकट के समय नायिकाओं को या तो जलदेवता-देवी आ कर बचाते हैं अथवा ज्वालामालिनी और पद्मावती देवी आ कर रक्षा करती है। इस प्रकार देवी-देवता विषयक धार्मिक विश्वास अपभ्रंश के सभी कथाकाव्यों में मिलता है। और इसी प्रकार मणिभद्र यक्ष के द्वारा भविष्यदत्त का सकट-निवारण और विमान में बिठा कर गजपुर पहुँचाने का उल्लेख हुआ है। यही नहीं, पुनर्जन्म की मित्रता के कारण मनोवेग विद्याधर के साथ गजपुर से विमान में बैठ कर तिलकद्वीप जाने का उल्लेख भी इस काव्य में वर्णित है।

पं० नरसेन की सि० क० में स्पष्ट रूप से जल-देवता के रूप में मानभद्र यक्ष और जल-देवी के रूप में पद्मावती का उल्लेख है। यक्ष के साथ क्षेत्रपाल देवता और देवियों के गण में चक्रेश्वरी, अम्बिका, रोहिणी, ज्वालामालिनी, व्यन्तरेन्द्र आदि का आगमन, धवलसेठ पापी के हाथों को पीछे बाँधना, मुँह को लहूलुहान करना और रत्नमंजूषा के शील की रक्षा का वर्णन भी इस काव्य में हुआ है।

अहो जलदेवय तुम्हि णिरिक्खहु इहि पापि यहि पासि मुहिं रक्खहु।
वहु दुक्ख णिरंतर अण्ण भवंतर कासु कियहो णाह मइं।
परलाउ करंतहं एम रुवंतहं जलदेविहि गणु आउ तहि ॥

माणिभद्दु सायरु हल्लोलिउ	पोहणु धरि करिउ मुहुं वंभोलिउ ।
चक्कसरिय चक्क जिम फेरिय	वणि आउलिय परं परिफेरिउ ।
हरिदंसण अंबाइय आइय	कुक्कुड सप्पइ इह पोमाइय ।
खेत्तवालु सुणहहं रह धायउ	धवलसेट्ठि मुहुं ल्हू लुलायउ ।
धूमायारु कियउ तव रोहिणि	अग्गि पज्जालिय जालामालिणि ।

ज्वालामालिनी देवी के द्वारा अग्नि प्रज्वलित करने और व्यंतरो के द्वारा उपसर्ग करने के उल्लेख से स्पष्ट हो जाता है कि मध्ययुगीन जैन-साहित्य मे अतिमानवीय शक्तियों के अलौकिक प्रदर्शन मे भारतीय जनता की आस्था सबल हो चुकी थी। भारतीय साहित्य मे तथा स्थापत्य कला में यक्ष और यक्षणियों के स्पष्ट निदर्शन मिलते हैं। यक्षों की मान्यता में हिन्दू और जैन लोगों के पौराणिक विचार बिलकुल मिलते-जुलते हैं। क्योकि यक्षों की मान्यता अलग से न हो कर देवताओ के साथ सम्बद्ध है। इस लिए मूर्तियो में तीर्थंकर की प्रतिमा के दोनो ओर यक्ष या यक्षिणी चित्रित मिलती है। इसी प्रकार तीर्थंकर पार्श्वनाथ की प्रतिमा मे देवी पद्मावती अपने सिर पर उन्हें धारण किये हुए कही-कही लक्षित होती है। वस्तुत इन्हे जैन धर्म की संकट-काल मे रक्षा करने वाले देवी-देवताओं के रूप मे माना गया है। अतएव इन्हे शासनदेवता कहा जाता है। तीर्थंकरो से ये निम्न-कोटि के माने जाते है। इन का सम्बन्ध पूजा और पुजापे से ही अधिक है; जब कि तीर्थंकर राग और द्वेष से रहित माने गये है। इसी लिए वैष्णव और जैन देवी-देवता किन्ही बातों मे मिलते-जुलते है।[1] इस प्रकार यक्ष-यक्षणियो तथा देवी-देवताओ की मान्यता का ही नही, सि० क० मे चक्रेश्वरी, ज्वालामालिनी, अम्बिका और पद्मावती तथा दस दिशपाल गोमुख और मानभद्र यक्ष तथा व्यंतरेन्द्र की स्तुति-पूजा का भी उल्लेख है।

शकुन-अपशकुन

अपभ्रंश के इन कथाकाव्यों मे शकुन-अपशकुन तथा स्वप्न-सम्बन्धी विश्वास लगभग सभी रचनाओं मे मिलते है। भ० क० मे जब भविष्यदत्त मैनागद्वीप मे अकेला छोड़ दिया जाता है तब वह वन मे भटकता हुआ थक कर सो जाता है। दूसरे दिन वह फिर आगे बढता है तभी उसे शुभ शकुन होने लगते है (भ० क० ३,५)। वि० क० मे भी शकुन का वर्णन है।

एत्तहि सारसु रवु वित्थरियउ ।

इय चिंतंतहं मुणिण पओयणु	दाहिणु वाहु फुरिउ तह लोयणु ।
सउण सत्थु अणुकूलउ दीसइ	रन्ने वि कन्नय लाहु पयासइ । (५,२४)

इसी प्रकार अपशकुन-वर्णन भी मिलता है।

तह फुरिय वामलोयण असुहं	उप्पन्न कुमारह चित्ति दुहं । (५,२४)

१. शशिकान्त जैन सम कामन एलीमेन्ट्स इन द जैन एण्ड हिन्दू पेन्थियन्स-यक्षाज एण्ड यक्षिणीज, जैन एण्टिक्वेरी, जिल्द १८, अंक २, पृ० ३३।

ज्योतिषियों की भविष्यवाणी

शकुन-अपशकुन तथा स्वप्न-दर्शन की सार्थकता की भाँति नैमित्तिक या ज्योतिषी की भविष्यवाणी में भी सामान्य विश्वास इन कथाकाव्यों में निहित है। सनत्कुमार को बचपन में किसी नैमित्तिक ने बताया था कि तुम विद्याधरों के राजा बनोगे और सुन्दर कन्या-रत्न से पाणिग्रहण होगा। अतएव विजन वन मे स्वप्न आने पर सनत्कुमार नैमित्तिक की बातो का स्मरण कर उस पर अपनी आस्था प्रकट करता है।

ता कुमारु चितइ मणे एरिसु रिसिहि न वयणु होइ अन्नारिसु। (५,२४)

इसी प्रकार धवल सेठ के लोभ देने पर जब डोम लोग राजा धनपाल की सभा में जा कर श्रीपाल को अपना पुत्र बताते है तो राजा को बहुत क्रोध आता है। वह मन ही मन सोचता है कि नैमित्तिक के कहने से अपनी भुजाओ से समुद्र-संतरण करने वाले इस श्रीपाल के साथ गुणमाला को ब्याह कर मैं सचमुच लोगों की दृष्टि मे गिर गया। किन्तु श्रीपाल के द्वारा वास्तविक रहस्य के प्रकाशन करने पर राजा श्रीपाल से क्षमा माँगता है। श्रीपाल नैमित्तिक की भविष्यवाणी को दुहराता है।

णिमित्तिउ जं कहइ णरेसर सो किअ सव्वु होइ परमेसर।
सि० क० (नरसेन)

इसी प्रकार सहस्रकूट चैत्यालय के फाटक खोलने, समुद्र पार करने और भुजाओं से वा काष्ठफलक के सहारे समुद्र तैरते हुए विद्याधरो के देश मे पहुँच कर नैमित्तिक के अनुसार नायक के विवाह होने मे भविष्यवाणी की संपूर्ति का सामान्य विश्वास चरितार्थ मिलता है।

दूरस्थ देश में कौआ उडा कर सन्देश भेजना

भ० क० मे कमलश्री पुत्र भविष्यदत्त को द्वीपान्तर से बुलाने के लिए कौआ को सन्देश दे कर उड़ाती है और कहती है कि मेरे भविष्यदत्त को घर के आँगन में लिवा लाओ (भ० क० ६,१)।

जाति सम्बन्धी

अपभ्रंश की इन कथाओं में जातिविषयक सामान्य विश्वास भी मिलते है। इन विश्वासों मे से मुख्य हैं—रात को भोजन न करना, बिना देव-दर्शन एवं पूजन के सुबह उठ कर भोजन न करना, विविध देव-देवियो की पूजा करना और व्रत-विधान का पालन करना, मद्य, मास और मधु का भक्षण नही करना और अकृत्रिम चैत्यालय की वन्दना करना, इत्यादि। इसी प्रकार बालक के जन्म के एक महीने के पश्चात् जिन-मन्दिर मे जा कर बालक की माता का आनन्दोत्सव मनाने का वर्णन भ० क० (१,१६) में

है। वस्तुतः यह जातीय सामाजिक आचार है कि प्रसूति होने के बाद माता एक महीने तक मन्दिर जा कर देव-दर्शन नहीं कर सकती और एक महीने के बाद देव-दर्शन ही कर सकती है; पूजन-विधान नही। इसी प्रकार यह भी एक जातीय सामान्य विश्वास है कि स्त्री मूर्ति का अभिषेक नही करती तथा पुरुष ही मुक्ति प्राप्त करता है; स्त्री नही। स्त्री की मुक्ति के लिए उसे पुरुष-पर्याय धारण करना अनिवार्य है। इसी प्रकार किसी भी जीव को मारने से नरक-गति मिलती है और सताने से वैसा ही कर्मों का फल भोगना पड़ता है। उदाहरण के लिए, सनत्कुमार ने पिछले जन्म मे हंस मिथुन में से कौतुक से हंसी को पकड़ लिया था, जिस से हंस उस के वियोग मे कण्ठगत हो गया था। परिणामस्वरूप इस जन्म मे सनत्कुमार को प्रेमिका विलासवती का कई बार वियोगजन्य दारुण दुःख सहन करना पड़ा। माणिक्यचन्द्र कृत 'सत्तवसणकहा' मे ऐसी ही कथाओ का वर्णन है, जिस मे इस जन्म मे जुआ, चोरी आदि बुरी आदतो के शिकार लोगो को दुर्गति प्राप्त हुई और अगले जन्म मे उन्हे नरक या नरक जैसी यातनाएँ भोगनी पडी। इसी प्रकार अच्छे कर्म करने वाले, न्याय-पथ पर आरूढ लोगो को स्वर्ग व क्रम से मोक्ष-प्राप्त होने का सामान्य विश्वास सभी कथाकाव्यो मे व्याप्त है।

सामाजिक आचार-विचार

इन कथाकाव्यो मे सामाजिक आचार-विचारो का जहाँ-तहाँ समावेश हुआ है। दोहला होने पर स्त्री की मनोकामनाएँ पूर्ण की जाती थी। भविष्यानुरूपा के दोहला होने पर वह तिलकद्वीप जाने की इच्छा प्रकट करती है और भविष्यदत्त परिजनो के साथ उसे तिलकद्वीप ले जाता है। नैमित्तिक लोग गर्भ के लक्षणों को देख कर बालक या बालिका के होने की पहले से ही सूचना दे देते थे। कमलश्री के बालक होगा, इस बात को बहुत से लोगों ने पहले ही जान लिया था (भ० क० १,१५)। पुत्र के जन्म होने पर बहुत उत्साह के साथ उत्सव मनाया जाता था। घर के बाहर द्वार पर तोरण बाँधे जाते थे। मंगल कलश सजाये जाते थे। मोतियो की रंगावली पूरी जाती थी। राजमहल मे बधावा जाता था। बाजे बजते थे। दान दिया जाता था। युवतियाँ अच्छे-अच्छे वस्त्राभूषणो को धारण कर एकत्र होती थी। मगलगीत गाये जाते थे (भ० क० १,१५-१६)। जन्म से छठे दिन बालक का छट्ठी का उत्सव मनाया जाता था। जिनदत्त के उत्पन्न होने के छठे दिन आनन्दपूर्वक प्रमुख उत्सव मनाया गया था। उस दिन रात भर जागरणपूर्वक उछाह मनाया गया था (जि० क० १,२३)।

बालक के जन्म के दसवें दिन नामकरण नामक सस्कार किया जाता था (जि० क० १,२३)। बालक के एक महीने के हो जाने पर माता युवतियों के समूह के साथ पुत्र को गोद में ले कर देव-दर्शन के लिए जिन-मन्दिर जाती थी (भ० क० १, १६)। छठे या आठवें वर्ष मे बालक को उपाध्याय के घर पढने बैठाल दिया जाता था। शस्त्र और शास्त्र दोनो प्रकार की विद्याओं का आम रिवाज था। शस्त्रविद्या मे

विविध प्रकार के आयुधों का संचालन, सवारी करना और सब प्रकार के वारों को रोकना आदि बातें प्रचलित थी, और शास्त्रविद्या में व्याकरण, छन्द, कोश, तर्क, ज्योतिष, तन्त्र-मन्त्र और विज्ञान आदि की शिक्षा का प्रचार था। साथ ही सकल कलाओं की जानकारी प्राप्त करना आवश्यक था। गीत, नृत्य और कला (चित्रकला) आदि का उस समय अच्छा प्रचार था (जि० क० १,२४)। कन्याएँ भी व्याकरण, छन्द, नाटक, निघंटु, तर्क, अमरकोश और अलंकार ग्रन्थों तथा बहत्तर कलाओं, विज्ञान, गीत, नृत्य, प्राकृत काव्य, आयुर्वेद, सकल पुराण-शास्त्र, सामुद्रिक लक्षण, कामशास्त्र, छहों भाषाओं, छहो दर्शन, छियानवे धर्म-सम्प्रदायों एवं अठारह लिपियों का ज्ञान प्राप्त करती थीं (सि० क० १,७)। जि० चउ० में पाँचवें वर्ष मे बालक को उपाध्याय के घर पढ़ने भेजने का उल्लेख है। (जि० चउ० ६३)। बालकों की विद्या का आरम्भ ओंकार से होता था (जि० चउ० ६४)। लक्षण, छन्द, तर्क, व्याकरण, पुराण आदि की भाँति ज्योतिष, तन्त्र-मन्त्र आदि की शिक्षा दी जाती थी। किन्तु तन्त्र-मन्त्र की शिक्षा बालक ही विशेष रूप से ग्रहण करते थे। अस्त्र-शस्त्र चलाने की शिक्षा का भी प्रचार था। उपाध्याय के घर से सकल शास्त्रों मे निष्णात हो कर शिष्य घर लौटते थे। कन्याएँ मुनि से शिक्षा ग्रहण करती थी। पुत्र की विद्या-प्राप्ति के उपलक्ष्य मे सेठ-साहूकार दान देते थे। विद्यालय से बालक को दान-उत्सवपूर्वक घर लाया जाता था (म० क० २,२-३)। इस प्रकार मध्ययुगीन भारतीय समाज मे शिक्षा का अच्छा प्रचार एवं मान था।

विवाह का कार्य प्राय. ब्राह्मण लोग करते थे। वे विवाह तय करते थे, लग्न शोधते थे और वैवाहिक विधि सम्पन्न करते थे। वर-कन्या के माता-पिता योग्य कुल तथा वर-वधू को देख कर ही विवाह करते थे। वर्ण-व्यवस्था का प्रचार था। राजा अपनी कन्या ब्राह्मण को नही देता था। किन्तु वणिक् या साहसी कुमार को ब्याह देता था। गन्धर्व विवाह भी होता था। किन्तु आम प्रचार नही था। विवाह मे कन्या को दायजा देने की प्रथा थी। कहीं-कहीं लड़का लड़की को और लड़की लड़के को देख कर किसी शर्त पर या साधारण रूप से विवाह करते थे और कही-कही ब्राह्मण चित्रपट को दिखा कर लड़का-लडकी का मन भरते थे (जि० चउ० १०५-१०६)। इस से स्पष्ट है कि वे विवाह-कार्य मे अपना मत स्वतन्त्र रखते थे। विलासवती का सनत्कुमार से ऐसा ही प्रेम था कि वह उसे छोड कर अन्य किसी से ब्याह नही करना चाहती थी। किन्तु मैनासुन्दरी माता-पिता को आज्ञा एवं रुचि का पालन करती है।

विवाह के पूर्व कन्या पक्ष की ओर से लग्न भेजी जाती थी। वर के माता-पिता उत्सव मनाते थे। पंक्ति-भोज देते थे। तब गाजे-बाजों के साथ बरात प्रस्थान करती थी। बरात बैलगाड़ी, हाथी और घोड़ों पर जाती थी। जिनदत्त की बरात मे एक करोड़ बैल थे। बरात मे स्त्रियाँ भी जाती थी। वे मार्ग मे मंगल गीत गाती चलती थी (जि० क० २, ११)। विवाह-स्थल पर मँड़वा गाड़ा जाता था। कटनी बनाई

जाती थी। चौक मोतियों की रंगावली से पूरा जाता था। बरात को प्रायः नगर से बाहर ठहराया जाता था। वर हाथों में कंकण, गले में श्वेत पुष्पों की माला तथा हार, कानों में कुण्डल और सिर पर सेहरा बाँधते थे। वर के प्रस्थान करने समय मंगलाचार किया जाता था। वर की सवारी हाथी पर निकलती थी। बरात के नगर में पहुँचने पर घर-घर मे दिवाली मनायी जाती थी। विवाह में नृत्य-गान की प्रथा थी। कन्या के द्वार पर वर के पहुँचने पर उस का तिलक किया जाता था। वर को मोतियों से पूरित चौक मे बिठाया जाता था। तरह-तरह के मंगलाचार किये जाते थे (वि० क० १०,४)। मंगल गान गाये जाते थे। कई तरह के बाजे बजते थे। तिलक तथा मंगलाचार के पश्चात् ब्राह्मण वेद की ऋचाओं को पढ़ते थे (सि० क० १,१४)। मंगल हवन होता था। सप्तपदी के साथ भाँवरें पड़ती थीं। विवाह के अन्त मे कई प्रकार के नृत्यगान तथा कौतुक होते थे। वर कई दिनो तक ससुराल मे रह कर राग-रंग मे मस्त रहता था। कन्या की बिदा के समय वर-वधू के सिर पर दूर्वांकुर तथा सिद्धि के लिए जौ डाले जाते थे। दायजे मे दास-दासी, हाथी-घोड़ा, गाय-भैंस तथा सेना एवं रत्न, हीरा, मोती, माणिक आदि दिये जाते थे। बहू के साथ बेटे के विवाह से लौटने पर माता उत्सव मनाती थी। बेटे-बहू की नजर उतार कर आरती उतारती थी (जि० क० ३,२)। न्योछावर कर दान देती थी। कपूर के दिये जलाये जाते थे।

इस प्रकार विवाह-कार्य प्रमुख सामाजिक उत्सव के रूप में किये जाते थे। लोगों को आसन पीढो पर बिठाया जाता था। बहुत स्वागत-सत्कार किया जाता था। (भ० क० १,९) मामा और फूफा के भाई-बहनों मे ब्याह होने की प्रथा थी। श्रीपाल और गुणमाला ममेरे-फुफेरे भाई-बहन थे। वस्तुतः यह दक्षिण भारत की प्रथा है, जो जैन साहित्य मे कई काव्यो तथा पुराणो में वर्णित मिलती है। इसी प्रकार जूड़े मे फूलों को खोसना आज भी दक्षिण भारत मे प्रचलित है। किन्तु कुंकुम की पत्रावली रचना और माँग को मोती से भरना उत्तर-पश्चिम और विशेष कर राजस्थान की प्रथा जान पड़ती है। उत्तर भारत में ही पुरुष कानो मे कुण्डल पहनते हैं। राजा भविष्यदत्त कानों मे सोने के कुंडल पहनते थे (भ० क० २०,९)। सिर पर सोने के मुकुट बाँधते थे। राजा का यह विशेष वेश था। कन्याएँ गेंद से खेलती थी (भ० क० १,८)। वे वीणा-वादन और नृत्य-गीत मे कुशल होती थीं। बड़े घर की स्त्रियाँ मोतियो से जड़ी हुई साड़ी पहनती थीं (सि० क० २,१४)। इसी प्रकार उत्सवो के समय रत्नजड़ित अंगिया पहनती थी। उन पर हीरा, सोना आदि की नक्काशी कढ़ी रहती थी (जि० चउ० १३४-१३५)। पुरुष-स्त्रियाँ प्रायः जल-विहार, जल-क्रीड़ा करते थे। वसन्त मे वन मे विहार करते थे। इस प्रकार अपभ्रंश के इन कथाकाव्यों मे वर्णित जीवन सामन्तकालीन वैभव से युक्त है। कहीं-कहीं राजपूतकालीन प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। किन्तु आखेट-क्रीड़ा करना, बलि देना, शूली पर चढ़ाना आदि बातें इन मे नहीं मिलती। परन्तु जिनदत्त का कुमारी के मुँह से निकलते हुए भुजंग को मारना,

भविष्यदत्त का राक्षस को मारने के लिए तैयार होना तथा विभिन्न नायकों का युद्ध करना आदि इस बात के प्रमाण हैं कि व्यावहारिक हिंसा मे प्रतिकार करना जैन शास्त्रो तथा साधुओं के द्वारा विहित था। पं० नरसेन ने बलि-प्रथा मे बछड़ा, घोड़ा तथा बकरे का उल्लेख किया है (सि० क० १,६)। इसी प्रकार नर-बलि का भी उल्लेख मिलता है (सि० क० ४,१७)।

लोक-निरुक्ति

लोक-निरुक्ति मे जन सामान्य मे प्रचलित शब्दावली का अध्ययन किया जाता है। वस्तुतः प्रचलित देशी शब्दो का मूल रूप ढूँढ निकालना बहुत ही कठिन है। क्योकि शताब्दियो तक चलन मे रहने वाले शब्द जनता के प्रयत्न-लाघव, मुख-सुख और अशिक्षा के कारण घिस-पिस कर कई रूपो मे बदले हुए मिलते हैं। फिर भी, भाषा विशेष के शब्दो के बदलाव की अपनी प्रक्रिया एवं कुछ सामान्य नियम होते है, जिन के अनुसार स्थानीय नाम तथा पुरुष-स्त्रियो के नामो का अनुसन्धान किया जा सकता है।

अपभ्रंश कथाकाव्यो में प्राप्त पुरुषो की नामावली इस प्रकार है—चंदसेखर (चदसिहरु), जीवदेउ, जिणदत्तु, विमल, रल्ह, सील्ह, वील्ह, दंता, सारु, धनु, चमरु, पीता, धाधू, धण्णुदेउ, सधारु, सुमति, महामति, कन्हउ, खोखरु, विज्जाहर, तीकउ, वीकउ, सुरुपाल, दिउपालु, तेजू, आसे, वासे, अजउ, विजउ, रजउ, उवहिदत्तु, चारुदत्तु, गुणदत्तु, सुवत्तु, सोमदत्तु, धणउ, धणदत्तु, सिरिगणु, हरिगणु, आसादित्तु, छीथे, हप्पा, शुदत्तु, जयदत्तु, घणवाहण, असोक, भविसयत्तु, वंधुयत्तु, धणयत्तु, सोमप्पइ, धणवइ, धणेसरु, सुगुत्तु, समाहिगुत्तु, णरसेणु, पयपालु, सिरिपालु, धवलु, कनयकेउ, धरवालु, धणयालु, मयरकेउ, अरिदमणु, भुवालु, हरिवलु, सणयकुमारु, वसुभूइ, मेहेसरु, वज्जोयरु, जसोहणु, चंदउत्तु, हारप्पह, जसुवम्मु, इसाणुचदु, इत्यादि।

स्त्रियो के नाम हैं—

कंचणमइ, पोमावइ, कमलसिरि, विमला, विमलमति, सिरियामती, असोकसिरी, रूपादे, कंचणदे, उपमादे, मामादे, चित्तरेह, सावलदे, तारादे, मंदोवरि, चंद्रामती हीरादे, रेवती, सारगदे, वीरमदे, गंगादे, कमलादे, पियसुंदरि, भोगवती, मोरवती, कइलासकुमारि, सिगारमइ, वसंतमाला, बिलासवइ, णरसुंदरि, सुरसुंदरि, मयणासुंदरि, रयणमजूसा, वणमाला, गुणमाला, चित्तलेह, जगरेहा, सुरेहा, गुणरेहा, मणरेह, रंभा, रइरेहा, विलासमई, जयलच्छी, लच्छि, सरुवा, मयणवेय, णायसिरि, भविसाणुरुव, अनंगसुंदरि, गोरि इत्यादि।

प्रमुख नगरो के नाम इस प्रकार है—

सेयविय (श्वेताम्बी), तामलित्ति (ताम्रलिप्ती), कंपिल्ल, उज्जेणि, गयउरु (गजपुर), दहिपुर (दशपुर), वसंतपुर, चंपापुर, कोंकण, पोयणउर (पोदनपुर), रयणूउर (रथनूपुर), तिलयउर (तिलकपुर), सिरिउर (श्रीपुर), आदि।

सप्तम अध्याय

परम्परा और प्रभाव

मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं मे तथा साहित्य में अपभ्रंश का अत्यन्त महत्त्व है। भाषा के अन्तर्गत नये-नये शब्द-रूप, सर्वनाम, परसर्ग, देशज क्रियापद एवं कृदन्त क्रियाओ का बाहुल्य तो अपभ्रंश मे स्पष्ट दृष्टिगोचर होता ही है, पर उत्तरवर्ती काल में लिंग की अव्यवस्था और क्रिया मे लिंग भी लक्षित होता है, जिन मे से अधिकाश उपादान आ० भा० आर्यभाषाओ मे आज भी कुछ ज्यों के त्यों तथा विकसित अवस्था मे देखे जा सकते है। भाषा विषयक इस अध्ययन से यह तथ्य अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी का निकास-विकास उर्दू या किसी अन्य भाषा से न हो कर परम्परागत मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओ को विकसित धारा से हुआ है और इसी लिए भाषा विकास की दृष्टि से उस का जन्म संस्कृत से न हो कर अपभ्रंश से हुआ है। लेकिन इस का यह अर्थ नही है कि संस्कृत से उस का सम्बन्ध नही था, या नही है। वस्तुतः अपभ्रंश का लगाव भी संस्कृत से रहा है, किन्तु उस की जडे बोलियो मे लक्षित होती हैं। बोली जाने वाली प्रत्येक भाषा व्यावहारिक एवं जन-जीवन से सम्बद्ध होती है। वह किसी भाषा या शास्त्र के बल पर जन्म नहीं लेती। यही बात हिन्दी के सम्बन्ध मे भी लागू होती है। इस अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि नयी अवस्था मे ढलने और विकसित होने के सम्बन्ध से हो अपभ्रंश और हिन्दी का सम्बन्ध जोडा जाता है; मूल रूप मे नही।

यद्यपि वैदिक साहित्य मे कुछ बिखरे हुए आख्यान मिलते है, किन्तु मूल रूप मे उन का सम्बन्ध इतिवृत्त से न हो कर मन्त्रो की अलौकिक शक्ति के प्रदर्शन के लिए हुआ है। इस लिए वस्तु रूप में उन मे घटनाएँ न हो कर उन का संकेत मात्र है। यास्क के निरुक्त में ऐसे ही आख्यानो का उल्लेख है। परन्तु 'बृहद्देवता' मे अवश्य वे आख्यान रूप मे वर्णित है। वस्तुत. भारतीय साहित्य मे कथा के रूप मे सब से बड़ा सकलन महाभारत कहा जाता है। महाभारत का एक चौथाई भाग उपाख्यानो से भरपूर है। किन्तु उस से भी प्राचीन गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' कही गयी है, जो पैशाची प्राकृत मे एक लाख श्लोकप्रमाण लिखी गयी थी। संस्कृत मे बृहत्कथा-श्लोकसग्रह, बृहत्कथामंजरी और कथासरित्सागर के नाम से विभिन्न कवियो के तीन रूपान्तरित काव्य मिलते हैं, जिन को देखने से यह पता लगता है कि इस देश मे पद्यबद्ध कथा लिखने का चलन अत्यन्त प्राचीन है। कथाओं की इस परम्परा मे आर्यशूरकृत जातकमाला, शिवार्य

रचित भगवतीआराधना, हरिषेण विरचित बृहत्कथाकोष, संघदासकृत वसुदेवहिण्डी, नेमिचन्द्र रचित आख्यानमणिकोश, श्रीचंद विरचित कथाकोष, ब्र० नेमिदत्त कृत आराधनाकथाकोश तथा पं० रइधू विरचित आराधनासार और पुण्यास्रवकथाकोष आदि पालि, कन्नड़, संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश मे लिखे हुए कथाकोश हैं; जिन में विभिन्न कथाएँ संकलित हैं।

इस प्रकार भारतीय साहित्य में पद्यबद्ध कथाओं का लेखन ई० पू० छठी शताब्दी के लगभग प्रचलित हो गया था; किन्तु कथाकाव्य के रूप मे लोक-कहानी को कथाभिप्रायों से समन्वित कर कदाचित् प्राकृत और अपभ्रंश मे प्रबन्ध शैली मे पहली बार इस साहित्यिक विधा का सूत्रपात हुआ। इन मे वर्णित कथाएँ दादी-नानी की कहानियाँ है, जो उद्देश्य विशेष से नियोजित तथा कवि की कल्पना से अनुस्यूत है। अतएव कुछ कथाएँ लोक-कथा या जनश्रुति के रूप में प्रचलित होने पर भी व्रत-माहात्म्य तथा अनुष्ठानो से सम्बद्ध हो कर प्रबन्ध के आकार मे रचित हैं।

यद्यपि प्रबन्ध मे वर्णित एवं आलोचित मुख्य कथाकाव्यो को महाकाव्य की कोटि मे रखा जा सकता है, किन्तु मेरी दृष्टि मे महाकाव्य की रचना साधारण बात न होने से तथा महत्कार्य और आदर्श का विधान जीवन की समूची घटनाओ एवं प्रमुख पात्रों मे व्याप्त होने पर और जीवन के शाश्वत प्रश्नो का समाधान अथवा जीवन-सन्देश की स्पष्ट अभिव्यक्ति होने पर ही कोई प्रबन्धकाव्य महाकाव्य कहा जा सकता है। और इस मान्यता के अनुसार इने-गिने दस-बीस महाकाव्य ही विश्व के साहित्य मे मिल सकेंगे। अतएव अपभ्रंश की इन कथाओं को हमने एकार्थकाव्य की कोटि का माना है; जिन मे लोक-कथाएँ कतिपय घटनाओ के विग्रह मे मानवीय संवेदना से सजीव एवं चारित्रिक विधान मे अनुभूति पूर्ण लक्षित होती है। इन मे कहानी के लगभग सभी तत्त्वो का तथा साहित्यिक रूढ़ियो का भलीभाँति समावेश है। कथा के अन्तर्गत मुख्य घटनाओ के घटित होने पर उस वृत्त की एक से अधिक बार आवृत्ति होती है। इसी प्रकार हेतु कथाओं तथा सामान्य कथाभिप्रायो की भी समन्विति रहती है, जो कथा काव्यो का विशिष्ट गुण कहा जा सकता है। चरितकाव्य एक प्रकार के सकलकथा-काव्य होते है, जिन मे किसी महापुरुष का जीवन-चरित आदि से अन्त तक वर्णित रहता है। वास्तव मे चरित लोक मे देखा जाता है, काव्य में तो केवल वस्तु-वर्णन ही निबद्ध रहता है। अतएव कथाकाव्य और चरितकाव्य का मौलिक अन्तर वस्तु-बन्ध और शैली में दिखलाई पड़ता है। चरित शब्द ही पृथक् अभिधा का वाचक है। नाट्यशास्त्र मे रूपकगत चरित-नाट्य की संज्ञा 'प्रकरण' कही गयी है। नाटक में दिव्यता पूर्ण राजर्षिवंश-चरित का कीर्तन होता है, किन्तु प्रकरण में न तो नायक उदात्त होता है और न दिव्यचरित ही। यद्यपि सभी काव्य और नाटकों में नायक का कुछ चरित वर्णित रहता है, किन्तु पृथक् विधा के रूप मे विप्र, वणिक् और सचिव आदि के चरित-वर्णन का विधान है और चरितकाव्य मे रूपक की भाँति राजर्षि वंश का चरित वर्णित

रहता है। कथाकाव्य में कथा के भीतर कथाएँ रहती हैं, पर चरितकाव्य में केवल मुख्य कथा विभिन्न अवान्तर कथाओं के साथ निबद्ध-रहती है। कथाकाव्य की अपेक्षा चरित-काव्य में अतिलौकिक बातो (Super natural elements) का अत्यधिक समावेश देखा जाता है। कथाकाव्यों की तो अधिकांश कथाएँ संयोग और दैवी संयोग के साथ कुतूहल, उत्सुकता और जिज्ञासा को प्रवर्तन कर क्षिप्रता से गतिशील लक्षित होती है; जब कि चरितकाव्यो मे घटनाएँ रुक-रुक कर या मन्थरता से आगे बढ़ती हैं। इस प्रकार कई बातों मे दोनो मे स्पष्ट अन्तर दृष्टिगत होता है।

यद्यपि अपभ्रंश के कथाकाव्यों की वस्तु ख्यातवृत्त हैं, क्योंकि जिनदत्तकथा को छोड़ कर लगभग सभी कथाएँ किसी न किसी रूप मे प्राकृत-साहित्य से गृहीत है; किन्तु एक तो उन में परिवर्तन मिलता है और दूसरे लोक-जीवन का पूरा पुट है, इस लिए ये लोक प्रचलित कथाएँ ही जान पड़ती है, जो उद्देश्य विशेष से साहित्यिक अनु-बन्ध मे अनुस्यूत है। लाखू ने जिनदत्त कथा को स्वयं अर्हद्दत्त (जिनदत्त) से सुन कर लिखा था।[1] इसी प्रकार विबुध श्रीधर ने भी किसी आचार्य के मुख से सुन कर भविष्यदत्तचरित्र लिखा था।[2] प्राकृत-साहित्य में भी इस प्रकार की कथाएँ अनुश्रुतियों के रूप मे सदियो तक प्रचलित रही है। क्योंकि प्राकृत के कथाकाव्य भी लोकप्रचलित कथाओं के आधार पर लिखे गये है। इस का सब से बड़ा प्रमाण यही है कि आज भी ये साहित्यिक कथाबन्ध मे निबद्ध कथाएँ देश-विदेशो मे लोक-कथा के रूप में सुनी जाती है।

इन कथाकाव्यो के समूचे प्रबन्ध में मानव जीवन का संतुलनपूर्ण चित्र झलकता दृष्टिगत होता है। अतएव पंच सन्धियो के समावेश के साथ ही महत्कार्य-योजना भी इन मे निहित हैं। कथा-प्रवाह मे इतिवृत्तात्मक और रसात्मक विवरण तथा भावों की मार्मिक व्यंजना हुई है। किसी-किसी कथाकाव्य मे तो कथा मे से कथा फूट पडी है। कहीं-कही विवरण मे अनावश्यक रूप से वस्तुओ की लम्बी सूची तथा नामावली मिलती है—जैसे कि, उद्यान-वर्णन मे फल-फूल और पेडो के नाम गिनाना, पंक्ति-भोज में विविध पकवानों का उल्लेख करना, विवाह के समय बाजों के नाम बताना, वाणिज्य यात्रा के लिए जाने वालो के नाम गिनाना, इत्यादि। इसी प्रकार भ० क० मे विभिन्न आभूषणो की नामावली और जि० क० में स्त्री-भेद का विवरण मिलता है।

जायसी के पद्मावत की भाँति अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्य व्यक्तिप्रधान न हो कर घटनाप्रधान है। अतएव वर्णित घटनाएँ कार्य से सम्बद्ध हैं। कार्य की संप्राप्ति होने तक घटनाओं मे आवेग तथा क्षिप्रता एव क्रिया लक्षित होती है, किन्तु कार्य-सिद्धि के उप-

---

१. वणि अरुहदत्त कह कहहि तेम अहिणव विरइवि महु पुरउ जेम। जि० क०, १,३।
चन्द्रप्रभस्य जगतामधिपस्य तीर्थज्जातैयमद्भुत कथा कविकण्ठभूषा।
२. विस्तारिता च मुनिनाथ गणक्रमेण ज्ञाता मयाप्यपरसूरिमुखाम्बुजेभ्य: ॥
भविष्यदत्तचरित्र, ५२।

रान्त उपशम हो जाती हैं। वस्तुतः यह कथाकाव्य की विशेषता है, जो मध्ययुगीन भारतीय कथाकाव्यों मे दृष्टिगोचर होती है। अतएव अपभ्रंश और हिन्दी दोनों मे ही प्रबन्ध-रचना मे बहुत कुछ साम्य है, और इसी लिए यह कहा जा सकता है कि पद्मावत चरितकाव्य न हो कर कथाकाव्य है।

अपभ्रश के सभी कथाकाव्यो मे चित्रित नायक वणिक् तथा राजवंश के कुमार हैं, जो अपने जीवन मे पिता द्वारा तिरस्कृत या उपेक्षित हो कर अथवा अन्य किसी घटना से प्रभावित हो कर अपने घर से निकल पड़ते हैं तथा नगर से प्रवसित हो द्वीप-द्वीपान्तरो की यात्रा करते हैं। यात्रा के समय प्रायः सभी नायक असहाय दर्शाये जाते है। वे भाई, धर्मपिता या किसी सार्थवाह के अनुग्रह से पोत मे बैठ कर कंचनद्वीप या सिंहलद्वीप की यात्रा करते है। मार्ग मे किसी द्वीप या सिंहल द्वीप मे पहुँच कर कुमार का भाग्योदय होता है। वह अपने साहस, पुण्य या दैवी सयोग से राजकुमारी को प्राप्त करता है अथवा उस के साथ उस का पाणिग्रहण कराया जाता है। लौटते समय कुमार की सुन्दर पत्नी तथा अतुल धन-सम्पत्ति को देख कर पोत का अधिकारी सार्थवाह, धर्मपिता या सौतेला भाई कंचन-कामिनी के लोभ में पड़ कर कुमार को छल से या तो समुद्र के तट पर छोड देता है अथवा समुद्र में गिरा देता है (भ० क० को छोड कर सब मे समुद्र में गिराया जाता है)। समुद्र में गिरा हुआ कुमार काष्ठफलक का अवलम्बन ले कर अथवा किसी विद्या या पुण्य के बल से समुद्र पार करता है। अधिकतर कथाओ में काष्ठफलक के सहारे समुद्र पार करना दर्शाया गया है। समुद्र पार कर लेने पर प्रायः किसी न किसी सुन्दरी के साथ उस का विवाह होता है। इस का यही अभिप्राय जान पड़ता है कि भारतीय लोक-जीवन मे शताब्दियों से यह विश्वास बना हुआ है कि समुद्र-पार कोई सुन्दरी रहती है, पर उसे पाने के लिए कई सकटो का सामना करना पडता है। जो उस संकट को या संकटो को पार कर लेता है वह सुन्दरी का वरण करता है। इसी लिए सुन्दरी की प्राप्ति के लिए लोक-कथाओ मे कई सकटो का वर्णन मिलता है। नायक ही नही नायिका को भी संकट झेलना पडता है। नायक के समुद्र मे गिरा दिये जाने पर धर्मपिता, सौतेला भाई या सार्थवाह सुन्दरी के सामने काम-प्रस्ताव रखता है। वह ठुकरा देती है। उस के शील के प्रभाव से जलदेवता या जिनशासन की देवी प्रकट होती है अथवा पोत भग्न हो जाता है। इस प्रकार अनेक विघ्न-बाधाओं को झेल कर नायक-नायिका परस्पर मिल पाते है, और चिरकाल तक सुख भोग कर दोनो परम पद को प्राप्त करते है।

कथानक को दृष्टि से हिन्दी के सूफी काव्य और अपभ्रंश के कथाकाव्यो की वस्तु मे बहुत कुछ साम्य है। सूफी काव्यों में भी प्रमुख पात्र परिस्थिति विशेष मे जन्म लेते है और एक ही ढंग के प्रेम मे पडते तथा आतुर हो कर मार्गप्रदर्शक के अनुसार प्रेममार्ग में अग्रसर हो कर विरह वेदना सहते हैं, और अन्त में संयोग हो जाता है।[1]

---

१. डॉ० सरला शुक्ल . जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफी कवि और काव्य, पृ० २८२।

सामान्य रूप से अपभ्रंश-कथाकाव्यों में मार्गप्रदर्शन तथा प्रेमाभिव्यंजना की उत्कृष्टता नहीं मिलती। किन्तु वि० क० में मित्र वसुभूति सनत्कुमार का मार्गप्रदर्शन करता है तथा प्रेमाभिव्यंजना ही काव्य का मुख्य प्रतिपाद्य है। धार्मिक अंश तो सब से अन्त में तथा अन्य कथाकाव्यों की अपेक्षा बहुत ही कम मिलता है। वस्तुत. अपभ्रंश का यह शुद्ध प्रेमाख्यान है, जिस मे धार्मिक वातावरण का उपयोग न हो कर लोकाख्यान की प्रेममूलक प्रवृत्तियों का समावेश दैवी संयोग तथा कथाभिप्रायों के साथ हुआ है। प्रेमाख्यानक काव्यों से तुलना करने पर निम्नलिखित बातें अपभ्रंश तथा हिन्दी के प्रेमाख्यानक एवं कथाकाव्यों में समान रूप से लक्षित होती हैं।

(१) प्रेम कथाओं की भाँति नायक चित्र-दर्शन, रूप-श्रवण या प्रत्यक्ष-दर्शन अथवा पुतली के रूप में उत्कीर्ण नायिका का रूप-दर्शन कर उस के सौन्दर्य पर मुग्ध हो उसे प्राप्त करने का उपक्रम करते है। भ० क० मे भविष्यदत्त भविष्यानुरूपा के सौन्दर्य पर विमुग्ध हो राक्षस से युद्ध करने के लिए तत्पर हो जाता है। इसी प्रकार सुमित्रा के निमित्त सिन्धुनरेश से युद्ध कर उसे पराजित करता है। जिनदत्त तो पुतली निर्मित विमलमती के रूप को देख कर उस पर आसक्त हो जाता है। उस का यात्रिक जीवन ही प्रेम और परिणय से भरपूर है। सनत्कुमार विलासवती के प्रेम मे पड कर अनेक आपत्तियों को झेलता है और संयोग होने पर भी बार-बार वियोगजन्य दुःख का अनुभव उसे करना पडता है। किन्तु दोनो का सच्चा प्रेम अन्त मे यथार्थ रूप में परिणत हो जाता है और दोनो का संयोग हो जाता है। इसी प्रकार श्रीपाल कई प्रकार के दैवी संयोग तथा पुण्य के प्रभाव से रत्नमंजूषा का पाणिग्रहण करता है और उस से वियुक्त होता है पर अन्त में फिर संयोग हो जाता है।

(२) इन सभी कथाओं मे नायक सिंहलद्वीप की यात्रा करते है। जान पडता है कि सिंहल की यात्रा एक लोक प्रचलित रूढि थी, जो मध्ययुगीन काव्यों में रूढ-सी हो गयी थी।

(३) इस यात्रा मे नायक को सम्पत्ति और स्त्री दोनो का अपूर्व लाभ होता है। किन्तु दुर्भाग्य से पोत भग्न होने से या साथ के प्रमुख जन के छल से नायक समुद्र मे गिर जाता है और काष्ठफलक के सहारे समुद्र को पार करता हुआ दिखाया जाता है।

(४) दैवी संयोग तथा अतिलौकिक बातों का समावेश दोनो मे मिलता है।

(५) भ० क० और पदमावत का उत्तरार्द्ध भाग किसी ऐतिहासिक घटना से सम्बद्ध है, जिस मे नायक को नायिका की रक्षा एवं प्राप्ति के लिए युद्ध करना पडता है।

(६) इन सभी कथाओं मे गार्हस्थ्य अवस्था मे परिपुष्ट प्रेम के दर्शन नही होते; क्योंकि कथा-चक्र संयोग या वियोग से आरम्भ हो कर संयोग मे परिपूर्ण हो जाता है। उस के अनन्तर की घटना ऊपर से चिपकायी हुई जान पडती है, जिस मे नगर मे मुनिराज का आगमन और नायक का पुत्र को राजगद्दी सौंप कर मुनिव्रत धारण करने का विवरण तथा तपस्या कर स्वर्ग या निर्वाण-प्राप्ति का उल्लेख रहता है। अतएव गार्हस्थिक

प्रेम की विवृति न होकर राग-विरागमयी मधुर भावनाओं का कल्पनात्मक वर्णन तथा संयोग और वियोग की भूमिकाओं का अनुभूतिपूर्ण चित्रण लक्षित होता है। भ० क० में अवश्य कमलश्री का चरित्र गार्हस्थ्य दशा के सच्चे एवं पवित्र प्रेम से ओतप्रोत है। प्रबन्ध-रचना की दृष्टि से अपभ्रंश और हिन्दी के तथाकथित चरितकाव्यों मे अत्यन्त साम्य है। वस्तुतः हिन्दी के अधिकतर प्रेमाख्यानक एवं सूफी काव्य कथाकाव्य हैं, जो अपभ्रंश की लोक-परम्परा से प्रभावित रहे हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने प्रबन्धों के दो प्रकार माने हैं[1]—व्यक्तिप्रधान और घटनाप्रधान। व्यक्तिप्रधान प्रबन्ध मे नायक के जीवन की सम्पूर्ण मुख्य घटनाएँ वर्णित रहती है। अतएव संघटना की दृष्टि से आ० आनन्दवर्धन इसे सकलकथा कहते हैं,[2] और आ० हेमचन्द्र चरितकाव्य[3]। यथार्थ में अपभ्रंश के कथाकाव्य तथा हिन्दी के प्रेमाख्यानक एवं सूफी काव्य कथाकाव्य कहे जा सकते है; जिन में कार्य किसी मुख्य घटना से सम्बन्धित होता है और इसलिए वे सब घटनाप्रधान प्रबन्धो के अन्तर्गत आते हैं। यद्यपि संस्कृत में बुद्धचरित (अश्वघोष), चन्द्रप्रभचरित (वीरनन्दी), धर्मशर्माभ्युदय (हरिचन्द), कुमारपाल चरित (हेमचन्द्र), नैषधीयचरित (हर्ष), रघुवंश (कालिदास), रामचरित, विक्रमाकदेवचरित तथा श्रीकण्ठ-चरित आदि चरितकाव्य और शिशुपाल वध, जानकीहरण (कुमारदास), दशग्रीववध (मार्कण्डेय मिश्र) तथा शिव-परिणय आदि घटनामूलक प्रबन्धकाव्य है। किन्तु संस्कृत के इन घटनाप्रबन्धो को हम कथाकाव्य नही कह सकते। क्योकि प्रबन्ध मे घटना या व्यक्ति को प्रधान रूप मे चित्रित करना प्रबन्ध रचना से सम्बन्धित है। अतएव अप-भ्रंश और हिन्दी के मधुमालती, मृगावती, पदमावत आदि काव्य समान रूप से घटना-प्रधान है, जो कथाकाव्य की कोटि में आते है। क्योंकि वस्तु, प्रबन्ध-रचना और शैली की दृष्टि से दोनों मे बहुत कुछ साम्य लक्षित होता है। निम्नलिखित बातों में दोनो मे समानता देखी जाती है—

(१) अपभ्रंश और हिन्दी के उक्त कथाकाव्य लोक-कथाओ के आधार पर लिखे गये हैं। अतएव अधिकतर कथाएँ आज भी गाँवों मे सुनी जा सकती हैं, जिन में कई प्रकार के रूपान्तर प्राप्त होते हैं। पदमावत की कथा भी मूल रूप में लोककथा है।[4]

(२) वस्तु की भाँति वर्णन मे लोक प्रचलित उपमानो, लोकोक्तियों, सूक्तियों और देशी शब्दों का प्राधान्य कथाकाव्यो मे निहित रहता है।

(३) कही-कही वर्णनो में ऐसा जान पड़ता है मानो आपस मे बैठ कर बातें कर रहे हो।

(४) संवादो में बोलचाल के रूपों की स्पष्ट झलक मिलती है।

---

१ पं० रामचन्द्र शुक्ल : जायसी—ग्रन्थावली, पृ० ७१।

२ आ० आनन्दवर्धन ध्वन्यालोक, ३,७।

३ आ० हेमचन्द्र : काव्यानुशासन, आठवाँ अध्याय।

४, रवीन्द्र 'भ्रमर' : 'पद्मावत की कथा का लोक-रूप, आलोचना, वर्ष ४, पृ० ३८-४४।

(५) कथाओं के माध्यम से उपदेश देना सामान्य रूप से इन कथाकाव्यों का उद्देश्य है। अतएव दोनों प्रकार के कथाकाव्यों मे वस्तु सोद्देश्य नियोजित रहती है।

(६) लोक-वार्त्ताओं की सरल और संक्षिप्त शैली दोनो मे देखी जाती है।

(७) दोनों मे ही कथानक-रूढ़ियो और किन्ही साहित्यिक रूढ़ियो का पालन मिलता है।

(८) दोनों ही कडवकबन्ध या उस से मिलते-जुलते छन्दों की रचना विशेष में लिखे गये हैं।

(९) दोनों में ही नायिका का नख-शिख-वर्णन, कामावस्थाओं का वर्णन, विरह की तीव्रता, आदर्श प्रेम की व्यंजना, दूती द्वारा प्रणय-निवेदन, स्त्री-भेद, वन-विहार और कामक्रीडा आदि के वर्णन मे रीतिकालीन प्रवृत्तियों के बीज दिखाई पड़ते है।

(१०) कथा मे औत्सुक्य, जिज्ञासा, कुतूहल, दैवीसंयोग आदि कहानियो मे पायी जाने वाली सामान्य बातें उक्त दोनो भाषाओं के कथाकाव्यों मे मिलती हैं।

(११) सामाजिक रीति-पद्धति एवं लोकाचार का दोनो मे उल्लेख मिलता है; जैसे कि— छट्ठी, नामकरण, बरात, विवाह, देवी-देवता-पूजन, इत्यादि।

(१२) दोनों मे लोक-कथाओ के सामान्य अभिप्राय (Motives) निहित रहते हैं, जिन्हे देख कर सरलता से लोककथा का पता लग जाता है।

इस प्रकार सामान्य रूप से जहाँ अपभ्रंश और हिन्दी के कथाकाव्यो मे समानता दिखाई देती है, वही कुछ बातो मे अन्तर भी है। निम्नलिखित बातों में दोनो मे भेद लक्षित होता है—

(१) हिन्दी की प्रेमाख्यानक एवं सूफी कथाएँ रूपक-कथाएँ कही जाती है, पर अपभ्रंश की कथाएँ सामान्य कथाएँ है।

(२) अपभ्रंश के कथाकाव्य सन्धियों मे निबद्ध है, किन्तु सूफी एवं प्रेमाख्यानक खण्डो मे विभक्त है। वस्तुतः ये खण्ड छोटी-छोटी सन्धियो की भाँति है, जिन का नाम खण्ड मे वर्णित विषय के आधार पर रखा गया है। अपभ्रंश के पउमचरिउ और महापुराण आदि मे इस प्रकार की अनेक सन्धियाँ है, जो निश्चय ही आकार में इन से बड़ी हैं।

(३) सूफी एवं प्रेमाख्यानक काव्यों की भाँति अपभ्रंश के कथाकाव्यो मे प्रेम की अलौकिक व्यंजना नही मिलती।

(४) जायसी के पदमावत की भाँति विरह की अतिशय तीव्रता एवं अखिल सृष्टि के साथ उस की करुण एवं मार्मिक व्यंजना अपभ्रंश के कथाकाव्यो मे नहीं है। वास्तव मे यह सूफी प्रभाव है, जो मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य मे ही विशेष रूप से निहित है।

(५) पदमावत की भाँति समासोक्ति-पद्धति किसी भी कथाकाव्य मे नही मिलती। क्योंकि अपभ्रंशकथा लेखको का उद्देश्य गूढ़ अभिव्यंजना न कर किसी तथ्य का उद्‌घाटन कर उस का प्रभाव एवं चमत्कार दर्शाना था।

(६) सोद्देश्य वस्तु-रचना होने पर भी दोनों के उद्देश्य भिन्न-भिन्न हैं। साधारणतया दोनो ही अपनी-अपनी मान्यताओं का प्रचार साहित्यिक रचनाओं के माध्यम से करना चाहते थे। इस लिए दोनों में दुहरे प्रयोजन मिलते है।

इस प्रकार दोनों मे अन्तर होते हुए भी कई बातें समान हैं। कथा में पुहुपावती (दुखहरनदास) और वि० क० मे बहुत कुछ समानता मिलती है। इसी प्रकार पदमावत तथा जि० क०, भ० क० और सि० क० तथा अन्य प्रेमाख्यानक काव्यों की घटनाओं मे किन्ही बातो मे साम्य दिखाई पडता है। अपभ्रंश के कथाकाव्यो की भाँति सूफी तथा प्रेमाख्यानक काव्यों मे कथा-तत्त्व, साहसिक-रोमांचक तत्त्व घटनाओ मे विविध मोड़ और बाह्य-आन्तरिक जीवन मे संघर्ष देखा जाता है। इन सभी काव्यों का पर्यवसान शान्त रस मे लक्षित होता है। डॉ० सिह के शब्दों में पदमावत मे प्रबन्ध-काव्य, कथा-आख्यायिका और धर्मकथा तीनो ही के तत्त्वों का समन्वय हुआ है। चरित-काव्यो के (कथाकाव्य के) समान ही उस मे अलौकिक, अतिमानवीय शक्तियो तथा साहसिक कार्यों की योजना, अनेक कथानक रूढियाँ, प्रेम, वीरता और वैराग्य का सुन्दर समन्वय मिलता है[१]। इसी प्रकार अन्य प्रेमाख्यानक काव्य तथा कुतुबन की मृगावती बिलकुल मौलिक रचनाएँ नही है। उन के रचना-स्रोत अपभ्रंश-साहित्य मे ढूँढे जा सकते है।[२] वास्तव मे इस प्रकार की कथा-कहानियाँ वर्षों से ही नही शताब्दियो से भारतीय लोक-जीवन मे मौखिक रूप से प्रचलित रही है। किन्तु साहित्य रूप मे निबद्ध हो जाने पर परम्परा तथा प्रभाव के रूप मे पूर्ववर्ती साहित्य एवं रचना का बहुत कुछ प्रभाव परवर्ती साहित्य पर पडा है, जिसे हम झुठला नही सकते। बंगाली कवि दौलत-काजी की सती मायन और लोरचन्द्रानी भी इसी परम्परा की रचनाएँ है, जो कथा-काव्य की विधा से समन्वित है[३]।

यथार्थ मे आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ की जननी अपभ्रंश मे ही प्रान्तीय भाषाओ मे लिखी हुई प्रारम्भिक रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। प्राचीन बंगला का सिद्ध-साहित्य, गुजराती का रासा-साहित्य, महानुभाव सम्प्रदाय की आदि रचनाएँ तथा पुरानी राजस्थानी मे लिखी हुई प्राचीनतम रचनाएँ अपभ्रंश मे ही है। असमिया मे हेम सरस्वती विरचित 'प्रह्लादचरित' चौदहवी शताब्दी की अपभ्रंश मिश्रित प्रथम रचना मानी जाती है। इसी प्रकार मराठी के प्रबन्धकाव्य भक्तिरसप्रधान कथाकाव्य कहे जाते है।[४] इन सभी प्रबन्धकाव्यो की सामान्य विशेषता है—अपभ्रंश के कथाकाव्यों की भाँति संस्कृत की शास्त्रीय शैली से हट कर लोक-भाषा, लोक-शैली में कथा के लगभग सभी तत्त्वो का सुन्दर विनियोग कर कथाकाव्य के रूप मे प्रबन्ध-रचना।

---

१ डॉ० शम्भूनाथ सिह : हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास, पृ० ४०५।
२. स० सत्येन्द्रनाथ घोषाल . विश्वभारती एनल्स, जिल्द ६, जून १९५९, पृ० ६९।
३. द जर्नल ऑव द विश्वभारती स्टडी सर्किल, जिल्द १, अंक १, १९५६, पृ० ३८।
४. प्रो० भी० गो० देशपाण्डे ; मराठी का भक्ति-साहित्य, पृ० २२९।

संस्कृत-काव्यों का प्रभाव

अपभ्रंश-कथा-काव्यों पर संस्कृत के प्राचीन काव्यों का परम्परागत रूप मे थोड़ा-बहुत प्रभाव लक्षित होता है। कुछ बातें प्रबन्धकाव्य में रूढ़ि के रूप में प्रयुक्त है; उदाहरण के लिए—मंगलाचरण, आत्मविनय-प्रदर्शन, नगर को स्वर्ग का एक खण्ड कहना तथा वन-वर्णन मे वनस्पति तथा वृक्षो के नाम गिनाना, इत्यादि। अतएव संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के काव्यो में ये वर्णन स्वाभाविक है। इस प्रकार के वर्णन निम्नलिखित हैं—

आत्म विनय-प्रदर्शन—

मन्दः कवियश प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्।
प्राशुलभ्ये फले लोभादुद्वाहुरिव वामनः ॥रघुवंश, १,३।
बुहयण सयम्भु पइं विण्णवइ मइं सरिसउ अण्णु णाहिं कुकइ।
पउमचरिउ, १,३,१।

बुहयण सम्भालमि तुम्ह तित्थु हउं मन्दबुद्धि णिग्गुणु णिरत्थु। भ० क०,१,२।
पयसमत्ति किरिया विसेसया सन्धिछन्दु वायरण भासया।
देसभासु लक्खणु ण तक्कउ मुणमि णेव आयहिं गुरुक्कउ। जि० क०, १,६।
हउ अखउ जिणदत्तपुराणु पढिउन लक्खण छन्द वखाणु। जि०च उ०,१,२०।
लक्खणु ण मुणमि णवि छन्दभेउ किह करउ कहत्तणु एवमेउ। सत्तवसणकहा।
सद्दासद्दु विसेसयरु लक्खणु णउ जाणेमि छन्दुवि सालंकारु तह धिट्ठिम कव्वु करेमि।
मयणपराजयचरिउ (हरिदेव), १,३

छन्दालंकारु न बुज्झियउ निग्घण्टु तक्कु दूरज्झियउ। पासणाहचरिउ (देवदत्त)

नगर-वर्णन—

इसी प्रकार नगर-वर्णन मे उस की कल्पना स्वर्ग से करना या उसे स्वर्ग का एक खण्ड बताना—संस्कृत के महाकवि वाल्मीकि तथा कालिदास की भाँति अपभ्रंश-कवियों को अत्यन्त प्रिय है।

स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणा गा गताना।
शेषैः पुण्यैर्हृतमिव दिवः कान्तिमत् खण्डमेकम् ॥ मेघदूत, १,३०।
पट्टणु पइसरिय जं धवल वरालंकरियउ।
केण वि कारणेण णं सग्गखंडु ओयरिउ ॥रिट्ठणेमिचरिउ, २८,४।
वर गेय रवाउलु रहस सुराउलु महिहि सग्गु नं अवयरिउ। पउमसिरीचरिउ,१,२।
तहिं गयउर णाउ पट्टणु जण जणियच्छरिउ।
णं गयणु मुएवि सग्गखडु महि अवयरिउ ॥भ० क०, १,५।

अवयरिउ णाइं पच्चक्खु सग्गु जोइउ सुरिक्खु सुमुहुत्तु लग्गु। वही, १,९।
घरणिहिं अवइ लह जणहु सउन्नहं सयग्गखंडु नावइ खसिउ। वि० क०,११,३।
वलिवंड घरन्तहं सुरवरहं अमरावइ णं खसि पडिय। सि० क०, १,४।
पामरि धरणि अकासहि चडी जणु जणु चइ छूटि सग्ग ते पडी। जि० च उ०,३१।
राजथाणु किमु करि वणियइ पच्चक्खु सग्गु खंडु जाणियइ। वही, ४०।

वन-वर्णन—

वन-वर्णन में परिगणनात्मकता वाल्मीकि रामायण की भाँति पउमचरिउ, भ० क०, वि० क०, जि० क०, जि० च उ० और भ० च० आदि मे दृष्टिगत होती है।[1] इसी प्रकार वाल्मीकिरामायण और हिन्दी के प्रसिद्ध कवि केशवदास की 'रामचन्द्रिका' की भाँति भ० क० मे भविष्यदत्त पहले माँ को उपदेश देता है और फिर माँ भविष्यदत्त को शिक्षा देती है (भ० क० ३,१७)। कहीं-कहीं अपभ्रंश के इन कथाकाव्यों को पढते-पढ़ते संस्कृत के काव्यो जैसा आनन्द मिलने लगता है। और ऐसे वर्णनो को देख कर यह बात बार-बार मन मे उठती है कि सम्भवत. संस्कृत के काव्यो को किसी-किसी कवि ने पढा या सुना अवश्य होगा। अतएव रामायण की भाँति विलासवती को विद्याधर की वाटिका मे सहकार के वृक्ष के तले अशोक वृक्ष के नीचे बैठी हुई सीता की भाँति चित्रित करना, रघुवंश के तेरहवे सर्ग मे श्रीरामचन्द्र द्वारा प्रदर्शित मार्गस्थित वन-पर्वत आदि के स्मृति रूप मे वर्णन जैसा ही भ० च० मे विबुध श्रीधर का वर्णन करना तथा वि० क० मे अभिज्ञानशाकुन्तल की भाँति तपोवन का वर्णन करना, तापसी द्वारा सनत्कुमार और विलासवती का मिलाप होना एवं लता-कुंजो में क्रीड़ा करना, इत्यादि वर्णनो मे संस्कृत के प्राचीन कवियो की रचनाओ की कुछ न कुछ झलक अवश्य मिलती है। अतएव पढते ही संस्कृत के उक्त ग्रन्थो में वर्णित दृश्य एवं वातावरण का चित्र आँखों के सामने झूलने लगता है। सम्भव है प्राकृत के प्राचीन प्रबन्ध काव्यों मे अथवा तरंगलीला, तरंगवती, वत्सराज, सदयवत्स आदि कथाओ मे इस प्रकार के वर्णन तथा चरित्र अंकित हो। वस्तुतः संस्कृत के अन्य कवियो की अपेक्षा महाकवि कालिदास की रचनाओ का प्रभाव अपभ्रंश-काव्यों पर देखा जा सकता है। 'पउमचरिउ' पर भी कहीं-कहीं कालिदास की रचनाओ का प्रभाव दिखाई पड़ता है।
तुलना कीजिए—

संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः॥ रघुवंश, ६,६५।
पुर उज्जोवन्तिय दीवि जेम, पच्छइ अन्धारु करन्ति तेम।
णं सिद्धि कुमुणिवर परिहरन्ति, दुग्गन्ध रुक्ख णं भमरपन्ति। प० च० ७,३,८-९।

---

१. देखिए, वाल्मीकिरामायण, सुन्दरकाण्ड, द्वितीय सर्ग, ६-१०।

'दीपशिखा' वाली कल्पना दोनों में समान है। उक्त उपमा के कारण कालिदास का उपनाम दीपशिखा कहा जाता है। अतएव कालिदास की यह मौलिक कल्पना मानी गयी है।

भ० क० में 'कुमारसंभव' के एक श्लोक का भाव-साम्य निम्नलिखित रूप में मिलता है—

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः। १,५९।
जुव्वणवियाररसवसपसरि सो सूरउ सो पंडियउ।
चलमम्मणवयणुल्लावर्एहि जो परतियहि ण खंडियउ ॥भ० क०, ३,१८।

इसी प्रकार का भाव एक प्राकृत गाथा में भी मिलता है। वि० क० में वर्णित सागर वर्णन की तुलना रघुवंश के तेरहवें सर्ग मे वर्णित समुद्र के चित्रण से की जा सकती है।[1] इसी प्रकार निम्नलिखित उक्ति मे समानता ढूँढ़ी जा सकती है—

मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः। रघुवंश, ८,८७।
खुट्टइ जीविज्जइ जेम णवि तेम अखुट्टइ णवि मरणु। भ० क०, ३, १२।

मेघदूत की भाँति कहीं-कहीं लाक्षणिक प्रयोग भी लक्षित होते हैं। उदाहरण के लिए—

त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः।
आसीसिउ तउ तियहि तरुणिणयणणलिणालि अंचिउ। जि० क०, ३,२।

कटि की कृशता का वर्णन कई काव्यो मे समान रूप से वर्णित है। यथा—

समचक्कल कडियलु किसु मज्झउ णज्झइ करयलु मुट्ठहि गिज्झउ। भ० क० ५,९
जंघजुयल कदली ऊपरड तासु लोक मूठिहि माइयइ। जि० चउ०

मिलाइए—

उदरं नतमध्यपृष्ठता स्फुरदङ्गुष्ठपदेन मुष्टिना।
चतुरङ्गुलिमध्यनिर्गता त्रिबलिभ्राजि कृतं दमस्वसुः ॥नैषध, २,३४।

इसी प्रकार—

जो मक्खइ मंसु तासु कहिमि किं होइ दय। भ० क०, १,३
कामलुब्धे कुतो लज्जा, अर्थहीने कुतः क्रिया।
मद्यपाने कुतः शौच, मासभक्ष्ये कुतो दया॥

तथा—

जाहे चरण सारुण अइ कोमल, पेच्छिवि जन्दे पइट्ठ रत्तुप्पल। (मु० च०)

तुलना कीजिए—

यत्त्वन्नेत्रसमानकान्तिसलिले मग्नं तदिन्दीवरं। (हनुमन्नाटक ५,६४)

---

१. देखिए—वि० क०, ३, १। रघुवंश, १३, ११-१२।

इस प्रकार कई स्थल संस्कृत के काव्यों में वर्णित भावों में तथा वर्णन-शैली में समान लक्षित होते हैं। किन्तु समूचे प्रभाव को समझ लेने पर यह निश्चय कर लेना कठिन-सा प्रतीत होता है कि वस्तुतः अपभ्रंश के उक्त कवियों ने संस्कृत-साहित्य का अनुशीलन कर प्रभाव रूप में उस से ग्रहण किया था। सम्भव है कि प्राकृत-साहित्य से या परम्परा के रूप मे अनुश्रुति से ये कथाकाव्य प्रभावित रहे हों। क्योंकि वि० क० और श्रीपालकथा को ध्यान से देखने पर यह निश्चय हो जाता है कि प्राकृत-साहित्य के वर्ण्य-विषय को ही नही भावों को भी ज्यो का त्यो अपनाया गया है। अतएव कई स्थलों पर सूक्तियाँ, लोकोक्तियाँ तथा भाव-साम्य लक्षित होता है। इसलिए यह स्वाभाविक है कि संस्कृत की साम्यमूलक कुछ बातें सीधी संस्कृत-साहित्य से न आ कर प्राकृत-साहित्य के माध्यम से अपना ली गयी हों। फिर, समानान्तर रूप से लिखा जाने वाला भारतीय साहित्य अपने-अपने क्षेत्रों में एक-दूसरे से थोड़ा-बहुत प्रभावित अवश्य रहा है।

अपभ्रंश-कथाकाव्यों में वर्णन-साम्य

अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्यों तथा कथाकाव्यों मे कई स्थलो पर साम्य लक्षित होता है। कही-कही यह समानता वर्णन तथा शैली में देखी जाती है और कही-कही भावों में। भ० क० के वियोग-वर्णन तथा प० च० के वियोग-वर्णन की शैली समान है। इसी प्रकार पुष्पदन्त के महापुराण तथा भ० क० के गीतों में एवं गीति शैली मे कहीं-कही साम्य लक्षित होता है।

उदाहरण के लिए—

मओमत्तमायंग लीलावहारा रमावासवच्छत्थलोलंतहारा।
फणिदेण चंदेण इंदेण दिट्ठा पुणो दो वि राया सरंते पइट्ठा।
महापुराण १७,१२।

तुलना कीजिए—

अहो सुंदरं होइ एयं ण कज्जं अगम्मंपि गंतूण खद्धं अखज्जं।
गयं णिप्फलं ताम सव्वं वणिज्जं हुअं अम्ह गुत्तम्मि लज्जावणिज्जं।
भ० क०, ३,२६।

इसी प्रकार मुनि कनकामर के करकण्डचरिउ और विबुध श्रीधर के भ० च० के गीतों में शैलीगत साम्य स्पष्ट जान पड़ता है।

इसी प्रकार—

कुंताइं भज्जंति कुंजरइं गज्जंति
रहसेण वग्गंति करिदसणे लग्गंति.... करकण्डचरिउ, ३,१५
तें वाहुडंडेण कमलसिरिपुत्तेण
दिट्ठियाइं तिरियाइं वहुदुखभिरियाइं... भ० क० (विबुधश्रीधर)

अब कुछ भाव-साम्य विषयक उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

रूप-वर्णन—

णं वम्महभल्लि विषणसीलजुवाणजणि ।
तहि पिक्खिवि कंति विंभिउ झत्ति कुमारु मणि । भ० क०, ५,८ ।
उन्नयवंसुब्भव आसासिय विहुयण जयहु ।
अहिणवगुणसुंदरि चावलट्ठि मयरद्धयहु ॥ पउमसिरिचरिउ, २,३,३६ ।

इसी प्रकार प० च० तथा भ० क० में कहीं-कहीं स्पष्ट भावों में समानता देखी जाती है ।

थिर कलहंस गमण गइ मंथर किस मज्झारे णियवें सुवित्थर ।
रोमावलि मयरहरुत्तिण्णी णं पिपीलि रिंछोलि विलिण्णी ।
प० च०, ३८.३.३ ।
थिर कलहंस लीलगइ गामिणि जणहो घणहु परिवारहु सामिणि ।
भ० क०, १, १२ ।
रोमावलि वलि अंग विहावइ थिय पिपीलिरिंछोलि व णावइ । वही, ५,९ ।

उदाहरण के लिए, निम्नलिखित उद्धरण मे रोमावली की कल्पना चींटी की पंक्ति से देने में धनपाल की मौलिकता का प्रकाशन न हो कर परम्परा का पालन मात्र प्रतीत होता है । इसी प्रकार अन्य उदाहरण है—

ता भणइं किसोयरि कमलसिरि ण करमि कमलमुहुल्लउ ।
पर सुमरंति हे सुउ होइ महु फुट्टु ण मण हियउल्लउ ॥ ३,१६
—भ० क० (विबुध श्रीधर)

हिअडा फुट्ट तडत्ति करि कालक्खेवें काइं ।
देक्खउं हय विहि कहिं ठवइ पइं विणु दुक्खसयाइं ॥ प्रकीर्णक ।
ते तुव भमउं समउं रइरससुहु सेवंताहं वट्टए ।
कुग्घिण मे सरीरि लज्जाहउ हियउ तडत्ति न फुट्टए ॥ जि० क०, ४,२५ ।
ओसहु निरु मिट्ठं विज्जुवइट्ठं अहु जण कासु न होइ पिउ । पउमसिरिचरिउ २,७ ।
सविणउ भणइं काइं किर वुच्चइ ओसहु गुलियउ कासु ण रुच्चइ ।
—भ० क० (धनपाल), ३,१४ ।

इसी प्रकार समुद्र की पुरुष रूप में कल्पना भी धनपाल की निजी मौलिकता नहीं है । संस्कृत के प्राचीन साहित्य मे समुद्र का अत्यन्त विस्तृत वर्णन मिलता है, जिस में धीर, गम्भीर पुरुष या महापुरुष के रूप में कल्पना की गयी है ।

नाभिप्ररूढाम्बुरुहासनेन संस्तूयमानः प्रथमेन धात्रा ।
अमुं युगान्तोचितयोगनिद्रः संहृत्य लोकान्पुरुषोऽधिशेते ॥ रघुवंश, १३,६ ।

आयुष्मन्निति बहुविस्मयो यमब्धिः सद्रत्नः सकलजगजनोपजीव्यः ।
गम्भीरप्रकृतिरनलसस्त्वयोगः प्रायस्त्वामनुहरते विना जडिम्ना ॥
—महापुराण (जिनसेन) २८,२०२ ।

लक्खिउ समुद्दु जललवगहीरु सप्पुरिसु व थिरु गंभीरु धीरु ।
—भ० क०, ३,२२ ।

डॉ० भायाणी ने प० च० और भ० क० को तुलना करते हुए रचना के प्रारम्भिक अश पर स्पष्टतया स्वयम्भू का प्रभाव दर्शाया है । (पउमचरिउ की भूमिका, पृ० ३६-३७) । भ० क० पर विबुध श्रीधर के अपभ्रंशकाव्य भ० च० का प्रभाव भी दिखलाई पड़ता है ।

जो पुण्णेण रहिउ सिरि चाहइ सो धणेण विणु सत्तु पसाहइ ।
—भ० क०, विबुध श्रीधर, २,१९ ।

अह णिद्धणु जणि सोहइ ण कोइ धणुसंपय विणु पुण्णहिं ण होइ ।
—भ० क० (धनपाल), १,२ ।

उदाहरण के लिए—भूपाल के पूर्व कुरुजंगल देश में राजा मेघेश्वर का उल्लेख करना तथा नगर, झरना आदि के वर्णनो मे कही-कही साम्य लक्षित होता है ।

भ० क० का अपभ्रंश की परवर्ती रचनाओं पर प्रभाव

धनपाल की भ० क० पर जहाँ प्राचीन संस्कृत तथा अपभ्रंश कवियो की रचनाओं का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है, वहीं अपभ्रंश तथा हिन्दी की परवर्ती रचनाओं पर धनपाल की उक्त रचना का प्रभाव लक्षित होता है । निम्नलिखित उदाहरणों मे स्पष्टतया भावो का साम्य द्रष्टव्य है—

जसु जित्तिउ बुद्धिवियासु होइ सो तित्तिउ पयाडइ मच्चलोइ ।
भ० क०, १,२ ।

जसु जेत्तिउ मइ पसरु पवट्टइ सो तेत्तिउ धरणियले पयट्टइ ।
—बाहुबलिचरित, १, ९ (द्वितीय धनपाल)

रुक्खहु णामि फलु संवज्झइ किं अंबइ आमलउ णिवज्झइ ।
जो तउतणइं अंगि उप्पण्णउं तासु सरीर होइ किं दुण्णउं । २,३ ।

पाउ करहि सुहु अहिलसहि पर सिविणेवि ण होइ ।
माइंण्णिवे वाइयइं अंब कि चक्खइ कोइ ॥ श्रावकाचार, १६ ।

पिक्खिवि अइरावइ गुलुगुलंतु किं इयरहत्थि मा मउ करंतु ।
भ० क०, १,२ ।

जइ अइरावइ मत्तो ता सेसगया म मच्चंतु । सन्देशरासक, १,११ ।

महकव्व इहु ताह तणिय किर कवण कह ।
कि उइय मयंकि जोइंगणउ म करउ पह ॥ भ० क०, १,२ ।
अहवा ण इत्थ दोसो जइ उइयं ससहरेण णिसिसमए ।
ता किं णहु जोइज्जइ भुअणे रयणीसु जोइक्खं ॥ सन्देशरासक, १,८ ।
जसु जित्तिउ वुद्धिवियासु होइ सो तित्तउ पयासइ मच्चलोइ । भ० क० १,२
जा जस्स कव्वसत्ती सा तेण अलज्जिरेण भणियव्वा । सन्देशरासक, १,१७ ।

समुद्र-यात्रा के वर्णन में कई स्थल पं० रयधू की श्रीपालकथा में पं० नरसेन की सि० क० और जि० क० से तुलना करने पर बहुत कुछ समान मिलते हैं। इसी प्रकार नगर-वर्णन में भी कुछ-कुछ साम्य लक्षित होता है। वन या उद्यान-वर्णन मे अपभ्रंश कथा-काव्यों मे तथा धर्मपरीक्षा मे परिगणनात्मक प्रवृत्ति विशेष रूप से मिलती है। भ० क० में भी यह परम्परा तथा रूढ़ि के रूप मे मिलती है। अतएव कुछ बातो मे साम्य होने पर भी निश्चय रूप से प० च० तथा महापुराण का जितना प्रभाव परवर्ती अपभ्रंश काव्यों पर पड़ा है; उतना भविसयत्तकहा का नहीं। क्योंकि भ० क० के प्रारम्भिक कुछ कडवकों मे तो अवश्य पौराणिक शैली लक्षित होती है; किन्तु शेष भाग शास्त्रीय शैली से निर्बन्ध हो कर लिखा गया है। अतएव लोक-कथाओं मे प्रचलित बातों तथा प्रबन्ध-रचना की विभिन्न प्रवृत्तियो का लोक-शैली मे वर्णन इस काव्य की मुख्य विशेषता है। और इसी लिए भ० क० मे कई मधुर गीतों की रचना मिलती है।

अपभ्रंश कथाकाव्यों का हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव

अपभ्रंश कथाकाव्य तथा हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यों की कथावस्तु की तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि दोनों प्रकार के काव्यों की वस्तु में बहुत कुछ साम्य है। केवल दोनों के उद्देश्य विशेष मे अन्तर है। अतएव कथा के वर्णन में तथा घटनाओं के मोड़ में और चरित्र-चित्रण में भेद लक्षित होता है। किन्तु कथा-प्रकार मे, प्रबन्ध-रचना मे तथा शैली मे हिन्दी के प्रेमाख्यानक एवं सूफी काव्यों पर अपभ्रंश के कथाकाव्यों का प्रभाव दिखाई पड़ता है। अतएव कथानक रूढियों और काव्य-रूढियों में अद्‌भुत साम्य है। इसी प्रकार कामावस्थाओं, स्त्री-भेद, नखशिख-वर्णन आदि सभी रीतिकालिक प्रवृत्तियों का दोनों मे समावेश मिलता है।

यद्यपि हिन्दी के सूफी काव्यों मे सज्जन-दुर्जन-वर्णन, आत्मविनय-प्रदर्शन तथा काव्य की प्रेरणा आदि काव्य-रूढ़ियों का पालन नहीं हुआ है, किन्तु मंगलाचरण, आत्म-परिचय तथा कथा-रचना का उद्देश्य एवं गुरु-परम्परा का निर्देश प्रेमाख्यानों मे मिलता है।[1] इसी प्रकार अपभ्रंश कथाकाव्य की भाँति प्रेमाख्यानक काव्यों मे कहीं-कहीं कथा की प्राचीनता का उल्लेख देखा जाता है। यही नही, कई कथाएँ साम्प्रदायिक मत

१. डॉ० सरला शुक्ल : जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफी कवि और काव्य, पृ० २७७।

एवं वादों से रहित शुद्ध प्रेमकथाएँ कही जा सकती हैं; जिन में प्रेम के अलौकिक रूप का वर्णन न हो कर लोक प्रचलित यथार्थ प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है। वस्तुतः आरम्भिक सूफी कवि उदार तथा लोकयुगीन प्रवृत्तियों से प्रभावित थे। किन्तु परवर्ती काल में भारतीय जीवन की लोक-कथाओ को अपनाकर सूफी कवियों ने अपने सिद्धान्तों का प्रचार करना चाहा था। परन्तु जान कवि के अधिकाश ग्रन्थ सूफी विचार-पद्धति तथा प्रेमोत्कर्ष से रहित प्रेमाख्यानक काव्य है। इतना ही नही, जान कवि की इन रचनाओं मे मसनवी की परम्परा का पालन भी नही हुआ है।[१] यथार्थ में, भारतीय साहित्य में अधिकतर प्रेमकथाएँ अपने-अपने मत का प्रचार करने के लिए विभिन्न सन्तकवियों के द्वारा लिखी जाती रही हैं, क्योंकि मनोरंजन तथा प्रभाव की दृष्टि से इन कथाकाव्यो का अत्यन्त महत्त्व है। और इसी लिए इन कथाओं मे सामाजिक अभिप्राय तथा सामान्य विश्वास निहित भलीभाँति है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने जिन कथानक-रूढियों का उल्लेख किया है, उन में से अपभ्रंश तथा हिन्दी के प्रेमाख्यानक एवं कथाकाव्यों में निम्नलिखित रूढ़ियो का समावेश मिलता है[२]—

(१) चित्र या पुतली मे किसी सुन्दरी को देख कर उस पर मोहित हो जाना, (२) रूप-परिवर्तन, (३) नायक का औदार्य, (४) उजाड़ नगरी, (५) विजन बन मे सुन्दरी से साक्षात्कार, (६) शत्रु से युद्ध कर या मत्त हाथी को वश मे करने पर सुन्दरी से प्रेम या विवाह, (७) जल की खोज में जाने पर प्रिया-वियोग और ऋषि, विद्याधर या असुर का दर्शन, इत्यादि।

इसी प्रकार विवाह के पूर्व नायिका-प्राप्ति का प्रयत्न तथा लौकिक और दैवी बाधाओं की योजना अपभ्रंश और हिन्दी के लगभग सभी प्रबन्ध काव्यों में मिलती है।[३] सिंहलद्वीप की यात्रा का वर्णन भी अपभ्रंश के सभी कथाकाव्यों में तथा हिन्दी के लगभग सभी प्रेमाख्यानक काव्यो मे हुआ है। और समुद्र मे जहाज के भग्न होने तथा नायक-नायिका के बिछुड़ने की घटना भी समान रूप से वर्णित मिलती है।

प्रायः सूफी प्रबन्धकाव्यों की कथा का अन्त संयोगमूलक दुखान्त होता है। किन्तु कवि मंझन, जान, उसमान, नूरमुहम्मद, ख्वाजा अहमद और शेख रहीम की अधिकतर रचनाएँ सुखान्त हैं।[४] अपभ्रंश के कथाकाव्यो मे भी विरह की तीव्रता के पश्चात् संयोग तथा लौकिक सुख का वर्णन मिलता है। इस लिए वियोग सभी कथाकाव्यो में अनिवार्य रूप से वर्णित है। प्रेमाख्यानक कथाकाव्यों में तो प्रेम एवं वियोग ही मुख्य हैं। इस प्रकार अपभ्रंश तथा हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यों में कई बातें समान रूप से वर्णित लक्षित होती हैं, जिन में से कुछ निम्नलिखित हैं—

---

१. वही, पृ० २७७।
२. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी . हिन्दी-साहित्य का आदिकाल, पृ० ८०-८१।
३. डॉ० सरला शुक्ल जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफी कवि और काव्य, पृ० १७१।
४. वही, पृ० २८६।

(१) धनपाल की भविष्यदत्तकथा और जायसी के पदमावत का पूर्वार्द्ध भाग लोककथा है और उत्तरार्द्ध ऐतिहासिक जान पड़ता है।[१] दोनों ही प्रबन्धकाव्य दो खण्डों में विभक्त हैं। विषय भी लगभग दोनों में समान है—अभिप्राय की दृष्टि से मूल रूप में।

(२) विरह-वर्णन, नखशिख-वर्णन, ऋतु-वर्णन और कामदशाओं आदि के वर्णन में रीतिकालीन प्रवृत्तियों का उदय स्पष्ट रूप से देखा जाता है।

(३) साहसिक कार्यों तथा अतिमानवीय बातों का समावेश दोनों में मिलता है।

(४) साहित्यिक रूढ़ियों का भी किसी-किसी ने पालन किया है।

(५) प्रबन्ध-संघटना में भी कहीं-कहीं साम्य है।

(६) लगभग सभी सूफी एवं प्रेमाख्यानक काव्य चौपाई-दोहायुक्त शैली में लिखे गये है, जो अपभ्रंश की कडवक शैली का परवर्ती रूप है।

(७) देश्य शब्दों, लोकोक्तियों, मुहावरों आदि का प्रचुर प्रयोग दोनो मे मिलता है। लोक-जीवन की अनेक बातों मे समानता होने से दोनों मे बहुत कम अन्तर दिखाई पड़ता है।

सूफी-काव्य रचयिताओं ने अधिकांश दोहा-चौपाई के क्रम से काव्य-रचना की है तथा चौपाइयो के क्रम मे विशेष कर पाँच चौपाइयो से ले कर सात या नौ तक के अन्तर में दोहा रखा है। मंझनकृत मधुमालती, जान कवि विरचित रतनमंजरी, और नूरमुहम्मद कृत इन्द्रावती मे पाँच अर्द्धालियो के बाद एक दोहे का क्रम मिलता है। इसी प्रकार उसमान रचित चित्रावली में, कासिमशाह कृत हंसजवाहिर मे तथा कवि नसीरकृत प्रेमदर्पण मे सात अर्द्धालियों के अनन्तर एक दोहे का क्रम दृष्टिगोचर होता है। और हुसेनअली रचित पुहुपावती मे तथा कवि शेख निसारकृत यूसुफजुलेखा मे नौ अर्द्धालियो के पश्चात् एक दोहे के क्रम से रचना हुई है। किन्तु जान कवि कृत कामलता मे चौपाई छन्द ही मिलता है। अपभ्रंश के कथाकाव्यो मे सामान्यतः चार पद्धड़िया छन्द से ले कर पन्द्रह, सोलह तथा किसी मे बीस छन्द और द्विपदी या तत्सम किसी अन्य छन्द-योजना का क्रम देखा जाता है। किन्तु अधिकतर पाँच या छह पद्धड़िया छन्द के बाद द्विपदी का क्रम प्राप्त होता है। अतएव रचना-बन्ध की यह शैली निश्चित ही अपभ्रंश से परम्परा के रूप मे हिन्दी-प्रबन्धकाव्यों को प्राप्त हुई है, जिस का परवर्ती रूप हमें जायसी के पदमावत और रामचरितमानस मे लक्षित होता है। इसी प्रकार चौपई बन्ध की स्वतन्त्र शैली अपभ्रंश से ही हिन्दी को मिली है। कवि रल्ह कृत 'जिनदत्तचउपई' लगभग छह सौ चौपाइयो में निबद्ध रचना है। सम्पूर्ण रचना चौपाइयो में लिखी हुई मिलती है, जो अपभ्रंश के कथाकाव्य के अन्तर्गत परिगणित है।

---

१. रवीन्द्र भ्रमर : 'पद्मावत की कथा का लोक-रूप' आलोचना, वर्ष ४, अंक ४, पृ० ३८-४४।
२. डॉ० सरला शुक्ल : जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफी कवि और काव्य, पृ० २८७।
३. वही, पृ० ३६३।

शैली की भाँति सूफी एवं प्रेमाख्यानक काव्यों पर अपभ्रंश के प्रबन्ध काव्यों में वर्णित छन्दों का प्रभाव देखा जाता है। स्पष्ट ही सत्यवती-कथा, मृगावती, नुरुकचन्दा, मैनासत, छिताईचरित, मधुमालती आदि प्रबन्धकाव्य चौपाई और दोहा में लिखे गये हैं।[1] इसी प्रकार मधुमालती, चित्रावली, पुहुपवरिषा, रतनमंजरी, कँवलावती, लैला-मँजनूँ, कलावती, हसजवाहिर, इन्द्रावती, अनुरागबाँसुरी, पुहुपावती, यूसुफजुलेखा, भाषा प्रेमरस तथा प्रेम दर्पण आदि में चौपाई-दोहा की योजना मिलती है। पदमावत और रामचरितमानस तो सर्वविदित ही है। वस्तुतः अपभ्रंश के कथाकाव्यों मे पद्धड़िया छन्द के साथ द्विपदी या उस के आकार का अथवा अन्य कोई छन्द प्रयुक्त हो सकता था। किन्तु साधारणतया द्विपदी, दोहा या घत्ता छन्द का प्रयोग मिलता है। अतएव अनुरागबाँसुरी मे भी चौपाइयों के साथ बरवै का प्रयोग किया गया है।[2] इस से स्पष्ट जान पड़ता है कि अपभ्रंश के कडवक मे, जिस प्रकार पद्धड़िया के अन्त मे द्विपदी या दोहा का प्रचलन रहा है, उसी प्रकार सूफी या प्रेमाख्यानक काव्यो मे भी चौपाई के अन्त मे दोहा या उस की जाति के छन्द का चलन रहा है।

वस्तुतः चौपाई और दोहा अपभ्रंश के मात्रिक छन्द है। अपभ्रंश के मूलछन्द मात्रिक ही है। हिन्दी के चौपाई, छप्पय, दोहा, रोला, दुर्मिल, सोरठा, गीति, कुण्ड-लिया, उल्लाला, पद्धड़ी या पद्धरि आदि छन्द निश्चित रूप से प्राकृत के है।[3] अतएव रहीम का बरवै, गंग का छप्पय, तुलसीदासकी चौपाई, बिहारी का दोहा तथा सेनापति का कवित्त एवं सवैया प्रभृति हिन्दी के प्रमुख छन्द प्राकृत-अपभ्रंश-धारा मे से होकर हिन्दी-साहित्य मे समा गये है।[4] परवर्ती काल मे भारत की अन्य भाषाओं मे भी इनमे से कई छन्दो का प्रयोग होने लगा था।

दोहा छन्द अपभ्रंश मे अत्यन्त प्राचीन काल से प्रयुक्त रहा है। दोहा का सब से पहला प्रयोग हमें विक्रमोर्वशीय मे मिलता है। जिस प्रकार अभंग, दिंडी, साकी और ओवी आदि मराठी के निजी छन्द है,[5] उसी प्रकार दोहा, चौपाई, गीता, हरिगीता आदि अपभ्रंश के औरस छन्द है। बरवै छन्द में प्रथम और तृतीय चरण मे १२-१२ तथा द्वितीय और चतुर्थ में सात-सात मात्राएँ होती है। अपभ्रंश मे इस से मिलता-जुलता छन्द भ्रमरावलि है। इस मे भी प्रथम चरण मे बारह और द्वितीय में सात मात्राएँ होती है।[6]

यथा—

---

१. डॉ० शम्भूनाथ सिंह : हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास, पृ० ४०६।

२. डॉ० सरला शुक्ल . जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफी कवि और काव्य, पृ० ४६२।

३. देवेन्द्रकुमार जैन . 'प्राकृतछन्दकोश', हिन्दुस्तानी, भाग २२, अक ३-४, पृ० ४४।

४. वही, पृ० ४५।

५. 'अभंग, दिंडी, साकी, घनाक्षरी, सवाई, छप्पा, ओवी, कटिबन्ध, चूर्णिका ह्याना केवल मराठी छन्द म्हणतात। विश्वनाथ काशीनाथ राजवाडे' मराठी छन्द, १८४८, पृ० ३४।

६. समे सप्त ओजे द्वादश भ्रमरावली। छन्दोऽनुशासन, ६, २०. ५।

झो रणझंणंत भमइ, भमरावलि ।
मयणघणुह गुणवल्लि, णं सामलि ॥

हिन्दी का हरिगीतिका छन्द तो ज्यों का त्यो प्राकृतपैंगलम् में हरिगीता नाम से मिलता है।[1] दोनों में ही अट्ठाईस-अट्ठाईस मात्राएँ तथा अन्त मे गुरु रहता है। इसी प्रकार सोरठा भी ११ और १३ मात्राओ से रचित दोनो मे समान रूप से मिलता है।[2] इस छन्द विषयक समानता को देख कर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अप-भ्रंश-साहित्य में प्रयुक्त छन्दों का ही हिन्दी-साहित्य मे ज्यो का त्यो अथवा कुछ हेर-फेर के साथ प्रयोग हुआ है, जो स्वाभाविक ही है। क्योंकि परम्परा से विकसित कोई भी भाषा या साहित्य यकायक अपने धरातल पर अधिक समय तक स्थिर रहने के लिए साहित्यिक आदर्श एवं मानक-रूपों का आलम्बन ले कर ही समर्थ हो पाता है। और यही कारण है कि प्राकृत और अपभ्रंश का साहित्य भी हमें स्वाभाविक बोलचाल की भाषा मे लिखा हुआ नही मिलता।

इस प्रकार प्रबन्ध-शैली तथा रचना की दृष्टि से अपभ्रंश के कथाकाव्यों का विशेष महत्त्व है। जो लोग सूफी काव्यों को मसनवी शैली मे लिखा हुआ कहते हैं, वे यह भूल जाते है कि प्रबन्ध-संघटना में मंगलाचरण, आत्म-विनय-प्रदर्शन, स्ववंश-कीर्तन, प्राचीन कवियों तथा आचार्यों का उल्लेख आदि प्रबन्ध काव्य की रूढ़ियो का तथा नख-शिख, स्त्री-भेद, दूती द्वारा प्रेम-निवेदन, उपवन-विहार, जल-क्रीड़ा, सिंहलद्वीप की यात्रा तथा कामावस्थाओ का वर्णन एवं वियोग में कौआ उड़ा कर सन्देश भेजना, आदि बातो का पालन अपभ्रंश प्रबन्ध-काव्यों की पद्धति पर हुआ है। और फिर, स्पष्ट रूप से चौपाई-दोहा, चौपाई तथा गीत शैली का स्वतन्त्र प्रयोग अपभ्रंश कथाकाव्यों मे मिलता है। हिन्दी का चौपाई छन्द और अपभ्रंश का पद्धड़िया बहुत कर एक ही छन्द है। दोनो मे सोलह-सोलह मात्राएँ होती है तथा दो पंक्तियाँ चार चरणों की होती है। आ० स्वयम्भू के पहले से भी यह छन्द प्रचलित रहा है। अतएव यह कड़वक शैली अपभ्रंश के काव्यो की विशेष प्रवृत्ति है। पं० विश्वनाथ के कथन से भी इस बात की पुष्टि होती है।[3] भारतीय साहित्य में यह पद्धति अपभ्रश काव्यो मे ही प्रयुक्त देखी जाती है।

परवर्ती विकास में पद्यबद्ध हिन्दी काव्यों में जैन कवियो द्वारा लिखित रचनाएँ इसी परम्परा का पालन करती हुई लक्षित होती है। उन मे अन्तर इतना ही है कि कड़वक शैली में जहाँ पद्धड़िया के अन्त मे कोई भी छन्द जुड सकता था, वहाँ अपभ्रश कथाकाव्यों की उत्तरकालीन प्रवृत्ति की भाँति द्विपदी या उस की जाति के किसी छन्द

१. गण चारि पंचक्कल ठविज्जसु बीअ ठामहि छक्कलो,
पअ पअह अंतहि गुरु करिज्जसु वण्णणेण सुसव्वलो। प्रा० पै०, १,१९१।

२. वही, १ १७०।

३. अपभ्रंशे निबद्धेऽस्मिन् सर्गा कुडवकाभिधा।
तथापभ्रंशयोग्यानिच्छन्दांसि विविधान्यपि ॥साहित्यदर्पण, ६,३२७।

का प्रयोग न हो कर दोहा का ही प्रयोग किया जाने लगा था। बरवै का भी प्रयोग मिलता है। इस प्रकार अपभ्रंश-कथाकाव्य-धारा में विकसित शैलीगत प्रयोग तथा छन्दोबद्ध कडवक-रचना सूफी काव्य तथा प्रेमाख्यानक काव्यों में ही नहीं, तुलसीदास के रामचरितमानस में भी दिखाई पड़ती है। इस रूप में तथा प्रबन्धगत अन्य बातों में भी स्पष्ट रूप से भलीभाँति समझ लेने पर यह धारणा बन जाती है कि अपभ्रंश को प्रबन्ध-काव्य-धारा से जाने-अनजाने हिन्दी की साहित्यिक परम्परा का विकास हुआ है।

धनपाल की भ० क० और जायसी का पदमावत

धनपाल की भ० क० और जायसी के पदमावत की विषय-वस्तु लोक-कथाएँ हैं, जिन में नायक की समुद्र-यात्रा, सुन्दरी-प्राप्ति, सिंहलद्वीप का कथानक-रूढ़ि के रूप में उल्लेख, आदि बातें मिलती-जुलती हैं। किन्तु समुद्र में जहाज के डूबने और नायक-नायिका का काष्ठफलक के सहारे समुद्र पार करने का वर्णन भ० क० मे न हो कर वि० क० मे है। इसी प्रकार स्त्री-भेद का वर्णन जि० क० मे है, और षड्ऋतु-वर्णन वि० क० मे है। किन्तु नखशिख, नामपरिगणन (उद्यान-वन-वर्णन में), युद्ध और विवाह आदि का वर्णन दोनों मे मिलता है। वस्तुतः कथा की दृष्टि से पदमावत वि० क० के निकट है। सुआ संवाद और उत्तरार्द्ध मे राजा के बन्दी होने आदि की घटनाओ को छोड़ कर दोनों में साम्य लक्षित होता है। मूल घटनाएँ—सिंहलद्वीप की यात्रा, लौटते समय पोत का भग्न होना, नायक-नायिका का विभिन्न द्वीपों मे पहुँचने पर संयोग या दैवीसंयोग से दोनों का समागम होना, नायक या नायिका का हरण और युद्ध होना, आदि।

इस प्रकार वस्तु की दृष्टि से दोनों में बहुत अन्तर है, पर प्रबन्ध रचना और शैली की दृष्टि से दोनों में समानता ढूँढ़ी जा सकती है। इसी प्रकार भाव साम्य को सूचित करने वाले कई स्थल दोनों में दिखाई पड़ते है, जिन मे से कुछ निम्नांकित हैं—

काइं किलेसहि काउ अयाणिए किं घिउ होइ विरोलिए पाणिये।
(भ० क०, २,७)

का भा जोग कथन के कथे, निकसै घिउ न बिना दधि मथे।
(पदमावत, प्रेमखण्ड ६)

खुट्टइ जीविज्जइ जेम णवि तेम अखुट्टइ णवि मरणु।
(भ० क०, ३,१२)

जो रे उवा, सो अथवा रहा न कोइ संसार। (पदमावत, पदमावती-नागमती सतीखण्ड, ३)

इउ जाणिवि जं साहसु मुच्चइ तं परसत्तहोणु जणि वुच्चइ।
(भ० क०, ५,७)

साधन्ह सिद्धि न पाइय जौ लगि सधै न तप्प। (पदमावत, प्रेमखण्ड ६)

अपभ्रंश तथा हिन्दी के अन्य काव्य

अपभ्रंश के अन्य कथाकाव्यों में तथा हिन्दी के प्रबन्ध काव्यों में कई बातों मे समानता मिलती है, जो एक स्वतन्त्र प्रबन्ध का विषय है। भाव-साम्य के रूप में कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं—

अमिलन्ताण व दीसइ णेहो दूरे वि संठियाणंपि ।
जइ विहु रवि गयणयले इह तह वि हुलइ सुहु णलिणी । सु० च०

तथा—

कहिं ससहरु कहिं मयरहरु कहिं बरिहिणु कहिं मेहु ।
दूरट्ठियाहं वि सज्जणहं होइ असड्ढलु णेहु ।।हेमचन्द्र के दोहों में संकलित

मिलाइए—

बसै मीन जल धरती, अम्बा बसै अकास ।
जो पिरीत पै दुवौ महं, अन्त होंहि एक पास ।।पदमावत

इसी प्रकार—

कमोदनी जल हरि बसै, चन्दा बसै अकासि ।
जो जाही का भावता, सो ताही कै पासि ।।कबीर

अन्य है—

णिय कम्मेंज्ज लिलाडहं लिहियउ सो को मेटइ जो विहि विहियउ । (सि० क०)

तुलना कीजिए—

जो जेहिकै जस लिखा लिलारा ।
जो विधि करै होय पै सोई । (कुँवरावत : अलीमुराद)
विधि ने अपने हाथ जो लिखा होइ तो होइ । (चित्रावली)

तथा—

तें तुव भमउं समलें रहरस सुहु सेवन्ताहं वट्टए ।
कुग्घिण मे सरीरि लज्जाहउ हियउ तडत्ति फुट्टए ।।जि० क०

मिलाइए—

सम्भारियां सन्ताप, वीसारियां न वीसरइ ।
कालेजा बिचि काप, परहर तू फाटइ नही ।।ढोला-मारू रा दूहा, १८० ।

इसी प्रकार—

ता परिएहु दुक्खु महु हिययहो णिगच्छेवि जाइ दुह महियहो ।
खणु एक्कु वि महु णत्थि सुहासिय चित्तवित्ति अप्पणिय समासिय ।
(भ० क०, विबुधश्रीधर)

यह भाव सन्देशरासक तथा रामचरितमानस मे कुछ हेर-फेर के साथ मिलता है । अन्य हिन्दी की पद्यबद्ध रचनाओं मे भ० क० और जि० क० आदि कथाकाव्यों की वर्ण्यविषयक विशेषताएँ स्पष्ट रूप से मिलती हैं ।

सुणिमित्तइं जायइं तासु ताम गयपयहिणंति उड्डेवि साम ।
वामंग सुत्ति रुहुरुहइ वाउ पिय मेलावउ कुलुकुलइ काउ ।
वामउ किलिकिंचिउ लावएण दाहिणउं अंगु दरिसिउ मएण ।
दाहिणु लोयणु कंदइ सबाहु णं भणइं एण मग्गेण जाहु ।
भ० क०, ४, ५ ।

तुलना कीजिए—

चारा चाषु बाम दिसि लेई मनहुँ सकल मंगल कहि देई ।
दाहिन काग सुखेत सुहावा नकुल दरसु सब काहूँ पावा ।
सानुकूल बह त्रिविध बयारी सघट सबाल आव बर नारी ।
लोवा फिरि फिरि दरसु देखावा सुरभी सनमुख सिसुहि पिआवा ।
मृगमाला फिरि दाहिनी आई मंगल गन जनु दीन्हि देखाई ।
रामचरित मानस, बालकाण्ड, ३०३ ।

इसी प्रकार अपभ्रंश के अन्य कथाकाव्यों का वर्ण्य विषय एवं भाव-साम्य हिन्दी के सूर, तुलसी, जायसी तथा सूफी और प्रेमाख्यानक काव्यों मे लक्षित होता है । उदाहरण के लिए कुछ स्थल निम्नलिखित हैं—

हो हो पवास गामिय वत्थंचरि जण कुप्पियं कीस ।
पढमंचिय को मुक्कमि णिय पाण कि अंचलं तुज्झ ।।
सि० क० (नरसेन) ।

करमुत्क्षिप्य जातोऽसि बालादिह किमद्भुतम् ।
हृदयाद् यदि निर्यासि पौरुषं गणयाम्यहम् ।।
बाह बिछोडवि जाहि तुहं हउं देवइं को दोसु ।
हिअयट्ठिउ जइ नीसरहि जाणउं मुंज सरोसु ।।
बाँह छुड़ाये जात हो निबल जानि कै मोहि ।
हिरदै ते जब जाहुगे मरद बदौंगो तोहि । सूरदास

ऊधो इहा हरि सों कहियो तुम,
हौ न यहाँ यह हौं नहिं मानौं ।
या तन तैं बिछुरैं तो कहा—
मन तैं अनहूँ जो बसौ तब जानौ । देव

इसी प्रकार—

लोग कहनउ साचो भयो जागत चोरु न कुइ मुसि गयउ ।
जि० चउ०, ३१३ ।

अबहू जागु अजाना होत, आव निसि भोर ।
तब किछु हाथ न लागिहि, मूस जाहिं जब चोर ।
पदमावत, प्रेमखण्ड, ६ ।

भ० क० के वात्सल्यमूलक वियोग वर्णन ने विशेष रूप से हिन्दी साहित्य को प्रभावित किया है। अपभ्रंश-साहित्य मे भी कवि धनपाल के पूर्व यह साहित्यिक प्रवृत्ति लक्षित नही होती। अतएव सूर, तुलसी आदि के काव्य-साहित्य पर निश्चित रूप से भ० क० का प्रभाव माना जा सकता है। और इस दृष्टि से भ० क० (८।१२) के वर्णन विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। तुलनात्मक अध्ययन के लिए इस प्रकार की और भी कई विशेष बातें हैं; किन्तु विस्तार-भय से यहाँ लिखना उचित न होगा। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि अपभ्रंश तथा हिन्दी के प्रबन्ध काव्यो में काव्य-रूढ़ियो, प्रबन्ध-रचना-शैली, कथानक-रूढ़ियों तथा रीतिकालिक प्रवृत्तियों में भी समानता मिलती है। अपभ्रंश और हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यो की कथा-वस्तु और रचना-पद्धति मे अद्भुत साम्य लक्षित होता है। सम्भव है कि सूफी काव्य मसनवी शैली से प्रभावित रहे हो, पर वस्तु, प्रबन्ध-रचना और शैली से तो यही स्पष्ट जान पड़ता है कि सूफी कवियो ने भारतीय जीवन मे घुली-मिली कथाओं को यहाँ के सामाजिक जीवन के आलोक मे परम्परागत अपभ्रंश-प्रबन्धकाव्य की कड़वक शैली मे प्रसूत कर प्रबन्धकाव्य की परम्परा को विकसित किया है, जो हमारी दृष्टि मे अपभ्रंश-प्रबन्धकाव्यो की परवर्ती विकसित धारा कथाकाव्य की परिपाटी का अनुकरण करते लक्षित होते है।

केवल वस्तु-रचना और शैली की दृष्टि से ही नही कही-कही भावों मे और विशेषकर छन्दों में प्राकृत-अपभ्रंश की काव्य-धारा का स्पष्ट प्रवाह दिखाई पड़ता है। अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्यो की रचना पद्धड़िया बन्ध में हुई है। पद्धड़िया चौपाई की जाति का ही छन्द है, जो चउपई का पुराना नाम जान पड़ता है। साधारणतया चौपाई के साथ दोहे की भाँति अपभ्रंश-प्रबन्धकाव्यों मे द्विपदी तथा अन्य उसी जाति के छन्दों का व्यापक प्रचलन रहा है, पर परवर्ती काल में वह दोहा या द्विपदी मे सीमित हो गया; जो अपभ्रंश की परम्परा से हिन्दी में प्रचलित हुआ। इसी प्रकार हिन्दी के चौपाई,

दोहा, छप्पय, रोला, दुमिल, सोरठा, गीति, कुण्डलिया, उल्लाला, पद्धड़ी या पद्धरि, हरिगीतिका और बरवै तथा कवित्त, सवैया आदि छन्द प्राकृत-अपभ्रंश-काव्य-धारा से विकसित हो कर परम्परा से हिन्दी में प्रचलित हुए हैं। इस प्रकार कई बातों में हिन्दी-साहित्य पर अपभ्रंश-साहित्य एवं कथाकाव्यों का प्रभाव लक्षित होता है, जो स्पष्ट रूप से परम्परा के विकास का सूचक है।



सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

हस्तलिखित ग्रन्थ

[पाण्डुलिपियाँ तथा माइक्रोफिल्म]

प्राकृत, अपभ्रंश

१. जम्बुसामिचरिउ : वीर कवि—आमेर शास्त्र-भण्डार, जयपुर।
२. जिनदत्तकथा : लाखू—आमेर शास्त्र-भण्डार, जयपुर।
३. जिनदत्तचउपई : कवि रल्ह—जैन साहित्य-शोध-संस्थान, महावीर भवन, जयपुर।
४. धम्मपरिक्खा : हरिषेण—आमेर शास्त्र-भण्डार, जयपुर।
५. पाइअलच्छी नाममाला : धनपाल—अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर।
६. प्राकृत छन्दःकोश . कवि अल्ह—श्री अग्रवाल दि० जैन बड़ा मन्दिर, मोती कटरा, आगरा।
७. प्राकृतप्रकाश : चण्ड—दि० जैन सरस्वती भवन, पंचायती मन्दिर, देहली।
८. बाहुबलिचरिउ : द्वितीय धनपाल—आमेर शास्त्र-भण्डार, जयपुर।
९. भविसयत्तकहा : प्रथम धनपाल—श्री अग्रवाल दि० जैन बड़ा मन्दिर, मोती कटरा, आगरा।
१०. भविसयत्तचरित : विबुध श्रीधर—आमेर शास्त्र-भण्डार, जयपुर।
११. महीपालचरित : वीर देव—श्री अग्रवाल दि० जैन बड़ा मन्दिर, मोती कटरा, आगरा।
१२. मेहेसरचरिउ : पं० रयधू—श्री अग्रवाल दि० [illegible] ड़ा मन्दिर, मोती कटरा, आगरा।
१३. विलासवईकहा (माइक्रोफिल्म कॉपी) : साधारण सिद्धसेन—श्री ला० द० भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद।
१४. सत्तवसणकहा : माणिक्यचन्द्र—श्री दि० जैन मन्दिर, भरतपुर।
१५. सणमइचरिउ : पं० रयधू—आमेर शास्त्र-भण्डार, जयपुर।
१६. सिद्धचक्रकथा : पं० नरसेन—आमेर शास्त्र-भण्डार, जयपुर।
१७. श्रीपालकथा : पं० रयधू—श्री अग्रवाल दि० जैन बड़ा मन्दिर, मोती कटरा, आगरा।
१८. सुकौसलचरिउ : पं० रयधू—श्री अग्रवाल दि० जैन बड़ा मन्दिर, मोती कटरा, आगरा।

प्राचीन ग्रन्थ

संस्कृत

१. उपासकाध्ययन : सोमदेवसूरि, सं० पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी ।
२. ऋग्वेद-संहिता : सं० सातवलेकर, १९५७ ।
३. ऋग्वेद-संहिता : सायण भाष्य युक्त, प्रथम भाग, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, १९३३ ।
४. ऐतरेयारण्यक—आनन्दाश्रम पूना ।
५. कर्पूरमंजरी की टीका : वासुदेव, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई ।
६. काव्य-मीमांसा . राजशेखर, ओरियन्टल इन्स्टीटयूट, बड़ौदा, १९३४ ।
७. काव्यानुशासन : हेमचन्द्र, प्रथम भाग, महावीर जैन विद्यालय, बम्बई ।
८. काव्यानुशासन : वाग्भट ।
९. काव्यादर्श : दण्डी, पूना, १९३८ ।
१०. काव्यादर्श की टीका : रत्नश्रीज्ञान, मिथिला विद्यापीठ, १९५७ ।
११. काव्यालंकार . भामह, चौखम्बा प्रकाशन, वि० सं० १९८५ ।
१२. काव्यालंकार : रुद्रट, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९२८ ।
१३. काशिकावृत्ति . वामन जयादित्य, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी ।
१४. कुमारसम्भव : कालिदास, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९५१ ।
१५. कौषीतकिब्राह्मण : सं० मधुसूदन ओझा, आनन्दाश्रम संस्कृत-ग्रन्थावली ।
१६. छन्दःशास्त्र : पिंगलाचार्य, काव्यमाला ९१, निर्णय सागर, बम्बई ।
१७. जातिविवेकाध्याय
१८. तत्त्वार्थसूत्र : उमास्वाति ।
१९. तन्त्रवार्तिक
२०. तन्त्रसार . अभिनवगुप्त ।
२१. तन्त्रालोक
२२. दशरूपक . धनंजय, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई ।
२३. ध्वन्यालोक—रिसर्च इन्स्टीटयूट, मद्रास ।
२४. ध्वन्यालोक : आनन्दवर्धन, लोचन टीका युक्त, चौखम्बा प्रकाशन, वि० सं० १९९७ ।
२५. नाटयशास्त्र . भरतमुनि, द्वितीय जिल्द, बडौदा ओरियन्टल इन्स्टीटयूट १९३४ ।
२६. निरुक्त : यास्क, दुर्गाचार्य कृत टीका सहित ।
२७. नैषधीयचरित : श्री हर्ष, चौखम्बा प्रकाशन, १९५४ ।
२८. न्यायकुमुदचन्द्र की भूमिका : पं० महेन्द्रकुमार शास्त्री ।
२९. प्राकृतचन्द्रिका . पीटर्सन की तीसरी रिपोर्ट ।

३०. पाली-प्राकृत-व्याकरण : पं० मथुराप्रसाद दीक्षित, मोतीलाल बनारसीदास, काशी, १९५४।
३१. पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय : अमृतचन्द्राचार्य, रायचन्द्र शास्त्रमाला, बम्बई।
३२. प्राकृतप्रकाश : वररुचि, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी।
३३. प्राकृत रूपावतार : सिंहराज, रायल एशियाटिक सोसायटी।
३४. प्राकृतशब्दप्रदीपिका : नरसिंह
३५. प्राकृतशब्दानुशासन : त्रिविक्रम, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर।
३६. प्राकृत सर्वस्व : मार्कण्डेय
३७. प्राकृतानुशासन : पुरुषोत्तमदेव
३८. बालरामायण : राजशेखर
३९. बृहज्जिनवाणीसंग्रह
४०. बृहत्कथाकोश : हरिषेण
४१. बृहत्संहिता
४२. ब्रह्मपुराण
४३. ब्रह्मवैवर्तपुराण
४४. भागवतपुराण—गोरखपुर, वि० सं० २०१०।
४५. भावसंग्रह : देवसेन
४६. मत्स्यपुराण
४७. मनुस्मृति
४८. महापुराण : जिनसेन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।
४९. महाभारत
५०. महाभाष्य : पंतजलि, चौखम्बा प्रकाशन, १९५४।
५१. महार्थमंजरी
५२. मृच्छकटिक : शूद्रक, पृथ्वीधर की टीका युक्त, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९५०।
५३. मेघदूत : कालिदास, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९५१।
५४. यशस्तिलकचम्पू : सोमदेवसूरि, अनु० पं० सुन्दरलाल शास्त्री, बनारस।
५५. रघुवंश : कालिदास, गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई, वि० सं० १९८४।
५६. रत्नकरण्डश्रावकाचार : समन्तभद्र, सूरत।
५७. वाक्यपदीय : हेलाराज, त्रावणकोर, १९३५।
५८. वाग्भटालंकार : वाग्भट, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई।
५९. वाल्मीकिरामायण : वाल्मीकि, मद्रास, १९५८।
६०. विविध तीर्थ कल्प : जिनप्रभसूरि : सं० मुनि जिनविजय, शान्तिनिकेतन, १९३४।
६१. विष्णुधर्मोत्तर पुराण, तृतीय खण्ड : सं० डॉ० बी० जे० संडेसरा, बड़ौदा, १९५८।
६२. वैयाकरणभूषणसार : कौण्डभट्ट, चौखम्बा प्रकाशन, १९३९।

६३. वैयाकरण सिद्धान्त लघुमंजूषा : नागेशभट्ट, चौखम्बा प्रकाशन, सं० १९८५।
६४. व्यास-स्मृति—भारतीय महाविद्यालय, कलकत्ता।
६५. शक्तिसंगमतन्त्र, द्वितीय भाग : सं० विनयतोष भट्टाचार्य, बड़ौदा, १९४१।
६६. शतपथब्राह्मण : सायण, लक्ष्मीवेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई।
६७. षड्भाषाचन्द्रिका : लक्ष्मीधर, सेन्ट्रल प्रेस, बम्बई, १९१६।
६८. समवायांगसूत्र
६९. सरस्वतीकण्ठाभरण : भोज, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई।
७०. साहित्यदर्पण : विश्वनाथ, चौखम्बा प्रकाशन, १९५५।
७१. सिद्धान्तकौमुदी : भट्टोजि दीक्षित
७२. स्थानाङ्गसूत्रम्।
७३. हनुमन्नाटक—क्षेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, वि० सं० १९६६।
७४. ज्ञाताधर्मकथाङ्गसूत्र।

अपभ्रंश

१. उक्तिव्यक्तिप्रकरण की भूमिका, लेखक डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी।
२. कथाकोशप्रकरण (जिनेश्वरसूरि) की भूमिका : लेखक मुनि जिनविजय।
३. करकण्डचरिउ : कनकामर, सं० डॉ० हीरालाल जैन।
४. कीर्तिलता : विद्यापति।
५. छन्दोऽनुशासन : आ० हेमचन्द्र, सं० ह० दा० वेलणकर, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, १९६१।
६. जसहरचरिउ : पुष्पदन्त, सं० डॉ० पी० एल० वैद्य, कारंजा, १९३१।
७. जिनदत्ताख्यानद्वय : सं० अमृतलाल मोहनलाल भोजक, भा० वि० भवन, सं० २००९।
८. णायकुमारचरिउ : पुष्पदन्त, सं० डॉ० हीरालाल जैन, कारंजा, १९३३।
९. देशी नाममाला : हेमचन्द्र।
१०. पउमचरिउ (प्रथम भाग) : स्वयम्भू, सं० डॉ० हरिवल्लभ भायाणी, १९५३।
११. पउमचरिउ : प्रथम भाग, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५७।
१२. पउमसिरीचरिउ : धाहिल, सं० मोदी और भायाणी, भा० वि० भवन, १९४८।
१३. पाहुडदोहा : मुनि रामसिंह, सं० हीरालाल जैन, कारंजा, १९३३।
१४. प्राकृतपैंगलम् : सं० डॉ० भोलाशंकर व्यास, प्राकृत टैक्स्ट सोसायटी, वाराणसी, १९५९।
१५. मयणपराजयचरिउ : हरिदेव, सं० डॉ० हीरालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६२।

१६. महापुराण : पुष्पदन्त, सं० डॉ० हीरालाल जैन, मा० दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९४१ ।
१७. लीलावतीकथा : कोऊहल, सं० डॉ० आ० ने० उपाध्ये, भा० वि० भवन ।
१८. सनत्कुमारचरित की भूमिका : डॉ० हरमन जैकोबी, १९२१ ।
१९. सन्देशरासक : अब्दुलरहमान, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई, १९६० ।
२०. सिद्धहेमशब्दानुशासन : हेमचन्द्र, सं० डॉ० परशुराम वैद्य, पूना, १९२८ ।
२१. स्वयम्भूछन्द (स्वयम्भू) : सं० डॉ० वेलणकर, प्रकाशित जर्नल आव द युनिवर्सिटी आव बाम्बे, जिल्द ५, नवम्बर, १९३६ ।
(पुस्तकाकार) राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, १९६२ ।
२२. ज्ञानपंचमीकहा : महेश्वरसूरि, प्रकाशित भा० वि० भवन, बम्बई ।

आधुनिक ग्रन्थ तथा शोध-प्रबन्ध

बंगला

१. मजूमदार, दक्षिणारंजनमित्र (सं०) : ठाकुरमारझुलि (रूपकथा), कलकत्ता, बंगाब्द १३५९ ।

गुजराती

१. देसाई, मोहनलाल दुलीचन्द : जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास, बम्बई, १९३३ ।

मराठी

१. राजवाडे, विश्वनाथ काशीनाथ : मराठी छन्द, १८४८ ई० ।
२. विवेकसिन्धु ।

हिन्दी

१. अग्रवाल, वासुदेवशरण . पाणिनिकालीन भारतवर्ष, प्रथम संस्करण ।
२. उपाध्याय, डॉ० कृष्णदेव : भोजपुरी लोक साहित्य का अध्ययन, १९६० ।
३. उपाध्याय, डॉ० भगवतशरण : भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण ।
४. ओझा, गौरीशंकर हीराचन्द : मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, तृतीय संस्करण ।
५. ओझा, डॉ० दशरथ और शर्मा : रासा और रासान्वयी काव्य, प्रथम संस्करण ।
६. कासलीवाल, डॉ० कस्तूरचन्द : राजस्थान के जैन शास्त्र-भण्डारों की ग्रन्थ-सूची, तृतीय भाग, जयपुर ।
७. कोछड़, डॉ० हरिवंश : अपभ्रंश-साहित्य, भारतीय साहित्य मन्दिर, दिल्ली ।
८. गुलेरी, चन्द्रधर शर्मा : पुरानी हिन्दी, नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी ।

९. गैरोला, वाचस्पति : अक्षर अमर रहें, चौखम्बा, १९५९ ।
१०. गैरोला, वाचस्पति : संस्कृत-साहित्य का इतिहास, चौखम्बा प्रकाशन ।
११. चटर्जी, सुनीतिकुमार : ऋतम्भरा ।
१२. ,, ,, : भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी ।
१३. चतुर्वेदी, शिवसहाय : गौने की बिदा, अजन्ता प्रेस, पटना, १९५३ ।
१४. जैन, कामताप्रसाद : हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९४७ ।
१५. जैन, डॉ० जगदीश चन्द्र : प्राकृत-साहित्य का इतिहास ।
१६. जैन, देवेन्द्रकुमार : सन्देशरासक तथा परवर्ती हिन्दी काव्य-धारा (अप्रकाशित) ।
१७. जोशी, डॉ० हेमचन्द्र : अनु० प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, मूल लेखक—रिचर्ड पिशल, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, १९५८ ।
१८. तुलसीदास : रामचरित-मानस (मूल गुटका), गोरखपुर ।
१९. देशपाण्डे, प्रो० भी० गो० : मराठी का भक्ति-साहित्य, चौखम्बा, १९५९ ।
२०. द्विवेदी, डॉ० हजारी प्रसाद : हिन्दी-साहित्य का आदि काल, १९६१ ।
२१. पण्डित, डॉ० प्रबोध बेचरदास : प्राकृत भाषा, बनारस, १९५४ ।
२२. प्रेमी, नाथूराम : जैन साहित्य और इतिहास, प्रथम संस्करण ।
२३. बाहरी, हरदेव : प्राकृत और उस का साहित्य ।
२४. मल्लिनाथन्, सी० एस० : तामिल भाषा का जैन साहित्य ।
२५. मालवणिया, दलसुखभाई : जैन दार्शनिक साहित्य का सिंहावलोकन ।
२६. मिश्र, पं० ज्वाला प्रसाद : जातिभास्कर, १९५५ ।
२७. मिश्र, शिवशेखर : भारतीय संस्कृति में आर्येतराश, लखनऊ ।
२८. वत्स, शिवमूर्ति सिंह : अवध की लोक कथाएँ, भा० २, आत्माराम एण्ड सन्स, १९५६ ।
२९. वर्मा, रामलाल : अनु० अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, दिल्ली १९५९ ।
३०. व्यास, लक्ष्मीशंकर : चौलुक्य कुमारपाल, प्रथम संस्करण ।
३१. शास्त्री, जगन्नाथ : व्रतकोश, प्रथम भाग, बनारस ।
३२. शास्त्री, नेमिचन्द्र : जैन साहित्य-परिशीलन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी ।
३३. शास्त्री, पं० हरिकृष्ण : ब्राह्मणोत्पत्ति मार्तण्ड, १९५४ ।
३४. शुक्ल, पं० रामचन्द्र : जायसी-ग्रन्थावली, काशी-नागरी प्रचारिणी सभा, तृतीय संस्करण, सं० २००३ ।
३५. ,, ,, गोस्वामी तुलसीदास, सप्तम संस्करण ।
३६. ,, ,, रस-मीमासा, तृतीय संस्करण ।
३७. शुक्ल, डॉ० सरला : जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफी कवि और काव्य, लखनऊ विश्वविद्यालय, सं० २०१३ वि० ।

३८. सक्सेना, प्रकाशनारायण : संयुक्त प्रान्त की अपराधी जातियाँ, १९४९ ।
३९. सत्येन्द्र, डॉ० गौरीशंकर : लोक साहित्य विज्ञान १९६२ ।
४०. ,, ,, मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोक तात्विक अध्ययन, १९६० ।
४१. ,, ,, ब्रजलोक-साहित्य का अध्ययन, प्रथम संस्करण ।
४२. सिंह, नामवर : पुरानी राजस्थानी, मूल लेखक डॉ० एल० पी० टेसिटोरी, अनु० नामवरसिंह, द्वितीय संस्करण ।
४३. सिंह, नामवर : हिन्दी के विकास मे अपभ्रंश का योग, इलाहाबाद, तीसरा संस्करण, १९६१ ।
४४. सिंह, शम्भूनाथ : हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप—विकास, बनारस, १९५६ ।
४५. सिंह, त्रिवेणी प्रसाद : हिन्दू धार्मिक कथाओं के भौतिक अर्थ, प्रथम संस्करण ।
४६. सुन्दरम्, पूर्ण सोम : तमिल और उस का साहित्य, प्रथम संस्करण ।
४७. त्रिपाठी, डॉ० गंगाचरण . अवधी, ब्रज और भोजपुरी लोकसाहित्य का तुलनात्मक अध्ययन (अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध) ।

अभिनन्दन ग्रन्थ

१. प्रेमी-अभिनन्दन ग्रन्थ

हिन्दी की पत्र-पत्रिकाएँ

१. अनेकान्त—वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली ।
२. आलोचना—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ।
३. जैन सन्देश (शोधांक)—भारतवर्षीय दि० जैन संघ, चौरासी, मथुरा ।
४. नागरी प्रचारिणी पत्रिका—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।
५. भारतीय विद्या—भारतीय विद्या भवन, बम्बई ।
६. महावीर-जयन्ती स्मारिका—राजस्थान जैन सभा, जयपुर ।
७. शोध-पत्रिका—साहित्य-सस्थान, राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर ।
८. सरस्वती—इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद ।
९. साहित्य—बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना ।
१०. साहित्य-सन्देश—साहित्य-रत्न भण्डार, आगरा ।
११. हिन्दी-अनुशीलन—भारतीय हिन्दी परिषद् प्रयाग ।
१२. हिन्दुस्तानी—हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद ।
१३. होलकर कालेज मेगजीन, १९५८-५९,—होलकर महाविद्यालय, इन्दौर ।

कोश एवं सन्दर्भ ग्रन्थ

१. अनेकार्थ संग्रह—हेमचन्द्र, चौखम्बा, वाराणसी ।
२. अभिधान चिन्तामणि कोश—हेमचन्द्र, सूरत, १९४६ ।
३. अमरकोश—अमरसिंह
४. जैन ग्रन्थावली—जैन श्वेताम्बर कान्फ्रेन्स, मुम्बई, वि० सं० १९६५ ।
५. जैनागम शब्द-संग्रह (अर्द्धमागधी-गुजराती कोश) लिंबडी, वि० सं० १९८३ ।
६. भरत कोश—सं० रामकृष्ण कवि, तिरुपति, १९५१ ई० ।
७. मेदिनी कोश
८. विश्व प्रकाश—महेश्वर
९. विश्वलोचन—श्रीधर सेन, निर्णय सागर प्रेस, १९१२ ई० ।
१०. शब्दकल्पद्रुम—राधाकान्तदेव बहादुर, कलकत्ता, शक १८०८ ।
११. शब्दरत्नसमन्वय कोश—महाराज शाहराज, तंजोर ।
१२. शब्दार्थ चिन्तामणि, प्रथम भाग,—सुखानन्द, आगरा, वि० सं० १९२१ ।

ENGLISH

1. Alsdorfe, Ludwig : Apabhramsa · studian, Leipzig, 1937.
2. Burlingame, E. W. : Buddhist Legends, Part I, Harvard University Press, 1921.
3. Chatterji, Sunitikumar : Origin and Development of the Bengali Language, Calcutta, 1958.
4. Chattopadhyaya, Dr. Sudhakar : Early History of North India, Calcutta, 1958.
5. Chokshi, V. J. : The Vivagasuyam and comparative Prakrit grammar, Ahmedabad, 1933
6. Cowll, E. B. : The Jataka or stories of the Buddha's former births, London, 1957.
7. Dalal, C. D. : Catalogue of Manuscripts at Patan, Vol. I, Baroda, 1937.
8. Dalal & Gune : Editor, Bhavisayattakaha of Dhanpal, Baroda, 1937.
9. Frazer, Sir James Georege, O. M. : The Golden Bough, London, 1955.
10. Frazer, Sir James George, O. M. : Aftermath A Supplement to the Golden Bough, London, 1955.
11. Ghurye, Dr. G. S. : Caste and class in India.

12. Graefe, W.: Legends as Mile-Stones in the History of Tamil Literature, Bengalore.
13. Gray, Louis H. : Foundations of Language, 1958.
14. Gune, N. P. : The discovery of English, Poona
15. Handiqui, K. K. : Yasastilaka and Indian Culture, Sholapur, 1949.
16. Hariyappa, H. L. : Rgvedic Legends through the ages
17. Hertel, Dr. Johannes · Editor, Panch Tantra, Cambridge 1908
18 Hopkins, E. Washburn . Epic Mytholgy.
19. Hultzch, E. Editor, Prakrit Rupavtara (Simharāja). Royal Asiatic Society London, 1909.
20. Jarrelt-Ain-i-Akbari, Vol. III (Abul Fazl Allami), 1948.
21. Jayaswal, K P Hindu Polity, Part I, 1953.
22. Kashyap, Ruliaram : Vedic origins of zorastrinism.
23. Katre, S. M. : Prakrit Languages and their Contribution to India, Bombay, 1945.
24. Majumdar, R. C . General Editor, The age of Imperial Unity, Vol. II, Bhartiya Vidya Bhawan, Bombay, 1953.
25. Majumdar, R. C. : General Editor, the Delhi Sultnata, Bombay, 1960.
26. Majumdar, R. C. General Editor, The struggle for empire, Bhartiya Vidya Bhawan, Bombay, 1957
27. Munshi, K. M. : The Glory that was Gurjaradesa, Part III, 1944.
28. Pei, Mario A. . The world's Chief Languages, London, 1944
29. Penzer, N. M. & Tawney, C H : The ocean of story Vol. III, London, 1924.
30. Pischel, R. : Editor, The Desi Namamala of Hema Chandra, Vizianagram, 1938.
31. Ramilinson, G. . The Religions of the Ancient World.
32. Ramnaryanlal & sons, Allahabad, Publisher of the Arabian Nights, Hindi Translation, 1922
33. Sarkar, Dinesh Chandra A Grammar of the Prakrit Language, Calcutta, 1942.
34. Shastri, K. A. Nilkanta · History of India, Part I.
35. Shartri, K. A. Nilkanta : Age of the Nandas and Mauryas, 1952.
36. Smith, V. A. : The early History of India, London, 1957.
37. Sorabje, Jahangir, B. A., Ph D. : Selections from Avesta, Part I.
88. Tagare, Gajanan Vasudeva : Historical Grammar of Apabhramsa, Poona, 1948.

39. Thoms, J. Sahan : Editor, A book of Famous Myths and Legends, Chicago, 1954.
40. Vaidya, P. L. : Prakrit Grammar of Trivikram, Sholapur, 1954.
41. Welenkar, H. D. : Catalogue of Sanskrit and Prakrit Manuscripts, Vol. III-Iv, Bombay, 1930.
42. Welenkar, H. D. : Jina Ratana Kosha, Vol. I, Poona 1944.
43. Winternitz, M. : A History of Indian Literature, Vol. II, Calcutta, 1933.

ENGLISH JOURNALS

1. Allahabad University studies, Part I, 1925.
2. Archaeological Survey of Mysore Annual report, 1929.
3. Bhartiya Vidya : Bhartiya Vidya Bhawan, Bombay.
4. Epigraphia Indica, Vol. XXV, Part VIII, Oct. 40.
5. Indian Antiquary, Vol. X, October, 1881.
6. Journal of the Oriental Institute, Baroda.
7. New Indian Antiquary, Vol. I, October, 1938.
8. Royal Asiatic Society, Vol. II, London, 1907.
9. The Jain Antiquary, Vol. XVIII, No. 2.
10. The Journal of the Visva-Bharati Study Circle Vol. I, No. 1, 1909.
11. Visva-Bharti Annuals, Vol. IX, June, 1959.

DICTIONARIES

1. A Comparative and Etymological Dictionary, of the Nepali Language by Ralph Lilley Turner, M. C., M. A., London, 1931.
2. Dictionary of Anthropology.
3. Encyclopedia of Britannica, Vo. IX, 1957.
4. Encyclopedia of Religion and Ethics by James Hastings, Vol. VI. Edinburgh, 1955.
5. Larousse Encyclopedia of Mythology by Robert Grames.
6. Motif—Index of Folk—literature, Vol. I.
7. Sanskrit—English Dictionary, Vol. I by V. S. Apte, Editor Gode & Karve, Poona, 1957.
8. Standard Dictionary of Folklore, Mythology and Legend, Vol. II by Stith Thompson, 1949.

शब्दानुक्रमणिका

[आ]

[झ]

[न]

[भ]

[म]

[श]

[ष]